॥श्रीः॥

गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थमाला

2

महाकवि श्रीहर्षप्रणीतं

नैषधचरितमहाकाव्यम्

मल्लिनाथकृत-जीवातु-सहितम्

आलोचनात्मक भूमिका, सान्वय संस्कृत-हिन्दी
व्याख्या एवं टिप्पणीयुक्त

(1-3 सर्ग)

व्याख्याकार एवं भूमिका लेखक
डॉ. सुरेन्द्र देव शास्त्री

चौखम्भा ओरियन्टालिया
प्राच्यविद्या, आयुर्वेद तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक
दिल्ली-110007 (भारत)

॥श्रीः॥

गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थमाला

2

महाकविश्रीहर्षप्रणीतं

नैषधचरितमहाकाव्यम्

(मल्लिनाथकृत-जीवातु-सहितम्)

आलोचनात्मक भूमिका, सान्वय संस्कृत-हिन्दी
व्याख्या एवं टिप्पणीयुक्त

(प्रथम सर्ग)

व्याख्याकार

आचार्य डॉ. सुरेन्द्र देव शास्त्री

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्य-विद्या, आयुर्वेद एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक

दिल्ली-110 007 (भारत)

प्रकाशक:
चौखम्भा पब्लिशर्स
गोकुल भवन, के-37/109, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-221001 (भारत)

शाखा :
चौखम्भा ओरियन्टालिया
पोस्ट बॉक्स नं. 2206
बंग्लो रोड, 9-यू.बी., जवाहर नगर
(कमला नगर के पास)
दिल्ली-110007 (भारत)
फोन : 40230818; मो. : 9910289743
email: chaukhambhaorientalia@gmail.com

© चौखम्भा पब्लिशर्स, वाराणसी

संस्करण : 2023
प्रथम सर्ग रु. 200/-
1-3 सर्ग रु. 275/-
1-5 सर्ग रु. 325/-
1-7 सर्ग रु. 375/-

मुद्रक : राधा ऑफसेट प्रोसेस एन्ड प्रेस, नई दिल्ली-2

प्राक्कथन

'नैषध महाकाव्य' के प्रथम सर्ग की व्याख्यात्मक टीका लिखने का प्रयास मुझे अनेक कारणोंवश करना पड़ा। एम० ए० के छात्रों का तो इसके लिए आग्रह था ही, साथ ही मेरे द्वारा लिखित [१. काव्यमीनांसा, २. कठोपनिषद्, ३. ईशोपनिषद्, ४. माण्डूक्योपनिषद्, ५. अभिज्ञानशाकुन्तल, ६. अभिज्ञानशाकुन्तल एक अध्ययन, ७. चन्द्रालोक (पंचममयूखत्र, ८. कुमारसंभव (पंचम सर्ग), ९. रघुवंश (द्वितीय सर्ग), १०. विश्रुतरचित, ११. संस्कृत रचना भाग १, १२. वैदिक साहित्य का इतिहास तथा १३ नाट्यकला की दृष्टि से महाकवि कालिदास और भवभूति के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन (मेरा अपना शोध-प्रबन्ध) आदि] पुस्तकों में प्रयुक्त मेरी लेखन-शैली के आधार पर मेरे विद्वान् मित्रों का भी यह बार-२ अनुरोध था कि मैं 'नैषध महाकाव्य' पर भी लिखने का प्रयास करूँ। तदनुसार मुझे 'नैषध महाकाव्य' की व्याख्यात्मक टीका तथा आलोचनात्मक-भूमिका लिखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। एतदर्थ उन सभी मित्रों का ऋणी हूँ।

व्याख्यात्मक-टीका में मैंने प्रत्येक श्लोक से पूर्व तत्सम्बन्धी प्रसङ्ग और तदनन्तर (मूल) श्लोक, उसका अन्वय, नवीन प्रणाली पर आधारित उसकी संस्कृत टीका, हिन्दी टीका, भावार्थ, अलङ्कार, व्याकरण, समास, तथा श्लोक सम्बन्धी आवश्यक टिप्पणियों को तो स्थान प्रदान किया ही है, साथ ही साथ स्थान-स्थान पर कवि के वैशिष्ट्य सम्बन्धी भावों का भी उल्लेख किया है। यदि कहीं पर अन्तर्कथा आ गयी है तो उसका भी स्पष्टीकरण सूक्ष्म रूप में कर दिया गया है।

अपनी भूमिका में मैंने महाकवि श्रीहर्ष की जीवनी, उनकी बहुज्ञता एवं उनके पाण्डित्य और उनकी काव्य-प्रतिभा सम्बन्धी विश्लेषण के साथ ही उनकी शैली का विस्तृत विवरण भी प्रस्तुत किया है। उनके सम्बन्ध में कही गयी सूक्तियों का भी विशदीकरण करते हुए उनकी महाकाव्य सम्बन्धी नवीनताओं तथा न्यूनताओं का भी सूक्ष्म विश्लेषण किया है।

इसके लिखने में मुझे अनेक विद्वानों द्वारा लिखित अनेक ग्रन्थों से सहायता भी लेनी पड़ी है। अतएव मैं उन सभी लेखकों के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

आज तक मेरे द्वारा लिखित सभी प्रकाशनों में मुझे सर्वाधिक प्रेरणा तथा सहायता मेरी अर्धाङ्गिनी श्रीमती मेधावती देवी 'शास्त्री' द्वारा सदैव प्राप्त होती रही है। मुझे विश्वास है कि वे अपने जीवन-काल-पर्यन्त इसी भाँति मुझे लेखन-कार्यों के प्रति उत्साहित तथा प्रेरित करती रहेंगी।

मुझे अपने विद्वान् मित्रों पर पूर्ण विश्वास है कि वे इसमें विद्यमान न्यूनताओं से मुझे अवगत कराने का कष्ट अवश्य करेंगे ताकि उनका समाधान भी मेरे द्वारा आगामी संस्करण में किया जा सके। साथ ही उनसे मेरी यह प्रार्थना है कि वे इस पुस्तक के सम्बन्ध में यदि किसी नूतन भाव आदि का समाविष्ट कराने की आवश्यकता समझते हों तो उससे भी मुझे सूचित करने का कष्ट करें। उनके द्वारा प्राप्त प्रेरणाओं, सुझावों आदि के लिये मैं सदैव उनका कृतज्ञ रहूँगा।

अन्त में मुझे यही कहना है कि यदि यह पुस्तक इसके अध्येताओं को कुछ भी सन्तोष प्रदान कर सकी तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

रामनवमी — विनीत

वि०सं.० २०३२ — सुरेन्द्र देव शास्त्री

भूमिका

संस्कृत महाकाव्यों के अन्तर्गत जिन महाकाव्यों को बृहत्त्रयी में स्थान प्राप्त हो चुका है वे हैं :— १. महाकवि भारवि रचित 'किरातार्जुनीयम्' २. महाकवि माघ विरचित 'शिशुपालवदम्' और ३. महाकवि श्रीहर्ष रचित 'नैषधीयचरितम्'। निम्नलिखित उक्ति के अनुसार इन तीनों महाकाव्यों में 'नैषधयीचरितम्' महाकाव्य को सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया गया है—

तावद् भा मारवेर्भाति यावन्माधस्य नोदय:।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघ: क्व च भारवि॥

इस महाकाव्य के रचयिता हैं महाकवि श्रीहर्ष। सर्वप्रथम उनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

महाकवि श्रीहर्ष की जीवनवृत्त

महाकवि श्रीहर्ष ने स्वरचित '**नैषधीयचरित**' के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में माता-पिता का नाम, अपनी कृतियों का उल्लेख तथा महाकाव्य के अन्त में अपने आश्रयदाता के सम्बन्ध में स्पष्ट संकेत किया है। इसके अतिरिक्त सन् १३४८ ई० में स्वरचित 'प्रबन्ध कोष' में राजशेखर सूरि ने श्रीहर्ष के संक्षिप्त जीवन की भी वर्णन किया है। उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर उनके जीवन-वृत्त के बारे में यह कहा जा सकता है कि—

श्रीहर्ष कविराजराजिमुकुटालंकारहीर: सुतम्।
श्रीहरि: सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्॥

[नैषध के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक की पंक्तियाँ]

श्री हीर काशी के राजा गहरवार-वंशी विजयचन्द्र की राजसभा के प्रधान पण्डित थे। एक बार इनका राजसभा में राजा के समक्ष मिथिला के प्रसिद्ध पंडित श्री उदयनाचार्य ने पराजित कर दिया। '**प्रथमं ताक्त्कविर्जिगीषु-कथायां स्वपितृ-परिभावुकमुदयनमत्यमर्षणतया कटाक्षयंस्तद् ग्रन्थग्रन्**

थीनुद्-ग्रन्थयितुं खण्डनं प्रारिप्सुश्चतुर्विधपुर-षार्थैरभिमानमन-वधीयमानमवधीर्य मानसमेकतानतां निनाय' इन पंक्तियों से उपर्युक्त बात की पुष्टि होती है। राजसभा में पराजित 'श्रीहीर' को सुपुत्र श्रीहर्ष से कहा— 'हे पुत्र! यदि तुम वस्तुतः सच्चे सुपुत्र हो तो मेरे विजेता को पराजित कर मेरे मनस्ताप को दूर करना।' तदनुसार श्रीहर्ष ने अपने पिता की आज्ञा पालन करने के उद्देश्य से सद्गुरु के समीप जाकर तर्क, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, वेदान्तदर्शन, योगदर्शन तथा मन्त्रशास्त्र का भली भाँति अध्ययन कर चिन्तामणि मन्त्र ('अवामावामार्द्धे सकलमुभयाकारघटनाद् द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत्। तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरभयं सेन्दुरममलं निराकारं शश्वज्जप नरपते! सिद्ध्यतु स ते'॥ १४।८५) का एकवर्षपर्यन्त जप करने से प्रत्यक्षदर्शन देने वाली त्रिपुरादेवी के वरदान से ऐसी विद्वता उपलब्ध हुई कि इनके कथन को कोई भी विद्वान् पुरुष समझ ही नहीं पाता था। इस स्थिति में अपने को पाकर श्रीहर्ष ने त्रिपुरादेवी का पुनः साक्षात्कार किया और कहा— " हे माता! आपके वरदानस्वरूप प्राप्त मेरा ज्ञान दोष पूर्ण ही रहा क्योंकि कोई भी विद्वान् मेरे कथन को समझ नहीं पाता है। अतः आप ऐसा वर प्रदान कीजिये कि जिससे मेरे कथन को विद्वान् भली भाँति समझने लगें।" यह सुनकर देवी ने कहा कि— अर्धरात्रि के समय नीले वस्त्र को मस्तक पर रखना तथा मठ्ठा पीना जिससे कफ की प्रबलता होकर जाड्यवृद्धि होने पर तुम्हारे कथन को सभी लोग समझने लगेंगे। श्रीहर्ष ने वैसा ही किया। परिमाणस्वरूप विद्वज्जन इनकी बात को भली भाँति समझने लगे।

इसके पश्चात् इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। तदनन्तर वे कन्नौजनरेश के यहाँ गये। राजा ने उनका यथोचित सत्कार किया। गुणों के प्रति प्रेम रखने वाले राजा से अति प्रसन्न होकर उनकी प्रशस्ति में हर्ष ने निम्नलिखित श्लोक पढ़ा—

गोविन्दनन्दनतया च वपुः श्रिया च।
माऽस्मिन्नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोतु जगतां विषये स्मरःस्त्री-
रस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्रीः॥

[अर्थात्– हे युवतियों! गोविन्द पुत्र होने तथा असीम शारीरिक सौन्दर्य के कारण तुम लोक इस राजा को कामदेव समझो। कामदेव तो विश्वविजय की दृष्टि से स्त्रियों को अस्त्र बनाता है किन्तु यह राजा युद्ध में पुरुषों को भी स्त्री (स्त्रियों के सदृश असहाय) बना देता है।]

और तदनन्तर उसकी विस्तृत व्याख्या भी की। यह श्रवणकर राजा अतिप्रभावित हुए और सन्तुष्ट भी हुए।

इसके पश्चात् उन्होंने अपने पिता के विजेता नैयायिक उदयनाचार्य को लक्ष्यकर कटाक्ष करते हुए यह श्लोक पढ़ा–

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वाऽस्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ् कुरैरास्कृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥

[अर्थात्– चाहे सुकोमल वस्तु संपन्न साहित्य की रचना हो अथवा दृढ न्याय की ग्रन्थियों से परिपूर्ण तर्कशास्त्र की, मेरे रचयिता होने पर सरस्वती समानरूप से क्रीड़ा करती है। यदि पति मन को अच्छा लगने वाला हो तो चाहे कोमल बिछौने से युक्त शय्या हो अथवा दर्भ के अंकुरों से आवृत भूमि, स्त्रियों के लिये रति समानरूप से (आनन्ददायक) होती है।]

इस श्लोक को श्रवणकर श्रीहर्ष के पिता पर विजय प्राप्त करने वाले पण्डित उदयनाचार्य ने कहा– हे भरतीसिद्ध वादिगजकेसरी विद्वद्वर! आप सदृश कोई भी विद्वान् नहीं है फिर अधिक होने की तो संभावना करना ही बेकार है। क्योंकि–

हिंस्राःसन्ति सहस्रशोऽपि विपिनेशौण्डीर्यवीर्योद्धता-
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम्।
केलिः कौलमुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः
संहर्षो महिषैश्च यश्य मुमुक्षे साहङ्कृते हुङ्कुते॥

[अर्थात्– वन में स्वाभिमानी एवं शक्तिसंपन्न सहस्रो जन्तु निवास किया करते हैं किन्तु हम केवल सिंह के ही लोकोत्तर तेज की प्रशंसा किया करते हैं जिसके अहंकार पूर्ण हुंकार करने परशूकरों का समूल केलि को, मदोन्मत प्राणी मद को, बाघ गर्जन को और महिष अतिहर्ष का त्याग कर दिया करते हैं।]

यह सुनकर श्रीहर्ष का क्रोध शान्त हो गया। राजा (जयन्तचन्द्र) ने दोनां विद्वानों में परस्पर स्नेहपूर्वक गाढ़ालिङ्गन कराया और दोनों को राजभवन में ले जाकर उचित सत्कार किया। उन्होंने श्रीहर्ष को एक लक्ष सुवर्णमुद्रायें भी दीं।

इसके अनन्तर श्रीहर्ष ने कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द्र की राजसभा का सदस्य होना स्वीकार कर लिया। कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात् एक दिन राजा ने महाकवि श्रीहर्ष से अनुरोध किया– हे कवीन्द्र! किसी प्रबन्ध-काव्य की रचना कीजिये। श्रीहर्ष ने उनकी प्रार्थना स्वीकर कर ''**नैषधीयचरित**'' महाकाव्य की रचनाकर राजा को दिखलाया। इस महाकाव्य को देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने श्रीहर्ष से कहा– ''आप कश्मीर जाइये। वहाँ शारदा-पीठ में सरस्वती निवास करती हैं। अपने इस महाकाव्य को सरस्वती के हाथों में रख दीजिये। वे दोष रहित ग्रन्थ का शिरः कम्पनपूर्वक अभिनन्दन करती हैं। किन्तु यदि ग्रंथ सदोष होता है तो वे उसे कूड़े की भाँति फेंक देती हैं। इस प्रकार सरस्वती द्वारा अभिनन्दित अपने ग्रन्थ का वहाँ के राजा से प्रमाणपत्र भी लाइये। यह कहकल विपुल धन के साथ श्रीहर्ष को राजा ने कश्मीर भेज दिया।

कश्मीर पहुँचकर श्रीहर्ष ने राजपण्डियों को अपना ग्रन्थ दिखलाया और तदनन्तर उसे सरस्वती के हाथों में रखा। सरस्वती ने उनेक ग्रन्थ को दूर फेंक

दिया। इस पर श्रीहर्ष ने पूछा— 'मेरे ग्रन्थ को साधारण पुस्तक समझकर आपने क्यों फेंक दिया है ? इसमें कौन सा दोष विद्यमान है ? बतलाइये—।' श्रीहर्ष की बात के उत्तर में सरस्वती ने कहा— "तुमने अपने इस ग्रन्थ के ग्यारहवें सर्ग के ६४ वें श्लोक—

देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा
वागालपत्पुनरिमां गरिमाभिरामाम्।
एतस्य निष्कृपकृपाणसनाथपाणेः
पाणिग्रहानुग्रहाण गणं गुणानाम्॥ ११।६४॥

के द्वारा मूझे विष्णु की पत्नी बतलाकर लोकप्रसिद्ध मेरे कन्यात्व को लुप्त कर दिया है। इस ही दोष के कारण मैंने तुम्हारे ग्रन्थ को फेंक दिया है क्योंकि—

पावको वञ्चको व्याधिः पञ्चत्वं मर्मभाषकः।
योगिनामप्यमी पञ्च प्रायेणोद्वेगकारकाः॥

अग्नि, ठग, (धूर्त्त) रोग, मृत्यु और मर्मभाषणकर्त्ता ये पाँच योगियों को भी उद्विग्न कर दिया करते हैं।

यह सुनकर पुराणों के विशिष्ट ज्ञाता श्रीहर्ष ने कहा— " एक अवतार में आपने विष्णु भगवान् को पतिरूप में स्वीकार नहीं किया था क्या ? लोक में भी आपको लोग 'विष्णुपत्नी' नहीं कहते हैं क्या ? तब मेरे सत्य कहने पर निरर्थक क्रोधित होकर आप मेरी पुस्तक को क्यों सदोष कह रही हैं ?" यह सुनकर सरस्वती ने पुनः ग्रन्थ को उठा लिया और विद्वानों के समक्ष ग्रन्थ की प्रशंसा की।

तदनन्तर महाकवि श्रीहर्ष ने विद्वानों एवं राज सभासदों के हाथों में उक्त पुस्तक को देकर कहा—"सरस्वती ने आप लोगों के समक्ष मेरे इस ग्रन्थ की प्रशंसा की है। अतः आप लोग यहाँ के राजा 'माधवदेव' को इस पुस्तक को दिखलाकर यह रचना शुद्ध है" ऐसा एक प्रमाणपत्र मुझे दिलवा दीजिये ताकि

मैं यहाँ से लौटकर उक्त प्रमाणपत्र को राजा 'जयचन्द्र' को दिखला सकूँ किन्तु दूसरे विद्वान् के प्रति स्वाभाविक ईर्ष्या से आवद्ध उन पण्डितों ने न तो राजा 'माधवदेव' को यह ग्रन्थ ही दिखलाया और न प्रमाणपत्र ही लिखकर दिया। परिणामस्वरूप श्रीहर्ष को वहाँ कई मास तक रुके रहना पड़ा तथा अपना सब कुछ बेच डालना पड़ा।

एक दिन महाकवि श्रीहर्ष नदी तट पर बैठकर रुद्र मन्त्र का जप कर रहे थे। उसी समय वहाँ पर दो स्त्रियाँ जल भरने के लिये आयीं। उन दोनों में परस्पर भयंकर कलह उत्पन्न हो गयी। लड़ती झगड़ती हुई वे दोनों राज-दरबार में पहुँची और राजा से निवेदन किया। राजा द्वारा प्रत्यक्ष द्रष्टा (गवाह) साक्षी माँगे जाने पर उन दोनों ने कहा कि 'एक विदेशी ब्राह्मण नदी तट पर बैठा था। उसके अतिरिक्त वहाँ पर अन्य कोई न था। राजा के आदेशुनासुर राजपुरुष वहाँ गये और श्रीहर्ष को राजा के समक्ष ले आये। राजा ने उनसे उन दोनों के झगड़े के बारे में पूछ। उन्होंने कहा— मैं एव परदेशी व्यक्ति हूँ उन दोनों स्त्रियों की भाषा नहीं समझता था। फिर भी मैं झग ड़े को ज्यों का त्यों आपको सुना देता हूँ। राजा द्वारा उस झगड़े की बात को सुनने की इच्छा से उन्होंने श्रीहर्ष को आज्ञा दी। उन्होंने ज्यों का त्यों राजा को सुना दिया। श्रीहर्ष की स्मरणशक्ति से आश्चर्यान्वित होकर राजा ने उन दोनों स्त्रियों के झगड़े का निर्णय देकर उन्हें विदा कर दिया तथा यथोचित प्रणामपूर्वक श्रीहर्ष से उनका परिचय आदि पूछा। उन्होंने अपनी यात्रा करने से प्रारम्भ कर अब तक के सम्पूर्ण वृतान्त को राजा से कह दिया। उसे सुनकर राजा ने अपने राज-पण्डितों को बुलाया और उन्हें धिक्कारते हुए कहा—

वरं प्रज्वलिते वह्नावह्नायनेहितं ? वपु:।
न पुनर्गुणसंपन्ने कृत: स्वल्पोऽपिमत्सर:॥
वरं सा निर्गुणावस्था यस्यां कोऽपि न मत्सरी।
गुणयोगे तु वैमुख्यं प्राय: सुमनसामपि॥

जलती हुई अग्नि में शीघ्र ही शरीर को जला देना अच्छा है किन्तु गुणसंपन्न व्यक्ति के साथ थोड़ा भी डाह करना उचित नहीं है। वह गुण हीन अवस्था अच्छी है जिससे कोई डाह नहीं रखता है क्योंकि गुणियों के प्रति विमुख होना बड़े बड़े विद्वानों में भी देखा जाता है।

अतः तुम लोग जाओ अपने-अपने घर इस विद्वान् को ले जाकर इनका उचित सत्कार करो।'' यह सुनकर श्रीहर्ष ने ''नैषधचरित'' की प्रशस्ति में पठित निम्नलिखित श्लोक पढ़ा—

यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयाऽपि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते।
मदुक्तिश्चेतश्चेन्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषाराधनरसैः॥प्रशस्ति-१॥

''अति सुन्दरी स्त्री जिस भाँति युवा-पुरुष के चित्त को अपनी ओर आकर्षित करती है क्या उसी भाँति वह बालकों के चित्त को भी चुराती है? मेरी उक्ति (ग्रन्थ) यदि अमृत बनकर विद्वानों के चित्त को आप्यायित करती है तो इसे रस हीन पुरुषों की आराधना करने की क्या आवश्यकता है?''

यह सुनकर राजपण्डित लज्जित हुए और उन्होंने अपने-अपने घर ले जाकर श्रीहर्ष का उचित सत्कार किया तथा ग्रन्थ की शुद्धता का राजमुद्राङ्कित प्रमाणपक्ष लाकर उन्हें दे दिया। उसे लेकर वे वापिस राजा जयचन्द्र के पास आये और उनको सम्पूर्ण वृतान्त सुनाया।

इस समय तक **''नैषधचरित''** महाकाव्य अत्यन्त प्रचलित तथा प्रसिद्ध हो चुका था।

इसी बीच जयचन्द्र का प्रधानमन्त्री पद्माकर अणहिल्लपुर गया और वहाँ से सूहवदेवी नामक अति सुन्दर विधवा को ले आया। राजा जयचन्द्र का विवाह उसके साथ हो गया। इस स्त्री को अपने कला-सम्बन्धी ज्ञान पर अभिमान था। इस कारण वह अपने को 'कला-भारती' कहलाया करती थी। श्रीहर्ष भी अपने

पाण्डित्य के बल पर 'नवभारती' कहे जाते थे। 'सूहवदेवी' को उनसे ईर्ष्या उत्पन्न हुई। एक दिन ससम्मान उनको बुलवाकर पूछा– 'आप कौन हैं?' श्रीहर्ष ने उत्तर दिया– '' मैं कलासर्वज्ञ हूँ।'' रानी ने कहा कि एक जोड़ी जूता बनाकर मुझे पहनाओ। रानी का अभिप्राय यह था कि यदि वे ब्राह्मण होने के नाते यह कहते हैं कि ''मैं नहीं जानता हूँ'' तब तो वे ''कला सर्वज्ञ'' सिद्ध होंगे नहीं। और यदि बनाकर पहला देंगे तो 'अपवित्र'कहे जावेंगे। किन्तु श्रीहर्ष ने रानी की बात को स्वीकार किया और वृक्षों के बल्कल को लाकर उससे जूते का निर्माण कर, लाकर उसे पहना दिया। किन्तु इससे उनको बड़ा ही मानसिक कष्ट हुआ। उन्होंने राजा से यह सब वृत्तान्त कह सुनाया और अत्यन्त खिन्न होकर गंगा किनारे जाकर संन्यास ग्रहण कर लिया तथा अपना अवशिष्ट जीवन वहीं पर व्यतीत किया।

एक दन्तकथा अथवा किंवदन्ती के अनुसार काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट को महाकवि श्रीहर्ष का मामा बतलाया गया है। नैषधचरित की रचना जब पूर्ण हो पायी थी तब आचार्य मम्मट पूर्ण रूप से वृद्धावस्था को प्राप्त हो चुके थे। श्रीहर्ष ने उनकी सम्मति प्राप्त करने के लिये ''नैषधचरित'' को उनके समक्ष रखा। उसका भली भाँति अध्ययन करने के उपरान्त मम्मट ने श्रीहर्ष को बुलाकर कहा ''कि यदि तुम्हारा यह काव्य मेरे द्वारा लिखित काव्यप्रकाश की रचना से पूर्व गिना गया होता तो मुझे दोष प्रकरण (सप्तम उल्लास) को लिखने के लिये संस्कृत साहित्य के अन्य अनेक ग्रन्थों को देखने की आवश्यकता न पड़ती क्योंकि इस एक ही ग्रन्थ में मुझे सम्पूर्ण दोषों के उदाहरण प्राप्त हो गये होते।'' इस पर श्रीहर्ष ने कहा कि आप एक-दो उदाहरण मुझे भी बतलाइये। तब उन्होंने श्रीहर्ष के समक्ष निम्नलिखित श्लोक को रख दिया और कहा–

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागनः।
अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीया समये वयं वयः॥ २।६२॥

[अर्थात्-तुम्हारा मार्ग कल्याणमय हो, तुम्हारे साथ मेरा समामग हो। हे हंस! अभीष्ट को सिद्ध करो अर्थात् शीघ्र ही पूरा करो और समय पर (दमयन्ती के साथ एकान्त में) हमें स्मरण कर लेना]।

तुम्हारा उपर्युक्त श्लोक मंगल के स्थान पर अमंगल का ही सूचक है। पदच्छेद में थोड़ी सी भिन्नता कर इसको पढ़ो और समझ लो कि मेरे कहने का अभिप्राय ठीक है या नहीं? [पदच्छेद करने पर यह श्लोक इस भाँति पढ़ा जा सकता है—

तव वर्त्म निवर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं स माऽऽगमः।
अयि साधयसाधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः॥२।६२॥

और अर्थ होगा— "तुम्हारा मार्ग बदल जाय अर्थात् अशुभ हो। फिर आने के लिये शीघ्रता करो किन्तु आना नहीं। हे आधिसहित! (मेरे) अभीष्ट को पूरा न करो। हे पक्षी! (मेरे परलोकवाली हो जाने के पश्चात्) समय-समय पर मेरी याद कर लिया करना।"]

इस भाँति अपने मामा की दोषपूर्ण-सम्मति को श्रवणकर श्रीहर्ष बहुत दु:खी हुए और दु:खी मन के साथ वापस लौट आये।

मम्मट तथा श्रीहर्ष के समय में लगभग २०० वर्षों का अन्तर उपलब्ध होता है। अत: उपर्युक्त दन्तकथा की प्रमाणिकता में सन्देह उत्पन्न हो जाता है और यह मनगढ़न्त सी प्रतीत होने लगती है।

"नैषध" महाकाव्य के प्राचीन टीकाकार चाण्डु पण्डित ने श्रीहर्ष के बारे में लिखा है कि उन्होंने वाराणसी के मुक्तिक्षेत्र में चारों पुरुषार्थों को पूर्ण कर मानसिक-शान्ति प्राप्त की थी। तदनन्तर उन्होंने खण्डनखण्डखाद्य नामक ग्रन्थ की रचना कर अपने पिता और श्रीहीर के प्रतिद्वन्द्वी की रचनाओं का खण्डन किया था किन्तु बाद में उनको यह अनुभव हुआ कि उनकी इस रचना में केवल शुष्क तर्क है और इसी कारण वह जनता में अच्छी दृष्टि से नहीं देखी गयी है। अत: लोगों को प्रसन्न करने की दृष्टि से उन्होंने **"नैषधमहाकाव्य"** की रचना की।

इसके अतिरिक्त 'गदाधर' ने भी श्रीहर्ष के बारे में कुछ लिखा है। उनके अनुसार वे गोविन्द्रचन्द्र के सभा-पण्डितों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। अतएव अन्य पंडित उनसे ईर्ष्या किया करते थे। और उनके ग्रन्थ "खण्डनखण्डखाद्य" का अध्ययन करने के उपरान्त उन लोगों ने श्रीहर्ष के लिये यह भी कहना प्रारम्भ कर दिया था कि– "तर्करूपी शमीवृक्षों से परिपूर्ण यह शुष्कमरुस्थल का शरीरधारी रूप ही चला आ रहा है"। जब इसका पता श्रीहर्ष को लगा तब उन्होंने अपनी काव्य-कला का प्रदर्शन करने हेतु "नलचरित" नामक एक महाकाव्य की रचना की ओर राजा को भेंट किया। इसे देखकर राजा अतिप्रसन्न हुए और उन्होंने इसी ग्रन्थ के उपलक्ष्य में श्रीहर्ष को दो आसन प्रदान किये एक तर्क के ज्ञाताओं के मध्य और दूसरा साहित्यमर्मज्ञों के मध्य। राजा ने उनको दो पान भी प्रदान किये और साथ ही "कविपण्डित" की उपाधि भी।

कमलाकर गुप्त को, जिन्होंने "नैषध महाकाव्य" पर भाष्य लिखा था, श्रीहर्ष का पौत्र कहा जाता है। हरिहर कवि को भी श्रीहर्ष का वंशज माना जाता है। गुजरात में नैषध की प्रतिलिपि सर्वप्रथम लाने वाले ये ही कवि थे।

श्रीहर्ष का निवासस्थान

महाकवि श्रीहर्ष के निवासस्थान के सम्बन्ध में विद्वानों एवं आलोचकों द्वारा अनेक मत प्रस्तुत किये गये हैं। कुछ विद्वान् उन्हें कन्नौज का, कुछ वाराणसी का, अन्य कश्मीर का तथा कुछ दूसरे उन्हें बंगाल का निवासी बतलाते हैं। कन्नौज-निवासी मानने वालों की सर्वश्रेष्ठ युक्ति यही है कि श्रीहर्ष ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजा के आश्रित रहने का वर्णन स्वयं ही किया है–

ताम्बूलद्वयमासानं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरा-
द्यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परंब्रह्मप्रमोदार्णवम्।
यत्काव्यं मधुवर्षि घर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्री श्रीहर्षकवेः कृतिः कृतमुदे तस्याभ्युदीयादियम्॥

प्रशस्ति-४॥

वाराणसी मानने वालों का मात्र कहना यही है कि काशीनरेश जयन्तचन्द्र ही श्रीहर्ष के आश्रयदाता थे। किन्तु इस सम्बन्ध में कोई मान्य प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है।

कुछ विद्वानों ने श्रीहर्ष को–

कश्मीरैर्महिते चतुर्दशयतीं विद्यां वदधद्भिर्महाकाव्ये..... [१६।१३०] सम्बन्धी उक्ति के आधार पर इन्हें कश्मीरी सिद्ध करने का प्रयास किया है। किन्तु राजशेखरसूरिकृत ''प्रबन्धकोश'' में उल्लिखित वचन के आधार पर इनका कश्मीरी होना सिद्ध नहीं हो पाता है। इसके अतिरिक्त नैषधचरित के सरस्वती द्वारा किये गये परीक्षा सम्बन्धी आख्यान (जिसे हम इसी भूमिका में पहले लिख चुके हैं।) के आधार पर कश्मीरी पण्डितों की दृष्टि में इनका परदेसी होना स्वयं सिद्ध है।

कुछ आलोचकों ने इनका मूल निवास-स्थान गौड देश (बंगाल) का माना है। उनका कहना है कि मैथिलकवि ''विद्यापति'' ने अपने ''पुरुषपरीक्षा'' नामक ग्रन्थ में श्रीहर्ष को गौडदेशनिवासी बतलाया है–

''बभूव गौडविषये श्रीहर्षो नाम कविपण्डितः। स च नलचरिताभिधानं काव्यं कृत्वा.......नत्काव्यं दर्शयितुं पण्डितमण्डली-मुद्दिश्य वाराणसीं जगाम।''

इसके अतिरिक्त 'राजशेखर सूरि' ने भी अपने 'हरिहरप्रबन्ध' में लिखा है–

''श्रीहर्षवंशे हरिहरः गौडदेश्यः''।

इसके अतिरिक्त ''गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति ''तथा'' नवसाहसाङ्कचरित'' नामक अन्य श्रीहर्ष की ही रचनायें होने तथा नैषधचरित के कुछ वर्णनों के आधार पर उन्हें बङ्गदेशनिवासी माना जाता है। नैषधचरित के आन्तरिक प्रमाणों– भाषा, संस्कृति आदि से तथा कुछ बाह्य-प्रमाणों-जैसे श्रीहर्ष के पौत्र कमलाकर गुप्त और उनके वंशज कवि हरिहर के बंगाली होने से उक्त बात की ही पुष्टि होती है।

जो भी हो– महाकवि श्रीहर्ष के निवासस्थान के बारे में अभी तक विद्वानों में मतैक्य नहीं हो सका है अतः किसी निर्णय पर पहुँच सकना दुरूह ही है। किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि श्रीहर्ष कई राजाओं के आश्रित कवि रहे होंगे। क्योंकि यह संभव है कि वे अपनी दुरभिमानी प्रकृति के कारण किसी एक राजा के आश्रय में अधिक समय तक न रह सके हों।

कृतियाँ– श्री राजशेखर सूरि के अनुसार महाकवि ने श्रीहर्ष के शताधिक ग्रन्थों की रचना की [खण्डनादिग्रन्थान् परश्शतान् जग्रन्थ पृष्ठ० ५५, जिनविषय. सं०] है। किन्तु उनके न तो नाम ही उपलब्ध है और न कोई प्रमाण ही। हाँ, इतना तो अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि उन्होंने सब मिलाकर १० ग्रन्थों की रचना तो की है जिनमें (१० नैषधचरित के अतिरिक्त लिखे गये अन्य आठ ग्रन्थों का प्रमाण तो नैषधयचरित के सर्गान्त श्लोकों में मिल जाता है– ये हैं– (२) स्थैर्यविचारप्रकरण [''स्थैर्यविचारण प्रकरण भ्रातरि'' इत्यादि–नैषध ४।१२३] (३) विजयप्रशस्ति [तस्यश्री विजयप्रशस्तिरचनातातस्य.... इत्यादि ५।१३८] (४) खण्डनखण्डखाद्य [खण्डनखण्डतयोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे– इत्यादि, नै० ६।११३] (५) गौरोर्वीकुलप्रशस्ति- [गौडोर्वीकुलप्रशस्तिभणिति-भ्रातरि– इत्यादि, नै० ७।११०] (६) अर्णववर्णन- [संदृब्धार्णववर्णनस्य.... इत्यादि, नै० ९।१६०॥], (७) छिन्द्रप्रशस्ति-[स्वसुःसुसदृशिच्छिन्द-प्रशस्तिर्महाकव्ये.... इत्यादि, नै० १७।२२२॥] (८) शिवशक्तिसिद्धि– [अस्मिन् शिवशक्तिसिद्धि भणिनी सौभ्रात्रभव्ये... इत्यादि नै० १८।१५४॥] (९) नवसाहसाङ्कचरितचम्पू- [नवसाहसाङ्कचरिते चम्पूकृतोऽवं... इत्यादि, नै० २२।१४९] इनके अतिरिक्त उनका एक दसवाँ ग्रन्थ (१०) ''ईश्वराभिसन्धि'' भी है। जिसका उल्लेख महाकवि श्रीहर्ष ने अपने ग्रन्थ ''खण्डनखण्डखाद्य'' में ५ पाँच बार किया है। इस भाँति श्रीहर्ष द्वारा रचित १०ग्रन्थों का उल्लेख तो स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में निश्चित्य रूप से कुछ भी कहा जा सकना संभव नहीं है।

उपर्युक्त दसों ग्रन्थों में से इस समय केवल दो ही उपलब्ध हैं (१) **नैषधचरित (२) खण्डन-खण्ड-खाद्य।** शेष आठ ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं। उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राप्त नहीं हो सकी है। अतः उन ग्रन्थों के विषय आदि के बारे में स्पष्ट रूप से कुछ भी कहा नहीं जा सकता है। श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य ''नैषधचरित'' में जिन आठ ग्रन्थों का निर्देश किया है वे अवश्य ही ''नैषध'' महाकवि से पूर्व लिखे जा चुके होंगे। इस प्रसङ्ग में इतनी ध्यान देने योग्य बात अवश्य है कि नैषध महाकाव्य में 'खण्डनखण्डखाद्य' का और 'खण्डनखण्डखाद्य' में 'नैषधचरित' का उल्लेख मिलता है। इससे यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि इन ग्रन्थों की रचना एक साथ की गयी होगी। संभव है कि ''खण्डनखण्डतोऽपि सहजात्'' में सहजात् पद ''साथ उत्पन्न होने अथवा लिखे जाने'' रूप भाव का ही द्योतक हो [''षष्ठः खण्डखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे..... '' इत्यादि, नैषध ६।११३]। इसके अतिरिक्त 'खण्डनखण्डखाद्य' में 'नैषधचरित' के २१ वें सर्ग का उल्लेख प्राप्त होने से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने ''खण्डनखण्डखाद्य'' को पूर्ण करने से पहले ही नैषध महाकाव्य को पूर्ण कर लिया हो। हाँ, इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी अन्तिम रचना ''ईश्वराभिसन्धि'' ही रही होगी क्योंकि नैषधचरित में कहीं भी इस ग्रन्थ का नाम नहीं आया है। हाँ, 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक ग्रन्थ में 'ईश्वराभिसन्धि' का नाम अवश्य मिलता है किन्तु यह भी भविष्यत्-काल में ही है– (शेषं चेश्वराभिसन्धौ स्वप्रकाशवादे निर्वक्ष्यामः, श्रुतिप्रामाण्यं सिद्धार्थप्रामाण्यं चेश्वराभिसन्धौ साधयिष्यते)। अतः कालक्रम की दृष्टि से 'नैषधचरित' सर्वप्रथम, कुछ भाग उसके साथ ही और कुछ भाग नैषध के पश्चात् लिखे जाने के कारण ''खण्डनखण्डखाद्य'' उसके पश्चात् और अन्त में ''ईश्वराभिसन्धि'' की रचना की गयी होगी।

महाकवि श्रीहर्ष का काल

सर्वप्रथम डॉ० बुलर ने महाकवि श्रीहर्ष का समय निश्चित करने का प्रयास किया था। उनके इस कार्य का आधार जैन कवि राजशेखर सूरि द्वारा रचित

"प्रबन्धकोष" है। इस ग्रन्थ में राजशेखर सूरि ने श्रीहर्ष के बारे में पर्याप्त रूप से लिखा है। उन्होंने श्रीहर्ष को राजा जयन्तचन्द्र (अथवा जयचन्द्र) का आश्रित कवि माना है। स्वयं श्रीहर्ष ने भी अपने 'नैषध' में लिखा है—

ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्॥ नैषध २२।१५५॥

अर्थात् जिन [श्रीहर्ष] को कान्यकुब्ज (कन्नौज) के अधीश्वर (राजा) से आसन और दो पान प्राप्त हुआ करते थे। यह कान्यकुब्ज का राजा कौन था? राजशेखर सूरि के अनुसार यह कान्यकुब्जेश्वर जयन्तचन्द्र (अथवा जयचन्द्र) ही है। इसका समय ११६८ ई० से ११९४ ई० तक है। यह राजा जयन्तचन्द्र कन्नौज तथा काशी का शासक इतिहास प्रसिद्ध जयचन्द्र ही है जिसका समय ११६८ ई० से ११९४ ई० है जिसका दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान के साथ युद्ध हुआ था तथा जो अन्त में यवनों के हाथों मार डाला गया था। श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य (नैषध) के पंचम सर्ग में जिस "विजयप्रशस्ति" का उल्लेख किया है वह संभवतः जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र की प्रशंसा में ही लिखा गया होगा। विजयचन्द्र का अन्तिम शिलालेख ११६३ ईद का है। जयचन्द्र का एक दानपक्ष संवत् १२४३ अर्थात् सन् ११८६ का है जिसमें भारद्वाज गोत्रीय. डोडराउत श्री अणंग को केमौली नामक ग्राम देने का आदेश है। जयचन्द्र के युवराज पद पर आरोहण के समय के एक दानपत्र का समय संवत् १२२५ अर्थात् ११६९ ई० है।

उपर्युक्त आधार पर डॉ० बुलर ने सर्वप्रथम श्रीहर्ष के समय के बारे में खोज की और वे निम्नलिखित परिणाम पर पहुँचे—

महाकवि श्रीहर्ष राजा जयन्तचन्द्र (अथवा जयचन्द्र) के आश्रित कवि थे। जयन्तचन्द्र ने ११६३ से ११७७ ईद के मध्य में राज्यारोहण किया होगा क्योंकि उनके पिता का अन्तिम शिलालेख ११६३ ई० का है और उनका प्रथम दानपक्ष ११७७ ई० का है। राजशेकव के अनुसार राजा जयन्तचन्द्र कुमारपाल के समकालीन थे जिनका काल सन् ११४३ से ११७४ ई० का था। सन् १९४ ई०

में वह यवनों द्वारा राज्यसिंहासन से हटा दिया गया। अत: जयन्तचन्द्र का शासन-काल सन् ११६३ ई० तथा सन् ११९४ ई० के मध्य ही रहा होगा। अत: श्रीहर्ष का समय ईसा की १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध मान लेना उचित ही जान पड़ता है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रमाण भी हैं, जिनमें उपर्युक्त समय की ही पुष्टि होती है—

''नैषधचरित'' के एक प्राचीन टीकाकार 'चाण्डुपण्डित' हैं। वे अहमदाबाद के समीप में स्थित ढोलका नामक ग्राम के निवासी थे। इनके द्वारा की गयी टीका का नाम 'दीपिका' है जो उनके द्वारा संवत् १३५३ अर्थात् १२९६ में लिखी गयी थी और जिसके बारे में उन्होंने स्वयं ही लिखा भी है—

श्रीविक्रमार्कसमयाच्छरदामथ
त्रिपञ्चाशता समधिकेष्वितेषु।
तेषु त्रयोदशसु भाद्रपदे च शुक्ल-
पक्षे त्रयोदशतिथौ रविवासरे च॥

सर्ग के अन्त में चाण्डुपण्डित ने एक श्लोक में अपने माँ-बाप के नाम का उल्लेख करते हुए एक श्लोक में **''नैषध महाकाव्य''** को नवीन काव्य भी कहा है— **''काव्यं नवं नैषधम्''**। इससे प्रतीत होता है कि उस समय तक 'नैषध' को नवीन काव्य के ही रूप में देखा जाता था। इसके अतिरिक्त चाणुपण्डित ने यह भी लिखा है कि उनकी अपनी टीका से पूर्व ''नैषधचरित'' पर विद्याधर विरचित टीका भी विद्यमान थी। इन दोनों टीकाओं से पूर्व 'नैषधचरित' का लेखन समाप्त हो चुका था। अत: ''नैषधचरित'' काव्य १२ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही लिखा गया होगा। इस आधार पर भी श्रीहर्ष का समय १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध भाग ही सिद्ध होता है।

डॉ० जानी द्वारा 'खण्डनखण्डखाद्य' के आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर भी उपर्युक्त समय की ही पुष्टी की गयी है। इस ग्रन्थ में श्रीहर्ष ने कई स्थलों पर

उदयन-रचित 'लक्षणावली ' को उद्धृत किया है और उसका खण्डन भी किया है। लक्षणावली का रचनाकाल शक सं० ९०६ अर्थात् ९८४ ई० है। इसी ग्रन्थ में महिमभट्ट (१०२०-१०६०) तथा उनके ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' का भी प्रसंग आया है। अत: इस आधार पर श्रीहर्ष को १०२० ई० के पूर्व नहीं रखा जा सकता है। नैषध को सर्वप्रथम 'हेमचन्द्राचार्य' (१०८८-११७२ई०) के शिष्य 'महेन्द्रसूरि' ने अपने गुरु की रचना 'अनेकार्थसंग्रह' की टीका 'अनेकार्थकैरवाकरकौमुदी' में उद्धृत किया है। यह टीका हेमचन्द्राचार्य की मृत्यु के तुरन्त पश्चात् लिखी गयी। इससे भी यह सिद्ध होता है कि लगभग ११८० ई० तक नैषधचरित महाकाव्य को प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी थी।

गंगेश उपाध्याय (१२०० ई०) ने स्वरचित "तत्त्वचिन्तामणि" में 'खण्डखण्डखाद्य' का खण्डन किया है। अत: यह संभावना करना अनुपयुक्त न होगा कि श्रीहर्ष की साहित्यिक-गतिविधि का समय ११२५ ई० ११८० ई० के मध्य ही रहा होगा। अत: श्रीहर्ष का काल १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाना उपयुक्त ही प्रतीत होता है।

महाकवि श्रीहर्ष का व्यक्तित्व

श्रीहर्ष की कृतियों से— विशेषकर उनके 'नैषध-चरित' महाकाव्य से उनके व्यक्तित्व का पूर्ण ज्ञान पाठक को प्राप्त हो जाता है। वे एक उच्चकोटि के दार्शनिक तो थे ही साथ ही ईश्वर में तथा उसकी भक्ति में उनका पूर्ण विश्वास था (नैषध १०। ७३)। किन्तु वे किसी एक देवता के ही भक्त रहे हो ऐसी बात नहीं है। नैषध के २१ वे सर्ग में उन्होंने भगवान् विष्णु के प्रति भूरी-भूरी प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सरस्वती (नैषध-१२।२३) तथा शिव (नैषध १४।८८) तथा खण्डखण्डखाद्य की नान्दी) के प्रति भी अपनी आस्था और भक्ति का प्रदर्शन किया है। प्राय सभी देवताओं के प्रति उनके हृदय में आदर की भावना विद्यमान थी किन्तु फिर भी अर्धनारीश्वर रूप में विद्यमान भगवान शंकर के प्रति उनका विशेष पक्षपात था। (नैषध १४।८८ तथा खण्डखण्डखाद्य की नान्दी)।

कर्मवाद के सिद्धान्तों में उन्हें विश्वास था (नैषध—२२।६६, ६९ तथा १३४)। पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों का प्रसङ्ग उन्होंने दिया है। (नैषध ५।१७) संस्कृत के अन्य कवियों के ही समान वे भी भाग्यवादी थे (नैषध १।९५, ६।१०२-३।।, ९।१२५— इत्यादि)। वेदों के प्रति उनकी पूर्ण आस्थ थी। वेदों को उन्होंने तृतीय-नेत्र कहा है (नैषध १।१६)। संस्कृत भाषा के प्रति उनका असीम आदर था (नैषध-१०४,३४,३८,५७ तथा ५९)। देशभक्ति के भी वे पूर्ण पक्षपाती थे। अत्यन्त गौरव भरे शब्दों में उन्होंने भारतवर्ष की प्रशंसा की उसे स्वर्ग से भी अधिक श्रेष्ठ कहा है (नैषध ६।९७ तथा ९।९८-१००)। नैषध चरित के १९ वें सर्ग के सप्तम श्लोक की कल्पना से प्रतीत होता है कि वे संभवतः कृष्णयुर्वेद की मैत्रायणी अथवा काठक संहिता के मानने वाले थे क्योंकि उन्होंने उदात्तस्वर को ऊपर सीधी रेखा से चिह्नित किये जाने का प्रसङ्ग दिया है जो इन्हीं दोनों संहिताओं में उपलब्ध होता है।

जीवन के अनेक पहलुओं तथा समस्याओं पर भी उन्होंने विचारपूर्ण निर्णय दिये हैं। दान, धर्म, भक्ति, जीवन्मुक्त, जीवन की क्षणभंगुरता, गृहस्थाश्रम, सतीत्व, प्रेम भावना, यज्ञ, मूल्यों की सापेक्षता, आखेट आदि अनेक विषयों पर उन्होंने अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं।

वे एक स्वाभिमानी कवि हैं जिन्हें अपनी विद्वता तथा अपने काव्य की सरसता पर गर्व है। उनके मतानुसार जो व्यक्ति उनके ग्रन्थ में आनन्द की उपलब्धि नहीं कर सकते वे नीरस व्यक्ति ही कहे जा सकते हैं। सहृदय विद्वानों के अन्तःकरण को तो उनका काव्य आनन्दित करता ही है—

मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधयः।
किमस्या नाम स्यादसपुरुषानादरभरैः॥ नैष०-२२-१५०॥

उनका काव्य तो वस्तुतः अमृत का उत्पादक साक्षात् क्षीरसागर ही है—

स परमपरः क्षीरोदन्वा नु यदीयमुदीर्यते।
मथितुरमृतं खेदच्छेदि प्रमोदमोदनम्॥ नैषध-२२।१५१॥

यह सत्य है कि उनका महाकाव्य कहीं कहीं पर दुरूह भी हो गया है किन्तु ऐसा उन्होंने जानबूझकर किया है जिससे कोई भी पण्डितम्मन्य खल उसका रसास्वादन न कर सके। वे ऐसे रसिक सहृदय सज्जनों को पाठकों के रूप में चाहते हैं जो श्रद्धा के साथ गुरु की आराधना करके काव्यगत दुरूह ग्रन्थियों को सुलझाकर महाकाव्यरूपी रस-सरिता-प्रवाह में गोता लगाकर आनन्द प्राप्त करने के इच्छुक हों—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया।
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खलः खेलतु॥
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनमुखं व्यासज्जनं सज्जनः॥

नैषध-२२।१५२॥

महाकवि ने स्वयं ही कहा है कि उनके महाकाव्य में सर्वथा नवीन-पथ का अनुसरण किया गया है—

तर्केष्वप्यसमश्रमस्य.... इत्यादि— नैषध-११।१३८॥

स्वभाव से वे अत्यन्त गम्भीर तथा धार्मिक हैं। सांसारिक सुखों को वे हेय समझते हैं। नैषध का सत्रहवाँ सर्ग उनकी इस भावना का पूर्ण परिचायक है।

महाकवि श्रीहर्ष का पाण्डित्य

महाकवि श्रीहर्ष सम्पूर्ण शास्त्रों के महान् ज्ञाता, अत्यन्त मेधावी, अकुण्ठित बुद्धि संपन्न एवं अप्रतिभट पण्डित थे। उनके सम्बन्ध में नैषधचरित महाकाव्य के टीकाकार विद्याधर ने उनकी बहुज्ञता का परिचय देते हुए लिखा है—

अष्टौ व्याकरणानिं तर्कनिवहः साहित्यसारो नयो,
वेदार्थावगतिः पुराणपठितिर्यस्यान्यशास्त्राण्यपि।
नित्यं स्युः स्फुरितार्थदीपविहताज्ञानान्धकाराण्यसौ
व्याख्यातुं प्रभवत्यमुं सुविषमं सर्गं सुधीः कोविदः॥

अत: यह कहना अनुचित न होगा कि उनका पाण्डितय अगाध है। उनकी काव्य-प्रतिभा एव दार्शनिक ज्ञान के जाज्वल्यमान उदाहरण तो साक्षात् ''नैषधचरित'' एवं ''खण्डखण्डखाद्य'' ग्रन्थ ही हैं। इसके अतिरिक्त वे वेदों, वेदाङ्गों, ज्योतिष, धर्म, अर्थ, काम, तन्त्र, संगीत, गणित आदि शास्त्रों के ज्ञान में पूर्णतया निष्णात थे। अश्वशास्त्र, धनुर्वेद, आयुर्वेद आदि का भी पूर्ण ज्ञान उन्हें प्राप्त था। इन सभी शास्त्र आदिकों से सम्बन्धित प्रसंगों से उनका 'नैषधचरित' महाकाव्य ओतप्रोत है। यहाँ कुछ उदाहरणों का उद्धृत कर देना उपयुक्त ही होगा। वेद-वेदाङ्ग सम्बन्धी उनके ज्ञान का उदाहरण देखिये। निम्नलिखित उदाहरण में उन्होंने अप्रस्तुतयोजना के रूप में श्रुति-ज्ञान का आश्रय लिया है। श्रुति कहती हैं—

''यतो वाचो निवर्त्तन्ते। आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्।''

श्रुतिसम्बन्धी इसी आनन्द की ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा है—

अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः॥
नैषध २।१॥

श्रीहर्ष का व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान तो और भी प्रशंसनीय है। एक स्थल पर उन्होंने ''सु औ जस्'' इन प्रथमा विभक्ति के प्रत्ययों को लेकर [हंस द्वारा दमयन्ती के समक्ष राजा नल की जो प्रशंसा की गयी है, श्लेष के माध्यम से] व्याकरण सम्बन्धी विचित्र चमत्कार प्रस्तुत किया है—

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता
व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैः
तावत्क्षमा नाम पदं बहु स्यात्॥ ॥२।२३॥

(हंसपक्ष में) हंस कह रहा है— यदि सज्जनों के वर्गीकरण का विचार किया जाय तो वह (राजा नल का) ही प्रथम व्यक्तित्व होगा तो (व्यक्तित्व)

अपने पराक्रम के प्रभाव से असंख्य शत्रु-राष्ट्रों के सम्पूर्ण स्थलों को अपने वश में करने में समर्थ है।

(व्याकरण की दृष्टि से—) यदि प्रथमा आदि सातों विभक्तियों में सर्वोत्तम विभक्ति कौन सी है? इसका विचार किया जाय तो 'प्रथमा' नामक विभक्ति को ही प्रथम स्थान प्राप्त होगा जो (प्रथमा विभक्ति) "सु औ जस्" इन प्रथमा विभक्ति सम्बन्धी एकवचन, द्विवचन, और बहुवचनों के विलास (विसर्ग इत्यादि रूप परिणाम) से वाक्यालङ्कार में नाम (सुबन्त) और पद (राम, कृष्ण: इत्यादि) के सिद्ध करने के लिये पूर्णरूपेण समर्थ है।

अपने व्याकरण सम्बन्धी पाण्डित्य के ही कारण वे नवीन शब्दों का प्रयोग कर सकने में सफल हो सके हैं। "सूननायक" (१८।१२९), 'प्रतीचर (१८।१२९), 'हसस्पृशम्' (१८।१३०) इत्यादि अनेक नवीन शब्दों का प्रयोग व्याकरण के आधार पर ही वे कर सके हैं।

उनका ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान भी दर्शनीय है। नैषधचरित के प्रथम सर्ग के १७ वें श्लोक में उन्होंने कहा है कि सूर्य, बुध एवं शुक्र इन दो ग्रहों के साथ समय व्यतीत करता हुआ उदय को प्राप्त होता है। सूर्य के सदृश ही राजा नल भी उदय को प्राप्त हुए।

दर्शन-शास्त्रों सम्बन्धी उनका ज्ञान तो महान् है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा अद्वैतवेदान्त और चार्वाक एवं बौद्ध दर्शन सम्बन्धी अपने महान् पाण्डित्य का प्रदर्शन तो उन्होंने "नैषधचरित" में ही अनेक स्थलों पर किया है। केवल सत्रहवें सर्ग को पढ़ने से ही उपर्युक्त बात की पूर्ण अनुभूति पाठक को हो सकती है। वैशेषिक-दर्शन सम्बन्धी "तम" नामक द्रव्य के खण्डन में उन्होंने कैसा मजाक २२।३६ वें श्लोक में प्रस्तुत किया है, दर्शनीय है। न्यायशास्त्र के रचयिता गौतम को तो उन्होंने गौतम (पक्का बैल) ही कह डाला है (नैषध १७।७५)

नैषध में स्थान स्थान पर पौराणिक कथाओं का भी उल्लेख मिलता है। इससे उनके पुराण-इतिहास सम्बन्धी ज्ञान का स्पष्ट पता लग जाता है। नैषध-

१।३२ इत्यादि अनेक उदाहरण]

इतना महान् गाम्भीर्य तथा पाण्डित्य होने पर भी वे व्यंग्य एवं विनोदप्रिय भी थे। नैषध में बारात सम्बन्धी वर्णन में महाकवि ने राजा नल के छोटे साले द्वारा नाना प्रकार से व्यंग एवं विनोदपूर्ण परिहास कराया है। स्वयंवर सभा में भी दमयन्ती की दासियों द्वारा अच्छा उपहास प्रस्तुत किया गया है [देखिये नैषध-१२।७६ तथा १६।१०९-११० इत्यादि अनेक उदाहरण]।

उपर्युक्त रूप से प्राय: सभी सांसारिक विषयों का ज्ञान होने के साथ ही साथ वे योगी भी थे और समाधिदशा में भगवान् का साक्षात्कार किया करते थे—

''य: साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्मप्रमोदार्णवम्''

—नैषध २२।१५५॥

नैषध-महाकाव्य

महाकवि द्वारा लिखित एवं प्राप्त ग्रन्थों में 'नैषध-महाकाव्य' को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। नैषधचरित २२ सर्गों में लिखा गया एक महाकाव्य है। यद्यपि इसकी मूलकथा महाभारत से ली गयी है किन्तु इस महाकाव्य में महाभारत में वर्णित नल-दमयन्ती की कथा का थोड़ा अंश ही आ सका है। क्योंकि काव्य की समाप्ति नलदमयन्ती के विवाह और उनकी प्रणय सम्बन्धी क्रीड़ा को दिखलाने के पश्चात् ही हो जाती है। इसके पश्चात् का उनके जीवन का सम्पूर्ण अंश अवर्णित ही रह गया है। कुछ विद्वानों के विचार के आधार पर यह काव्य २२ सर्गों में ही समाप्त हो गया है। किन्तु कुछ विद्वानों का यह कहना है कि यह काव्य अधूरा ही है। उनके विचार से या तो काव्य का शेष भाग लुप्त हो गया है अथवा कवि इस काव्य को पूरा ही नहीं कर पाया। जो भी हो— हमें यहाँ इस विवाद में नहीं पड़ना है। केवल इतना ही कहना है कि हो सकता है कि प्रारम्भ में कवि की योजना सम्पूर्ण कथानक को चित्रित करने की रही हो और बाद में आकर ग्रन्थ के अधिक विस्तार को देखते हुए उन्होंने यही उचित समझा हो कि इसे यही पर समाप्त कर दिया जाय।

नैषध-चरित का कथानक अथवा इतिवृत्त

प्रथम सर्ग— के प्रारम्भ में निषधदेश के राजा नल का चरित, विद्याभ्यास, धर्माचरण, प्रताप एवं उनकी दिनचर्या का विशद् वर्णन विद्यमान है। नल का सौन्दर्य त्रैलोक्य में अनुपम था जिसकी ख्याति सर्वत्र थी। विदर्भ देश के राजा भीम की पुत्री भी अनुपम सौन्दर्यशालिनी थी। उसने भी राजा नल के रूप, सम्पत्ति तथा कीर्ति के बारे में बहुत सुना था। अतः उसने अपना मन राजा नल की ओर लगाया। बन्दीजनों द्वारा राजा नल का वर्णन सुन्कर वह रोमाञ्चित हो जाया करती थी। उसी प्रकार राजा नल ने भी दमयन्ती के रूप और गुणों की प्रशंसा सुनी थी। कामदेव ने राजा नल के धैर्य को नष्ट कर दिया किन्तु कामार्त्त होने पर भी राजा नल ने राजा भीम से दमयन्ती की याचना नहीं की। विवश होकर शान्ति-प्राप्त करने की इच्छा से वे उपवन को गये। उस उपवन में एक सरोवर के किनारे सुरतक्लांत एवं एक ही चरण पर स्थित विश्राम करते हुए एक स्वर्णिम हंस को उन्होंने देखा। राजा नल ने उसे पकड़ लिया। हंस ने महती करुणा के साथ विलाप किया। यहाँ तक कि विलाप करते करते वह मूर्च्छित हो गया। यह देख नल की अश्रुधारा भी उमड़ पड़ी और वे अश्रु उस हंस के ऊपर गिरे। उससे उसे चेतनता प्राप्त हुई। चेतना प्राप्त हंस को राजा नल ने छोड़ दिया।

द्वितीय सर्ग— हंस राजा के पास कृतज्ञताज्ञापनार्थ जाता है तथा दमयन्ती के सौन्दर्य आदि गुणों का वर्णन उसके समक्ष करता है। नल द्वारा आग्रह किये जाने पर हंस दमयन्ती के समीप कुण्डिनपुर जाता है। वहाँ दमयन्ती अपनी सखियों के साथ उपवन में विहारमग्न है।

तृतीय सर्ग— हंस दमयन्ती के पास पहुँचकर वहीं समीप में ही रुक जाता है। दमयन्ती उसे पकड़ने का प्रयास करती है। हंस उसे सघन वन में ले जाता है। उसे एकान्त में देखकर हंस अपना परिचय देकर राजा नल के गुणों तथा उसके अनुपम सौन्दर्य का वर्णन करता है। उसके पश्चात् दमयन्ती भी राजा

नल के प्रति अपने प्रेम को प्रकट कर देती है। हंस वापिस लौटता है और नल के समीप पहुँचकर अपनी सफलता की सूचना उन्हें देता है।

चतुर्थ सर्ग— अब दमयन्ती राजा नल से मिलने के लिये अत्यन्त आतुर और विकल हो जाती है। उसके पिता उसकी इस प्रकार की अवस्था को देखकर स्वयंवर का निश्चय कर लेते हैं।

पंचम सर्ग— इधर देवलोक में नारद जी इन्द्र देवता के समक्ष दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। जिसे सुनकर इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण देवताओं के साथ पृथ्वी की ओर चल देते हैं। वे दमयन्ती के समीप अपनी दूतियों तथा उसके पिता के पास दिव्य उपहारों को भी भेजते हैं। मार्ग में कुण्डिनपुर जाते हुए वे राजा नल को देखते हैं। उनके सौन्दर्य को देखकर देवताओं में ईर्ष्या का भाव उत्पन्न हो जाता है। अपना परिचय देकर देवगण उनसे कुछ याचना करना चाहते हैं। नल उनकी इच्छा पूर्ण करने का वचन देते हैं। तब देवगण राजा नल से कहते हैं कि आप हम लोगों की ओर से दमयन्ती के समीप जाइये और दमयन्ती को उनमें से किसी एक को चुन लेने के लिये राजी कर लीजिये। राजा नल स्पष्ट कहते हैं कि वे स्वयं दमयन्ती से प्रेम करते हैं तथा उसकी प्राप्ति की इच्छा से ही वे वहाँ जा रहे हैं। किन्तु जब इन्द्र उनको अपने दिये हुए वचन को पूर्ण करने हेतु बाध्य करते हैं तो वे उनका बात स्वीकार कर लेते हैं। इन्द्र के प्रभाव से राजा नल को अदृश्य होने सम्बन्धी शक्ति भी प्राप्त हो जाती है।

षष्ठ सर्ग— अदृश्य नल दमयन्ती के भवन में पहुँच जाते हैं। यहाँ वे देखते हैं कि देवों की दूतियाँ देवों में से ही किसी को चुनने के लिये दमयन्ती से आग्रह कर रही हैं किन्तु दमयन्ती ऐसा करने से उन्हें रोक देती है। यह सब सुनकर राजा नल प्रसन्न होते हैं।

सप्तम सर्ग—राजा नल दमयन्ती के सौन्दर्य को देखते हैं। इसी दृष्टि से कवि द्वारा दमयन्ती के नख-शिख का चित्रण यहाँ प्रस्तुत किया गया है। नल अपने को प्रकट कर लेने का भी निश्चय कर लेते हैं।

अष्टम सर्ग– राजा नल अपने को प्रकट कर लेते हैं। उनके असीम सौन्दर्य को देखकर दमयन्ती तथा उसकी सखियाँ आश्चर्य चकित होकर उनका परिचय पूछती हैं। राजा नल अपने को देवदूत बतलाते हैं तथा देवताओं में से किसी एक को चुन लेने के लिये दमयन्ती से आग्रह करते हैं।

नवम सर्ग– नल-दमयन्ती का वार्त्तालाप होता है। दमयन्ती देवों में से किसी को भी वरण न करने तथा नल सम्बन्धी अपने निश्चय से उनको अवगत करा देती है। राजा अपने को प्रकट कर देते हैं तथा दमयन्ती द्वारा बार-बार प्रार्थना किये जाने पर दूसरे दिन स्वयंवर में आने के लिये अपनी स्वीकृति दे देते हैं।

दशम सर्ग– स्वयंवर आरम्भ हो जाता है। इन्द्र आदि देवता भी नल का वेश धारण कर वहाँ उपस्थित हैं।

एकादश एवं द्वादश सर्ग– सरस्वती द्वारा राजाओं आदि का परिचय दमयन्ती को दिया जा रहा है। किन्तु नलासक्त चित्तवाली दमयन्ती सभी की उपेक्षा कर आगे बढ़ती है। आगे बढ़ने पर पाँच नलों को देखकर वह आश्चर्य में पड़ जाती है।

त्रयोदश सर्ग– नल केही वेश में विद्यमान [१ नल + ४ देवताओं] पाँचों नलों का सरस्वती द्वारा श्लेषयुक्त वर्णन किया जाता है। दमयन्ती देवताओं तथा राजा नल में अन्तर न कर सकने के कारण अत्यन्त दुखी होती है।

चतुर्दश सर्ग– दमयन्ती मन ही मन देवताओं की पूजा करती है। देवगण प्रसन्न होकर उसे सरस्वती के श्लेष को समझने की शक्ति प्रदान करते हैं। दमयन्ती नल को पहचानकर पुष्पों की माला से उन्हें अलंकृत कर देती है। सरस्वती तथा देवगण दोनों को आशीर्वाद देते हैं।

पंचदश सर्ग– राजा भीम विवाह सम्बन्धी तैयारी में संलग्न हो जाते हैं, और विवाहोत्सुक नल को आमन्त्रित करते हैं।

षोडश सर्ग– राजा भीम द्वारा बारात का स्वागत-सत्कार किया जाता है।

विवाह संस्कार सम्पन्न हो जाने के पश्चात् वहाँ ५-६ दिन रह कर राजा वापिस अपनी राजधानी आते हैं जहाँ उनका स्वागत जनता द्वारा किया जाता है।

सप्तदश सर्ग— स्वर्ग वापिस जाते हुए देवों का भेंट 'कलि' से हो जाती है. कलि कहता है कि वह दमयन्ती के स्वयंवर में जा रहा है। देवगण उसे स्वयंवर-संपन्न हो जाने आदि की सूचना देते हैं। इस पर वह, क्रुद्ध हो जाता है और राजा नल को राज्यच्युत होने तथा दमयन्ती से वियुक्त होने सम्बन्धी शाप दे देता है।

अष्टादश सर्ग— इसमें नल दमयन्ती के प्रथम मिलन तथा कामक्रीड़ा का सांगोपांग वर्णन है।

एकोनविंशति सर्ग— से द्वाविंशति सर्ग तक—चारों सर्गों में नल-दमयन्ती की दिनचर्या देवस्तुति, चन्द्रोदय, सूर्योदय आदि का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। साथ ही नल-दमयन्ती के विलास का भी सजीव चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

अन्त में कवि-वृत्त के सूक्ष्म वर्णन के साथ कथानक की समाप्ति हो जाती है।

नैषधचरित-महाकाव्य की कथा का स्रोत

अथवा

कथावस्तु का मूल-आधार

अथवा

मूल-कथावस्तु

नैषधचरित की कथावस्तु का प्राचीनतम सूक्ष्म रूप 'शतपथ-ब्राह्मण-२।२।४।१-२' में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त 'कथासरित्सागर', 'कुमारपालप्रतिबोध', 'पद्मपुराण-सृष्टिखण्ड', 'लिङ्गपुराण१।६६, २४-२५'; वायु पुराण २।२६।७४, 'हरिवंश १।१५ तथा 'ब्रह्माण्डपुराण २।६३, १७३-७४'' आदि ग्रन्थों में भी नल-दमयन्ती सम्बन्धी कथा का उल्लेख प्राप्त होता है

किन्तु उक्त कथा का विस्तृत स्वरूप तो हमें 'महाभारत' के अन्तर्गत विद्यमान 'वनपर्व' के प्रसिद्ध 'नलोपाख्यान अ० ५२-७९' में ही प्राप्त होता है। इसी कथा को नैषध की कथावस्तु का मूलआधार माना गया है। किन्तु नैषध-महाकाव्य के २२ सर्गों में प्राप्त होने वाली कथा का सम्पूर्ण मूल अंश तो नलोपाख्यान सम्बन्धी प्रथम ६ अध्यायों में ही आ जाता है।

उपर्युक्त मूल-कथा में महाकवि द्वारा किये गये आवश्यक परिवर्त्तन तथा परिवर्धन

"आचार्य आनन्दवर्धन के मतानुसार विभाव, भाव अनुभाव तथा संचारी भाव की उचित योजना द्वारा [ऐतिहासिक इत्यादि]सुन्दर अथवा उत्प्रेक्षित इतिवृत्त (कथानक) से युक्त प्रबन्ध ही रस का अभिव्यंजक हुआ करता है (ध्वन्यालोक-३-२३॥)। " इस सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए महाकवि श्रीहर्ष ने उपर्युक्त महाभारतीय कथा में यत्र-तत्र आवश्यक परिवर्त्तन आदि किये हैं जिनका संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। वे ये हैं–

(१) महाभारत की सरल वर्णनात्मक-कथा को काव्य की आलङ्कारिक शैली में ढाल दिया गया है। महाभारत में इस कथा का वर्णन केवल ६ अध्यायों में (१८६ अनुष्टुप नामक छन्दों में) ही कर दिया गया है। महाकवि ने इस कथा-भाग का वर्णन २२ सर्गों में २८०४ श्लोकों में विस्तार के साथ किया है। साथ ही उन्होंने इस कथावस्तु के चित्रण के निमित्त विभिन्न प्रकार के २१ छन्दों का भी प्रयोग अपने महाकाव्य में किया है।

(२) "आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः" के अनुसार नैषध-महाकाव्य में दमयन्ती के हृदय में राजा नल के प्रति अनुराग उत्पन्न होने सम्बन्धी प्रवृत्ति पहले हुई है, जब कि महाभारत में नल-दमयन्ती दोनों ने एक-दूसरे की प्रशंसा लोगों से सुनी और परिणामस्वरूप दोनों का एक दूसरे के प्रति अनुराग जाग्रत हुआ है।

(३) उपवन में सरोवर सम्बन्धी कल्पना महाकवि की अपनी है जब कि

महाभारत में सरोवर का कोई भी उल्लेख नहीं आया है। इसका एकमात्र कारण यह है कि महाकवि का ध्यान रसकी ओर रहते हुए भी लक्षण ग्रन्थों में उल्लिखित वर्ण्य-विषय [उद्याने सरण: सर्वफलपुष्पलताद्रुमा:। पिरालिकेलि-हंसाद्या: क्रीड़ाराप्यध्वगस्थिति:॥ काव्यकल्पलतावृत्ति १।६५।६८] की ओर भी रहा है। सरोवर की कल्पना से उपवन-सौन्दर्य की वृद्धि तो हुई ही है, साथ ही उद्यान वर्णन के निमित्त आवश्यक एवं उचित क्रीड़ावापी आदि की भी पूर्ति हो गयी है।

(४) नैषध में रतिभार उच्चतर स्तर का है। यद्यपि महाभारत में भी यह भाव ऐन्द्रियिकता के स्तर से ऊँचा उठ चुका था। किन्तु फिर भी रति भाव की जो उदात्तता तथा कला सम्बन्धी उत्कर्ष श्रीहर्ष ने प्रदान किया है वह महाभारत में प्राप्त न था। श्रीहर्ष की दृष्टि में रतिभाव कर्त्तव्य तथा धर्म की भावना में आवृत है।

(५) महाभारत की कथा में नल हंस को उस समय छोड़ देता है जब कि वह नल का प्रिय कार्य करने की दृष्टि से कहता है कि– "हे राजन्! मुझे न मारिये। मैं आपका प्रिय करूँगा। दमयन्ती के समक्ष पहुँचकर मैं आपका ऐसा वर्णन करूँगा कि वह कभी आपको छोड़कर किसी अन्य पुरुष को स्वीकार ही नहीं करेगी।" किन्तु नैषधचरित में राजा नल हंस के करुण विलाप से द्रवीभूत होकर उसे बिना किसी शर्त के छोड़ देता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत का उक्त वर्णन नैषधीय हंस के करुणरसपूर्ण विलापों के वर्णन की अपेक्षा कहीं अधिक नीरस है। नैषध का हंस राजा नल के हृदय को करुणा से द्रवित करने के लिये अपनी तथा अपने परिवार की स्थिति को सम्यक् रीति से राजा के समक्ष प्रस्तुत करता है। परिणामस्वरूप राजा नल का हृदय पूर्णरूपेण द्रवीभूत हो जाता है और वह हंस को छोड़ देता है।

(६) राजा के हाथ से छुटकारा प्राप्त करने के उपरान्त हंस अपनी कृतज्ञता प्रकट करने हेतु नल के समीप जाता है और तदनन्तर वह अकेला ही दमयन्ती

के पास जाता है। महाभारत में तो अनेक हंस दमयन्ती और उसकी सखियों के समीप जाते हैं और वे उनका पीछा करती हैं।

(७) महाभारत तथा नैषधचरित के हंस के स्वरूप में भी अन्तर है। महाभारत का हंस तो एक सामान्य पक्षी है किन्तु नैषध का हंस एक विशिष्ट रचना है। वह शिष्ट एवं सुसंस्कृत मानव ही प्रतीत होता है।

(८) महाभारत में हंस-दमयन्ती से कहता है कि हे दमयन्ती! निषधदेश में नल नामक एक राजा है **[दमयन्ती नलोनाम निषधेषु महीपतिः। म०भा० व०प० ५३।२६-२७]** किन्तु नैषध में हंस एकाएक नल के प्रसंग को उपस्थित नहीं करता है। वह (हंस) राजा नल के प्रसंग की अवतारणा अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से युक्तिपूर्वक करता है। सर्वप्रथम वह अपने दिव्य होने का परिचय देता है। जिससे नल की महता में चार चाँद लग जाते हैं। तदनन्तर वह कहता है कि इस पृथ्वी पर कोई विरल ही पुरुष होगा कि जो मुझ सदृश दिव्य पक्षी को पकड़ने के लिये साहस करेगा [नैष० च० ३।२१॥]। इस भाँति राजा नल भी महत्ता का प्रदर्शन कर वह अपनी बात कहता है।

महाभारत में हंस-प्रसंग के मात्र १४ श्लोक ही हैं कि जिनका आश्रय प्राप्त कर श्रीहर्ष ने १-३ सर्गों में ३३१ श्लोकों में इस प्रसङ्ग का वर्णन किया है।

(९) महाभारत में हंस के वापिस चले जाने के पश्चात् दमयन्ती की विरह दशा का संक्षिप्त वर्णन प्राप्त होता है किन्तु नैषध में महाकवि ने इसके लिये १२२ श्लोकों का पूरा सर्ग ही नियोजित किया है। इसके अन्तर्गत विरह सम्बन्धी सभी अरस्थाओं का विस्तृत चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

(१०) महाभारत में 'कलि' का प्रवेश नल-दमयन्ती के विवाह के अनन्तर बहुत बात में होता है किन्तु नैषध में उनके विवाह के तुरन्त बाद ही 'कलि' का प्रवेश करा दिया गया है।

(११) देवताओं द्वारा नल-दमयन्ती को दिये गये वरों में भी महाकवि ने परिवर्तन किया है। महाभारत में प्रत्येक देवता दो-दो वर प्रदान करता है। इस भाँति कुल आठ वर दिये जाते हैं। किन्तु 'नैषध-चरित' में अकेले इन्द्र द्वारा ही

चार वर प्रदान किये गये हैं जिनमें केवल एक ही महाभारत में मिलता है। यम द्वारा दो वर दिये गये हैं जिनमें से एक महाभारत में भी विद्यमान है। वरुण द्वारा दिये गये वर दोनों ही समान हैं। इसके अतिरिक्त सरस्वती द्वारा दिया वरदान तो कवि की अपनी कल्पना ही है।

(१२) इन सभी परिवर्तनों का प्रमुख कारण नायक के चरित्र को एक आदर्शपूर्णरूप में प्रस्तुत करना है। महाभारत में राजा नल ने हंस को शर्त के आधार पर छोड़ा है। अतः इसमें स्वार्थपरता का पुट दृष्टिगोचर होता है। किन्तु नैषध में तो वह बिना किसी शर्त के, दयार्द्रभाव के साथ, अपना कर्तव्य समझकर ही हंस को छोड़ देता है। महाभारत का नल जब देवताओं का दूत बनकर जाता है तो वह अपने को छिपाता नहीं है। वह नल के रूप में ही अपना परिचय दमयन्ती को देता है। किन्तु नैषध में तो वह अपने से सम्बन्धित सभी प्रश्नों को टाल देता है। दमयन्ती द्वारा देवताओं में से किसी एक को भी वरण न करने की दृढ़तापूर्वक कही गयी बात को सुनने के पश्चात् ही अपना सूक्ष्म परिचय अन्त में ही देता है। वास्तविकता तो यह है कि महाभारत में राजा नल देवताओं के भय के कारण दूत का कार्य कर रहे थे और नैषध में अपना कर्तव्य समझकर।

(१३) कवि द्वारा कई नवीन चरित्रों को भी महाकाव्य में प्रस्तुत किया गया है जिनमें प्रमुख चरित्र सरस्वती का है जो स्वयंवर में राजाओं का परिचय देने सम्बन्धी कार्य करती हैं। इसके अतिरिक्त इन्द्र को दूती दमयन्ती की सखी कला तथा चार्वाक आदि कलि के सहयोगी भी कवि की अपनी ही कल्पना की उपज है।

(१४) पंचम सर्ग के पश्चात् लगभग सभी वर्णन कवि-कल्पना-प्रसूत ही प्रतीत होती है जैसे– नल का दमयन्ती के भवन में चुपचाप प्रवेश (सप्तसर्ग) दमयन्ती का नख शिख-वर्णन (सप्तम् सर्ग सरस्वती द्वारा स्वयंम्वर में उपस्थित राजाओं तथा देवताओं का परिचय सम्बन्धी वर्णन (दशम से बारहवें सर्ग तक), विवाह-विधिवर्णन तथा विवाहोल्लास वर्णन (१५-१६ सर्ग),

चार्वाक द्वारा नास्तिक-सिद्धान्तों का प्रतिपादन तथा देवताओं द्वारा किया गया उसका खण्डन (१७ वां सर्ग) और नल और दमयन्ती की काम और प्रणय सम्बन्धी क्रीड़ाओं का वर्णन (सर्ग १८-२२)। ये सभी महाकवि के विराट कल्पना-विलास के ही द्योतक हैं।

महाकवि श्रीहर्ष का व्यक्तित्व

आधुनिक युग के समालोचकों ने (विशेषत: यूरोपीय विद्वानों ने तथा उन्हीं के समान दृष्टिकोण रखने वाले भारतीयों ने भी) जो काव्य में कथाप्रवाह, घटनाक्रम का स्वाभाविक विकास, चरित्र-चित्रण सम्बन्धी स्पष्टता, अन्तर्द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा भाषा की विशदता का अन्वेषण करने के अभ्यस्त हैं– भाषा सम्बन्धी दुरुहता, कल्पनाओं की दुर्बोधता, शैली की कृत्रिमता, वस्तुविन्यास का असौष्ठव, शब्दों के प्रयोगों की अतिशयिता, आनुषङ्गिक वस्तुओं के अनावश्यक विस्तृत वर्णन तथा हास्य रस सम्बन्धी ग्राम्यता की दृष्टि से नैषध-महाकाव्य की कटु आलोचना की है। किन्तु किसी प्राचीन रचना की परीक्षा आधुनिक आदर्शों के आधार पर करना समीचीन प्रतीत नहीं होता है। अत: हमारा कर्तव्य है कि हम तत्कालीन युग की संस्कृति तथा समाज के आदर्शों तथा प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए ही तत्सम्बन्धी रचना की प्रतीक्षा करें।

इस सिद्धान्त के आधार पर जब हम महाकवि श्रीहर्ष तथा उनकी कृतियों के बारे में विचार करते हैं तो हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि महाकवि श्रीहर्ष संस्कृत साहित्य के मूर्द्धन्य महाकवियों में से एक है। इनका अकेला नैषध-चरित ही इनके गुणों की महानता एवं विद्वत्ता का परिचायक है। जहाँ तक पाण्डित्य प्रदर्शन, योग्यता, विद्वत्ता और व्युत्पत्तिका प्रश्न है– श्रीहर्ष को हमें सर्वोच्च स्थान पर बैठा देना पड़ता। इसी कारण बृहत्रयी के अन्तर्गत नैषध-चरित को सर्वोत्कृष्ट रत्न के रूप में स्वीकार किया गया है।

नैषध-चरित में यदि हमें एक ओर भाषा-सौन्दर्य का दर्शन होता है तो दूसरी ओर भावसौष्ठव का भी, एक ओर यदि पद-लालित्य की शोभा दर्शनीय

है तो दूसरी ओर स्वर-माधुर्य की छटा अद्वितीय है। एक ओर यदि प्रसाद गुण की प्रचुरता का अवलोकन होता है तो दूसरी ओर ओज गुण का लालित्य भी। एक ओर यदि वैदर्भी की छटा है तो दूसरी ओर गौडी का चमत्कार भी। एक ओर यदि उत्प्रेक्षाओं का बाहुल्य है तो दूसरी ओर अर्थान्तरन्यास का वैभव भी। एक ओर यदि कला पक्ष की प्रधानता है तो दूसरी ओर भाव पक्ष की उदात्तता भी। एक ओर यदि कल्पनाओं की प्रधानता है तो दूसरी ओर चिन्तन की विशालता भी दर्शनीय है। एक स्थल पर यदि शृंगार-रस सम्बन्धी क्रीड़ाओं का दर्शन होता है तो दूसरी ओर करुण का द्रवीभाव भी।

श्रीहर्ष ने संस्कृत-काव्यों की रीति परम्परा में, द्व्यर्थक, त्र्यर्थक अथवा यत्र-तत्र इससे भी अधिक अनेकार्थक पद्य-रचना की एक नवीन-विधा को जन्म दिया है। पाँच-नलों सम्बन्धी वर्णन प्रसङ्ग में उन्होंने इस प्रकार के द्व्यर्थक से लेकर पाँच अर्थ वाले श्लोकों की रचना की है। श्रीहर्ष की अन्यतम विशेषता यही रही है कि उन्होंने अपने से पूर्व चली आयी हुई काव्य-लेखक पद्धति का अन्धातुकरण नहीं किया है। उन्होंने कालिदास से केवल कल्पना को, भारवि से केवल अर्थगौरव का, माघ से पाण्डित्व-प्रदर्शन एवं वाणी की विशदता को सीखा है। उनका काव्य सरस एवं सहृदय तथा व्युत्पन्न पाठकों के लिये नीरस एवं कण्टकाकीर्ण अरण्य ही है। यदि भारवि की सौर-कात्ति को माघ-मास ने निंष्प्रभ कर दिया है। तो हर्ष की वासन्ती-सुषमा ने माघ के कम्पन को भी समाप्त कर दिया है। इसी कारण कहा भी गया है—

तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः॥

वे एक स्वाभिमान-सम्पन्न कवि हैं। उन्हें अपनी विद्वत्ता तथा अपने काव्य की सरसता पर पूर्ण विश्वास है। अरसिकों द्वारा की गयी कटु-आलोचना से वे हतोत्साहित कभी नहीं हुए। किन्तु उसके विपरीत वे पूर्ण दृढ़ता के साथ

मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय मुधियः।
किमस्या नाम स्यादरसतुरुषानादरभरैः॥ नैषध २२।१५०॥

उन्होंने अपने काव्य को अमृतोत्पादक क्षीरसागर ही कहा है—

स परस्पर: क्षीरोदन्वान् यदीयमुदीयते।

मथितुरमृतं खेदच्छेदि प्रमोदनमोदनम्॥ नैषध २२।१५१॥

श्रीहर्ष ने जानबूझकर अपने काव्य को यत्र तत्र कठिन कर दिया है ताकि कोई पण्डितस्मन्य दुष्ट पुरुष उसका रसास्वादन कर ही न सके।

वे एक अत्यन्त गम्भीर प्रकृति के कवि थे। उन्होंने दर्शनशास्त्रों का भली भाँति अध्यय किया था। उन्होंने न्याय सिद्धान्तों के खण्डन तथा वेदान्त मत के मण्डन में ''खण्डनखण्डखाद्य'' नामक ग्रन्थ की रचना भी की है। उनकी प्रवृत्तियाँ धार्मिकता से पूर्णतया ओतप्रोत दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने सांसारिक सुखों को सदैव हेय दृष्टि से देखा था— नैषध के १७ वें सर्ग में इस प्रकार की भावनायें विद्यमान हैं।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका व्यक्तित्व महान् था तथा उनकी प्रमुख रचना 'नैषध' महाकाव्य उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा का निदर्शन है।

श्रीहर्ष की काव्य-प्रतिभा

महाकवि की शैली— श्रीहर्ष की काव्य शैली प्राय: वैदर्भी है, किन्तु यह वैदर्भी कालिदास की वैदर्भी के सदृश प्रसादगुणसंपन्न नहीं है। यह प्राय: पाण्डित्य से परिपूर्ण है। इतना होने पर भी नैषध-महाकाव्य में कुछ ऐसे स्थल भी हैं कि जो प्रसादगुण में कालिदास के तत्सम्बन्धी वर्णनों की टक्कर में आ सकते हैं। हंस विलाप १।८५।१२७॥ तथा हंस का कृतज्ञता-प्रकाशन- २।९।१५॥ इस प्रकार की उनकी वैदर्भी शैली के प्रमुख उदाहरण हैं। वैदर्भी रीति के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं ही कहा भी है।

''धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारै:''

इसके सम्बन्ध में उन्होंने पुन: निम्नलिखित श्लोक में संकेत किया है—

गुणानामास्थानीं नृपतिलकनारीति विदितां
रसस्फीतामन्तस्तव च तव वृत्ते च कवितुः।
भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकण्ठं रचयितुं
परीरम्भक्रीड़ाचरणशरणामन्वहमहम्॥१४॥९१॥

अर्थात् वैदर्भीरीति श्लेषालङ्कार , वक्रोक्ति-विलास,गुण रस आदि के द्वारा यह (नैषध-चरित) महाकाव्य पूर्ण है।

किन्तु यत्र-तत्र उनकी शैली लम्बे-लम्बे समासों से युक्त होने के कारण पौड़ी शैली के समीप पहुँच गयी है :—

सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डल:॥१।२॥

जिस (राजा नल) ने अपने देदीप्यमान तेज की पंक्ति तथा कीर्तिसमूह को (क्रमश:) **सुवर्णदण्ड** और **धवलछत्र** बनाया। एक उदाहरण और भी देखिये :—

स्फुरद्धनिर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे॥१।९॥

अर्थात्— युद्ध में चमकते हुए धनुष की टंकार वाले नल के सघन बाणों की प्रबल वर्षा से बुझे हुए।

श्रीहर्ष की शैल का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व उसके द्वारा अनुप्रास, वीप्सा और यमक आदि शब्दालङ्कारों का प्रयोग है। प्राय: प्रत्येक छन्द में इस प्रकार के अलङ्कार उपलब्ध होते हैं। इसी कारण नैषध-महाकाव्य को ''नैषदे पदलालित्यम्'' कहकर पदों को माधुर्य से पूर्ण कहा गया है। उनके पदलालित्य का कुछ उदाहरण दर्शनीय है :—

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यतिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम्।
तपर्तुपूर्त्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्विभरांबभूविरे॥४१॥

नैषध के एकादश सर्ग में तो श्रीहर्ष के पदलालित्य का अपूर्व सौन्दर्य देखा जा सकता है :—

तत्रावनीन्द्रचयचन्दनचन्द्रलेप नेपथ्यगन्धमयगन्धवह प्रवाहम्।
आलीभिरापतदनङ्गशरानुसारी संरुध्य सौरभमगाहतभृङ्गवर्गः॥

निम्नाङ्कित श्लोक संस्कृत-पंडितों में पदलालित्य के लिये अधिक प्रसिद्ध है:

देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा
वागालपत् पुनरिमां गरिमाभिरामाम्।
अस्यारिनिष्कृपकृपाणसनाथपाणेः
पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम्॥११॥६६

अनुप्रास , यमक नामक शब्दालङ्कारों द्वारा श्री हर्ष के काव्य में पदलालित्य एवं माधुर्य का वैशिष्ट्य आ सका है।

भाषा— श्रीहर्ष की भाषा दुरूह है। किन्तु इसकी दुरूहता को इसलिए ठीक भी कहा जा सकता है कि '' 'खण्डनखण्डखाद्य' जैसे ग्रन्थ की रचना किये जाने के लिये सीधी-साधी और सरल भाषा की आशा करना उचित नहीं है। गम्भीर विषयों के अध्ययन के लिये गम्भीर भाषा का प्रयोग किया जाना स्वाभाविक ही है। अतः उक्त काव्य की भाषा में दुरूहता का आना स्वाभाविक थी। रही नैषध-चरित की भाषा की बात— उसके बारे में यही कहा जाना पर्याप्त है कि उनसे पूर्व हुए महाकवि माघ एवं भारवि ने अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन हेतु दुरूह भाषा का प्रयोग किया था जिसका प्रभाव उन पर भी था और वे उन दोनों की अपेक्षा अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन को और उत्तम रूप में विद्वानों के समक्ष रखना चाहते थे। इस कारण उनकी नैषध-चरित में प्रयुक्त भाषा में भी कहीं-कहीं बहुत अधिक दुरूहता आ गयी है। किन्तु कहीं-कहीं प्रसादगुणयुक्त सरलभाषा के भी दर्शन उनके महाकाव्य में होते हैं।

उनके काव्यरूपी गहन-वन में बिछे शब्द-रूपी काटों और अलंकाररूपी झाड़-झंखाड़ों में से होकर गमन करना किसी भी साधारण रसिक-पथिक के लिये बिना किसी योग्य निर्देशक के सम्भव नहीं है। परिणामस्वरूप योग्य

विद्वानों को भी इनके काव्य को समझने के लिये कभी-कभी कोश तथा टीका का आश्रय लेना पड़ा करता है। पूर्ण परिपक्व बुद्धि वाले रसिक विद्वान् ही उनके काव्य की आत्मा तक पहुँचने का साहस कर सकते हैं।

उनकी भाषा सम्बन्धी कठिनता के प्रमुख कारणों में एक कारण यह भी है कि उन्होंने नैषध-चरित में अनेक अप्रचलित शब्दों का प्रयोग कर दिया है, जैसे– फाल (१।१६), अगदङ्कार (३।१११), अक्पार (१२।१८), श्यैनंपाता (१९।१२), मिहिकारुच (१९।३५), इन्दिन्दिर (२२५८) इत्यादि अनेक अप्रचलित तथा दुरूह शब्द उनके काव्य में भरे पड़े हैं। इसी भाँति अपने व्याकरण सम्बन्धी पाण्डित्य का प्रदर्शन करने के लिये भी उन्होंने अनेक नवीन शब्दों को गढ़कर अपने काव्य में प्रयुक्त किया है। यथा– "शूननायक"(१८।१२९), प्रतीतचर (१८।१२९), अधिगामुका (उक्त श्लोक में ही तता हंस्पृशम् (१८।१३०)।

उनकी भाषा की दुरूहता का एक कारण उनकी शब्द-चमत्कार तथा शब्द-क्रीड़ा की प्रवृत्ति भी है जिसके कारण उनको यमक जैसे अलङ्कारों का अत्यधिक आश्रय लेना पड़ा है। नैषध के तेरहवें सर्ग में "पंचनली" के वर्णन में उनका श्लेष पराकाष्ठा तक पहुँच गया है। जहाँ पर एक-एक श्लोक के पाँच-पाँच अर्थ हैं जो एक साथ ही नल और चारों देवताओं के सम्बन्ध में घटित होते हैं।

कहीं-कहीं तो उनकी भाषा अत्यन्त सरल तथा भावपूर्ण है। दो-एक उदाहरण देखिये :—

धन्यासि वेदर्भिगुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि॥ ३।११६॥

नलेन भायश्शशिना निशेष त्वया स भायान्निनया शशीव॥ ३।११७॥

इसके अतिरिक्त हंस-विलाप वर्णन तथा हंस-द्वारा कृतज्ञाता-प्रकाशन सम्बन्धी उनके वर्णनों की भाषा भी सुबोधगम्य ही है।

अनेक स्थलों पर उन्होंने ऐसी मुहावरेदार भाषा का भी प्रयोग किया है कि जिससे उनकी भाषा का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है। ये मुहावरे

आजकल भी प्रान्तीय भाषाओं में प्रचलित हैं। जैसे– ''कथमास्यं दर्शयिताहे''॥५।७१॥ तथा २०।४९॥ (मैं अपना मुख कैसे दिखाऊँगा।, नवीनमश्रानि तवाननादिदम्॥९।४१॥ (यह तो मैंने तुम्हारे मुख से बिल्कुल नई बात सुनी), ''आसितुं नादत्त'' ॥१८।५३॥ (बैठने नहीं दिया), ''विक्षुतुं नादत्त''॥१८।५३॥ (देखने नहीं दिया)– इत्यादि इन मुहावरों के अतिरिक्त उन्होंने ''इङ्गाल''(१।१९) , ''विरुद'' (११।१७), ''धीरणी'' (१५।४९॥) इत्यादि लोक-भाषाओं में प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग अपनी भाषा में किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीहर्ष की भाषा में प्रौढ़ता के साथ परिष्कार भी है। उनकी भाषा मेंकठिन से कठिन भाव को अभिव्यक्त करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान है। साथ ही उनकी भाषा प्राञ्जल, सरस, प्रवाहमयी तथा ध्वनि एवं लय से परिपूर्ण है। भावों के सदृश ही उन्होंने भाषा का प्रयोग किया है। रस के आधार पर भाषा में भी प्रसाद, माधुर्य तथा ओज गुणों की व्यापकता का अनुभव पाठक को होता है। किसी-किसी स्थल पर दीर्घसमास, अप्रचलित शब्द, दुरूह-वैयाकरण प्रयोग, श्लिष्ट पदावली का बाहुल्य कता कर्मवाच्य प्रयोगों की प्रचुरता भी उपलब्ध होती है।

अलङ्कार– महाकवि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य 'नैषध' में शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार दोनों ही प्रकार के विविध अलङ्कारों का प्रयोग प्रचुरमात्रा में किया है। अलङ्कारों के वर्णन में यह बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि उन्होंने अलङ्कारों का प्रयोग अर्थ की पुष्टि की दृष्टि से ही किया है। काव्य की रसधारा में अवरोध उत्पन्न करने वाले ''मुरज, सर्वतोभद्र और चित्रबन्ध'' इत्यादि अलङ्कारों का प्रयोग उन्होंने नहीं किया है। पदलालित्य एवं माधुर्य की दृष्टि से उन्होंने अनुप्रास और यमक नामक शब्दालङ्कारों का बहुत प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त श्लेष-अलङ्कार के प्रयोग में भी पीछे नहीं रहे हैं। अनुप्रास की छटा के तो उनके महाकाव्य में स्थान स्थान पर दर्शन होते हैं। एक उदाहरण (विशिष्ट) देखिये :–

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरित समागमः।

अपि साधय साधयेप्सितं स्मरणीया समये वयं वयः॥ २।६२॥

'यमक' अलङ्कार का प्रयोग तो अनेक रूपों में उनके काव्य में उपलब्ध होता है। यमक का छटा द्वारा कामदेव की कैसी स्तुति की गयी है ? दर्शनीय है :—

लोकेशकेशवशिवानपि यश्चकार,

शृङ्गारसान्तरभृशान्तरशान्तभावान्।

पंचेन्द्रियाणि जगतामिषुपञ्चकेन,

संक्षोभयन् वितनुतां वितनुर्मुदं वः॥ ११-२५॥

श्लेष-अलङ्कार से तो कवि का विशेष अनुराग है। सच्चे पण्डित की भाँति अवसर मिलते ही द्वितीय-अर्थ की ओर संकेत करने में नहीं चूकते हैं। श्लेष के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण नैषध के तेरहवें सर्ग के पाँच नलों के वर्णन सम्बन्धी प्रसङ्ग में उपलब्ध होते हैं। जहाँ सरस्वती द्वारा नल-रूप में उपस्थित चारों देवताओं तथा नल के स्वरूप का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। महाकवि ने इस स्थल पर श्लेष का विन्यास इस चातुर्य के साथ किया है कि प्रत्येक श्लोक का एक अर्थ तो राजा नल के पक्ष में घटता है और दूसरी ओर उस विशिष्ट देवता के पक्ष में जिसका वर्णन प्रस्तुत है। चौंतीसवें श्लोक में तो महाकवि की श्लेषसम्बन्धी कला का चरमोत्कर्ष पूर्णरूप से प्रस्फुटित हुआ है जहाँ एक ही श्लोक के पाँच अर्थ हैं तो एक साथ नल व चारों देवताओं के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् रूप से घटते हैं :—

इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी श्लेष का सुन्दर विन्यास उनके द्वारा किया गया है। कोलाहल से परिपूर्ण कुण्डिनपुरी के वर्णन में श्लेष के उस लालित्य को देखिये कि जहाँ स्वर्ग और उस नगर में कुछ भेद नहीं रहा :—

स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी विभर्तुया।

स्वरभेदमुपैतु या कथं ललितानल्पमुखारवा न वा॥ २।९८॥

सभंग श्लेष सम्बन्धी दो-एक सरल उदाहरण भी यहाँ दे देना आवश्यक है। दमयन्ती कह रही है कि उसका चित्त लङ्का की कामना नहीं करता :—

चेतो न लंकाम् अयते मदीयम्॥ ३।६७॥

इसी उक्ति में सभंग-श्लेष द्वारा यह भी ध्वनित हो जाता है कि उसका चित्त नल की कामना करता है :—

चेतो नलं कामयते मदीयम्।

''नैषध'' काव्य में शब्दालङ्कारों के ही समान अर्थालङ्कारों की भी अतुल-समृद्धि है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति, सन्देह और अपह्नुति जैसे अर्थालङ्कारों के प्रयोगों में श्रीहर्ष ने अपनी अनुपम, कल्पनाओं को अभिव्यक्त किया है। इनमें अधिकांश कल्पनायें व्याकरण आदि शास्त्रों और पौराणिक गाथाओं पर आधारित है। श्रीहर्ष ने दर्शनशास्त्र, व्याकरण तथा कामशास्त्र आदि से अप्रस्तुतों का चयन किया है जिसके कारण ये अप्रस्तुत प्राय: दुरूह हो गये हैं तथा सम्वन्धित शास्त्र के ज्ञान के बिना जिनका समझ सकना भी कठिन है। एक स्थल पर नल के घोड़े से सम्बन्धित उत्प्रेक्षा देखिये :—

अजस्रभूभीतटकुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभि:।
रयमकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितै:॥ १।५९॥

अर्थात्— राजा नल के घोड़े का वेग अणुपरिमाण वाले मनुष्यों के मनों से भी अधिक तीव्र था। इस कल्पना को समझने के लिये यह आवश्यक है कि पाठकों को नैयायिकों के 'अणुपरिमाणं मन:'' सम्बन्धी का भी ज्ञान हो। इस भाँति व्याकरणशास्त्र से लिये गये 'उपमान' को देखिये :—

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा।
फणिमाषितभाष्यफल्लिका विषमा कुण्डलनामवापिता॥ २॥ ९५॥

अर्थात्— शत्रुओं द्वारा दुर्जेय कुण्डिनपुरी के चारों ओर परिखा के ब्याज से कुण्डली लगा दी गयी है। जैसे शेषनाग के अवतार पतञ्जलि द्वारा रचित

भाष्य की उस फक्किका पर जो समझ में नहीं आती, गोल रेखा (कुण्डली) खींच दी जाती है।

कुछ स्थानों पर तो दर्शन तथा व्याकरण-सम्बन्धी ये उपमान अत्यधिक शास्त्रीयहोने के कारण अत्यधिक जटिल हो गये हैं। दमयन्ती के विरहजनित अश्रुओं को देखकर सखियाँ नल के विरह-ताप का अनुमान कर लेती है। इस वर्णन के साथ न्यायदर्शन के पंचावयव-वाक्य की परार्थानुमान सम्बन्धी प्रणाली का प्रयोग है जिसमें पाण्डित्य-प्रदर्शन का उच्चतम निदर्शन भी विद्यमान है। इसी प्रकार की जटिल कल्पना नल का रूप धारण कर आये हुए इन्द्र को व्याकरण के नियमों के विरुद्ध स्थानिवद्भाव का दुष्ट-प्रयोग करने में प्रस्तुत की गयी है (१०।१३६)। यत्र तत्र नाट्यशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र से सम्बन्धित उपमानों को भी महाकवि ने अपनाया है (९।११८।।)। इस भाँति का पाण्डित्य-प्रदर्शन तो वस्तुतः काव्य की रसानुभूति में सहायक होने की अपेक्षा बाधा ही उत्पन्न कर सकता है। किन्तु कहीं-कहीं पर उनकी ये कल्पनायें सरल तथा चमत्कारपूर्ण भी दृष्टिगोचर होती हैं। निम्नलिखित श्लोक में उन्होंने पौराणिक कथा का उपयोग किस चातुर्थ के साथ किया है? दर्शनीय है :—

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम्।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसैव वेशितः॥१।३२

अर्थात्— जिस प्रकार सर्पभक्षी गरुड़ से ढोया जाता हुआ प्रद्युम्न बलपूर्वक विरोचन-पौत्र (अर्थात् बलपुत्र- बाणासुर) के अग्नि से व्याप्त (शोणितपुर नामक) नगर में प्रविष्ट हुआ था उसी प्रकार भोग-विलासपूर्ण युवावस्था के कारण प्राप्त कामदेव भी नल के प्रति आकृष्ट दमयन्ती के मन में प्रविष्ट हुआ।

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं पर तो उनकी कल्पनायें साधारणजनसंवेद्य भी प्रतीत होती हैं। इस प्रकार की कल्पनायें हमें हंस-विलाप तथा हंस द्वारा कृतज्ञता-प्रकाशन सम्बन्धी प्रसंगों में सरलता से उपलब्ध हो सकती हैं।

लोक-व्यवहार पर आधारित उनके अप्रस्तुत भी प्राय: सुन्दर बन गये हैं (२२।२५, २२।१४, २१।६२ इत्यादि)।

उत्प्रेक्षाओं से तो उनका महाकाव्य भरा पड़ा है। हेतूत्प्रेक्षा सम्बन्धी उनकी एक अनूठी कल्पना दृष्टव्य है। यह उत्प्रेक्षा चन्द्रमा के कलङ्क से सम्बन्धित है :—

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रज: स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम्।

तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ॥

इसी प्रकार "हरि" के श्लिष्ट पद-प्रयोग पर आधारित हेतूत्पेक्षा भी दर्शनीय है (१।७०)। राजा नल के घोड़े अपने पैरों को आकाश की ओर उठाते हैं किन्तु एकाएक उन्हें स्मरण हो जाता है कि उनके ही साथी किसी हरि (१—वामनरूप कृष्ण तथा २- घोड़ा) ने आकाश को केवल एक पैर से ही नाप लिया था। ऐसा सोचकर वे घोड़े अपने दोनों पैरों को पुन: पृथ्वी पर रख लेते हैं।

वस्तुत: महाकवि ने उप्रेत्क्षाओं में अत्यधिक मौलिकता तथा अनुपम चमत्कार का प्रदर्शन अत्यन्त सफलता के साथ किया है। स्वयं के लिये संकेतिक "उत्प्रेक्षा-कवि" की उपाधि उन्हें बिना किसी संकोच के प्रदान की जा सकती है।

उपमा, उत्प्रेक्षा, आदि अलङ्कारों के अतिरिक्त उन्होंने अतिशयोक्ति, विरोधाभास, स्वभावोक्ति, समासोक्ति, दृष्टान्त आदि अनेक अलङ्कारों का भी समुचित प्रयोग अपने महाकाव्य में यथास्थान किया है। अर्थान्तरन्यास के रूप में नितान्त सत्य का स्वरूप-उद्घाटन करने वाले सुभाषितों का भी नैषध महाकाव्य में समुचित स्थानों पर प्रयोग किया गया है। प्रथम अङ्क में ही देखिये— १।५०॥, १।१०२।, १।१३१॥ इत्यादि।

संवाद-योजना— महाकवि ने संवादों की योजना ऐसी उत्तम की है कि जिसके कारण उनमें नाटकीयता का भी भान पाठक को हो जाता है। तृतीय अङ्क में दमयन्ती की सखियों का हटाया जाना पूर्णतया नाटकीय प्रतीत होता

है। शीघ्रता और घबराहट इत्यादि को दिखलाने की दृष्टि से वे कई क्रियाओं का एक साथ प्रयोग करते हैं:— (४।१११-अधिक कापि-इत्यादि)। नाटकीयता की दृष्टि से उनके ९।८ से १४ तक, १७।१२१ से १३२ तक, २०।३७ से ४० तक प्रसंग दृष्टव्य हैं। यत्र-तत्र लोक-व्यवहार सम्बन्धी शब्दों तथा शब्द-समूहों का प्रयोग भी उनकी नाट्यकला सम्बन्धी प्रतिभा का द्योतक है।

छन्द— महाकवि श्री हर्ष द्वारा नैषध-चरित महाकाव्य में १९ छन्दों का प्रयोग किया गया है। जिनमें से इन्द्रवज्रा कोटि के उपजाति छन्द का प्रयोग सात सर्गों में हुआ है। अत: यह उनका सर्वाधिक प्रिय छन्द रहा होगा। वंशस्थ नामक छन्द चार सर्गों में प्रयुक्त हुआ है। बारहवें सर्ग में विभिन्न छन्दों का प्रयोग है जिनमें बाहुल्य ''वंशस्थ'' का ही है। वसन्ततिलका, श्लोक तथा स्वागता नामक छन्दों का प्रयोग क्रमश: २-२ सर्गों में प्रधानरूप से हुआ है। दुतविलम्बित, रथोद्धता, वैतालीय तथा हरिणी नामक छन्दों में से प्रत्येक का प्रयोग एक-एक सर्ग में किया गया है। अचलधृति, तोटक, दोधक तथा पृथ्वी छन्दों में तो १-१ ही पद्य उपलब्ध होता है। मन्द्राकान्ता नामक छन्द में लिखित पाँच पद्य मिलते हैं। पुष्पिताग्रा, मालिनी, शिखरिणी, तथा स्रग्धरा में लिखे गये पद्य कुछ अधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं।

प्रकृति वर्णन— 'नैषध' के प्रथम सर्ग में ही प्रकृति-चित्रण का वर्णन उपलब्ध होता है। कवि ने पूर्वराग की अवस्था में व्यथित राजा नल के मन-बहलाव के निमित्त उपवन जाने सम्बन्धी प्रसङ्ग प्रस्तुत किया है। उपवन में पहुँचकर राजा नल प्रत्येक वस्तु (वृक्ष, पुष्प इत्यादि) को प्रिया से वियुक्त हुए स्नेही व्यक्ति की दृष्टि से देखते हैं। उनकी दृष्टि में सुन्दर से सुन्दर फल-फूल आदि उनके क्लेश को बढ़ाते ही हैं घटाते नहीं। अतएव इस प्रकृति-चित्रण को राजा नल के वियोग-दु:ख को उद्दीप्त करने वाला प्रकृति-चित्रण ही कहा जा सकता है। राजा नल ने चम्पा की कलियों को देखकर उन्हें कामदेव की पूजा का दीपक ही समझा:—

विचिन्वती: पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात्।

व्यलोकयच्चम्पककोरकावली: स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव॥ १।८६

महाकवि ने प्रकृति का मानवीकरण करके उसे मानवोचित अनुभूतियों द्वारा स्पन्दित भी किया है:—

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।

स्थितै: समादाय महर्षिवार्धकाद्वने तदानिथ्यमशिक्षि शाखिभि:॥ १।७७॥

इस श्लोक में वृक्षों द्वारा आतिथ्य सम्बन्धी किया गया प्रदर्शन अनूठा ही है। एक और देखिये कि जिसमें वृक्ष पृथ्वीमाता को प्रणाम करते हैं:—

गतायदुत्संगतले विशालतां द्रुमा: शिरोभि: फलगौरवेणताम्।

कथं न धात्रीमतिमात्रनामितै: स वन्दमानानभिनन्दति स्म तान्॥ १।९८॥

प्रकृति की सजीवता का उत्तम उदाहरण यह है:—

दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिक

पुन: पुनर्मूर्च्छ च तापमृच्छ च।

इतीव पान्थाञ्शपत: पिकान्द्विजान्

सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान्॥ १/९०॥

इस पद्य में कोयल अपनी आँखों को लाल करके पथिकों को शाप दे रही है कि तुम और अधिक दुर्बलता को प्राप्त करते जाओ, बारंबार मूर्छित होओ, ज्वर से पीड़ित होओ।

प्रथम-सर्ग में इस प्रकृति-चित्रण में पशु-पक्षियों के मानव-सदृश कौटुम्बिक सम्बन्ध का दर्शन भी हमें हंस के राजा द्वारा पकड़ लिये जाने पर अपनी माँ, पत्नी तथा शिशुओं के मार्मिकतापूर्ण वर्णन में (९।१३५-१४२) उपलब्ध होता है। यह तो हुआ चेतन पक्षी का वर्णन; जड़ वस्तुओं के कौटम्बिक साहचर्य का भी वर्णन हमें नैषध में प्राप्त होता है (यथा-२२।१२४)

इस भाँति नैषध के प्रथम सर्ग में हमें राजा नल की विरहानल को उद्दीप्त करने वाला प्रकृति का वर्णन मिलता है तथा चतुर्थ सर्ग में दमयन्ती की विरहाग्नि का।

वास्तविकता तो यह है प्रकृति-चित्रण में श्री हर्ष का मन रमता ही नहीं है। इसी कारण उनके इस महाकाव्य में प्रकृति के आलम्बन रूप का वर्णन प्राय: अनुपलब्ध ही है। अत: हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रस्तुत काव्य में उद्दीपन दृष्टि से प्रकृति का वर्णन प्रस्तुत किया गया है तथा इस चित्रण में कल्पना-वैचित्र्य का भी चित्रण हुआ है।

भावाभिव्यक्ति (भावपक्ष)— श्री हर्ष में भावाभिव्यक्ति की अपूर्व क्षमता है। उनकी कल्पनाओं ने भावों को अत्यधिक मनोहर और सुकुमार बनाया है। यद्यपि उनके भाव अत्यन्त गम्भीरता से परिपूर्ण हैं किन्तु अभिव्यक्ति के साथ उनका सौन्दर्य पूर्णरूपेण निखर उठा है।

देखिये— भवितव्यता तथा मानव-हृदय के मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध को उन्होंने कितने सरल और भावपूर्ण शब्दों में अभिव्यक्त किया है :—

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा
यया दिशा धावति वेधस: स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते
जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना॥१२०॥

अवश्य संभव होने वाले विषयों के प्रति विधि की इच्छा जिस ओर जाती है, विवश होकर मनुष्य का चित्त भी उसी ओर जाता है, जैसे आँधी के साथ तिनका।

एक अत्यन्त भावपूर्ण उच्चकोटि की कल्पना देखिये। कालरूपी किरात ने दिनरूपी हाथी का वध किया है। उनकी रक्त की धारा ही मानों रक्त (लाल) वर्ण की संध्या है और उसके मस्तक के मोती ही मानों तारे के रूप में बिखरे हुए हैं—

काल: किरात: स्फुटपद्मकस्य

वधं व्यधाद् यस्य दिनद्विपस्य।

तस्येव संध्या रुचिरास्त्रधारा

ताराश्च कुम्भस्थलमौक्तिकानि॥ २२/९॥

चन्द्रमा के अन्दर विद्यमान कलङ्क के सम्बन्ध में महाकवि की कल्पना की उड़ान देखिये :—

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रज: स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम्।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ॥८॥

राजा नल की विजय-यात्राओं के समय जो धूलि उड़कर समुद्र में गिर गयी थी कहीं कीचड़ बनकर समुद्र से उत्पन्न चन्द्रमा में कलङ्क के रूप में दिखलाई पड़ी है।

नल के घोड़े आकाश में अपने पैर को ऊपर उठाकर लज्जित होकर इस कारण लौट आये कि विष्णु (हरि-घोड़ा) ने एक ही पैर से सम्पूर्ण आकाश को नाप लिया था। हम चार पैरों से उसे क्यों नापें ?

हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भि: क्रमणेऽपि तस्य न:।
त्रपा हरीणामिति नम्रिताननैर्न्यवर्ति तैरर्धनभ:कृतक्रमै:॥७०

इसी प्रकार के भवाभिव्यंजन सम्बन्धी अनेक उदाहरण उनके ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं कि जिनका चारुत्व यथास्थान देखा जा सकता है।

रसाभिव्यक्ति— ''नैषध'' महाकाव्य में अंगीरस 'श्रृंगार' है। वीर, करुण तथा हास्य आदि अन्य रसों का प्रयोग भी महाकवि श्रीहर्ष द्वारा अंगभूत रसों (अंगरसों) के रूप में किया गया है। श्रृंगार के दोनों पक्षों संयोग तथा विप्रलम्भ का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। श्रीहर्ष में कालिदास सदृश रस-परिपाक-दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि उनका श‍ृङ्गार कवि-हृदय से निस्सृत स्वाभाविक स्रोतस्विनी के रूप में नहीं है उस पर वत्स्यायन के कामसूत्र की गहरी छाप है। अठारहवें तथा बीसवें सर्ग में

चित्रित काम-क्रीड़ा के चित्र इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त शृङ्गार का आलम्बन-विभाव दमयन्ती का नख-शिख वर्णन (सप्तम सर्ग में), ज्योनार के समय बरातियों के साथ किया गया हास्य (सोलहवें सर्ग में) इत्यादि वर्णनों में कवि ने अपने शृङ्गार रस सम्बन्धी चातुर्य को प्रकट किया है। किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि उनका शृङ्गार प्रायः अमर्यादि होकर अश्लीलता की सीमा तक पहुँच गया है। इतना सब कुछ होने पर भी उनके द्वारा प्रस्तुत कतिपय संभोग के चित्र अत्यधिक प्रभावोत्पादक तथा कलात्मक दृष्टि से परिपूर्ण भी हैं। दो एक उदाहरण देखिये :—

श्रीहर्ष के विवाह के पश्चात् के नल-दमयन्ती के प्रथम-मिलन का विस्तृत वर्णन अठारहवें सर्ग में किया है। प्रथम समागम सम्बन्धी इस प्रसङ्ग का देखिये :—

वल्लभस्य भुजयोः स्मरोत्सवे दित्सतोः प्रसभमङ्कपालिकाम्।
एककश्चिरमरोधि बालया तल्पयन्त्रणनिरन्तरालया॥ १८/४३॥

संयोग सम्बन्धी एक और चित्र देखिये:—

एकवृत्तिरपि मौक्तिकावलिश्छिन्नहार विततौ तदा तयोः।
छाययाऽन्यहृदयेऽपि भूषणं श्रान्तिवारिभरभाविते भवत्॥ १८॥

अर्थात्— सूरत-काल में नल के वक्षस्थल पर लटकती हुई भी मोती की माला सुरतश्रम-जन्य स्वेद-बिन्दुओं से व्याप्त वक्ष-स्थल पर प्रतिबिम्बित होने से दमयन्ती के हृदय पर भी भूषण बन गयी।

सुरतावस्था के पश्चात् का एक अन्य मनोहर-चित्र भी देखिये:—

अर्धमीलितविलोलतारके सा दृशौ निधुवनक्लामालसा।
यन्मूहूर्त्तमवहन्न तत् पुनस्तृप्तिरास्त दयितस्य पश्यतः॥ १८॥ ११९॥

अर्थात्— सुरत-श्रम के कारण आलस्य पूर्ण उस (दमयन्ती) ने कुछ समय तक जो अर्धनिमीलित एवं चंचल पुतलियों वाले नेत्रों को धारण किया उसे बारंबार देखते हुए भी प्रिय नल को तृप्ति नहीं हुई।

इस सुरत सम्बन्धी चित्रों के अतिरिक्त भी महाकवि ने अनेक स्थलों पर

संभोग को व्यंजित करने वाले पद्यों की रचना की है और उनमें अपनी कला का पूर्ण उपयोग भी किया है। उदाहरणार्थ पाणिग्रहण के अवसर पर चित्रित एक पद्य को दिखिये :—

विदर्भजाया: करवारिजेन यन्नलस्य पाणेरुपरि स्थितं किल।
विशङ्क्य सूत्रं पुरुषायितस्य तद भविष्यतोऽस्मायि तदा तदालिभि:॥

१६।१५॥

अर्थात्— नल के हाथ के ऊप जो दमयन्ती का हस्तकमल रखा गया उसे भविष्य में होने वाले पुरुषायित (विपरीत-रति) का सूचक मानकर उस समय दमयन्ती की सखियाँ मुस्करा दीं॥

नायिका दमयन्ती का नख-शिख-वर्णन दूसरे, सातवें, दसवें, पंद्रहवें और बाईसवें सर्ग में भी मिलता है। यद्यपि नख-शिख वर्णन तो प्राय: प्रत्येक महाकवि ने किया है किन्तु नैषध जैसा विलासमय नख-शिख-चित्रण, अन्यत्र उपलब्ध न होगा (देखिये १७।९१)। इस नख-शिख वर्णन में श्रीहर्ष ने दमयन्ती के अंगों के उपमानों के रूप में प्रयुक्त परम्परागत उपमानों का तो प्रयोग किया ही है, साथ ही अन्य शास्त्रों, पुराणों और लोकव्यवहार तक की घटनाओं से भी उपमानों का चयन किया है।

स्तनों की उपमा के लिये सामान्यत: प्रयुक्त उपमान 'घट' को ही उन्होंने चुना है किन्तु इन घटों को उस (दमयन्ती) के शरीर में कामदेव के तैरने की साधन भी बना दिया है :—

अपितुद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम्।
रस्मरयौवनयो: खलु द्वयो: प्लवकुम्भौ भवत: कुचाबुभौ॥ २।३७

अर्थात्— कान्ति प्रवाह से अगाधता को प्राप्त भी उस (दमयन्ती) के शरीर में बढ़ते (क्रीड़ा करते) हुए कामदेव तथा युवावस्था के लिये (दमयन्ती के विशाल) दोनों स्तन मानों तैरने के घड़े ही हो गये हैं।

विप्रलम्भ-शृङ्गार का चित्रण दमयन्ती और राजा नल के पूर्वराग के रूप में चित्रित है। इन वर्णनों में कवि ने अपनी कल्पनाओं का पर्याप्त प्रयोग किया है। कामाग्नि से संतप्त दमयन्ती बार-बार सरस एवं नवीन विकसित कमलों को अपने हृदय पर रखने के लिए ग्रहण करती है किन्तु अंगस्पर्श होने से पूर्व ही वह निश्वास की तप्त वायु से सूखर मर्मर (पापड़ सदृश) हो जाता है और दमयन्ती उसे फेंक देती है।

स्मरहुताशनदीपितया तया बहु मुहुः सरसं सरसीरुहम्।
श्रयितुमर्धपतं कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम्॥४।२९॥

उस दयमन्ती के द्वारा संतपनशील हृदय पर रखा गया हुआ चन्दन का लेप बुदवुद (पानी का बलबूला) बनकर हृदय स्थित कामदेव के पास तारेरूप में विद्यमान परिवार के सहित आये हुए चन्द्रमा के सदृश प्रतीत होता था :—

विनिहितं परितापिनि चन्दनं हृदितयाभृतबुद्बुदमाबभौ।
उपनमन् सुहृदं हृदयेशयं विधुरिवाङ्कगतोडुपरिग्रहः॥२।२८॥

अङ्गीरस के रूप में प्रयुक्त शृङ्गाररस सम्बन्धी दोनों पक्षों का सूक्ष्म विवेचन कर देने के पश्चात् अब यहाँ यहभी आवश्यक हो जाता है कि अंगरूप में प्रयुक्त रसों के भी एक-एक या दो-दो उदाहरण देखकर महाकवि के अन्य रस-सम्बन्धी चित्रण को भी देख लिया जाय। सर्वप्रथम उनके हास्य रस का चित्रण देखिये :—

बराती जब भोजन कर चुके तब उन्हें मुखशुद्धि के निमित्त ऐसी सुपारी भेंट की गई कि जो बिच्छू के आकार की थी। अतः ग्रहण करते ही बरातियों ने बिच्छू समझकर तुरन्त फेंक दिया। यह देखकर घराती लोंग हँस पड़े :—

मुखे निधाय क्रमुकं नलानुगंरथौज्झि पर्णालिखेक्ष्य वृश्चिकम्।
दमार्पितान्तर्मुखवासनिर्मितं भयाविलैः स्वभ्रमाहासिताखिलैः॥१६

इसी भाँति एक कल्पना में श्रीहर्ष कहते हैं कि धर्मविधि में संलग्न ब्रह्मा वाणी (सरस्वती) को पूर्णरूप से रोके रखते हैं (तात्पर्य यह है कि मेरी पत्नी बाहर जाकर नल को देखकर कहीं उन पर अनुरक्त न हो जाय— इस कारण वे

मौन धारण कर सरस्वती को वहीं रोके रखते हैं)। किन्तु वेदाभ्यास के कारण जड़ ब्रह्मा को यह पता नहीं कि सरस्वती पहले ही उस नल के कंठ का आलिङ्गन कर रस से तृप्त हो चुकी हैं :—

अलं सजन् धर्मविधौविधाता
रुणद्धि मौनस्य मिषेण वाणीम्।
तत्कण्ठमालिङ्ग्य रसस्य तृप्तां
न वेद तां वेदजडः स वक्राम्॥३/३०॥ इत्यादि

करुण रस का चित्रण हमें प्रथम सर्ग में राजा नल द्वारा हंस के पकड़ लिये जाने पर उसके विलाप में उपलब्ध होता है। हंस की उक्तियाँ वस्तुतः अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं :—

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा
नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो
विधे! त्वां करुणा रुणद्धि न॥१/१३५

इस प्रकार की करुणा रस से सम्बन्धित हंस की उक्तियाँ पूरे हंस-विलाप वर्णन में ही हमें उपलब्ध होती हैं।

वीर रस का वर्णन हमें दमयन्ती के स्वयंवर में आये हुए राजाओं के वर्णन में प्राप्त होता है (देखिये सर्ग ११, १२ तथा १३)

चरित्र-चित्रण

राजा नल— नैषध महाकाव्य में नायक नल धीरोदत्त नायक के रूप में स्थित है। साहित्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा निर्धारित नायक के प्रायः सभी गुण उनमें विद्यमान हैं। वह एक पुण्यात्मा (देखिये श्लोक सं० १।१), विद्वान् (१।४ तथा ५), शास्त्रचक्षु (१।७), शूरवीर (१।६ तथा १०), त्यागी तथा दानी (१।५-१६) और गुणों के प्रति अनुराग कराने वाले (१।१७) व्यक्ति हैं। महाभारत के नल की अपेक्षा वे अधिक उदार, धर्मनिष्ठ तथा कर्तव्यपरायण हैं। उनके स्वाभिमान का द्योतक उनका यही आचरण है कि वे अत्यधिक

कामसंतप्त होने पर भी दमयन्ती के पिता राजा भीम से उसकी याचना नहीं करते।

हंस के प्रति किये गये व्यवहार के आधार पर राजा नल का परम कारुणिक दयालु तथा उदार होना परिलक्षित होता है। हंस-विलाप-वर्णन में हंस द्वारा कथित अपने परिवार की दयनीय दशा का श्रवणकर राजा नल के नेत्र अश्रु-परिपूर्ण हो जाते हैं तथा उसके उक्त वर्णन से प्रभावित होकर राजा नल बिना किसी शर्त आदि के ही हंस से केवल यह कहकर ही उसे छोड़ देते हैं–

रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ तयेच्छमथेत्यभिधाय॥ १-१४३

अर्थात्– मैंने तेरे जिस रूप को देखने के लिये तुझे पकड़ा था वह तेरा रूप मैंने देख लिया। अब तुम अपनी इच्छानुसार जहाँ भी जाना चाहो, जाओ।

देवों के दौत्यरूप में विद्यमान राजा नल अनेक गुणों से युक्त होकर पाठक के समक्ष आते हैं। इन्द्र आदि देवता नल को अपना दूत बनाकर उनमें से किसी एक को प्रतिरूप में वरण करने के लिये दमयन्ती के समीप प्रेषित करते हैं यह नल की कठोर-परीक्षा का समय है। एक ओर राजा स्वयं ही दमयन्ती के प्रेम में आसक्त हैं और वह यह भी जानते हैं कि दमयन्ती भी उसी भाँति उनके प्रति अनुरक्त है। दूसरी ओर इसे अपनी प्रेयसी को देवताओं में से किसी एक को वरण करने के लिये तैयार भी करना है। इस भाँति राजा नल के लिय यह घोर परीक्षा का समय है। बहुत सोचने के पश्चात् कर्त्तव्यपारायण होने के नाते वे प्रेम की अपेक्षा कर्त्तव्य को ही श्रेष्ठ समझते हैं और उसी दृष्टि से इन्द्र के प्रभाव से अदृश रूप धारण कर दमयन्ती के भवन में प्रवेश करते हैं। अपने को पूर्णरूप से प्रच्छन्न रखते हुए कभी देवताओं के असीम वैभव का लोभ लेकर और कभी देवताओं के क्रोध सम्बन्धी भय का प्रदर्शन कर दमयन्ती से किसी एक देवता का वरण कर लेने की प्रार्थना करते हैं। किन्तु दमयन्ती अपने निश्चय से तनिक भी विचलित नहीं होती। वह नल के प्रति अपने अनन्य अनुराग को ही प्रकट करती है। दमयन्ती द्वारा बार-बार पूछे जाने पर भी वे अपने वास्तविक रूप को

प्रकट नहीं करते हैं और बारंबार उससे यही प्रार्थना करते हैं कि वह होने वाले स्वयंवर में किसी देवता को ही वरण करे। अन्त में राजा नल दमयन्ती को यह भय भी दिखलाते हैं कि यदि वह देवों का निरादर कर राजा नल का ही वरण करेगी तो देव उसे शाप दे देंगे और इस भाँति वह नल को प्राप्त न कर सकेगी। यह सुनकर दमयन्ती अत्यन्त व्याकुल होकर नल को सम्बोधित कर नाना प्रकार से विलाप करने लगती है। इस दृश्य को देखकर राजा नल अपने को रोक नहीं पाते हैं और दमयन्ती के समक्ष अपने को प्रकट कर देते हैं। किन्तु बाद में उनका अपनी त्रुटि का ध्यान आता हैं और वे उसके लिये पश्चात्ताप भी करते हैं। इस वर्णन से राजा नल की कर्त्तव्यपरायणता, त्यागशीलता, वदान्यता, सहृदयता तथा सत्यता जैसे महापुरुषोचित गुणों का स्पष्ट ज्ञान पाठक को प्राप्त होता है। इस वर्णन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे दमयन्ती के अनुराग में किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अन्धे नहीं हुए थे। अपितु इन्द्रियजन्य भोगलिप्सा की परिधि से वे कहीं अधिक ऊँचे उठे हुए थे।

प्रस्तुत काव्य के १८ अठारहवें तथा २० बीसवें सर्ग में एक सफल गृहस्थ के रूप में वे पाठक के समक्ष आते हैं। अतः यह कहना उचित नहीं है कि धीरोदात्त नायक के सभी प्रकार के गुण से वे युक्त हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे वस्तुतः एक महान् पुरुष की श्रेणी में रखे जाने योग्य व्यक्ति हैं। उदाहरण रूप में हंस की निम्नलिखित उक्ति को देखिये :—

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैः तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात्॥

अर्थात्— यदि महापुरुषों का वर्गीकरण किया जाय तो राजा नल ही प्रथम स्थान पर गिने जायेंगे कि जिन्होंने अपने पराक्रम के वैभव से असंख्य शत्रु राजाओं के पदों को अपने अधीन करने में समर्थता प्राप्त की थी।

महाकवि द्वारा अपने नैषधचरित महाकाव्य में चित्रित राजा नल का चरित्र इतना लोकरंजक हो गया है कि यदि उनके महाकाव्य के आधार पर उनके

जीवन के सम्बन्ध में यह कह दिया जाय कि उनका जीवन चारों पुरुषार्थों का समन्वित रूप था तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

दमयन्ती– एक नवयौवना, परमसुन्दरी, लज्जाशीला तथा स्थिरचित्ता मुग्धा नायिका है। उसकी विनयसम्पन्नता का यह सबसे बड़ा प्रमाण है कि वह प्रारम्भ से लेकर अन्त तक सती, साध्वी, प्रतिव्रता, स्त्री के ही रूप में पाठकों के समक्ष आती है। युवतियों सम्बन्धी उद्दाम, कामवासना में लिप्त दिखलाई नहीं देती। उसकी तो एकमात्र अभिलाषा है, नल की दासी बनने की। वह हंस से कहती है :–

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण॥३।८०॥

अतएर उस (दमयन्ती) के मन को अमूल्य चिन्तामणि को भी प्राप्त करने की इच्छा नहीं है :–

तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम्।
वित्ते ममैकस्स नलस्त्रिलोकीसारो विधिः पद्मपुखस्स एव॥३।८१

चन्द्रोपालम्भ के अवसर पर नल सम्बन्धी विरह व्यथा से वह मूर्च्छित हो जाती है किन्तु पिता के आने पर वह शीघ्र ही विरहव्यथा के चिह्नों को छिपाकर उनके चरणों में प्रणाम करती है। यह उसके उदात्त-चरित्र की पहली विशेषता है। उसके उदात्त चरित्र की तेजस्विता, इन्द्र-दूती द्वारा तथा देवों के दौत्यरूप में नल द्वारा किये गये प्रस्तावों के निराकरण में लक्षित होती है। स्वर्गलोक के अधिपति तथा अनन्त ऐश्वर्य के स्वामी इन्द्र के रूप तथा ऐश्वर्य के प्रति उसमें लोभ नहीं है। राजा नल में ही उसकी अप्रितम निष्ठा है।

दमयन्ती एक आदर्श गृहणी के रूप में भी हमारे समक्ष आती है। वह देव-पूजा किया करती थी तथा पति के भोजन कर लेने के पश्चात् ही भोजन किया करती थी। उसके सम्पूर्ण चरित्र की विशेषता इन्द्र के शब्दों में इस प्रकार है :–

सा भुवः किमपि रत्नमनर्घं भूषणं जयति तत्र कुमारी॥३।२६।

अर्थात्–दमयन्ती पृथ्वी का भूषण, कोई अमूल्य रत्न और अमोघ कामशास्त्र है।

प्रस्तुत महाकाव्य के प्रतिनायक इन्द्र तथा अन्य देवगण हैं।

नैषधमहाकाव्य का महाकाव्यत्व

''नैषधमहाकाव्य'' संस्कृत-साहित्य के पाँच सुप्रसिद्ध महाकाव्यों [(१) कुमारसंभव, (२) रघुवंश, (३) किरातार्जुनीयम, (४) शिशुपालवधम् और (५) नैषधमहाकाव्य] में से एक है। इनमें से अन्तिम तीन महाकाव्यों की गणना 'बृहत्त्रयी' में की गयी है तथा अवशिष्ट दो महाकाव्यों और मेघदूत की गणना लघुत्रयी में की गयी है। बृहत्त्रयी के अन्तर्गत आने वाले तीनों महाकाव्यों में ''नैषधमहाकाव्य'' ही श्रेष्ठतम महाकाव्य माना गया है। विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ ''साहित्यदर्पण'' में महाकाव्य के निम्नलिखित लक्षण किये हैं :–

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोंऽगी रस इष्यते ॥
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः ।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्। ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ॥
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ॥
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ॥

सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथाय।: सूचनं भवेत् ।
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासरा: ॥
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागरा: ।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वरा: ॥
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादय: ।
वर्णनीयं यथायोगं सांगोपांगा अमी इह ॥
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य च ।
नामास्यं सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ॥

अर्थात्– महाकाव्य सर्गों में बंधा होता है। उसमें एक धीरोदात्त आदि नायक (प्रधानपात्र) होता है। जिसका देवता तथा सद्वंशोत्पन्न क्षत्रिय होना आवश्यक है। अथवा एकवंश में ही उत्पन्न अनेक कुलीन राजा भी नायक हो सकते हैं। शृङ्गार, वीर और शान्त रसों में से कोई एक रस अङ्गी (प्रधान) रस होता है। अन्य रसों का प्रयोग गौण अथवा सहायक रसों के रूप में किया जा सकता है। सब नाटक-सन्धियाँ विद्यमान रहा करती हैं। कथावस्तु का ऐतिहासिक अथवा किसी लोकप्रसिद्ध, सज्जन, उदार, धर्मात्मा व्यक्ति के वीरतापूर्ण अथवा अनुकरणीय कार्य से सम्बन्धित होना आवश्यक है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में से किसी एक की प्राप्ति महाकाव्य का उद्देश्य होना चाहिये। महाकाव्य का प्रारम्भ नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण से होना चाहिये। कहीं पर दुष्टों की निन्दा तो कहीं सज्जनों की कीर्ति अथवा उनका गुणगान भी हो। कम से कम ८ सर्गों का होना आवश्यक है जो न अधिक छोटे तथा न अधिक लम्बे ही हों। प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार के छन्द हों किन्तु सर्ग का अन्तिम छन्द भिन्न होना आवश्यक है। कभी-कभी किसी सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग भी किया जा सकता है। कभी-कभी किसी सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग भी किया जा सकता है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगमी सर्ग-विषयक कथा का संकेत कर दिया जाना भी आवश्यक है। महाकाव्य में (प्रकृति वर्णन) संध्या, सूर्य,

चन्द्रमा रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रात:काल, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, ऋतु (छहों), वन, समुद्र, संयोग, वियोग (मिलन और विरह), मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, आक्रमण, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथास्थान संगोपांग वर्णन होना चाहिये। महाकाव्य का नाम कवि के नाम से अथवा कथानक के आधार पर अथवा प्रमुख चरित्र-नायक के नाम पर होना चाहिये तथा सर्ग का नाम सर्ग से सम्बन्धित कथा के आधार पर रखा जाना चाहिये।

ये सभी लक्षण ''नैषधमहाकाव्य'' में विद्यमान है। इस महाकाव्य की कथावस्तु महाभारत के वनपर्व से ली गयी है तथा २२ सर्गों में कथा का निबन्ध किया गया है। इसके नायक नल धीरोदात्त नायक के सामान्य तथा विशिष्ट गुणों से युक्त सद्वंश क्षत्रिय हैं। इसमें अंगीरस (प्रधान रस) शृङ्गार है। अन्य वीर, करुण, हास्य आदि सहायक (गौण) रस हैं कि जिनका प्रयोग अंग रूप में हुआ है। प्रत्येक सर्ग में प्राय: एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन भी किया गया है। बारहवें सर्ग में विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिनमें वंशस्थ छन्द का ही बाहुल्य है। प्रात:काल, सायंकाल, रात्रि, चन्द्रमा, विवाह, समुद्र, संभोग आदि का वर्णन यथास्थान किया गया है। मुखसन्धि, निर्वहण सन्धि आदि सन्धियों का निर्वाह सम्यक् रूप में हुआ है। कथावस्तु ऐतिहासिक है। दमयन्ती की प्राप्ति होना ही फल है। चरित्रनायक की दृष्टि से इसका ''नैषधमहाकाव्य'' नाम सार्थक ही है।

इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि इस महाकाव्य में प्राय: सभी लक्षणों का सन्निवेश हुआ है। अत: यह एक उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है।

नैषधे पदलालित्यम्

अर्थात्—नैषधमहाकाव्य में पदलालित्य का वैशिष्ट्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि पदलालित्य सम्बन्धी वैशिष्ट्य से नैषधमहाकाव्य ओतप्रोत है। यद्यपि

प्रसाद, माधुर्य और ओज तीनों गुणों से सम्बन्धित वर्णन नैषध में विद्यमान हैं, तथापि यह कहना अनुपयुक्त न होना कि प्रसाद तथा माधुर्य के साथ पदों का लालित्य भी उसी प्रकार निखर आता है कि जिस भाँति सुहागे से सोना निखर आता है। पदलालित्य के कारण काव्य में संगीतात्मकता तथा लयात्मकता का भी समावेश हो जाता करता है साथ ही काव्य श्रुतिसुखद भी हो जाया करता है। उनके इस वैशिष्ट्य के कारण ही विद्वानों एवं आलोचकों का यह कहने के लिये बाध्य हो जाना पड़ा कि – ''नैषधे पदलालित्यम्''।

उनके द्वारा प्रयुक्त अनुप्रास तथा यमक आदि शब्दालङ्कारों के कारण यह पदलालित्य और भी अधिक चमत्कारपूर्ण बन गया है। कुछ उदाहरण देखिये :—

(१) अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणां क्व तच्छयच्छापलवोऽपि पल्लवे।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः॥

(२)अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यतिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम्।
तपर्तुपूर्त्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्विभरांबभूविरे॥१।४१॥

(३)सकलया कलया किल दंष्ट्रया समवधाय यमाय विनिर्मितः।
विरहीणीगणचर्वणसाधनं विधुरतो द्विजराज इति श्रुतः॥४।७२॥

अर्थात्– यह चन्द्रमा यमराज के लिये सावधान होकर (ब्रह्मा द्वारा) सम्पूर्ण कलारूपी दाँतों से विरहिणी-समूह को चबाने का साधन बनाया गया है। अतएव इसे द्विजराज (द्विजों अर्थात् दाँतों से सुशोभित होने वाला) कहा गया है।

'नैषध' के ग्यारहवें सर्ग में श्रीहर्ष के 'पदलालित्य' का अपूर्ण सौन्दर्य देखा जा सकता है। उदाहणार्थ देखिये :—

तत्रावनीन्द्रचयचन्दनचन्द्रलेपनेपथ्यगन्धमयगन्धवहप्रवाहम्।
आलीभिरापतदनङ्गशरानुसारी संरुध्य सौरभमहागत भृङ्गवर्गः॥

अर्थात्– वहाँ (स्वयंवर में) राजाओं के समूह के चन्दन व कपूर के लेप

की सुगन्धि को लेकर बहने वाले वायु का मार्ग रोककर कामदेव के बाणों के सदृश पंक्तियों में गिरता हुआ भ्रमरसमूह सुगन्ध का उपभोग कर रहा था।

निम्नलिखित पद्य संस्कृत के विद्वानों और पण्डितों में पदलालित्य की दृष्टि से अत्यधिक प्रसिद्ध है :—

देवीपवित्रितचतुर्भुजवामभागा
वागालपत् पुनरिमां गरिमाभिरामाम्।
अस्यारिनिष्कृपकृपाणसनाथपाणेः
पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम्॥ ११।६६॥

विष्णु के वामभाग को पवित्र करने वाली सरस्वती देवी गौरव की गरिमा से मनोहर इस दमयन्ती से पुनः बोली— " शत्रुओं के प्रति निर्दय तथा हाथ में तलवार लिये हुए इस राजा के विवाह से अपने अथवा इस राजा के गुणसमूह को अनुगृहीत करो।"

नैषधं विद्वदौषधम्

महाकवि श्रीहर्ष 'नैषध-महाकाव्य' में अपनी व्युत्पत्ति-प्रदर्शन का जो उपक्रम किया है उसके कारण काव्य में क्लिष्टता तथा दुरूहता आ गयी है अनेक शास्त्रीय सिद्धान्तों के वर्णनों, क्लिष्ट तथा श्लिष्ट प्रयोगों के चित्रणों और बहुलता सम्बन्धी अपने पाण्डित्य प्रदर्शन द्वारा उन्होंने काव्य के गागर में सागर ही भर दिया है। इसी कारण नैषधमहाकाव्य को विद्वानों के लिये औषध अथवा रसायन माना गया है। नैषधमहाकाव्य के सुचारु अध्ययन द्वारा जिन्होंने अपने को इस महाकाव्य सम्बन्धी विशेषताओं का विशिष्ट ज्ञाता बना लिया है उनको विविध शास्त्रों का परिचायक कहा जा सकता है। इस महाकाव्य में श्रीहर्ष ने श्लेषयुक्त प्रयोगों के अतिरिक्त व्याकरण, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त, मीमांसा, चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि दर्शनों के कठिन सिद्धान्तों का भी जहाँ तहाँ वर्णन किया है। अतः जिनको इन सभी शास्त्रों का साम्यक् ज्ञान नहीं है उनके

लिए इस महाकाव्य का समझना वस्तुत: दुरूह हो जाता है। इसी कारण कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने श्रीहर्ष के महाकाव्य की कटु आलोचना भी की है। इन्होंने कला-पक्ष को अत्यधिक महत्व दिया है। परिणामस्वरूप भावपक्ष दब गया है। उदाहरण के रूप में दो-एक स्थलों पर दृष्टिपात कीजिये :—

पाणिनि के "अपवर्गे तृतीया" (२।३।६) सूत्र पर व्यंग्य किया गया है :चच

उभयी प्रकृति: कामे सज्जेदिति मुनेर्मन:।

अपवर्गे तृतीयेति भणत: पाणिनेरपि॥ १७।७०॥

अर्थात्— अपवर्ग (मोक्ष) के लिये तृतीय (पुरुष और स्त्री से भिन्न नपुंसक व्यक्ति)ही उपयुक्त है।

उन्होंने न्याय-दर्शन में वर्णित आनन्दरहित मोक्ष के सम्बन्ध में भी अच्छी चुटकी ली है :—

मुक्तये य: शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।

गोतमं तमवेच्यैव तथा वित्थ तथैव स:॥ १७।७५॥

अर्थात्— न्यायदर्शनप्रणीत मोक्ष गोतम (बड़े बैल, मूर्खतम) का मत है।

वैशेषिक दर्शन में तम (अन्धकार) को भी पदार्थ मानने सम्बन्धी वर्णन विद्यमान है। इस दर्शन के प्रणेता मुनि कणाद का दूसरा नाम 'उलूक' है। इसी कारण इस दर्शन को औलूकदर्शन भी कहा जाता है। इस विषय पर व्यंग्य करते हुए श्रीहर्ष ने लिखा है कि (उलूक) ही तमस्तत्व का परीक्षण कर सकता है तथा इस बारे में उसी का कथन मान्य हो सकता है :—

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।

औलूकमाहु: खलु दर्शनं तत् क्षमं तमस्तत्वनिरूपणाय॥ २२।३५

वेदान्तदर्शन के सिद्धान्तानुसार मुक्तावस्था में जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं। इसके सम्बन्ध में व्यंग्य करते हुए महाकवि ने प्रतिपादित किया है

कि मूर्ख पुरुषों को अपने ही अस्तित्व की समाप्ति रुचिकर होगी :—

स्वयं च ब्रह्म च संसारे, मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम्।

इति स्वोच्छित्तिमुक्त्युक्तिवैदग्धी वेदवादिनाम्॥ १७।७४॥

उन्होंने सभी दार्शनिक मतों का खण्डन करते हुए अद्वैतवाद को ही सर्वमान्य कहा है। (नैषध-१२।३६) सरस्वती के स्वरूप का वर्णन करते हुए उन्होंने एक ही श्लोक में बौद्धदर्शन की तीन शाखाओं (शून्यवाद, विज्ञानवाद तथा सौत्रान्तिकों का साकार विज्ञानवाद) का वर्णन प्रस्तुत किया है। (नैषध१०।८८॥) "**नास्तिजन्यजनकव्यतिभेदः**"(५।९४) में सांख्यदर्शन सम्बन्धी सत्कार्यवाद का, "**संप्रज्ञातवासिततमः समपादि**" (२१।११८॥) में योगदर्शन सम्बन्धी संप्रज्ञातसमाधि का,, "**आदावित्र द्व्यणुककृत परमाणु युग्मम्**" (३।१२५॥) में वैशेषिकदर्शन समबन्धी परमाणुवाद का, "**मनोभिरासीदनणुप्रमाणैः**" में मन की अणुस्वरूपता का वर्णन उपलब्ध होता है।

वे ज्योतिष के विद्वानों से भी पूर्ण-परिचित थे। उन्होंने लिखा है :—

अजस्त्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च।१।१७॥

उपर्युक्त शास्त्रीय सिद्धान्तों के वर्णनों के कारण नैषध में स्थान-स्थान पर दुरूहता का दर्शन पाठक को होता हैं। श्लेषमूलक वर्णनों ने तो इस दुरूहता को और भी जटिल बना दिया है।

पंचनली-वर्णन के प्रसंग में श्लेष के द्वारा उन्होंने एक साथ इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम और नल पाँचों का एक साथ वर्णन निम्नलिखित श्लोक में किया है:—

देवः पतिर्विदुषि नैष धराजगत्या

निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।

नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो

यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते॥ १३।३४॥

इसी प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण ''नैषधमहाकाव्य'' में विद्यमान हैं कि जिनके आधार पर ''नैषधं विद्वदौषधम्'' इस उक्ति की चरितार्थता सिद्ध की जा सकती है।

श्रीहर्ष द्वारा प्रयुक्त कुछ नवीनताएँ

श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य नैषध में कुछ इस प्रकार के प्रयोग किये हैं जिनका प्रयोग आजकल की बोलचाल की भाषा में भी किया जाता है। उदाहरणार्थ– ''**जनानने कः करमर्पयिष्यति**'' (९।१२५) अर्थात् लोगों का मुख कौन बन्द कर सकता है? ''**आसितुं नादत्त**'' (१८।५३) अर्थात् बैठने नहीं दिया। ''**वीक्षितुं नादत्त**'' (१८।५३) अर्थात् देखने नहीं दिया। ''**कथमास्यं दर्शयिताहे**'' (५।७१) अर्थात् मैं अपना मुख कैसे दिखलाऊँगा? ''**नवीनमश्रावि तवाननादिदम्**''(९।४१) अर्थात् मैंने तुम्हारे ही मुख से यह नवीन बात सुनी है। इत्यादि-इत्यादि।

श्रीहर्ष ने वार्तालाप सम्बन्धी प्रसंगों में नाटकीयता लाने का प्रयास किया है। जैसे ''दृष्ट दृष्टम्''– (देख लिया, देख लिया), तद् वद (तो बतलाओ), न न (९।११४)– नहीं नहीं, हु हुम् (२०।६५) (अर्थात् हूँ-हूँ हुँकार भरना), ब्रवीषि न (९।८९) अर्थात् कहते हो न (तात्पर्य-कहते हो)। इत्यादि।

इसी प्रकार उन्होंने अपनी रचनाओं में कुछ नवीन शब्दों को अपनी ओर से ही गढ़ लिया है। यथा–भूजानि (१।२।) अर्थात् राजा। सूननायक (१८।१२९)– कामदेव। अप्रतीतचर (१८।१२९)– पहले से अज्ञात अधिगामुका (१८।१२९।।) – जानने वाली। हसस्पृशम् (१८।१३०)– हँसते हुए। इत्यादि।

उन्होंने कुछ अप्रचलित एवं अप्रसिद्ध शब्दों का भी प्रयोग अपने महाकाव्य में किया है :– अगदंकारः (वैद्य)४।११६।।, अकूपार (समुद्र) १२।१८।।, चिपिटः (चपटा) २२।८५।।, पूर्यनपाता (आखेट-शिकार) १९।१२, मिहिकारुचम् (चन्द्रमा) १९।३५।।इत्यादि।

कुछ लोकभाषा के शब्दों का भी प्रयोग उनके द्वारा किया गया है। इङ्गाल (अंगारा) १।९॥, विरुद्ध (ऐश्वर्य-प्रताप)११।१३॥ धीरणि (परम्परा) १५।४९॥ इत्यादि।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निकाली गयीं महाकवि की न्यूनताएँ

पाश्चात्य आलोचकों तथा विद्वानों द्वारा महाकवि श्रीहर्ष को उनकी अरुचिपूर्ण शैली तथा वर्णनों के कारण कुछ कटु आलोचना की गयी है। उन्हीं के आधार पर की गयी आलोचना को ध्यान में रखते हुए डॉ० एस०के० डे आदि कुछ भारतीय विद्वानों ने भी श्रीहर्ष की कटु आलोचना कर दी है। इन आलोचनाओं में प्रमुख रूप से निम्नलिखित दोषों तथा न्यूनताओं को ही कारणरूपेण स्वीकार किया गया है।

महाकवि श्रीहर्ष द्वारा रचित 'महाकाव्य नैषध' में (१) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया जाना, (२) नवीन-नवीन शब्दों को गढ़गढ़कर भाषा में जटिलता उत्पन्न किया जाना, (३) शास्त्रीय सन्दर्भों के उल्लेख के कारण दुरूहता को बढ़ावा दिया जाना, (४) कल्पनाओं सम्बन्धी काठिन्य का होना (५) वर्णनों में औचित्य का पूर्ण निर्वाह न किया जाना (यथा—१।३०, ५।२७, ५।३५, ७।९५।१०।५१, १५।६२, १७।७५ इत्यादि), (६) भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष को ही प्रधानता का दिया जाना, (७) आवश्यकता से अधिक शृङ्गार -रस-सम्बन्धी वर्णन का किया जाना, (८) और उस वर्णन में अश्लीलता का भी समावेश कर देना, (९) दमयन्ती के नख-शिख का अनावश्यक रूप से विस्तृत वर्णन का किया जाना, (१०) सत्रहवें सर्ग में देवों, ब्राह्मणों, दार्शनिकों, वेदज्ञों, पुरोहितों आदि के पाखंडों की छीछालेदर का किया जाना, (११) रचना-दोष के कारण अनर्थ-बोध का उत्पन्न होना (यथा- तव वर्त्मनि शिवम् (२।६२) इत्यादि में), आदि अनेक दोषों का प्रवेश हो जाने से उपर्युक्त आलोचकों ने "नैषध" महाकाव्य को उत्तम श्रेणी में न रखने का प्रयास किया है।

समाधान— दुःख इस बात का है कि उक्त आलोचकों तथा विद्वानों ने इस बात का ध्यान नहीं दिया कि जिस समय "नैषध" महाकाव्य की रचना की गयी (अथवा श्रीहर्ष के महाकाव्य के लेखन का समय) उस समय किस

प्रकार का साहित्यिक वातावरण विद्यमान था? महाकवि भारवि एवं माघ को समाज में एक उत्तम स्थान प्राप्त हो चुका था? उनकी शैली से भी उपयुक्त दोष विद्यमान थे। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन दोषों का बाहुल्य एवं श्रीहर्ष सम्बन्धी काठिन्य एवं दुरूहता उनकी रचनाओं में विद्यमान न रही हो किन्तु उनका युग पाण्डित्य-प्रदर्शन सम्बन्धी अवश्य था। फिर इसी पाण्डित्य को और अधिक बढ़ा-चढ़ा कर प्रकट करने में यदि उपर्युक्त दोषों का आगमन हो भी गया तो इन दोषों को दोषों की श्रेणी में रखा जाना एक प्रकार की भूल ही कहा जा सकता है, क्योंकि महाकवि श्रीहर्ष के रचना सम्बन्धी गुणों की ओर ध्यान देने से उनके दोष नगण्य ही हो जाते हैं। यह काल भी तो इसी प्रकार का था कि जिसमें शृङ्गार-वर्णन, नखशिख-वर्णन, श्लेष सम्बन्धी प्रयोग आदि का उत्कृष्ट कोटि में बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया जाना अनिवार्य हो गया था। उस समय इन सबके बिना कवि को विद्वत्समुदाय में आदर भी प्राप्त नहीं हो सकता था। १७ वें सर्ग में कवि के मुख द्वारा तत्कालीन प्रचलित पाखण्डों का हास्य अथवा खण्डन किया जाना भी आवश्यक था क्योंकि महाकाव्य सम्बन्धी रचना-काल में प्रचलित सभी प्रकार की बातों का प्रभाव महाकाव्य सम्बन्धी रचना-काल में प्रचलित सभी प्रकार की बातों का प्रभाव महाकाव्य पर अवश्य ही पड़ा करता है, ऐसा सिद्धान्त है। वह काल था ही कुरीतियों एवं पाखण्डों के खण्डन आदि का। अतः इस दोष को भी दोष नहीं कहा जा सकता है।

अतएव पाश्चात्य विद्वानों का शैली एवं रस आदि विषयक आक्षेप अतिरंजित ही प्रतीत होता है। यह भी संभव है कि इस महाकाव्य में पाश्चात्य विद्वानों की अवाधरूप से गति न हो सकी हो और उन्होंने उसी आधार पर इस काव्य को निकृष्ट कोटि में रखने का प्रयास किया है।

सुरेन्द्र देव शास्त्री

॥ श्रीः ॥

महाकवि श्रीहर्षप्रणीतम्

नैषध-महाकाव्यम्

प्रथम सर्गः

अपनी इस कृति में महाकवि श्री हर्ष ने राजा की पुनीत कथा का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में काव्य की निर्विघ्न समाप्ति के निमित्त मङ्गलाचरण आदि का किया जाना आवश्यक माना जाता है। महाकवि श्री हर्ष ने किसी विशिष्ट देवता आदि का नमस्कारादिरूप मङ्गलाचरण न करके राजा नल की कथा के कीर्त्तन को ही—

"कर्कोटस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम्॥"

की उक्ति के अनुसार— कलि के प्रभाव से उत्पन्न सभी प्रकार के पापों, विघ्नों आदि को विनाशक मानकर—

"पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः।
पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः॥"

में वर्णित पुनीतता के आधार पर— मङ्गलाचरण रूप में माना है और नल-कथा को उन्होंने अमृत से भी अधिक श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए उसे प्रस्तुत भी किया है—

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां
तथाद्रियन्ते न बुधास्सुधामपि
नलस्सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः
स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः॥१॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अथ तत्रभवान् श्रीहर्षकविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षयते। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥' इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनत्वाच्च 'काव्यालापांश्च वर्जयेदि'ति तन्निषेधस्यासत्काव्यविषयतां पश्यन् नैषधाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुश्चि-कीर्षितार्थाविग्नपरिसमाप्तिहेतोः 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखामि' त्याशीराद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वात् कथानायकस्य राज्ञो नलस्य इतिवृत्तरूपं मङ्गलं वस्तु निर्दिशति-निपीयेति। यस्य क्षितिरक्षिणः क्षमापालस्य नलस्य कथाम् उपाख्यानम्। निपीय नितरामास्वाद्य पीङ् स्वादे क्त्वो ल्यबादेशः न तु पिवतेः 'न ल्यपी'ति प्रतिषेधादीत्त्वासम्भवात्। बुधास्तज्ज्ञाः सुराश्च 'ज्ञातृचन्द्रिसुरा बुधा' इति क्षीरस्वामी। सुधामपि तथा यथेयं कथा तद्वदित्यर्थः, नाद्रियन्ते, सुधामपेक्ष्य बहु मन्यन्ते इति यावत्। सितच्छत्रितं सितच्छत्रं कृतं सितातपत्रीकृमित्यर्थः तत् कृताविति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। कीर्तिमण्डलं येन सः। महसां तेजसां राशिः रविरिवेति भावः। महैः उत्सवैः उज्ज्वलः दीप्यमानो नित्यमहोत्सवशालीत्यर्थः। 'मह उद्धव उत्सव' इत्यमरः। स नलः आसीत्। अत्र नले महसां राशिरिति कीर्तिमण्डले च सितच्छत्रत्वरूपस्यारोपात् रूपकं कथायाश्च सुधापेक्षया उत्कर्षात् व्यतिरेकश्चेत्यनयोः संसृष्टिः। तदुक्तं दर्पणे 'रूपकं रूपितारोपाद् विषये निरपह्नवे' इति। "आधिक्यमुपमेयस्योप-मानान्न्यूनताऽथवा। व्यतिरेक" इति मिथोऽपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते इति च। अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तं, 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जराविति तल्लक्षणात्॥ १॥

अन्वय— क्षितिरक्षिणः यस्य कथाम् निपीय बुधाः सुधामपि न आद्रियन्ते। सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः महसां राशिः (इव) महोज्ज्वलः स नलः आसीत्।

संस्कृत-व्याख्या— क्षितिरक्षिणः=पृथ्वीपालकस्य, यस्य=नलस्य, कथाम्= उपाख्यानम्, निपीय = नितराम्, आस्वाद्य, बुधाः = तज्ज्ञाः सुराश्च, सुधाम् = अमृतम्, अपि, तथा= यथा इयं कथा तद्वत् इत्यर्थः, न आद्रियन्ते = न मन्यन्ते [सुधामपेक्ष्य बहु मन्यन्ते इति भावः], सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः =

श्वेतातपत्रीकृतयशसमूहः, महसाम् = तेजसाम्, राशिः— रविः इव, महोज्ज्वलः= महैः उत्सवैः उज्ज्वलः दीप्यमानः [नित्यमहोत्सवशालीत्यर्थः], स नलः आसीत्।

हिन्दी अनुवाद— क्षितिरक्षिणः = पृथ्वीपालक, यस्य = जिस राजा नल की, कथाम् = कथा को [अर्थात् जीवनवृत्त को], निपीय = भली भाँति आस्वादनकर, बुधाः = उस राजा नल से अथवा उसके जीवनवृत्त से भली भाँति परिचित विद्वज्जन अथवा देवगण, सुधामपि = अमृत का भी, तथा = उतना [जितना कि इस राजा नल की कथा का], न आद्रियन्ते = आदर नहीं करते हैं [अर्थात् राजा नल की कथा का अमृत से भी अधिक आदर करते हैं।]। सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः = अपने यशः समूह को श्वेतच्छत्र बनाये हुए, महसां राशिः इव = तेज० समूह की राशि अर्थात् सूर्य के सदृश, महोज्ज्वलः = उत्सवों से देदीप्यमान अथवा महान् तेजस्वी, स नलः = वह राजा नल, आसीत् = था।

भावार्थ— राजा नल की कथा का भली भाँति अध्ययन कर आनन्द प्राप्त करने वाले विद्वान् लोग अथवा देवलोक में विद्यमान अमृतभोजी देवगण भी अमृत का उतना आदर नहीं करते हैं जितना की राजा नल की कथा का आदर करते हैं। **अथवा**— [वर्षा आदि के द्वारा] पृथ्वी की रक्षा करने वाले देवगण भी जिस राजा नल की कथा का पानकर अमृत का भी उतना आदर नहीं किया करते हैं जितना कि राजा नल की कथा का। **अथवा**— [क्षितिः + अक्षिणः— पदच्छेद करने पर] जिस राजा नल की कथा का भली भाँति आस्वाद प्राप्तकर स्थित व्यक्तिविशेष के कलियुग में उत्पन्न दोषों (पापों आदि(का नाश हो जाता है। अथवा— जिस राजा की कथा का पानकर विद्वज्जन अथवा देवगण, सुधामय अर्थात् चन्द्रमा का भी उतना आदर नहीं करते जितना की राजा नल की कथा का। ऐसे तेजस्वी अथवा सूर्य के सदृश देदीप्यमान, सम्पूर्ण दिशाओं में फैले हुए अपने कीर्तिसमूहरूप श्वेतच्छत्र से युक्त वे राजा नल अत्यधिक उज्ज्वल गुणों से विशिष्ट शृङ्गार रस विद्यमान था **अथवा**— जिस राजा नल के अन्दर दमयन्ती का कथित रूप शृङ्गार रस अत्यधिकरूप से विद्यमान था ऐसे

तेजोराशि अथवा सूर्यसदृश कान्ति से युक्त वे राजा नल अपने चतुर्दिग्व्यापी कीर्तिसमूह से उज्ज्वल चरित्रवाले थे।

यत: राजा नल की कथा अमृत की अपेक्षा कहीं अधिक मधुर थी, साथ ही अत्यधिक शृङ्गारसमय थी, इसी कारण दमयन्ती ने इन्द्रादि देवताओं का त्यागकर नल को ही वरण करना अधिक उपयुक्त समझा होगा।

अलङ्कार– इस श्लोक में राजा नल में तेजोराशि होने का आरोप किये जाने तथा कीर्तिमण्डल में श्वेत आतपत्रत्व (छत्रत्व) का आरोप किये जाने से "रूपक" अलङ्कार है। लक्षण–"यत्रोपमानचित्रेण सर्वथाप्युपरज्यते। उपमेयमयी भित्तिस्तत्र रूपकमिष्यते॥" नल की कथा को अमृत की अपेक्षा अधिक सुस्वादु कहे जाने की दृष्टि से "व्यतिरेक" अलङ्कार भी है। लक्षण– "व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययो:"॥ (चन्द्रालोक)। दोनों अलङ्कारों का एक साथ एक ही स्थल पर प्रयोग होने के कारण "संसृष्टि" अलंकार भी बन जाता है।

छन्द– इस पद्य में "वंशस्थ" नामक वृत्त है। लक्षण– "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ"। अर्थात् जिस छन्द में क्रमश: जगण तगण जगण और रगण हों वह छन्द " वंशस्थ" कहा जाता है।

अब इस श्लोक से इस "वंशस्थ" वृक्ष के लक्षण को घटा लिया जाय–

जगण	तगण	जगण	रगण
।ऽ।	ऽऽ।	।ऽ।	ऽऽ।
निपीय	यस्यक्षि	तिरक्षि	ण:कथां
।ऽ।	ऽऽ।	।ऽ।	ऽ।ऽ
तथाद्रि	यन्ते	बुधा:सु	धामपि।
।ऽ।	ऽऽ।	।ऽ।	ऽ।ऽ
नल:सि	तच्छत्रि	तकीर्ति	मण्डल:
।ऽ।	ऽऽ।	।ऽ।	ऽ।ऽ
सराशि	रासीन्म	हसांम	होज्वल:॥

विशेष— नैषध महाकाव्य के इस प्रथमसर्ग से लेकर १४२ वें पद्य तक उपर्युक्त "वंशस्थ" नामक छन्द अथवा वृत्त है। अत: १४२ वें पद्य तक छन्द का वर्णन नहीं किया जायगा। उपर्युक्त विवरण के आधार पर ही १४२ वें पद्य तक लक्षण घटाकर स्पष्ट किया जा सकता है।

व्याकरण—निपीय = दिवादिगणी पीङ् धातु + ल्यप्। यह रूप भ्वादिगणी पा धातु (पिबति इत्यादि) से नहीं बन सकता क्योंकि "न ल्यपि" सूत्र के अनुसार "घूमास्थागपाजहातिसां हलि" सूत्र से 'ल्यप्' प्रत्यय परे होने पर 'ईकार' नहीं होता है। **सितच्छत्रित** = "**सितच्छत्र**" संज्ञा शब्द से "उसे करता अथवा कहता है" इस अर्थ में 'णिङ्' प्रत्यय का योग करने से '**सितच्छत्रित**' नाम धातु बनती है और तदनन्तर "क्त" प्रत्यय का योग करने पर "सितच्छत्रित" शब्द बनता है।

समास—सितच्छत्रितकीर्तिमण्डल: = सिचच्छत्रं कृतं कीर्तिमण्डलं येन स:। **महोज्ज्वल:** = महै: उत्सवै: उज्ज्वल: इति।

टिप्पणियाँ— क्षितिरक्षिण: = पृथ्वी की रक्षा करने वाले का अथवा पृथ्वीपालक का, **निपीय** = अत्यधिक रूप से अथवा नि:शेष रूप से अथवा पूर्णरूप से आस्वादन करके। **बुधा:** = उस राजा नल की अथवा उसकी कथा के पूर्ण ज्ञाता। बुधा: शब्द का अर्थ देवगण भी होता है— "ज्ञातृचान्द्रिसुराबुधा:" इति क्षीरस्वामी। **सितच्छत्रितकीर्तिमण्डल:** = जिसने अपने कीर्तिसमूह को ही अपना श्वेतवर्ण का छत्र बना रखा है ऐसा राजा नल। **महसां राशि:** = तेजों का समूह अर्थात् सूर्य। राजा नल सूर्य के सदृश तेजस्वी अथवा सूर्य के सदृश दीप्तिमान् अथवा कान्तिमान् थे। **महोज्ज्वल:** = मह शब्द का अर्थ है 'उत्सव'— " मरउद्धव उत्सव:" इत्यमर:— उत्सवों के द्वारा उज्ज्वल अथवा देदीप्तमान अर्थात् प्रतिदिन किये जाने वाले महोतस्वों से देदीप्तमान।

विशेष— (१) इस प्रथम पद्य में महाकवि श्री हर्ष ने राजा नल की कथा के कीर्त्तन को ही वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरणरूप में स्वीकार किया है। कुछ

आलोचकों ने तो इसे अभीष्ट देव रघुनाथ जी का सबीज नमस्कारात्मक मङ्गल ही माना है।

(२) इस महाकाव्य में राजा नल ही धीरललित नायक हैं। इसमें शृङ्गार रस की प्रधानता है तथा अन्य रस उसी के अङ्ग रूप में प्रस्तुत हुए हैं।

प्रसङ्ग— अब महाकवि श्री हर्ष नवरसों से युक्त राजा नल की इस कथा को केवल मधुर-रस-प्रधान अथवा षड्-रस युक्त 'अमृत' की अपेक्षा अधिक ध्येयरकर सिद्ध करते हुए महा प्रतापी राजा नल का वर्णन करते हैं—

रसैः कथा यस्य सुधावधीरिणी
नलः स भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्रित-
ज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः॥ २॥

मल्लिनाथकृत-टीका— इममेवार्थमन्यथा आह-रसैरिति। यस्य नलस्य कथा रसैः स्वादैः, 'रसोगन्धा रसः स्वाद' इति विश्वः। सुधाम् अवधीरयति तिरस्करोति तथोक्ता अमृतादतिरिच्यमानस्वादेति यावत्, ताच्छील्ये णिनिः। भूर्जाया यस्य स भूजानिः भूपतिरित्यर्थः। 'जायाया निङिति बहुव्रीहौ जायाशब्दस्य निङादेश। स नलः गुणैः शौर्य्यदाक्षिणादिभिः। अद्भुतः लोकातिशयमहिमेत्यर्थः। अभूत्। कथम्भूतः सुवर्णदण्डश्च एकं सितातपत्रञ्च ते कृते द्वन्द्वात् तत्कृताविति ण्यन्तात् करर्मणि क्तः। ज्वलत्प्रतापावलिः कीर्तिमण्डलञ्च यस्य तथाभूतः। इह कीर्तेः सितातपत्रत्वस्वरूपणं पूर्वोक्तमपि सुवर्णदण्डवैशिष्ट्यात् राज्ञश्च गुणाद्भुतत्वेन वैचित्र्यात् न पुनरुक्तिदोषः। अत्रापि पूर्ववद् व्यतिरेकरूपकयोः संसृष्टिः॥ २॥

अन्वय—यस्य कथा रसैः सुधावधीरिणी [अस्ति], भूजानिः सुवर्णदण्डैक-सितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः स नलः गुणाद्भुतः अभूत्।

संस्कृत-व्याख्या—यस्य = राज्ञः नलस्य, कथा= उपाख्यानम्, रसैः = स्वादैः ["रसो गन्धो रसः स्वाद" इति विश्वः], सुधावधीरिणी = अमृतात

अतिरि-च्यमानस्वादा [अस्ति]; भूजानि:=भू: जाया यस्य स भूजानि:= भूपति:, सुवर्ण-दण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डल: = सुवर्णदण्डश्च एकं सितातपत्रं च श्वेतच्छत्रं च ते कृते ज्वलत्प्रतापावलि: देदीप्यमानप्रतापपंक्ति: कीर्तिमण्डलं: च यशसमूहश्च येन स एतादृश:, स नल:, गुणाद्भुत:= गुणै: शौर्यदाक्षिण्यादिभि: अद्भुत: लोकातिशयमहिमायुक्त:, अभूत् =आसीत्।

हिन्दी अनुवाद—यस्य = जिस राजा नल की, कथा = आख्यान, रसै: = [नवरसों] की दृष्टि से, सुधावधीरिणी = अमृता को भी तिरस्कृत कर देने वाली है; भूजानि: = पृथ्वी जिसकी पत्नी थी, सुवर्णदण्डैकसितातपत्रित-ज्वलत्प्रतापावलि-कीर्तिमण्डल: = जिस [राजा नल ने] अपने देदीप्यमान तेज की पंक्ति को तथा अपने यश:समूह को क्रमश: सुवर्णदण्ड तथा अद्वितीय श्वेतच्छत्र बनाया था ऐसा, स नल: = वह राजा नल, गुणाद्भुत: = शूरवीरता एवं उदारता आदि गुणों से लोकोत्तर महिमाशाली, अभूत् = था।

भावार्थ— जिस राजा नल की कथा शृङ्गार हास्य आदि नवरसों से युक्त होने के कारण केवल मधुर रस से परिपूर्ण अथवा मधुर इत्यादि छ: रसों से युक्त अमृत को भी तिरस्कृत कर देने वाली है अर्थात् जो अमृत की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है। अथवा नवरसों से युक्त जिस राजा नल की कथा सुधा की अवधि [सीमा] अर्थात् अत्यधिक श्रेष्ठ अमृत को भी नीचा दिखाने वाली है। अर्थात् जिस राजा नल की कथा बुद्धि में पवित्रता का संचार करने वाली, सदैव युद्ध में संलग्नता की द्योतक तथा पृथ्वी की स्वामिनी है [इन तीनों विशेषणों के द्वारा राजा नल की कथा का मन्त्र, उत्साह एवं प्रभुत्वशक्ति सम्पन्न होना ध्वनित होता है।], ऐसा राजा नल समस्त पृथ्वी का स्वामी अथवा पालक अथवा रक्षक (पति) था। उसने अपने देदीप्यमान प्रताप को ही अपने श्वेत वर्णवाले राजछत्र का सुवर्णनिर्मितधण्ड तथा अपने कीर्तिसमूह को ही श्वेतच्छत्र बना रखा था और वह गुणों अर्थात् शूरवीरता, उदारता आदि अनेक गुणों से युक्त होने के कारण लोकोत्त्तर गौरवशाली था।

अलङ्कार— इस श्लोक में "रसैः कथा यस्य सुधावधीरिणी" पंक्ति में "व्यतिरेक अलङ्कार है। लक्षण— पूर्ववत्। इसके अतिरिक्त राजा नल की प्रतापावलि में सुवर्णदण्ड और कीर्ति-मण्डल में धवल छत्र का आरोप किया जाने से " रूपक" अलङ्कार है। लक्षण— पूर्ववत्। अथः प्रथम श्लोक की ही भाँति इसमें भी व्यतिरेक और रूपक अलङ्कारों के होने से "संसृष्टि" अलङ्कार भी बन गया है।

व्याकरण— सुधावधीरिणी = सुधा (उपपद) + अव + √धीर + णिन। **सुवर्णदण्डैकसितातपत्रित** = 'सुवर्णदण्डैकसितातपत्र' शब्द से " तत्करोति तदाचष्टे" सूत्र से 'णिच्' प्रत्यय को योग होने और तदनन्तर नामधातु से कर्म में "क्त" प्रत्यय का योग होने पर "सुवर्णदण्डैकसितातपत्रित" शब्द बनता है।

समास—सुधावधीरिणी = सुधां अवधीरयति तिरस्करोति—इति। **भूजानिः**= भूः जायाः यस्य स भूजानि [भूपतिः—इत्यर्थः] — (बहुव्रीहि)। यहाँ बहुव्रीहि समास होने के कारण "जायाया निङ्" से जाया शब्द को निङादेश हो जाता है। **गुणाद्भुतः** = गुणैः अद्भुतः इति। **सुवर्णदण्डैकसितातपत्रित-ज्वलत् प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः** = सुवर्णदण्डश्च एकं सितातपत्रं च इति सुवर्णदण्डैक-सितातपत्रे (द्वन्द्व) ते कृते ज्वलत्प्रतापावलिः कीर्तिमण्डलं च यस्य [तथाभूतः] सः।

टिप्पणियाँ—रसैः =[रसो गन्धः रसः स्वादः—इति विश्वः] रसों के अथवा स्वाद अर्थात् आस्वादन के द्वारा। राजा नल की कथा में नवों रसों का आस्वादन होता है किन्तु अमृत को मधुर-गुण-सम्पन्न माना गया है। यदि उसे षड् रस (मधुर, अम्ल, तिक्त, कषाय, लवण ये ६ प्रकार के खाद्य रस माने गये हैं।) सम्पन्न भी मान लिया जाय तो भी वह रसों की दृष्टि से राजा नल की कथा की अपेक्षा हीन ही रह जाता है। अतः **सुधावधीरिणी** = [राजा नल की कथा] अमृता को भी तिरस्कृत कर देने वाली कही गयी है। **भूजानिः** = पृथ्वी ही जिसकी पत्नी है ऐसा राजा नल। अर्थात् जो पृथ्वीपति अथवा पृथ्वीपालक

अथवा पृथ्वी का रक्षक है— ऐसा नल। **गुणाद्भुतः** = गुणों अर्थात् शूरवीरता, उदारता, उत्साह, साहसादि अनेक गुणों से सम्पन्न होने के कारण जो (राजा नल) अद्भुत अर्थात् लोकोत्तरमहिमा से युक्त था। **सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलि-कीर्तिमण्डलः** = [जिस राजा नल ने] अपने देदीप्यमान(चमकते हुए—प्रभापूर्ण) तेज तथा कीर्तिसमूह को ही अपने श्वेतवर्ण के राजछत्र का क्रमशः स्वर्णनिर्मित दण्ड तथा श्वेतच्छत्र ही बना रखा था। अर्थात् उसका प्रताप (तेज) ही उसके राजच्छत्र का डण्डा तथा उसकी कीर्तिसमूह ही उस का ऊपरी भाग था। राजा नल का सुवर्णदण्डयुक्त एक श्वेतच्छत्र होने से यह ध्वनित होता है कि अन्य राजा लोग राजा नल को कर (टैक्स आदि) दिया करते थे।

प्रसङ्ग— अब महाकवि श्रीहर्ष यह कहते हैं कि राजा नल की ऐसी कथा जो कि समस्त संसार को ही पवित्र करने वाली है— वह मेरी दूषित वाणी को पवित्र क्यों नहीं करेगी ? [इस भाँति इस तृतीय श्लोक में महाकवि द्वारा अपनी विनयसम्पन्नता का प्रकटीकरण किया गया है।]

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे
स्मृता रसक्षालनयेव तत्कथा।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि
स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति॥ ३॥

मल्लिनाथकृत-टीका—सम्प्रति कविः स्वविनयमाविष्करोति पवित्रमति. अत्र युग् कलौ इति यावत्। यस्य नलस्य कथा स्मृता स्मृतिपथँ नीतेत्यर्थः। सती जगल्लोकं रसक्षालनयेव जलक्षालनयेवेत्युत्प्रेक्षा, 'देहधात्वम्बुपारदा' इति रसपर्य्याये विश्वः। पवित्रं विशुद्धम् आतनुते करोति. सा कथा आविलां कलुषामपोति सदोषामपीति यावत्, स्वसेविनीमेव केवलं स्वकीर्त्तनपरामेवेति भावः। मद्गिरं मम वाचं कतं न पवित्रयिष्यति ? अपि तु पवित्रां करिष्यत्येवेत्यर्थः। तथा चोक्तं 'कर्कोटकरस्य नागस्य दमयंत्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम्॥' इति या स्मृतिमात्रेण शोधनी सा

कीर्त्तनात् किमुतेति कैमुत्यन्यायेनार्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः। तदुक्तम्,– 'एकस्य वस्तुनो भावाद् यत्र वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया॥ 'इति॥ ३॥

अन्वय—अत्र युगे स्मृता तत्कथा तनुते जगत् रसक्षालनया इव पवित्रम् आतनुते। सा अविलाम् एव स्वसेविनीमेव, कथम् न पवित्रयिष्यति।

संस्कृत-व्याख्या— अत्र = अस्मिन्, युगे = कलियुगे, स्मृता = स्मृतिपथं नीता, तत्कथा = तस्यनलस्य कथा, जगत् = लोकम्, रसक्षालनया इव =जलक्षालनया इव, पवित्रम् = विशुद्धम्, आतनुते = करोति। सा = कथा, अविलाम् = कलुषामपि—सदोषामपीत्यर्थः, स्वसेविनीमेव = केवलां स्वकीर्त्तनसंलग्नाम्, मद्गिरम् = म म वाणीम्, कथं न पवित्रयिष्यति = कथं पवित्रां न करिष्यति ? अपितु पवित्रां करिष्यत्येव— इत्यभिप्रायः। या नल-कथा स्मृतिमात्रेणैव शोधनी अस्ति सा कीर्त्तनात्तु मम वाणीम् अवश्यमेव पवित्रां करिष्यतीति भावः।

हिन्दी अनुवाद—अत्रयुगे = इस कलियुग में, स्मृता = स्मरण करने मात्र से ही, तत्कथा = वह राजा नल की कथा, जगत् = लोक को, रसक्षालनया इव = जल से धोये गये हुए के समान, पवित्रम् = पवित्र अथवा निर्दोष, आतनुते = कर देती है। सा = ऐसी वह राजा नल की कथा, अविलाम् अपि = कलुषित अथवा दोषों से युक्त, [तथा] स्वसेविनीम् एव = उसका ही कीर्त्तन (वर्णन) करने में संलग्न, मद्गिरम् = मेरी वाणी को, कथ न पवित्रयिष्यति = क्यों नहीं पवित्र करेगी। अर्थात् वह राजा राजा नल की कथा [उसी का सेवन करने वाली] मेरी वाणी को अवश्य ही पवित्र करेगी।

भावार्थ— जिस भाँति जल के द्वारा धोयी गयी हुई कोई भी वस्तु स्वच्छ एवं दोषरहित हो जाती करती है उसी प्रकार नवरससमन्वित राजा नल की कथा [''कर्कोटकस्य नागस्य..... इत्यादि''वचनों के आधार पर] का सेवन करने से सम्पूर्ण लोक भी निर्मल तथा दोष रहित हो जाया करता है। फिर ऐसी गुणकारी राजा की कथा का मैं [महाकवि श्री हर्ष] तो सरसता के साथ वर्णन कर रहा

हूँ। अथ: मुझे विश्वास है कि वह मेरी दोषयुक्त एवं मलिनवाणी को अवश्य ही पवित्र कर देगी। कहने का तात्पर्य यह है कि मेरी वाणी सदोष होने के कारण अपवित्र अवश्य हो सकती है किन्तु जिस कथा का मैं [नैषध महाकाव्य में] वर्णन करने जा रहा हूँ उस कथा का स्मरणमात्र कर लेना ही पवित्रता का उत्पादक है। फिर मैं तो उस कथा को शृंगारादि नव रसों से सुसज्जित कर उसको एक महाकाव्य का रूप प्रदान किये दे रहा हूँ। तो फिर ऐसी कथा का काव्यमय सरसवाणी में कीतन अथवा वर्णन कर देने का फल इतना तो अवश्य ही होगा कि वह मेरी दूषित एवं मलिन वाणी को अवश्य ही पवित्र बना देगी। ऐसा महाकवि को विश्वास है।

अलङ्कार— जिस कथा का स्मरण करना मात्र ही जगत् का शोधक है उसका कीर्त्तन करने से तो फिर कहना ही क्या? अर्थात् उसका कीर्त्तन तो अनन्त फलदायक होगा— इस दूसरे अर्थ की सिद्धि स्वयं ही निसृत हो रही है— अत: उक्त पद्य में ''अर्थापत्ति'' अलङ्कार है [जैसा की कहा भी है— ''एकस्य वस्तुनो भावाद् यत्र वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायत: सा स्यादर्थापत्तिरलङ् क्रिया॥'']। इसके अतिरिक्त राजा नल की कथा के स्मरण में जलप्रक्षालन की संभावना किये जाने से ''उत्प्रेक्षा'' अलङ्कार की भी संभावना उक्त पद्य में की जा सकती है।

व्याकरण—पवित्रयिष्यति = पवित्र + णिच् (नामधातु) लृट् लकार, प्र०पु० एकवचन।

समास—रसक्षालनया = रसेन जलेन क्षालनया-इति। **तत्कथा** = तस्य (नलस्य) कथा इति। **स्वसेविनीम्** = स्वस्य सेविनीम् इति। यह वाणी का विशेषण है।

टिप्पणियाँ—अत्र युगे = यहाँ युग में अर्थात् इस वर्त्तमान कलियुग में। **स्मृता** = स्मरण की गयी हुई। **रसक्षालनया इव** = जल से धोये गये हुए के सदृश। जिस प्रकार जल से धोयी गयी हुई वस्तु निर्दोष तथा निर्मल हो जाया करती है उसी प्रकार नवरसों का प्रयोग जिसमें किया जा रहा है ऐसी नल की

कथा मुझे [महाकवि को] भी निर्दोष और निर्मल बना देगी। **अविलाम्** = कलुषित अथवा दोषों से युक्त। **स्वसेविनीम्** = उस [कथा] का ही सेवन करने वाली [महाकवि की वाणी] को। अर्थात् जो महाकवि उस राजा नल की कथा का केवल स्मरण मात्र ही नहीं करता है अपितु उसका पूर्णरूप से पूर्णतन्मयता के साथ कीर्त्तन अथवा वर्णन अपनी लेखनी द्वारा कर रहा है– ऐसी महाकवि की वाणी को। **कथम् न पवित्रयिष्यति** = क्यों पवित्र नहीं कर देगी अर्थात् अवश्य ही पवित्र कर देगी।

प्रसङ्ग— राजा नल चतुर्दश विद्याओं में पारंगत थे। उन्होंने इन चौदह विद्याओं को अध्ययन, अर्थज्ञान, तदनुसार आचरण तथा प्रचाररूप चार दशाओं द्वारा छप्पन प्रकार का कह दिया था—

अधीतिबोधाचरणप्रचराणै-

र्दशाश्चतस्त्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।

चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं

न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम्॥४॥

मल्लिनाथकृत-टीका—अस्य सर्वविद्यापारदर्शित्वमाह— अधीतीति। अयं नलः चतुर्दशसु विद्यासु 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्म्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दशे'त्युक्तासु अधीतिरध्ययनं गुरुमुखात् श्रवणमित्यर्थः। बोधः, अर्थावगतिः आचरणं तदर्थानुष्ठानं, प्रचारणम्, अध्यापनं शिष्येभ्यः प्रतिपादनमित्यर्थः, तैश्चतुर्भिः उपाधिभिः शिषेषणैः अचारणविशेषैरित्यर्थः। 'उपाधिर्धर्म्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे' इति विश्व। चतस्रो दशाः अवस्थाः प्रणयन् कुर्वन्नित्यर्थः, स्वयं चतस्रो दशा यासां तासां भावः चतुर्दशत्वं त्वतलोर्गुणवचनस्ये'ति पुंवद्भावो वक्तव्य, इति स्त्रियाः पुंवद्भावः। 'संज्ञाजातिव्यतिरिक्ताश्च गुणवचना' इति सम्प्रदायः। चतुर्दशसंख्याकत्वं कुतः कस्मात् कृतवान् न वेद्मि न जाने इति स्वतः सिद्धस्य स्वयङ्करणं कथं पिष्टपेषणवदिति चतुर्दशानां चतुरावृत्तौ षट्पञ्चाशत्त्वात् कथं चतुर्दशत्वमिति च

विरोधाभासद्वयम्। चतुरवस्थत्वमिति तत्परिहारश्च तदुक्तम् 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति॥४॥

अन्वय— अयं चतुर्दशसु विद्यासु अधीतिबोधाचरणप्रचराणैः उपाधिमिः चतस्त्रः दशाः प्रणयन् स्वयं चतुर्दशत्वं कुतः कृतवान् [इति] न वेद्मि।

संस्कृत-व्याख्या—अयं = नलः, चतुर्दशसु = अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश। इति उक्तासु चतुर्दशविद्यासु, अधीतिबोधाचरणप्रचराणैः = अधीतिः— अध्ययनम्— गुरु-मुखात् श्रवण मित्यर्थः, बोधः = अर्थावगतिः, आचरणं = तदर्थानुष्ठानम्, प्रचारणम् = अध्यापनम् — एतैः चतुर्भिः, उपाधिभिः = विशेषणैः आचरण-विशेषैः इत्यर्थः, चतस्त्रः, दशाः= अवस्थाः, प्रणयन् = कुर्वन्, स्वयम्, चतुर्दशत्वम् = चतस्त्रः दशाः यासां तासां भावः चतुर्दशत्वम् चतुर्दश-संख्याकत्वम्, कुतः = कस्मात्, कृतवान्, [इति] न, वेद्मि = जानाभि।

हिन्दी अनुवाद— **अयम्** = [इस] राजा नल ने, चतुर्दशसु विद्यासु = चार वेद [ऋग्वेद, यजुर्वेद, समावेद तथा अथर्ववेद] शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आदि छः वेदाङ्ग, मीमांसा, न्याय, धर्शास्त्र और पुराण— इन चौदह विद्याओं में, अधीति = अध्ययन (गुरु द्वारा स्वयं सभी विद्याओं को पढ़ना— श्रवण करना), आचराण = अर्थात् तदनुसार जीवन में आचरण करना (उसे ढालना अथवा तदनुकूल अपने चरित्र का निर्माण करना) और प्रचारण अर्थात् योग्य एवं विद्वान् गुरुओं को द्रव्यादि देकर शिष्यों को अध्यापन करना, उपाधिमिः= इन प्रकारों अथवा विशेषताओं के अधार पर [प्रत्येक विद्या को] चतस्त्रः = चार प्रकार की, दशाः = अवस्थायें, प्रणयन् = करते हुए, स्वयम् = अपने आप ही, चतुर्दशत्वम् = चतुर्दशता को, कुतः = कहीं से अथवा कैसे, कृतवान् = कर दिया, इति = यह, न वेद्मि = [मैं] नहीं जानता हूँ।

भावार्थ— राजा नल अखिल विद्याओं के ज्ञाता थे। विद्याओं की संख्या चौदह मानी गयी है [अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं

पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥] गुरुमुख से उन्होंने सभी विद्याओं का अध्ययन किया था और तदनन्तर उसके विषय को पूर्णतया हृदयग्राही बना लिया था। विद्या का अध्ययन तथा उसे आत्मसात् कर लेने के पश्चात् तदनुकूल आचरण किये जाने के निमित्त मनुष्य की इच्छा स्वयं ही हुआ करती है। अत: तदनुसार राजा नल ने भी इन चतुर्दश विद्याओं के ज्ञान के आधार पर अपने जीवन का निर्माण किया। जिस वस्तु या विद्या को मनुष्य भली भाँति समझ लिया करता है और तदनुकूल आचरण भी बना लेता है तो फिर उसके हृदय में यह भावना उत्पन्न हुआ करती है कि जो उत्तम वस्तु अथवा विद्या है उसे सर्वजनहिताय कर देना और भी श्रेयस्कर होगा। इस दृष्टि से राजा नल ने योग्य एवं विद्वान् गुरुओं को यथोचित द्रव्य आदि देकर इन सभी विद्याओं का ज्ञान सभी के लिये वितरित कराया। इस भाँति प्रत्येक विद्या को अध्ययन, अर्थज्ञान, तदनुकूल आचरण और प्रचारण इन चार प्रकारों के आधार पर उससे चार चार प्रकार का बना दिया। अत: सभी विद्याओं के (१४×४ = ५६) छप्पन प्रकार हो गये। इस भाँति उस राज नल ने उपर्युक्त चौदह विद्याओं को चतुर्दशत्व को प्राप्त कर दिया। चतुर्दशत्व से यहाँ यही अभिप्राय है कि चतस्त्र: दशा: यासां तासां भाव: चतुर्दशत्वम् – अर्थात् चार दशाओं (अवस्थाओं) का होना। चौदह को ही चौदहपन को प्राप्त करा दिया, यह अर्थ करने में कोई बात स्पष्ट न होकर यही शंका उत्पन्न होती है कि विद्यायें तो चौदह थी हीं फिर उन चौदह को चौदहपन को क्या प्राप्त करा दिया। जहाँ चौदह होगा वहाँ चौदहपन तो स्वयं ही विद्यमान् रहेगा। फिर इसमें कौन सी विचित्रता या नवीनता की कल्पना की जा सकती है। अत: ''चतस्रश्च दशच चतुर्दश, चतुर्दशानां भाव: चतुर्दशत्वम् अर्थात् चौदह संख्या का होना'' यह अर्थ किया जाना पूर्णरूपेण निरर्थक और कवि का भी अभीष्ट न रहा होगा क्योंकि इसमें किसी वैशिष्ट की प्रतीति अथवा अनुभूति नहीं होती है। अत: महाकवि का चतुर्दशत्व शब्द से '' चार दशाओं का होना'' ही अर्थ अभीष्ट रहा होगा। इस अर्थ के आधार पर यह बात स्वयं ही स्पष्ट हो जाती

है कि उस राजा नल ने चतुर्दश विद्याओं में से प्रत्येक का चार, चार अवस्थाओं में परिणत कर दिया था। इससे राजा नल का चौदहों विद्याओं का अध्येता, ज्ञाता, आचरणकर्त्ता तथा प्रचारक होना स्पष्ट हो जाता है।

अलङ्कार– जो विद्यायें स्वयं चौदह थीं उनको चतुर्दशत्व करना पिष्टपेषण के सदृश निरर्थक ही है। अथवा चौदह विद्याओं में से प्रत्येक को अध्ययन, अर्थज्ञान, आचरण और प्रचाररूप चार दशाओं के आधार पर (१४ × ४ =५६) छप्पन करना चाहिये था, फिर चतुर्दशत्व अर्थात् चौदह ही क्यों किया? इस भाँति उक्त श्लोक में दो रूपों में विरोध का दर्शन होता है। किन्तु इस विरोध का परिहार "चतुर्दश विद्याओं को चार दशाओं (अवस्थाओं) वाली किया" अर्थ द्वारा हो जाता है। अत: इस श्लोक में "विरोधाभास" अलङ्कार है। लक्षण– "आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते।"

व्याकरण–चतुर्दशत्वम् = में "त्व" प्रत्यय के योग से "त्वतलोगुर्ण-वचनस्य" सूत्र से पुंवद्भाव हो जाता है।

समास–चतुर्दशत्वम् = इस पद का समास दो प्रकार से किया जा सकता है– (१) चतस्रश्च दश च चतुर्दश, चतुर्दशानां भाव:– चतुर्दशत्वम्। (२) चतस्र: दशा: यासां तासां भाव: चतुर्दशत्वम्।

टिप्पणियाँ–चतुर्दशसुविद्यासु = चौदह् प्रकार की विद्याओं में। चौदह विद्याओं के अन्तर्गत चार वेद [ऋक्, यजु:, साम और अथर्व] तथा छ: वेदाङ्ग [शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष] और मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, तथा पुराणों का समावेश होता है। जैसा कि कहा भी गया है– " अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तर:। धर्मशास्त्रपुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥" **उपाधिभि:** = विशेषणों अथवा आचरण के विशेष प्रकारों द्वारा "उपाधिर्धर्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे" इति विश्व:।" **चतुर्दशत्वम्** = ऊपर किये गये हुए इस पद सम्बन्धी दो प्रकार के समासो के आधार पर इसके दो अर्थ किये जा सकते हैं (१) " चौदह संख्या होना" अथवा (२) "चार दशा होना"। **वेद्मि** = जानता हूँ।

प्रसङ्ग— राजा नल ने अठारहों द्वीपों पर विजय प्राप्त की थी। इस प्रकार वह अठारह प्रकार की विजयश्रियों का विजेता था। श्रियों के साथ ही वह अठारह प्रकार की विद्याओं पर भी पूर्ण अधिकार रखता था। श्री एवं विद्या [लक्ष्मी तथा सरस्वती] दोनों परस्पर विरोधी हैं। जहाँ एक का निवास होता है वहाँ दूसरी नहीं रह पाती है किन्तु राजा नल की यह महती विशेषता थी कि उसके पास दोनों एक साथ ही निवास था—

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी
त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया
नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्॥५॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अथास्यापरा अपि चतस्रो विद्याःसन्तीत्याह—अमुष्येति। अमुष्य नलस्य रसनाग्रनर्त्तकी जिह्वाप्रसञ्चारिणीत्यर्थः। विद्या पूर्वोक्ता सूदविद्या चेति गम्यते, रसनाग्रनर्त्तित्वधर्म्मादिति भावः। त्रयीव त्रिवेदीय 'इति वेदास्त्रयस्त्रयी'त्यमरः। अङ्गानां 'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः। ज्योतिषञ्चेति विज्ञेयं षडङ्गं बुधसत्तमैरि'त्युक्तानां षण्णां मधुराम्लकषायलवणकटुतिक्तानाञ्च रसानां षण्णां गुणेन आवृत्त्या वैशिष्ट्येन च, अथ च अङ्गगुणेन शरीरसामर्थ्येन स्वकीयव्युत्पत्तिविशेषेणेति यावत्, विस्तरं वृद्धिं नीता प्रापिता सती नवाना द्वयं नवद्वयं लक्षणया अष्टादशेत्यर्थः, तेषां द्वीपानां पृथग्भूता जयश्रियः तासां जिगीषया व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा। जेतुमिच्छयेवेत्यर्थः, अष्टादशताम् अगाहत अभजत। पूर्वोक्तासु चतुर्दशु विद्यासु विशिष्टव्युत्पत्त्या आयुर्वेदादीनामनुशीलनसौकर्य्यात् तत्पारदर्शित्वेन, सूदविद्यापक्षे च षण्णां रसानाम् उल्बणानुल्बणसमतारूपत्रैविध्येन त्रयीपक्षे च एकैकवेदस्य प्रत्येकशः अङ्गानां शिक्षादीनां षड्विध्यवैशिष्ट्येन चाष्टादशत्वसिद्धिः। प्रागुक्ताश्चतुर्दश विद्याः। आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः। अर्थशास्त्रं चतुर्थन्तु विद्या ह्यष्टादश

स्मृता' इति। अङ्गविद्यागुणनेन त्रय्या अष्टादशत्वमित्युपाध्यायविश्वेश्वरभट्टारकव्याख्याने तु अङ्गानि वेदाश्चत्वार इत्यथर्वणस्य पृथग्वेदत्वे त्रयीत्वहानिः। त्रय्यन्तर्भावे तु नाष्टादशत्वसिद्धिरिति चिन्त्यम्। उपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः॥५॥

अन्वय—अमुष्य रसनाग्रनर्तकी विद्या अङ्गगुणेन विस्तरं नीता त्रयी इव नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम जिगीषया अष्टादशतां अगाहता।

संस्कृत-व्याख्या— अमुष्य= नलस्य, रसनाग्रनर्तकी= रसनायाः जिह्वायाः अग्रे अग्रभागे नर्त्तकी नर्त्तनशीला, संचारिणी इतिभावः, विद्या= [पूर्वोक्त श्लोके उक्ताः चतुर्दशविद्याः। आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः। अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादश स्मृताः॥] एता अष्टादशविद्याः, अङ्गगुणेन = अङ्गानाम् — "शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां त्रितिः। ज्यौतिषञ्चेति विज्ञेयंषडङ्गं बुधसत्तमैः॥" इत्युक्तानां षण्णां गुणेन—आवृत्त्या, वैशिष्ट्येन वा, विस्तरम् = वृद्धिम्, नीता = प्रापिता, त्रयी इव = वेदत्रयी— ज्ञान-कर्म-उपासनाप्रधानै ऋक्यजुस्सामभिः युक्ता वेदत्रयी इव [अङ्गगुणनेन त्रय्याः अष्टादशत्वमिति भावः। एकैकवेदस्य प्रत्येकशः अङ्गानां शिक्षादीनां षाड् विध्येन चाष्टादशत्वशिद्धिः, एवं यथा वेदत्रयी अष्टादशतां प्राप्नोति तथैवेत्यभिप्रायः] नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम नवानां द्वयं इति नवद्वयं लक्षणया अष्टादशेत्यर्थः— तेषां अष्टादशानां द्वीपानां पृथग्भूता याः जयश्रिः तासाम्, जिगीषया= जेतुमिच्छया, अगाहता = अभजत्। अथवा नलस्य सूदविद्या अपि षण्णां रसानां रसानां मधुराम्लकषायलवणकटुतिक्तानां उल्बणानुल्वणसमतारूत्रैविध्येन अष्टादशतामभजत।

हिन्दी अनुवाद—अमुष्य = इस राजा नल की, रसनाग्रनर्त्तकी = जिह्वा के अग्र भाग पर सदा नृत्य अर्थात् निवास करने वाली, विद्या = विद्या ने [पूर्वोक्त चार वेद + छः वेदाङ्ग + मीमांसा + न्याय + धर्मशास्त्र + पुराण तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र— इन अठारह प्रकार की विद्याओं ने]। अङ्गगुणेन = अङ्गों अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष— इन छः अङ्गों के साथ-गुणेन-गुणा करने से अथवा इनके वैशिष्ट्य

से, विस्तरम् = वृद्धि अथवा विस्तार को, नीता = प्राप्त हुई, त्रयीइव = ऋक्, यजु और सामवेद रूप वेदत्रयी के सदृश, नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम = अठारह द्वीपों की विजयलक्ष्मी को पृथक् पृथक्, जिगीषया = जीतने की इच्छा से; अष्टादशताम् = अष्टादशता [अठारह संख्यात्व] को, अगाहता = प्राप्त किया। अथवा– राजा नल ने अठारह द्वीपों को पृथक्, पृथक् जीतकर अठारह विजयलक्ष्मियों को प्राप्त कर लिया है। अतएव मैं भी इन अठारह द्वीपों पर विजय श्री को जीत लूँ– इस भावना से इनकी [पूर्वकथित] विद्या ने अठारह की संख्यात्व को प्राप्त कर लिया था। **अथवा**– राजा नल पाक विद्या (पाकशास्त्र) में भी पूर्ण निष्णात थे। अत: इनकी पाकशास्त्रीय-विद्या ने मधुर, खट्टा, नमकीन, कड़वा, कसैला और तीखा (तिक्त) रूप षड्रसों के न्यून, अधिक और समरूप प्रकारत्रय की दृष्टि से (छै × तीन = अठारह) विस्तार को प्राप्तकर अठारह संख्यात्व को प्राप्त कर लिया था। जैसे-मधुर पदार्थ में दूसरे मधुर पदार्थ को न्यून (अल्प) मात्रा में, तिक्त पदार्थ को सममात्रा में डालने से (मिला लेने से) एक मधुर पदार्थ के ही तीन प्रकार (भेद) हो जाते हैं। इसी भाँति छै पदार्थों में न्यून, अधिक और सम मात्रा से पदार्थान्तर डालने से अठारह प्रकार अथवा भेद हो जाते हैं॥

भावार्थ– पूर्वश्लोक में वर्णित चौदह विद्या तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र ये चार अर्थात् कुल अठारह विद्यायें राजा नल की जिह्वा के अग्रभाग पर सर्वदा निवास किया करती थीं अर्थात् उन्होंने अठारह द्वीपों पर भी पृथक् पृथक् रूप से विजय प्राप्त कर ली थी। इस भाँति इन अठारह विजयलक्ष्मियों पर भी उनका आधिपत्य हो गया था। इस भाँति राजा नल स्वभावत: परस्पर विरोधिनी लक्ष्मी (श्री) और विद्या (सरस्वती) दोनों के ही आश्रय थे। लक्ष्मी तथा सरस्वती का यह विरोध पूर्णरूपेण स्वाभाविक है। संसार में भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जो लक्ष्मीवान् होता है वह विद्यावान् अथवा विद्वान् नहीं होता। और जो विद्वान् होता है वह धनी नहीं होता। लक्ष्मी तथा सरस्वती का यह विरोध चिरन्तन एवं शाश्वत है और सृष्टि के आदि से

निरन्तर चलता चला आ रहा है। इतना होने पर भी राजा नल विद्यावान् अथवा विद्वान् तो थे ही साथ ही लक्ष्मीवान् भी। यही उनके जीवन की एक उत्कृष्टतम विशेषता है।

अलङ्कार— राजा नल की विद्या अठारह प्रकार की थी। वेदत्रयी भी शिक्षा आदि छै वेदाङ्गों के गुणन से अठारह प्रकार की हो जाती है। अत: राजा नल की विद्या ने वेदत्रयी के सदृश अठारह के संख्यात्व को प्राप्त किया। इस स्थल पर राजा नल की विद्या उपमेय, त्रयी उपमान तथा इव उपमावाचक शब्द और दोनों के अठारह प्रकारों आदि का होना साधारण धर्म है। अत: श्लोक में पूर्णोपमा अलङ्कार है। इसके अतिरिक्त ''नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् जिगीषया'' के आधार पर राजा नल की विद्या के भी अठारह प्रकार होने के कारण [राजा नल ने अठारह द्वीपों को पृथक्-पृथक् जीत करके अठारह जयश्रियाँ प्राप्त की हैं, फिर विद्या जिसका ' श्री' के साथ सदैव विरोध रहा करता है, पीछे क्यों रह जाती ? अत:, वह अठारह द्वीपों को पृथक् पृथक् जीतने से प्राप्त अठारह जयश्रियों को नीचा दिखलाने की इच्छा से पूर्वोक्त प्रकार से अठारह हो गयी।] की संभावना की गयी है। अत: यहाँ ' उत्प्रेक्षा' अलङ्कार की प्रतीति भी होती है। उपमा एवं उत्प्रेक्षा दोनों ही अलङ्कारों का प्रयोग होने के कारण यहाँ ''संसृष्टि'' अलङ्कार भी बन जाता है।

व्याकरण— **जिसीषया** = जि +सन् + अ।

समास—**अङ्गगुणेन** = अङ्गानां गुणेन इति **नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम** = नवानां द्वयं नवद्वयं नवद्वयानां द्वीपानां पृथक् भूत: या: जयश्रिय: तासां नवद्वयद्वीयपृथग्जयश्रियाम्।

टिप्पणियाँ— **विद्या** = इससे पर्व के श्लोक सं० चार में चतुर्दश विद्याओं का उल्लेख किया जा चुका है। उसी के साथ आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा धर्मशास्त्र इन चार विद्याओं का योग कर देने से इस श्लोक में वर्णित अठारह विद्याओं का उल्लेख स्पष्ट हो जाता है। टीकाकार मल्लिनाथ ने अठारह विद्याओं के अतिरिक्त इस स्थल पर प्रयुक्त ''विद्या'' शब्द से ''पाकविद्या''

अर्थ होने का भी संकेत किया है क्योंकि राजा नल ''पाकविद्या'' में भी पूर्णतया दक्ष थे। मीठा, खट्टा, कसैला, तीखा और नमकीन इन छः रसों की न्यूनता अधिकता और समता की दृष्टि से प्रत्येक रस के तीन-तीन भेद होंगे और इस प्रकार यह पाकविद्या भी अठारह प्रकार की होगी। टीकाकार नारायण ने तो इस स्थल पर ''विद्या'' शब्द से द्यूतविद्या की ओर भी संकेत किया है। राजा नल द्यूतविद्या में भी प्रवीण थे। द्यूतव्यसनी होने के कारण बहुत बोलने वाले राजा नल की रसनाग्रनर्त्तकी द्यूतविद्या दुआ-तिआ-चौका-पञ्जा तथा चार उड्डीयक (२+ ३ + ४ + ५ + ४ + १८) रूप गुणों द्वारा विस्तार को प्राप्त होकर अठारह प्रकार की जो जाती है। **त्रयी** = त्रयी शब्द से अभिप्राय 'वेदत्रयी' से है। वैसे तो वेद चार हैं (१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद (३) सामवेद (४) अथर्ववेद। किन्तु इन चारों में ज्ञान, कर्म और उपासना इन तीन का ही वर्णन किया गया है। वेद ज्ञान का निर्माण ''विद्लृ'' ज्ञाने धातु से हुआ है। अतः वेद का अर्थ हुआ ''ज्ञान''। अतः यह ज्ञान भी तीन प्रकार का हुआ। इसी आधार पर चारों वेदों के ज्ञान को वेदत्रयी शब्द द्वारा कहा गया है। ऋग्वेद में ज्ञान का यजुर्वेद में कर्म का तथा सामवेद में उपासना का वर्णन विशद रूप से उपलब्ध होता है। अथर्ववेद में तीनों का वर्णन मिलता है। इन तीनों के साथ छैः प्रकार के वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष) का गुणन करने से वेदत्रयी भी अठारह प्रकार का हो जाता है। **अङ्गगुणेन** = अङ्ग अर्थात् वेदाङ्गों के साथ गुणा करने से। **विस्तरम्** = विस्तार अथवा वृद्धि को। **रसनाग्रनर्त्तकी** = जिह्वा के अग्रभाग पर नृत्य करने वाली अर्थात् जिह्वा पर सर्वदा विद्यमान रहने वाली। **नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम** = नौ के दो अर्थात् अठारह द्वीपों की पृथक् पृथक् जय-श्री का। **जिगीषया** = जीतने की इच्छा से।

प्रसङ्ग— राजा नल के अन्दर सभी दिक्पालों का अंश विद्यमान था। अतएव वह आठों दिशाओं के स्वामी थे। वे सभी शास्त्रों के ज्ञाता थे। शास्त्रविरुद्ध किसी भी कार्य के करने की इच्छा कभी भी नहीं करते थे। अतएव

काम एवं विरोधी इच्छाओं की प्रबलता को रोकने वाले शास्त्ररूप तृतीय नेत्र को धारण किये हुए थे जिससे उनके शिव के अवतार होने का भान होता था—

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम्।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्॥६

मल्लिनाथकृत-टीका—अथास्य देवांशत्वमाह दिगीशेति। दिशामीशा दिगीशाः। दिक्पाला इन्द्रादयः तेषां वृन्दं समूहः तस्य मात्राभिः अंशैः विभूतिरुद्भवः यस्य तथाभूतः। तथा च 'इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयैश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीरिति'। 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति च स्मृति। दिशाम् ईशिता। ईश्वरः स नलः शास्त्राणि दिशामिति च बहुवचननिर्देशात् इन्द्रादीनामेकैकदिगीशत्वम् अस्य तु सर्वदिगीशितृत्वमिति व्यतिरेको व्यज्यते। कामम् इच्छां मदनञ्च मदनस्य प्रसभेन बलात् अवरुणद्धीति तथोक्तां स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवारिणीं कन्दर्पदमनकारिणीञ्चेत्यर्थः। कामप्रसवावरोधिनीमिति पाठे कामस्य प्रसरः विस्तारः वृद्धिरिति यावत् तमवरुणद्धीति तथैवार्थः। निजम् आत्मीयं यत् त्रिनेत्रावतरत्वं दिगीशेश्वरांशप्रभवत्वं तस्य बोधिकां ज्ञापिकाम् अत्र 'तृजकाभ्यां कर्त्तरी'ति कृद्योगसमास्यैव निषेधात् शेषषष्ठीसमासः 'तत्प्रयोजक' इत्यादि सूत्रकार-प्रयोगदर्शनादिति बोध्यम्। द्वयाधिकां तृतीयामित्यर्थः, दृशं नेत्रं बभार दध्रे। एतेन अस्य शास्त्रेणैव कार्य्यदर्शित्वं व्यज्यते। शास्त्राणि दृशमिति उद्देश्यविधेय-रूपकर्मद्वयम्। अवतरेत्यत्राप्प्रत्ययान्तेन तरशब्देन 'सुप्सुपे'ति समासः न तूपसृष्टात् प्रत्ययोत्पत्तिः। अत्र शास्त्राणि दृशमिति व्यस्तरूपकम्॥६॥

अन्वय— दिगीशवृन्दांशविभूतिः दिशामीशिता स शास्त्राणि कामप्रसभावरोधिनीं निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकां द्वयाधिकां दृशं बभार।

संस्कृत-व्याख्या—दिगीशवृन्दांशविभूतिः = दिगीशानां इन्द्रादिदिक्पालानां वृन्दं समूहः तस्य अंशैः मात्राभिः विभूतिः उद्भवः यस्य

एतादृशः, दिशामीशिता = दिशां ईशिता ईश्वरः स = नलः, शास्त्राणि, कामप्रसभावरोधिनीम् = स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवारिणीं मदनदहनकारिणीं वा, निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् = निजं स्वकीयं यत् त्रिनेत्रावतरत्वं दिशीशेश्वरांशप्रभवत्वं तस्य बोधिकां ज्ञापिकाम्, द्वयाधिकाम् = तृतीयामित्यर्थः, दृशम् = नेत्रम्, बभार = दध्रे। एतेन राज्ञः नलस्य शास्त्रेणैव कार्य्यदर्शित्वमभिव्यज्यते।

हिन्दी अनुवाद—दिगीशवृन्दांशविभूतिः = दिशाओं के अधिपतियों (स्वामियों) अर्थात् इन्द्र आदि दिक्पालों के समूह के अंशों से उत्पन्न, दिशामीशिता= आठ दिशाओं के स्वामी, स = वह (राजानल), शास्त्राणि = शास्त्रों के रूप में, कामप्रसभावरोधिनीम् = काम (इच्छा अथवा कामदेव) को बलात् रोकने वाली [कामप्रसरावरोधिनीम्— इस पाठान्तर के होने पर—काम (इच्छा अथवा कामदेव) के प्रसार (विस्तार अथवा वृद्धि) अथवा प्रबलता की अवरोधक (रोकने वाली) अर्थ होगा।], निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् = अपने को शिव (त्रिनेत्र) का अवतार होने का ज्ञान कराने वाले (अथवा कराने वाली— दृष्टि के पक्ष में), द्वयाधिकाम् = दो से अधिक अथवा अतिरिक्त अर्थात् तृतीय, दृशम् = नेत्र अथवा दृष्टि को, बभार = धारण किये था।

भावार्थ— सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्तार्थत्योर्यमस्य च।

अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः॥ मनु० ५।५६॥

तथा— "इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।

चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हत्य शाश्वतीः॥"

"अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः॥"

इत्यादि स्मृति-कथित उद्धारणों के आधार परसम्पूर्ण दिशाओं के स्वामियों (दिक्पालों) के अंश-समूह द्वारा राजा के शरीर का निर्माण हुआ करता है अथवा सम्पूर्ण दिक्पालों के अंश समूह से राजा ऐश्वर्य सम्पन्न हुआ करता है। अतः इसी आधार पर राजा नल का शरीर भी सम्पूर्ण दिक्पालों के अंशसमूह से

निर्मित था तथा वह सम्पूर्ण दिशाओं के अधिपतियों के अंश समूह से ऐश्वर्य सम्पन्न था। वह सम्पूर्ण दिशाओं का शासक भी था। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक दिशा का स्वामी [दिक्पाल] तो अपनी दिशा का ही स्वामी हुआ करता है किन्तु राजा नल सभी (आठों) दिशाओं के स्वामी थे– अतएव आठों दिशाओं के शासक थे। इस प्रकार के वे राजा नल शास्त्ररूप तृतीय-नेत्र को प्राप्तकर इच्छा की प्रबलता अर्थात् मन को शास्त्रविरुद्ध कार्य में प्रवृत्त होने से उसी प्रकार रोकते थे जैसे त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकर ने अपने तृतीय नेत्र से कामदेव की प्रबलता को रोका था। इसी भाँति राजा नल शास्त्रज्ञान द्वारा काम की प्रबलता को रोककर अपने को भगवान् शिव का अवतार होने की बात को प्रदर्शित कर रहे थे अथवा वे पूर्णशास्त्रज्ञ होने के कारण शास्वविरुद्ध कार्यों के करने सम्बन्धी अपनी इच्छाओं का सदैव दमन किये करते थे। इस भाँति वे शास्त्ररूप तृतीय-नेत्र को धारण किये हुए थे।

अलङ्कार– उक्त पद्य में राजा को शास्त्ररूप तृतीयनेत्रधारी कहा गया है। अतएव यहाँ रूपक अलङ्कार है।

व्याकरण– अवतर शब्त तृ धातु से ''ऋदोरप्'' सूत्र से अप् प्रत्यय जुड़ने के पश्चात् 'अत' उपसर्ग का ''तर'' से समास करने पर बनता है; ''अब'' उपसर्गपूर्वक तृ धातु से 'अप्' प्रत्यय करने पर नहीं। क्योंकि 'अव' उपसर्गपूर्वक तृ धातु से ''अवेस्तृस्त्रोर्धञ्'' सूत्र से ''घञ्'' प्रत्यय होने पर ''अवताय'' शब्द बनेगा, ''अवतर'' नहीं।

दिगीशवृन्दांशविभूतिः दिशामीशिता स शास्त्राणि कामप्रसभावरोधिनीं निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकां द्वयाधिकां दृशं बभार।

समास–दिगीशवृन्दांशविभूतिः = दिशामीशाः दिगीशाः (इन्द्रादय दिक्पालाः), तेषां वृन्दं समूहः, तस्य अंशैः विभूतिः यस्य तथाभूतः। **कामप्रसभावरोधिनीम्** = कामं प्रसभेन अवरुणद्धि इति तथोक्तां। यह ''दृशम्'' का विशेषण है। (पाठान्तर में–) **कामप्रसभावरोधिनीम्** = कामस्य प्रसरः इति कामप्रसरः तं अवुरणद्धि इति तथोक्ताम्।

निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् = निज स्वकीयं यत् त्रिनेत्रावतरत्वं तस्य बोधिकाम् (षष्ठीतत्पुरुष) इति।

टिप्पणियाँ—दिगीशवृन्दांशविभूतिः = सभी दिक्पालों के अंशों से उत्पन्न अथवा ऐश्वर्यसम्पन्न। मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में राजा को आठों दिक्पालों के अंशों (मात्रा) से निर्मित बतलाया गया है। [मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक सं० ४-८]। **शास्त्राणि दृशम्** = शास्त्ररूप दृष्टि अथवा शास्त्ररूप (तृतीय) नेत्र। राजा नल पूर्णशास्त्रज्ञ थे। **द्वयाधिकाम्** = दो से अधिक अर्थात् तृतीय। **निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्** = अपने को शिव का अवतार होने का ज्ञापक। राजा नल अपने शास्त्ररूप तृतीय नेत्र से अथवा शास्त्रदृष्टि से काम की प्रबलता अथवा स्वेच्छाचारिता को हठात् रोके रखता था। पौराणिक कथा के अनुसार शिव ने अपने तृतीय नेत्र से कामदेव को भस्म कर दिया था। अतः राजा नल का शास्त्ररूपी तृतीय नेत्र यह प्रकट करता था कि यह त्रिनेत्रधारी भगवान् शिव का अवतार है। **बभार** = धारण किये हुए था अथवा धारण करता था।

प्रसङ्ग— राजा नल के समय में सभी लोक किसी न किसी अंश में तप किया करते थे। यहाँ तक कि अधर्म भी अपने एक चरण की छोटी अँगुली से भूमि पर स्पर्श करते हुए तप में संलग्न था—

पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते
कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन्
दवावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम्॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अथास्य प्रभावं दर्शयति—पदैरिति। अमुना नलेन कृते सत्ययुगे सुकृते धर्मवृषरूपत्वात् चतुर्भिः पदैः चरणैः— 'तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥' इत्युक्तचतुर्विधैरिति भावः, स्थिरीकृते निश्चली कृते इति यावत्, के जनाः तपः चान्द्रायणादिरूपं कठिनं व्रतं का कथा ज्ञानादीनामिति भावः, न प्रपेदिरे? अपि तु सर्व

एवतपश्चेरुरित्यर्थ:। यत् यत: अधर्मोऽपि का कथा अन्येषामित्यपिशब्दार्थ:, कृश:, दुर्बल: सन् एकया अङ्घ्रेश्चरणस्य कनिष्ठया कनिष्ठयाऽङ्गुल्येत्यर्थ:, भुवं स्पृशन् कृतेऽपि अधर्मस्य लेशत: सम्भवादंशेनेति भाव:। तपस्वितां तापसत्वं दीनत्वञ्च 'मुनिदीनौ तपस्विना'विति विश्व:। दधौ धारयामास। अस्य शासनादधर्मोऽपि धर्मेषु आसक्तोऽभूत्। किमुत अन्य इति कैमुत्यन्यायादर्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कार: अधर्मोऽपि धार्मिक इति विरोधश्चेत्यनयो: संसृष्टि:॥७॥

अन्वय— अमुना कृते सुकृते चतुर्भि: पदै: स्थिरीकृते के तप: न प्रपेदिरे? यद अधर्म: अपि कृश: [सन्] एकाङ्घ्रिकनिष्ठया भुवं स्पृशन् तपस्वितां दधै।

संस्कृत-व्याख्या—अमुना = [राज्ञा] नलेन, कृते = कृतयुगे सत्ययुगे वा, सुकृते = धर्मे पुण्ये वा, चतुर्भि:, पदै: = चरणै: 'तप: परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमकें कलौ युगे॥' इत्युक्तचतुर्विधै: इत्यभि प्राय:, स्थिरीकृते = निश्चलीकृते, के जना, तप: = चान्द्रायणादिरूपं कठिनं व्रतं, का कथा ज्ञानादीनामिति भाव:, न प्रपेदिरे? अपितु सर्व एव तपश्चेरुरित्यर्थ:। यत् = यत:, अधर्म: अपि = [का कथा अन्येषां, इति अपि शब्दार्थ:।], कृश:= अतिशयदुर्बल: सन्, एकाङ्घ्रिकनिष्ठया = एकया अङ् घ्रे: चरणस्य कनिष्ठया अङ्गुल्या, भुवम् = पृथ्वीं भूमिं वा, स्पृशन् = स्पर्श कुर्वन्, तपस्विताम्= तापसत्वं दीनत्वं च (मुनिदीनौ तपस्विनौ— इति विश्व:) दधै = धारयामास। अस्य नलस्य शासनादधर्म: अपि धर्मेषु आसक्तोऽभूत् अथवा अधर्मोऽपि धार्मिक: संजात: इति भाव:।

हिन्दी अनुवाद—अमुना = इस [राजा नल] के द्वारा, कृते = सत्ययुग में, सुकृते = धर्म अथवा पुण्य के, चतुर्भि: पदै: = तप, ज्ञान, यज्ञ और दान रूप चार चरणों से, स्थिरीकृते = स्थिर कर दिये जाने परस के = कौन (व्यक्ति), तप: = तपश्चर्या में, न प्रपेदिरे = प्रवृत्त नहीं हुए? अर्थात् सभी व्यक्ति तपश्चर्या में प्रवृत्त हुए। यत् = यहाँ तक कि, अधर्म: अपि = अधर्म भी,

कृशः सन् = अतिशय दुर्बल होकर, एकाङ्ध्रिकनिष्ठया = एकचरण की सबसे छोटी अँगुली से, भुवं स्पृशन् = पृथ्वी का स्पर्श करता हुआ, तपस्विताम् = तपश्चर्या को, दधौ = धारण किये हुए था।

भावार्थ—"अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि। प्रतिकुर्युर्न किं नूनं नलरामयुधिष्ठिरः॥" इस वचन के अनुसार सत्ययुग इत्यादि युगों के क्रम से नल, रामचन्द्र और युधिष्ठिर का वर्णन होने से राजा नल का होना सत्ययुग में ही सिद्ध होता है। सत्ययुग में उत्पन्न हुए राजा नल ने धर्म अथवा पुण्य को चारों चरणों से स्थिर कर दिया था। अतः उस समय सभी व्यक्तिय तपश्चर्या मे संलग्न थे। यहाँ तक कि धर्म-विरोधी अधर्म भी एक चरण से पृथ्वी पर निवास करता हुआ अतिशय दुर्बल होकर तपस्वी बन गया था। सत्ययुग में धर्म अथवा पुण्य की स्थिति चारों चरणों (तप, ज्ञान, यज्ञ और दान रूप चारों चरणों) से स्थित रहा करती है और अधर्म की मात्र सबसे छोटी अँगुली के आधार पर खड़े रहने से दुर्बलता अत्यधिक हो जाया करती है। अतः सत्ययुगीन राजा नल के समय में अधर्म की इस प्रकार की स्थिति होने पर उसका अतिशय दुर्बल होना स्वाभाविक ही है।

अलङ्कार— इस राजा नल के समय में अधर्म भी धर्म में आसक्त हो गया था फिर अन्य लोगों का तो कहना ही क्या? [अर्थात् सभी जन धर्म में आसक्त होकर तपश्चर्या-रत थे।] कौमुत्य न्याय के अनुसार इस नवीन [दूसरे] अर्थ के निकलने से यहाँ "अर्थापत्ति" नामक अलङ्कार है। इसके अतिरिक्त "अधर्म भी धार्मिक हो गया था" इस वर्णन में "विरोध" अलङ्कार की भी अनुभूति होती है। फिर इस भाँति इन दोनों अलङ्कारों के योग से "संसृष्टि" नामक अलङ्कार भी बन जाता है।

व्याकरण— स्थिरीकृते = स्थिर +च्वि + √ कृ + क्त। प्रपेदिरे = प्र + पद् +लिट्। दधौ = √धा + लिट्।

समास— एकाङ्घ्रिकनिष्ठया = एकया अङ्घ्रेः कनिष्ठया इति।

टिप्पणियाँ—सुकृते चतुर्भि: पदै: स्थिरीकृते = धर्म अथवा पुण्य को चारों चरणों से स्थित कर दिये जाने पर। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सत्ययुग में धर्म अथवा पुण्य के चारों चरण [तप, ज्ञान, यत्र और दान रूप] विद्यमान रहा करते हैं और अधर्म केवल एक चरण से ही। प्रत्येक युग में क्रम से धर्म का एक चरण घटता तथा अधर्म का एक एक चरण बढ़ता जाता है। परिणामस्वरूप कलियुग में धर्म का मात्र एक चरण तथा अधर्म के चारों चरण हो जाते हैं। राजा नल सत्ययुग में हुए थे। उनसे समय में कौन व्यक्तिमात्र तपश्चर्या क्रिया करते थे। अत: विवश होकर अधर्म को भी उनके शासनकाल में तप करना पड़ा था और इसी कारण वह अतिशय दुर्बल हो गया था। **प्रपेदिरे** = प्राप्त हुए। **तपस्विताम्** = तापसत्व और दीनत्व अथवा दीनता को (मुनिदीनौ तपसविनाविति विश्व:)।

प्रसङ्ग— जब राजा नल दिग्विजय के लिये यात्रा प्रारम्भ करते हैं तब उस समय उनकी सेना के सैनिकों के पैरों से उड़ी हुई धूलि क्षीरसागर में गिरकर कीचड़ बन जाती है। क्षीरसागर से उत्पन्न चन्द्रमा में वह कीचड़ लग जाती है और वही कलङ्क के रूप में दृष्टिगोचर होती है—

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रज: स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम्।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ॥८॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अथास्य सप्तभि: प्रतापं वर्णयति—यदित्यादिभि:। अस्य नलस्य यात्राशु जैत्रयानेषु बलोद्धतं सैन्योत्क्षिप्तं स्फुरत: ज्वलत: प्रतापानलस्य यो धूम: तस्येव मञ्जिमा मनोहारित्वं यस्य तथोक्तं 'सप्तम्युपमाने'त्यादिना बहुव्रीहि:। मञ्जशब्दादिमनिच्प्रत्यय:। यत् रज: धूलि:, तदेव गत्वा उत्क्षेपवेगादिति भाव:। सुधाम्बुधौ क्षीरनिधौ पतितम्, अतएव पङ्कीभवत् सत् विधौ चन्द्रे तद्वासिनीति भाव:। अङ्कतां कलङ्कत्वं दधाति। अत्रापि व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा तथा च कलङ्कत्वं दधातीवेत्यर्थ:॥८॥

अन्वय—यात्रासु अस्य बलोद्धतं स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम् यद् रज: [आसीत्] तदेव गत्वा सुधाम्बुधौ पतितं पङ्कीभवद् विधौ अङ्कतां दधाति।

संस्कृत-व्याख्या—यात्रासु = दिग्विजयसम्बन्धिनी यात्रासु, अस्य = राज्ञ: नलस्य, बलोद्धतम् = सैन्योत्क्षिप्तम्, स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम् = स्फुरत: ज्वलत: प्रतापानलस्य प्रतापाग्ने: यो धूम: तस्य सदृशं मञ्जिमा मनोहारित्वं यस्य तथोक्तम्, यत्, रज: =धुलि:, आसीत्, तदेव गत्वा सुधाम्बुधौ = क्षीरसागरे, पतितम्, पङ्कीभवद् सत्, विधौ = चन्द्रमसि [तद्वासिनीति भाव:], अङ्कताम् = कलङ्कत्वम्, दधाति [कलङ्कत्रं दधातीतेत्यर्थ:]।

हिन्दी अनुवाद— [राजा नल की] यात्रासु = [दिग्विजय सम्बन्धी यात्राओं में,] अस्य = इस राजा नल की, बलोद्धतम् = सेनाओं के चरणों से उठकर ऊपर की ओर उड़ी हुई, स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम् = जलते हुए अर्थात् देदीप्यमान प्रतापरूपी अग्नि के धुयें के सदृश मंजुलता-संपन्न अथवा सुन्दर, यद् रज: = जो धूलि, आसीत् = थी; तदेव = [धूलि] ही, गत्वा = जाकर, सुधाम्बुधौ = अमृत के समुद्र अर्थात् क्षीरसागर में, पतितम् = गिरी हुई [अतएव] पङ्कीभवद् = कीचड़ होती हुई, विधौ = चन्द्रमा में, अङ्कताम् = कलङ्क को, दधाति = धारण किये हुए है। अथवा अमृत के समुद्र-चन्द्रमा में कलङ्क के रूप में प्रतीत हो रही है।

भावार्थ— जल राजा नल दिग्विजय के लिये अपनी महती सेना के साथ प्रस्थान करते हैं तब इनकी सेना के प्रयाण में सैनिकों के पैरों से जो धूलि उड़ती है वह जाकर क्षीरसागर में गिरती है और कीचड़ बन जाती है। चन्द्रमा की उत्पत्ति क्षीरसागर से ही मानी गई है। अतएव उत्पन्न होते समय वह कीचड़ चन्द्रमा में लग जाती है और वही कीचड़ चन्द्रमा में कलङ्क के रूप में दृष्टिगोचर होती है।

इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा नल की सेना अत्यधिक है और वह समुद्र-पर्यन्त विजय प्राप्त कर चुकी है।

अलङ्कार— **प्रतापानल** = यहाँ प्रताप में अनल (अग्नि) का आरोप किया गया है। अत: '' रूपक'' अलङ्कार है। दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ =

वह धूलि जो दिग्विजय के समय राजा नल की सेना के प्रयाण से उड़ी– वह दूर जाकर क्षीरसागर में गिरी और उसने कीचड़ का रूप धारण कर लिया। यह कीचड़ उत्पत्ति के समय चन्द्रमा में लग गया। अतएव चन्द्रमा में जो कलङ्क दिखलाई देता है वह मानो वही धूलि है। इस भाँति इस स्थल में धूलि में कलङ्क होने की संभावना की गयी है अतः उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

व्याकरण– मञ्जिमन् = यह शब्द मञ्जु शब्द से भाव में "इमनिच" प्रत्यय जुड़ने पर बनता है। यह शब्द पुल्लिङ्ग शब्द है। "स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम्" यह शब्द "रजः " का विशेषण है। "रजः" यह रूप रजस् शब्द की प्रथमा-विभक्ति के एकवचन का रूप है तथा नपुंसकलिङ्ग है। अतएव "स्फुरत्प्रतापान-लधूममञ्जिम्" शब्द भी नपुसंक-लिङ्गप्रथमाविभक्ति के एकवचन का रूप हुआ। **पङ्कीभवद्** = पङ्क शब्द से "अभूततद्भाव" अर्थ में "च्वि" प्रत्यय होकर भू धातु से नित्य समास होने के अनन्तर 'शतृ' प्रत्यय होकर "पङ्कीभवत्" शब्द बनता है।

समास–स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम् = स्फुरन् ज्वलन् यः प्रतापः तेजः स एव अनलः तस्य धूमस्य इव मञ्जोर्भावः मञ्जिमा स यस्य तत् (बहुब्रीहि समास)। **पङ्कीभवत्** = अपङ्कं भवदिति **पङ्कीभवत्**।

टिप्पणियाँ–यात्रासु = दिग्विजय से सम्बन्धी यात्राओं में अथवा दिग्विजय के लिये की गयी यात्राओं में। **बलोद्धतम्** = बल अर्थात् सेना [के सैनिकों द्वारा अपने पैरों] द्वारा उड़ती हुई। **स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम्** = जलती हुई अपनी [राजा नल की] प्रतापरूपी अग्नि के धुयें के समान सुन्दर। **सुधाम्बुधौ** = सुधा अर्थात् अमृत के अम्बुधि अर्थात् समुद्र में– सुधा सागर-अथवा अमृत-सागर अथवा क्षीरसागर में। **पङ्कीभवत्** = पङ्क–कीचड़, जो (धूलि) कीचड़ नहीं है वह (धूलि) कीचड़ होती हुई। **अङ्कताम्** = कलङ्कत्व को अथवा कलङ्क को। **दधाति**= धारण किये हुए है। अमृत के समुद्र-चन्द्रमा में कलङ्क के रूप में प्रतीत हो रही है।

प्रसङ्ग— राजा नल ने अपने सौ से भी अधिक शत्रु राजाओं पर विजय प्राप्त की थी और इस भाँति शत्रु राजाओं पर विजय प्राप्त कर उनकी प्रतापाग्नि को बुझा दिया था—

स्फुरद्धनिर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे।
निजस्य तेजशिशखिनः परश्शता वितेनुरङ्गारमिवायशः परे॥९॥

मल्लिनाथकृत-टीका—स्फुरदिति। सङ्गरे युद्धे शतात् परे परश्शताः शताधिका इत्यर्थः, बहव इति यावत्, पञ्चमीति योगविभागात् समासः, राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परनिपातः पारस्करादित्वात् सुडागमश्च। परे शत्रवः स्फुरन्तौ प्रसरन्तौ धनुर्निस्वनौ चापघोषौ इन्द्रचापगर्जिते—यस्य यत्र वा तथोक्तः, स नल एव गनः मेघः तस्य आशुगानां शरणाम् अन्यत्र आशुगा वेगगामिनी, यद्वा आशुगेन वेगगामिना वायुना या प्रगल्भा महती वृष्टिः 'आशुगौ वायुविशिकावि'त्यमरः। तथा व्यतितस्य निर्वापितस्य विपूर्वादयतेः कर्मणि क्तः। निजस्य तेजःशिखिनः प्रतापाग्ने अङ्गामिव अयशः अपकीर्त्ति वितेनुः विस्तारितवन्तः। पराजिता इति भावः। अत्र रूपकोत्प्रेत्रयोरङ्गाङ्गिभावः सङ्करः॥९॥

अन्वय— सङ्गरे परश्शता परे स्फुरद्धनिर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भ-वृष्टिव्ययितस्य निजस्य तेजशिशखिनः अङ्गारमिव अयशः वितेनुः।

संस्कृत-व्याख्या—सङ्गरे = युद्धे, परश्शताः = शतात् परे परश्शताः शताधिकाः, परे = शत्रवः, स्फुरद्धनिर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य = रफुन्तौ प्रसरन्तौ धनुः निस्वनौ चापघोषौ [मेघपक्षे] इन्द्रचापगर्जिते—यसाय यत्र वा तथोक्तः स नल एव घनः मेघः, तस्य आशुगानां शराणाम् [अग्निपक्षे] आशुगा वेगगामिनी यद्वा आशुगेन वेगगामिना वायुना या प्रगल्भा महती वृष्टिः तथा व्ययितस्य, निर्वापितस्य, निजस्य= स्वकीयस्य, तेजशिशखिनः = प्रतापाग्नेः, अङ्गारमिव = अङ्गारसदृशं, अयशः = अपकीर्तिं अपयशं वा, वितेनुः = विस्तारितवन्तः। रांक्षा नलेन शताधिकाः शत्रवः पराजिताः इति भाव।

हिन्दी अनुवाद— सङ्गरे = युद्ध में, परश्शताः = सौ से भी अधिक, परे र= शत्रु राजाओं ने, स्फुरद्धनिर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य = चमकता हुआ अथवा देदीप्यमान है धनुष और घोष [टङ्कार]जिसका ऐसा जो वह [राजा नल] रूपी मेघ, ऐसे उस राजा नल के बाणों की वर्षा से बुझे हुए, [अग्नि पक्ष में–] चमकता हुआ है धनुष [इन्द्रधनुष] और निस्वन (गर्जन) जिसमें ऐसे तथा उस नल के सदृश मेघ की आशुगा अर्थात् वेगगामिनी वायु से संसर्ग से होने वाली महती वृष्टि से बुझे हुए, निजस्य = अपने, तेजश्शिखिनः = प्रतापरूपी अग्नि के, अङ्गारमिव = अङ्गार के सदृश, अयशः = अपयश को, वितेनुः = फैला दिया।

भावार्थ— राजा नल युद्ध में, देदीप्यमान अपने धनुष की टङ्कार को करते हुए मेघों से हुई वर्षा के सदृश बाणों को बरसाते थे। बाणों की इस वृष्टि से राजा नल के सौ से भी अधिक शत्रुओं की प्रतापरूपी अग्नि बुझ गई और उनके काले-काले अंगारों के समान अपयश चारों ओर फैल गये। अत्यधिक वर्षा होने पर प्रज्वलित अग्नि बुझ जाया करती है और उसके बुझे हुए काले-काले अंगार चारों ओर फैल जाया करते हैं। इसी प्रकार राजा नल के बाणों की वर्षा से सभी शत्रु राजा पराजित हो गये तथा उनकी कीर्ति नष्ट हो गयी और उनका अपयश चारों ओर व्याप्त हो गया। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा नल शत्रुविहीन होकर निर्द्वन्दता के साथ राज्य का संचालन करते थे और उनकी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त थी।

अलङ्कार— **तेजश्शिखिनः** = तेजरूपीअग्नि— यहाँ तेज में अग्नि का आरोप किये जाने से रूपक अलङ्कार है। अङ्गारमिवयशः = [शत्रु राजाओं ने] अपने अपयश के रूप में मानों कोयले छोड़ दिये— इस संभावना के आधार पर यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार भी है।

व्याकरण—**परश्शताः** = शतात् परे इति परश्शताः— इस स्थल पर टीकाकार मल्लिनाथ के अनुसार ''पञ्चमी भयेन'' इस सूत्र से 'पञ्चमी' यह

योगविभाग करके "पंचमी" विभक्ति जिसके अन्त में हो, उसका सुबन्त के साथ समास हो जाता है' इस नियम के अनुसार शतात् का परे से समास हो जाने पर "राजदन्तादिषु परम्" सूत्र से शत का पर-निपात और 'पारस्करादीनिसत्तायाम्' सूत्र से पर और शत के बीच सुट का आगम होकर 'परश्शता:' बनता है। **निर्वापितस्य** = निर् + वि + अय् + क्त (कर्म में)।

समास—स्फुरद्धनिर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य = स्फुरन्तौ धनुश्च निस्वनश्च यस्य स स्फुरद्धनुर्निस्वन: स्फुरद्धनुर्निस्तनश्चासौ स च स्फुरद्धनुर्निस्वन स एव धन: तस्य प्रगल्भ्या वृष्ट्या व्ययितस्त। **तेजश्शिखिन:** = तेज: एवं शिखी इति तेजशिखी तस्य। **परश्शता:** = शतात्परे इति परश्शता: [पंचमी तत्पुरुष]।

टिप्पणियाँ—परश्शता: = सौ से भी अधिक। सङ्गरे = युद्ध में, संग्राम में। आशुग—आशु अर्थात् शीघ्र गमन करने वाले [आशुगौ वायुविशिखावित्यमर:]। अङ्गारमिवायश: = राजा नल द्वारा की गयी बाण-वर्षा द्वारा शत्रुओं का तेज नष्ट हो गया तथा शत्रुओं की पराजय का अपयश चारों ओर फैल गया। अत: कवि उत्प्रेक्षा करता है कि शत्रु की प्रतापरूपी अग्नि बुझ गयी और उसने अपयश के रूप में मानों कोयलों को ही छोड़ दिया। क्योंकि अग्नि को बुझा देने से कोयले ही शेष रह जाते हैं। यदि अग्नि स्वयं अपने आप बुझती है तब तो वह राख हो जाती है। किन्तु जल द्वारा बुझा दिये जाने पर कोयले ही शेष रह जाते हैं। कवि-सम्प्रदाय द्वारा अपयश अथवा अपकीर्ति का वर्ण भी काला ही माना गया है।

प्रसङ्ग— दिग्विजय के पश्चात् राजा नल भूमण्डल की प्रदक्षिणा करके विजय के निमित्त [पुरोहितों द्वारा] की गयी आरती से सुशोभित हुए—

अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद्भुव:।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघ:॥१०॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अनल्पेति। राज्ञ: प्रतिपक्षानिति भाव:, हन्तीति राजघ: शत्रुघातीत्यर्थ: 'राजघ उपसंख्यानमि'ति निपात:। नल: अनल्पं दग्धानि

अरिपुाणि शत्रुराष्ट्राणि यैः तथोक्ताः अनलवत् उज्ज्वलाः तैः निजप्रतापैः कोपदण्डसमुत्थतेजोभिः 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोषदण्डजमि'त्यमरः। ज्वलत् दीप्यमानं भुवः वलयं भूमण्डलं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्रम्य क्रमेण सर्वदिग्- विजेतृत्वादिति भावः। जयाय सृष्ट्या सर्वभूजयनिमित्तं कृतयेत्यर्थः पुरोहितैरितिशेषः। नीराजनया आरार्तिकया रराज शुशुभे दिशो विजित्य प्रत्यावृत्तं विजिनीषुं स्वपुरोहिताः मङ्गलसंविधानाय नीराजयन्तीति प्रसिद्धिः। केचितु निजप्रतापैरिव जयाय सृष्टया जयार्थयेवेत्यर्थः। नीराजनया आरार्तिकया ज्वलत् दीप्यमानं भुवो वलयं भूचक्रं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्राम्य रराज। तत्र ज्वलत्प्रतापानलो नानादिग्जैत्रयात्रायां प्राच्यादिप्रादक्षिण्येन भूमण्डलं परिभ्रमन् निजप्रतापनीराजनया भूदेवतां नीराजयन्निव रराजेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाद्यप्रयोगाद्गम्या। इति व्याचक्षते। तत्र समीचीनम्, निजप्रतापैरित्यस्य नीराजनयेत्यनेन सामानाधिकरण्यासङ्गतेरिति॥१०॥

अन्वय— राजघः स अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः निजप्रतापैः ज्वलद्भुवः वलयं प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया नीराजनया रराज।

संस्कृत-व्याख्या— राजघः = शत्रुघाती, स = नलः, अनल्पदग्धारि-पुरानलोज्ज्वलैः = अनल्पं अत्यधिकं दग्धानि अरिपुराणि शत्रुराष्ट्राणि यैः तथोक्ताः अनलवत् अग्निसदृश उज्ज्वलाः तै, निजप्रतापैः = स्वप्रतापाग्निभिः, ज्वलद् = देदीप्यमानम्, भुवः = पृथिव्याः, वलयम् = मण्डलम्, प्रदक्षिणीकृत्य = प्रदक्षिणां कृत्वा क्रमेण सर्वदिग्विजेतृत्वात् सर्वस्यभूमण्डलस्य परिक्रमां विधाय इति भावः, जयाय सृष्टया = सर्वभूजयनिमित्तं कृतया [पुरोहितैः इति शेषः], नीराजनया = आरर्तिकया, रराज = शुशुभे। दिशो निजित्य प्रत्यावृत्तं विजिगीषुं स्वपुरोहिताः मङ्गलसंविधानाय—नीराजयन्ति— इति प्रसिद्धिः। केचित्तु अनेन प्रकारेण व्याख्यां कुर्वन्ति यत्—निजप्रतापैः इव जयाय सृष्टया जयार्थया इव कृतया नीराजनया आरार्तिकया ज्वलत् दीप्यमानं भुवः वलयं भूचक्रं प्रदक्षिणी कृत्य रराज।

हिन्दी अनुवाद—राजघ: = [महाप्रतापी एवं शूरवीर] राजाओं का हनन करने वाला, स = वह राजा नल, अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलै: = बहुत अधिक जलाये गये हुए शत्रु नगरों वाली अग्नि के समान उज्ज्वल अर्थात् प्रकाशमान, निजप्रतापै: = अपने प्रतापों से, ज्वलद् = देदीप्यमान अथवा प्रकाशमान, भुव: वलयम् = पृथ्वीमण्डल की, प्रदक्षिणीकृत्य = प्रदक्षिणा कर, जयाय = विजय के लिये [पुरोहितों द्वारा] सृष्टया = की गयी, नीराजनया = आरती के द्वारा, रराज = सुशोभित हुए। अथवा उक्त रूप से वर्णित अपने प्रतापों द्वारा मानों अपनी विजय के निमित्त रचित आरती [पक्षान्तर में = नीराजनया अर्थात् राजाओं का अभाव अथवा नाश करने] से प्रकाशमान भूमण्डल की प्रदक्षिण कर वे राजा नल सुशोभित हुए। अथवा-प्रदक्षिणी, कृती, अजया, आय= प्रदक्षिणीकृत्यजयाय— ऐसा पदच्छेद करने पर— अधिक दक्षिणाशील अनुचरों वाले, कर्म करने में कुशल, शत्रुराजहन्ता वे राजा नल लक्ष्मी द्वारा विष्णु के लिये रची गयी आरती से सुशोभित हुए। राजा नल सम्पूर्ण देवताओं के अंशों से उत्पन्न थे। अतएव उनमें विष्णु देवता का भी अंश विद्यमान था। अत: विष्णु रूप होने के कारण लक्ष्मी द्वारा उनकी आरती किया जाना भी उचित ही है। [शेषअर्थ पूर्ववत्]। इस पक्ष में राजा नल के अनुचरों को प्रदक्षिण अर्थात् अधिक दक्षिणा देने वाले अर्थात् वदान्य कहा गया है और राजा नल ऐसे अनुचरों से युक्त होने के कारण 'प्रदक्षिणी' वदान्यतम अर्थात् अधिक दानी हुए। अथवा राजा नल को, अधिक दक्षिणा जिन यज्ञों में दी जायी करती है ऐसे ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ के कर्त्ता होने के कारण 'प्रदक्षिणी' कहा जाना उपयुक्त ही है।

भावार्थ— राजा नल चक्रवर्ती सम्राट् थे। चक्रवर्ती होने के लिये समस्त पृथ्वीमण्डल पर विद्यमान शास्त्रों अथवा राजाओं पर विजय प्राप्त कर लेना आवश्यक है अथवा सभी शासक अथवा राजा उसकी अधीनता को स्वीकार कर लें तभी उसे चक्रवर्ती कहा जा सकता है। अत: राजा नल के लिये भी आवश्यक था कि वे विजय यात्रा के लिये निकले। तदनुसार वे निकले और

समस्त भूमण्डल पर स्थित राजाओं को पराजित कर वे चक्रवर्ती सम्राट् हुए। इस भाँति उन्हें सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल पर घूमना पड़ा। इसी भावना के आधार पर महाकवि ने राजा के बारे में यह कल्पना की कि उस राजा नल ने विजय यात्रा के उपलब्ध में पृथ्वी मण्डल की प्रदक्षिणा की और विजय के अनन्तर जब अपनी राजधानी में लौटकर आये तब वियज के उपलक्ष्य में पुरोहितों और नागरिकों ने उनकी आरती की। इस भाँति इस आरती के द्वारा वह सुशोभित हुए।

कुछ टीकाकारों ने इस पद्य का अन्वय एवं अर्थ निम्नलिखित रूप में किया है:—

अन्वय—राजघ: स अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलै: निजप्रतापै: जयाय सृष्टया नीराजनया ज्वलद्भुव: वलयं प्रदक्षिणीकृत्य रराज— अर्थात् शत्रु राजाओं का हनन करने वाला वह राजा नल शत्रुओं के नगरों को अत्यधिक रूप से जलाने वाले और अग्नि के समान उज्ज्वल अपने प्रतापरूपी, विजय के निमित्त की गयी नीराजना से प्रकाशमान पृथ्वीमण्डल की प्रदक्षिणा कर सुशोभित हुआ। इस अर्थ में निज प्रताप का नीराजना के साथ तादात्म्य आरोपित किया गया है। इसी कारण टीकाकार मल्लिनाथ ने इस अर्थ को उपयुक्त नहीं कहा है।

अलङ्कार— उपर्युक्त किये गये द्वितीय अर्थ के आधार पर निजप्रताप का नीराजना के साथ तादात्म्य आरोपित किये जाने की दृष्टि से उत्प्रेक्षालङ्कार बनता है।

व्याकरण—राजघ: = राज्ञ: प्रतिपक्षनितिभाव: हन्तीति राजघ:—यहाँ पर '' राजघ उपसंख्यानम्'' से निपात होता है। रराज = राजृ + लिट्।

समास—**राजघ:** = राज्ञ: हन्तीति राजघ:। **अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलै:** = अनल्पं दग्धानि अरिपुराणि यै: तथोक्ता: अनलवत् उज्ज्वला: तै। **प्रदक्षिणीकृत्य** = अप्रदक्षिणं इति प्रदक्षिणीकृत्य।

टिप्पणियाँ—**अनल्प** = अत्यधिक। **अनलोज्ज्वलै:** = अग्नि के सदृश उज्ज्वल अथवा प्रकाशमान अथवा देदीप्यमान। **निजप्रतापै:** = अपने प्रताप से

अथवा स्वकीय तेज से। **वलयम्** = मण्डल को। **ज्वलद्** = जलता हुआ अर्थात् प्रकाशमान, चमकता हुआ। **जयाय सृष्ट्या** = दिग्विजय के लिये की गयी हुई। **नीराजनया** = आरती से। **रराज** = सुशोभित हुए।

प्रसङ्ग— राजा नल ने अपने सभी शत्रु राजाओं का विनाश कर दिया था। अत: उनकी विधवा स्त्रियाँ सदैव रोती थीं। इसी भावना के आधार पर महाकवि ने निम्नलिखित कल्पना की है—

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टय:।
न तत्यजुर्नूनमनन्यसंश्रया: प्रतीपभूपाललमृगीदृशां दृश:॥११॥

मल्लिनाथकृत-टीका— निवारिता इति। तेन नलेन अखिले समग्रे महीतले न सन्ति ईतय: अतिवृष्ट्यादय: यत्र तत् निरीति:, तस्य भाव: तम् ईतिराहित्यमित्यर्थ:। ईतयश्चोक्ता यथा— ' अतिवृष्टिरनावृष्टि: शलभा मूषिका: खगा:। प्रत्यासन्नाश्च राजान: षडेता ईतय: स्मृता:'॥ इति। गमिते प्रापिते सति निवारिता: स्वराष्ट्रात् निराकृता इत्यर्थ:. अतिवृष्टय: नास्ति अन्य: संश्रय: आश्रय: यासां तथाभूता: सत्या: प्रतीपभूपालानां प्रतिपक्षनृपतीनां या मृगीदृश: मृगनयना: कान्ता: तासां दृश: नयनानि न तत्यजु:। नूनं मन्ये इत्यर्थ:। उत्प्रेक्षावचकमिदं, तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादय:। उत्प्रेक्षाव्यञ्जका: शब्दा इवशब्दोऽपि तादृश' इति। नलनिहतभर्तृका राजपत्न्य: सततं रुरुदुरिति भाव:॥११॥

अन्वय— अखिले महीतले तेन निरीतिभावं गमिते निवारिता: अतिवृष्टय: अनन्यसंश्रया: प्रतीपभूपाललमृगीदृशां दृश: न तत्यजु: नूनम्।

संस्कृत-व्याख्या—अखिले =सम्पूर्णे, महीतले =भूतले [पृथिव्यां वा], तेन = राज्ञा नलेन, निरीतिभावम् = न सन्ति ईतय: अतिवृष्ट्यादय: यत्र तत् निरीति: तस्य भाव: तम् — ईतिराहित्यमित्यर्थ: [ईतयश्चोक्ता:— ''अतिवृष्टिना-वृष्टि: शलभा मूषिका: खगा:। प्रत्यासन्नाश्च राजान: षडेता ईतय: स्मृता:''], गमिते = प्रापिते सति, निवारिता: = स्वराष्ट्रात् निराकृता:, अतिवृष्टय:, अनन्य-

संश्रया:= न विद्यते अन्य: संश्रय: आश्रय: यासां तथाभूता: सत्या:, प्रतीपभूपाललमृगीदृशां = प्रतीपभूपालानाम् शत्रुनृपाणाम् या मृगीदृश मृगनयना कान्ता: तासाम्, दृश: = नेत्राणि, न तत्यजु:। नूनं मन्ये इत्यर्थ। नलनिहतभर्तृका राजपत्न्य: सततं रुरुदरित्यभिप्राय:।

हिन्दी अनुवाद—अखिले = सम्पूर्ण, महीतले = पृथ्वीतल के, तेन = उस राजा नल के द्वारा, निरीतिभावम् = ईति शून्यता को, गमिते = प्राप्त करा दिये जाने पर, निवारिता: = अपने राष्ट्र में आने से [अथवा प्रवेश करने से]रोक दी गयी हुई, अतिवृष्टय: = अतिवृष्टियों ने, अनन्यसंश्रया: = कहीं अन्यत्र आश्रय को प्राप्त न कर, प्रतीपभूपाललमृगीदृशाम् = शत्रु राजाओं की मृगी सदृश नेत्रों वाली सुन्दरियों [उनकी पत्नियों] के, दृश: = नेत्रों को, न तत्यजु: = नहीं छोड़ा। नूनम् = (मै ऐसा) मानता हूँ। तात्पर्य यह है कि राजा नल द्वारा जिनके पतियों को हनन किया जा चुका था ऐसे शत्रु राजाओं की स्त्रियाँ निरन्तर रुदन किया करती थीं।

भावार्थ— अतिवृष्टि (वर्षा का आवश्यकता से कही अधिक हो जाना), अनावृष्टि (वर्षा का न होना अथवा सूखा पड़ जाना), शलभ, (पतंगो-टिड्डियों आदि का बहुत अधिक संख्या में आगमन) चूहों का बहुत अधिक बढ़ जाना, पक्षियों का बहुत अधिक संख्या में आगमन तथा उनके द्वारा फसल इत्यादि का विनाश किया जाना, समीपस्थ (शत्रु) राजा लोग इन छै प्रकार की ईतियों(राज्य में आने वाली विपत्तियों) से रहित सम्पूर्ण पृथ्वीतल पर उस (राजा नल) द्वारा रोकी गयी अतिवृष्टियों ने मानों अयन्त्र कहीं भी आश्रय को प्राप्त न कर शत्रु राजाओं की मृगनयनियों के नेत्रों को नहीं छोड़ा।

राजा नल के सम्पूर्ण राज्य में अतिवृष्टि आदि छै आपत्तियों का प्रवेश नहीं हो पाता था। इस कारण उनका राज्य इन छ: प्रकार की ईतियों (आपत्तियों) से रहित था इनमें से सर्वप्रथम ईति का नाम अतिवृष्टि है। इन अतिवृष्टियों को समस्त भूतल पर कहीं भी रुकने हेतु स्थान प्राप्त न हो सका। अत: ये

अतिवृष्टियाँ शत्रु राजाओं की स्त्रियों के समीप पहुँच गयीं और उनके नेत्रों को ही अपना आश्रय-स्थल बना लिया। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा नल ने सभी शत्रुओं का पृथ्वीतल से विनाश कर दिया था। अतएव उन सभी की स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों के शोक में निरन्तर रोया करती थीं। संसार में भी ऐसा देखा जाता है कि किसी के द्वारा निकाला गया व्यक्ति उसके शत्रु के समीप जाकर आश्रय प्राप्त किया करता है। अत: अतिवृष्टियों ने भी शत्रु राजाओं की स्त्रियों के नेत्रों में जाकर आश्रय प्राप्त कर लिया था।

अलङ्कार— यहाँ कवि द्वारा यह संभावना की गयी है कि शत्रु स्त्रियों के नेत्रों में विद्यमान अश्रुधारायें ही मानों अतिवृष्टियाँ हैं। अत: उक्त पद्य में ''उत्प्रेक्षा'' अलङ्कार है। तथा इस पद्य में उसका वाचक ''नूनम्'' पद भी विद्यमान है। [मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादय:। उत्प्रेक्षाव्यञ्जका: शब्दा इव शब्दोऽपि तादृश:॥ सा०दर्पण॥]

व्याकरण—**गमिते** =√ गम् + णिच् + क्त।

समास—**निरीतिभावम्** = न सन्ति ईतय: यत्र तत् निरीति तस्य भाव: तम्। अनन्यसंश्रया: = नास्ति अन्य: संश्रय: यासां ता:। **प्रतीपभूपालमृगीदृशाम्** = प्रतीपभूपालानां या: मृगीदृश: तासाम्।

टिप्पणियाँ—**निराकृता:** = अपने राष्ट से रोक दी गयी हुई अर्थात् अपने राष्ट्र में जिनका प्रवेश रोक दिया गया है इस प्रकार की। यह ''अतिवृष्टय:'' का विशेषण है। निरीतिभावम् = ''अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, चूहे, पक्षी और पड़ोसी राजा— ये छ: किसी देश पर प्राकृतिक विपत्तियाँ (ईति) कही जाती हैं। राजा नल ने सभी ईतियों के अपने देश से निकाल दिया था अर्थात् इनके देश में इन छओं का प्रवेश नहीं हो पाता था। कहने का तात्पर्य यह है कि उनके पुण्य से इन छओं में से एक भी आपत्ति उनके राष्ट्र पर कभी नहीं आयी थी।

अतिवृष्टय: प्रतीपभूपाललमृगीदृशां दृश: न तत्यजु: = [अत:] अतिवृष्टियाँ अन्यत्र कहीं भी आश्रय न प्राप्त हो सकने के कारण शत्रु राजाओं की सुन्दरियों [स्त्रियों] के नेत्रों में चली गयीं और उन्होंने फिर उनको नहीं

छोड़ा। अर्थात् राजा नल ने अपने शत्रु राजाओं का उच्छेद कर दिया था। इस कारण उनकी विधवा स्त्रियाँ रात दिन रोया करती थीं। महाकवि ने विधवाओं की इन निरन्तर बहने वाली अश्रुधाराओं को ही अतिवृष्टियाँ कहा है।

प्रसङ्ग— राजा नल के सैनिक युद्ध-विद्या में अत्यन्त निपुण थे। उनकी निपुणता के परिणामस्वरूप युद्ध में तलवारों के प्रहार से शत्रु मृत्यु को प्राप्त होते थे। इससे राजा नल का यश दिशाओं के अन्त तक फैलता था—

सितांशुवर्णैर्वयतिस्म तद्गुणैर्महासिवेम्नस्सहकृत्वरी बहुम्।
दिगङ्गनाङ्गाभरणं रणाङ्गणे यशःपटं तद्भटचातुरी तुरी॥१२॥

मल्लिनाथकृत-टीका—सितांश्विति। महान् असिरेव वेमा वायदण्डः 'पुंसि वेमा वायदण्ड' इत्यमरः। तस्य सहकृत्वरी सहकारिणी 'सहे चे'ति करोतिः क्वनिप्प्रत्ययः। 'वनो र चे'ति ङीप् रश्च। तस्य नलस्य भटानां सैनिकानां यद्वा स नल एवभटः वीरः तस्य चातुरी चतुरता नैपुण्यमिति यावत् एव तुरी वयनसाधनं वस्तुविशेष इत्यर्थः। 'माकु' इति प्रसिद्धा. रण एव अङ्गनं चत्वरं तस्मिन् सितांशुवर्णैः शुभ्रैरित्यर्थः, तस्य नलस्य गुणैः शौर्य्यादिभिः तन्तुभिश्च दिश एव अङ्गनाः तासाम् अङ्गाभरणम् अङ्गभूषणम्। 'अङ्गावरणमि'ति पाठे अङ्गाच्छादनं बहु यश एव पटः वसनं तं वयति स्म ततान्। साङ्गरूपपमलङ्कारः। संग्रामे तथा नैपुण्यनेन प्रकटितं यथा तेन सर्वा दिशो यशसा प्रपूरिता इति भावः॥१२॥

अन्वय— महासिवेम्नः सहकृत्वरी तद्भटचातुरी तुरी रणाङ्गणे सितांशुवर्णैः तद्गुणैः दिगङ्गनाङ्गाभरणं बहु यशःपटं वयति स्म।

संस्कृत-व्याख्या—महासिवेम्नः = महान् असिरेव वेमा वायदण्डः यस्य तस्य, सहकृत्वरी = सहकारिणी, तद्भटचातुरी तुरी = तस्य नलस्य भटानां सैनिकानां या चातुरी नैपुण्यमेव तुरी वयनसाधनं वस्तुविशेष इत्यर्थः, रणाङ्गणे= रण एव अङ्गन चत्वरं तस्मिन्, सितांशुवर्णैः = चन्द्रसदृशगौरवर्णैः- शुभ्रैः निर्मलैः वा इति भावः, तद्गुणैः = तस्य नलस्य गुणैः शौर्यादिभिः तन्तु भिश्च

(पटपक्षे), दिगङ्गनाङ्गाभरणम् = दिश एव अङ्गना: स्त्रिय: तासां अङ्गाभरणं अङ्गभूषणं [अङ्गावरणमिति पाठान्तरे अङ्गाच्छादनमित्यर्थ:] बहुस यश:-पटम् = यश एव पट: वसनं तम्, वयतिस्म = ततान। राजा नलेन युद्धे तथा नैपुण्यं प्रकटितं यथा तेन सर्वा दिश: यशसा प्रपूरिता इत्यभिप्राय:।

हिन्दी अनुवाद—महासिवेम्न: = महान् तलवाररूपी वेमा (करधे) की, सहकृत्वरी = सहकारिणी, तद्भटचातुरी तुरी = उसके [राजा नल के] सैनिकों की चातुरी रूपी तुरी (ढरकी), रणाङ्गणे = युद्धरूपी आँगन में, सितांशुवर्णै: = चन्द्रमा के समान वर्ण वाले, तद्गुणै: = उस (राजा नल) के गुणों रूपी धायों से, दिगङ्गनाङ्गाभरणम् = दिशारूपी स्त्रियों के अङ्गों में धारण किये जाने योग्य आभूषण के सदृश अथवा [पाठान्तर— दिगङ्गनाङ्गावरणम् = दिशा रूपी स्त्रियों के अङ्गों को ढकने योग्य— यह पाठ अधिक समीचीन एवं उपयुक्त प्रतीत होता है], बहु = बड़े, यश:पटम् = यशरूपी वस्त्र कि, वयति स्म = बुनती थी।

भावार्थ— उस राजा नल के सैनिकों की चतुरता रूपिणी तथा महान् तलवार रूपिणी वेमा का साथ करने वाली तुरी युद्धस्थल में चन्द्रमा के समान निर्मल एवं शुभ्र राजा नल के शौर्य आदि गुणों रूपीधायों से दिशारूपिणी स्त्रियों को ढकने वाले बड़े कपड़े को बुनती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा नल के योद्धागण युद्ध में बड़ी चतुरता के साथ शत्रुओं पर तलवार का प्रहार करते थे और इस प्रकार उसके शत्रुओं का विनाश हो जाता था तथा उसका यश दिशाओं के अन्तराल भाग तक फैल जाता था। अर्थात् उसकी कीर्ति दिग्व्यापिनी थी।

अलङ्कार— उस श्लोक में " साङ्गरूपक" अलङ्कार है। महान् असि (तलवार) में वेमा, भटचातुरी में तुरी, रण में ओंयन, शौर्य आदि गुण में तन्तुओं, दिशाओं में अङ्गनाओं तथा यश में पट का आरोप किया गया है।

व्याकरण—सहकृत्वरी = सह + कृ + क्वनिप्, सहकृत्वा, स्त्रीलिङ्ग में "वनो र च" इस सूत्र से " रेफ" का आगम और ङीप् प्रत्यय होकर

समास—महासिवेम्नः = महान् असिरेव वेमा यस्य तस्य। **तद्भटचातुरी** = तस्य भटानां चातुरी इति—अथवा—स नलः एव भटः वीरः तस्यः चातुरी। **रणाङ्गणे**= रण एव अङ्गनं तस्मिन्। **तद्गुणैः** = तस्य नलस्य गुणाः इति तद्गुणाः शौर्य्यादयः एव गुणास्तन्तवः तैः। **दिगङ्गनाङ्गाभरणम्** = दिश एव अङ्गना इति दिगङ्गनाः तासां अङ्गाभरणमिति। **दिगङ्गनाङ्गावरणम्** = दिश एव अङ्गनाः इति दिगङ्गनाः तासां अङ्गावरणम् (अङ्गाच्छादनमित्यर्थः) इति। **यशःपटम्** = यश एवपटः इति, तम्।

टिप्पणियाँ—सहकृत्वरी = (सहकृत्वा का स्त्रीलिङ्ग में) सहचारिणी, साथ देने वाली। **तद्भटचातुरी** = राजा नल के योद्धाओं की चातुरता अथवा रणकौशल। अथवा राजा नल सदृश वीर का युद्ध कौशल। **सितांशुवर्णैः** = श्वेत (निर्मल) किरणों से युक्त अथवा श्वेतवर्ण की निर्मल किरणों वाला अर्थात् चन्द्रमा— ऐसे उस चन्द्रमा के सदृश वर्ण वाले। **तद्गुणैः** = उस राजा नल के शौर्य आदि गुणों के द्वारा अथवा गुण-शब्द का अर्थ रस्सी अथवा धागा भी होता है। अतः पट के पक्ष में— धागा या सूत अर्थ ही होगा। **दिगङ्गनाङ्गाभरणम्** = टीकाकार मल्लिनाथ ने इसी पाठ को मानकर टीका की है— किन्तु उन्होंने ''दिगङ्गनाङ्गावरणम्'' को भी पाठान्तररूप में स्वीकार किया है। दोनों का क्रमशः अर्थ होगा— (१) दिशाओं रूपी अङ्गनाओं (स्त्रियों) के अङ्गों में धारण किये जाने योग्य आभूषण (२) दिशाओं रूपी स्त्रियों के अङ्गों को ढक लिये जाने योग्य। **यशःपटम्** = कीर्तिरूपी वस्त्र को। **वयतिस्म** = बुनती थी।

प्रसङ्ग— विरोधी राजाओं के समान परस्पर विरोधी स्वभावों ने भी उस राजा नल के भय से पारस्परिक भेदभाव का त्याग कर दिया था—

प्रतीपभूपैरिव किं ततोभिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोझिता।
अभित्रजिन्मित्रजिदोजशा स यद् विचारदृक् चारदृगप्यवर्त्तत॥१३॥

मल्लिनाथकृत-टीका— प्रतीपेति। प्रतीपाः प्रतिकूलाः भूपा राजानः तैः विरुद्धधर्मैः असमानाधिकरणधर्मैः विपरीतवृत्तिभिरित्यर्थः, अपि ततः नलात्

भिया भयेनेव हेतुना भेत्तृत्ता स्वाश्रयभेदकत्वं परोपजाप इत्यर्थः। उज्जिता त्यक्ता किम्? यद् यस्मात् स नलः ओजसा तेजसा अमित्रान् शत्रून् जयतीति तथोक्तः मित्रह सूर्य्यं जयतीति तथाभूतः। अत्र यः खलु अमित्रजित् स कथं मित्रजिदिति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः तथा विचारेण पश्यतीति विचारदृक। 'राजानश्चारचक्षुप' इति, 'चारैः पश्यन्ति राजान' इति च नीतिशास्त्रम्। अत्रापि यो विचारदृक् स कथं चारदृग् भवतीति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः। अवर्त्तत आसीत्। अपिर्विरोधे। सूर्य्यतेजसं चारदृशञ्च नलं ज्ञात्वा शत्रवो भयात् परस्परोपजापादिवैरभावं तत्यजुरिति भावः। अत्र विरोधोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः॥१३॥

अन्वय– किं ततो भिया प्रतीपभूपैः इव विरुद्धधर्मैः अपि भेत्तृता उझिज्ता? यत् स ओजसा मित्रजिद् मित्रजिद् अपि अमित्रजिद् विचारदृग् अपि चारदृग् अवर्त्तत।

संस्कृत-व्याख्या—किम् ततः = नलात्, भिया = भयेन हेतुना, प्रतीपभूपैः इव= शत्रु नृपतिभिः इव, विरुद्धधर्मैः= असमानाधिकरणधर्मैः विपर्रातवृत्ति-भिरित्यर्थः, अपि भेत्तृता = स्वाश्रयभेदकत्वम्, परोपजाप इत्यर्थम्, उझिज्ता =त्यक्ता? यत् = यस्मात्, स = नलः, ओजसा= तेजसा, मित्रजिद् = मित्रं सूर्य्यं जयतीति तथाभूतः, अपि अमित्रजिद् = अमित्रान् शत्रून् जयतीति यथोक्तः, विचारदृग्, अपि, चारदृग् = चारैः गूटपुरुषैः पश्यतीति चारदृग्, अवर्त्तत = आसीत्।

हिन्दी अनुवाद—किम् = क्या, ततः = उस राजा नल के, भिया = भय से, प्रतीपभूपैः इव = शत्रु राजाओं के सदृश, विरुद्धधर्मैः अपि = विरोधी धर्मों ने भी, भेत्तृता = भेदभाव की, उझिज्ता = छोड़ दिया? यत् = क्योंकि, स = वह नल, ओजसा = तेज में, मित्रजित् = सूर्य को जीतने वाला, अपि = होने पर भी, अमित्रजित् = शत्रुओं को जीतने वाला तथा विचारदृग् अपि = विचार पूर्वक देखने वाला होने पर भी, चारदृग् = चरों (दूतों) के द्वारा देखने वाला,

भावार्थ— क्या विरोधी राजाओं के समान परस्पर विरुद्ध स्वभावों ने भी उस राजा नल के भय से भेदभाव का त्याग कर दिया था? जो नल अमित्रजित् (शत्रुओं को जीतने वाले) होकर भी मित्रजित् (मित्रों को जीतने वाले— विरोध-परिहार के पक्ष में-अपने प्रताप के बल पर सूर्य को भी जीत लेने वाले) थे तथा चारदृग (गुप्तचरों के द्वारा अपने राज्य के सम्पूर्ण कार्य-कलाप को देख लेने वाले) होने पर भी विचारदृग (गुप्तचरों द्वारा नहीं देखने वाले—विरोध के परिहार पक्ष में— विचारपूर्वक कार्य करने वाले) थे। राजा नल सूर्य के समान तेजस्वी और गुप्तचरों द्वारा देखने वाला था। इस कारण शत्रुओं ने उस राजा नल के भय के कारण परस्पर फूट डालने की क्रिया भी छोड़ दी थी। अत: कवि कल्पना करता है कि शत्रु राजाओं के सदृश विरोधी धर्मों (स्वभावों) ने भी उस राजा नल के भय के कारण भेदभाव को छोड़ दिया था क्योंकि उसके अन्तर विरुद्ध प्रती होने वाले धर्म भी एक साथ रहा करते थे। वह ''मित्रजित्'' होते हुए भी ''अमित्रजित्'' तथा ''विचारदृक्'' होते हुए भी ''चारदृक्'' था।

अलङ्कार— इस श्लोक के तृतीय तथा चतुर्थ चरण में '' विरोधाभास'' अलङ्कार है। राजानल ''मित्रजित्'' [अर्थात् सूर्य को जीतने वाले] होने पर भी ''अमित्रजित्'' [सूर्य को न जीतने वाले] थे। इसी प्रकार जो ''चारदृक्'' [दूतों द्वारा सम्पूर्ण राज्य की बातों को जानने वाला] होने पर भी ''विचारदृक्'' [दूतों द्वारा राज्य भी बातों को न जानने वाला था]। इन्हीं परस्पर विरोधी बातों या भावों से युक्त राजा नल था। अत: विरोध उत्पन्न हुआ। इस विरोध का परिहार इस प्रकार हो जाता है—''अमित्रजित्'' का अर्थ है— अमित्र अर्थात् शत्रुओं को जीतने वाला और ''विचारदृक्'' का अर्थ है विचार पूर्वक अर्थात् बुद्धि से समस्त कार्यों को देखने वाला। इस अर्थ के आधार पर उपर्युक्त विरोध का परिहार हो जाता है। अत: विरोध का आभासमात्र होने से ''विरोधाभास'' अलङ्कार हुआ।

इसके अतिरिक्त यहाँ पर ''राजा नल'' सूर्य सदृश तेजस्वी तथा ''चारदृक्

अर्थात् दूतों द्वारा अन्य राजाओं और सम्पूर्ण प्रजा के समाचारों को जानने वाला था'' अतएव शत्रुओं ने उसके भय से परस्पर के उपजाप तथा वैरभाव आदि का त्याग कर दिया था-ऐसी संभावना के लिये जाने से यहाँ ''उत्प्रेक्षा'' अलङ्कार भी बन जाता है। उपर्युक्त स्थिति में विरोध तथा उत्प्रेक्षा का अङ्ग एवं अङ्गीभाव स्पष्ट हो जाता है।

समास—प्रतीपभूपैः = प्रतीपाः भूपाः इति प्रतीपभूपैः तैः। अमित्रजित् = अमित्रान् जयतीति अमित्रजित्। मित्रजित् = मित्रान्, जयतीति मित्रजित्। विचारदृक् = विचारेण पश्यतीति विचारदृक्। चारदृक् = चारैः पश्यतीति चारदृक्।

टिप्पणियाँ— प्रतीपभूपैः = प्रतिकूल अथवा विरुद्ध राजाओं के सदृश। **विरुद्धधर्मैः** = विपरीत अथवा विरुद्ध धर्मों अथवा स्वभावों ने भी। **अमित्रजित्** = (१) मित्र अर्थात् सूर्य पर विजय प्राप्त न करने वाला। (२) अमित्र अर्थात् शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला। **मित्रजित्** = सूर्य पर भी अपने तेज से विजयी। **विचारदृक्** = (१) दूतों द्वारा अन्य राजाओं अथवा प्रजा के समाचारों को न जानने वाला (२) विचारपूर्वक अन्य राजाओं तथा प्रजा के समाचारों को जानने वाला। **चारदृक्** = दूतों द्वारा प्रजा या अन्य राजाओं के कार्यों का द्रष्टा। **अवर्त्तत** = था।

प्रसङ्ग— राजा नल अपने प्रताप में सूर्य से भी अधिक तथा अपने शुभ्रमय में चन्द्रमा की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ था—

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ
वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात् तदा
विधिः कुण्डलनां विधोरपि॥१४॥

मल्लिनाथकृत-टीका— तदिति। तस्य नलस्य ओजः तेजः प्रताप इत्यर्थः तस्य, तथा तस्य नलस्य यशः तस्य, स्थितौ सत्तायाम् इमौ भानुविधू वृथा निरर्थकौ इति चित्ते यदा याद कुरुते विरचयतीत्यर्थः, विधिः तदा तदा परिवेषः

परिधिः 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः। एव कैतवं छलं तस्मात् भानोः सूर्यस्य विधोरपि चन्द्रस्य च कुण्डलनाम् अतिरिक्ततासूचकवेष्टनमित्यर्थः, करोति अधिकाक्षरवर्जनार्थं लेखकादिवदिति भावः। विजितचन्द्रार्कौ अस्य कीर्तिप्रतापौ इति तात्पर्य्यम्। अत्र प्रकृतस्य परिवेषस्य प्रतिषेधेन अप्रकृतस्य कुण्डलनस्य स्थापनात् अपह्नुतिरलङ्कारः, तदुक्तं दर्पणे 'प्रकृतं प्रतिषिद्ध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुति'रिति। प्राचीनास्तु परिवेषमिषेण सूर्य्याचन्द्रमसोः कुण्डलनोत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षा। सा च गम्या व्यञ्जकाप्रयोगादित्याहुः॥१४॥

अन्वय— यदा यदा विधिः तदोजसः तद्यशसः स्थितौ इमौ वृथा इति चित्ते कुरुते, तदा [विधिः] परिवेषकैतवाद् भानोः विधोः अपि कुण्डलनां तनोति।

संस्कृत-व्याख्या—यदा यदा, विधिः = ब्रह्मा, तदोजसः = तस्य नलस्य ओजः तेजः प्रताप इत्यर्थः तस्य, [तथा] तद्यशसः = तस्य नलस्य यशः तस्य, स्थितौ = सत्तायाम्, इमौ = भानुविधू, वृथा = निरर्थकौ, इति= एवम्, चित्ते = मनसि, कुरुते = विवेचयति, विवेचना करोति तदा [तदा], विधिः = ब्रह्मा, परिवेषकैतवाद् = परिवेषः परिधि एव कैतवः छलं तस्मातत्, भानोः = सूर्यस्य, विधोः अपि = चन्द्रस्य च, कुण्डलनाम् = अतिरिक्ततासूचकवेष्टनमित्यर्थः, तनोति= विस्तारयति— करोतीति भावः। विजितचन्द्रसूर्यौ अस्य (नलस्य) कीर्तिप्रतापौ इति तात्पर्यम्।

हिन्दी अनुवाद— यदा यदा = जब जब, विधिः = ब्रह्मा, तदोजसः = उस राजा नल के प्रताप के, [तथा] तद्यशसः = उस राजा नल की कीर्ति के, स्थितौ = विद्यमान रहने पर, इमौ = इन सूर्य और चन्द्र दोनों की स्थिति, वृथा = निरर्थक है, इति = ऐसा, चित्ते = अपने मन में, कुरुते = सोचते हैं, तदा-तदा = तब तब, विधिः = ब्रह्मा, परिवेषकैतवाद् = [कभी २ सूर्य और चन्द्रमा के चारों ओर दृष्टिगोचर होने वाले] घेरे के बहाने से, भानोः = सूर्य के, विधोः अपि = और चन्द्रमा के, चारों ओर, कुण्डलनाम् = कुण्डली [चारों ओर खींचा जाने वाला घेरा] तनोति = बना देते हैं।

भावार्थ— जब जब ब्रह्मा उस राजा नल के प्रताप और यश के आधिक्य की दृष्टि से सूर्य तथा चन्द्रमा की स्थिति को व्यर्थ समझने लगते हैं तब तब इन [सूर्य और चन्द्र] दोनों के चारों ओर व्यर्थातपूर्वक घेरा बना दिया करते हैं। कभी कभी सूर्य तथा चन्द्रमा के चारों ओर धुँधले से प्रकाश का एक वर्त्तुलाकार घेरा सा दिखलाई पड़ा करता है। इसे परिवेष अथवा परिधि नाम से कहा जाता है। राजा नल सूर्य के सदृश तेजस्वी हैं और उनका निर्मल यश चन्द्रमा के समान शुभ्र [निर्मल एवं स्वच्छ] है। अतः कवि द्वारा यह कल्पना की जाती है कि जब भी ब्रह्मा के मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि नल के तेज और यश के विद्यमान रहते हुए सूर्य और चन्द्र की स्थिति व्यर्थ है तो वह परिवेश [वर्त्तुलाकार घेरा] के बहाने से उन दोनों [सूर्य और चन्द्र] की निरर्थकता को सूचित करने के लिये उनके चारों और वर्त्तुलाकार घेरा बना दिया करते हैं। लोक में भी पहले ऐसा हुआ करता है कि लिखते समय यदि कोई शब्द व्यर्थ हो जाया करता था तो लेखक उसकी व्यर्थता सूचित करने के लिये उसके चारों ओर घेरा खींच दिया करते थे।

अलङ्कार— सूर्य तथा चन्द्रमा के चारों ओर इस प्रकार के वर्त्तुलाकार घेरे का होना प्राकृतिक है किन्तु प्रकृत परिवेष का निषेधकर अप्रकृत कुण्डलना की स्थापना [ब्रह्मा द्वारा] किये जाने पर यहाँ ''अपह्नुति'' अलङ्कार बनता है। लक्षण— **प्रकृतं प्रतिषिद्ध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिरिति— साहित्यदर्पणः।** राजा नल के प्रताप तथा यश को सूर्य और चन्द्र की अपेक्षा अधिक समझकर सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा को सूर्य और चन्द्र को घेर कर उनकी व्यर्थका को स्वीकार करने रूप संभावना किये जाने की दृष्टि से यहाँ ''उत्प्रेक्षा'' अलङ्कार है।

समास—**तदोजसः** = तस्य ओजः, तदोजः तस्य। **तद्यशसः**= तस्य यशः इति तद्यशः तस्य। परिवेषकैतवात् = परिवेषः एव कैतवम् परिवेषकैतवम् तस्मात्।

टिप्पणियाँ— **तदोजसः** = उस राजा नल के तेजा अथवा प्रताप के— राजा नल का प्रताप अथवा तेज सूर्य के तेज की अपेक्षा कही अधिक

देदीप्यमान था जो कि समस्त दिशाओं के अन्तराल भागों तक फैला हुआ था। दिन के चौबीस घंटों में सूर्य का प्रकाश समस्त पृथ्वी पर एक सा नहीं रहा करता है। पृथ्वी के आधे भाग पर कुछ काल पर्यन्त रहा करता है तथा पुनः शेष आधे भाग पर। किन्तु राजा नल के तेज से सम्पूर्ण पृथ्वी एक ही रूप में दीप्तिमान् थी। **तद्यशसः** = उस राजा नल की शुभ्र अर्थात् निर्दोष और निर्मल कीर्ति के। चन्द्रमा में कलङ्क भी विद्यमान है अतएव इसे सदोष तथा पूर्णतया निर्मल भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु राजा नल का यश पूर्णतया दोषविहीन और निर्मल था। अतः राजा नल तेज एवं यश की दृष्टियों से सूर्य एवं चन्द्रमा से कहीं अधिक प्रतापी (तेजस्वी) तथा यशस्वी थे। **परिवेषकैतवाद्** = सूर्य और चन्द्रमा के गोले के चारों ओर कभी कभी वर्त्तुलाकार रूप में हल्के प्रकाश से युक्त एक घेरा सा दृष्टिगोचर हुआ करता है। इसी का नाम "परिवेष" है। "परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले"इत्यमरः॥ इस परिवेष के बहाने से मानो विधाता द्वारा यही प्रकट किया जाता है कि राजा नल के तेज और यश की अपेक्षा सूर्य और चन्द्र दोनों ही दीन हैं और वे दोनों निरर्थक भी हैं। अतः विधाता इन दोनों पदार्थों को निरर्थक समझकर उसके चारों ओर एक निरर्थकता सूचक घेरा बना देता है। **कुण्डलनाम्** = कुण्डली गोल-गोल घेरा।

प्रसङ्ग— राजा नल की दानवीरता का वर्णन करते हुए महाकवि लिखते हैं कि उनके राज्य में कोई भी दरिद्र अथवा निर्धन व्यक्ति नहीं था क्योंकि राजा नल याचकों की इच्छा से भी कहीं अधिक दान देने वाले थे—

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं
लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः
प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः॥१५॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अस्य वदान्यतां द्वाभ्यां वर्णयति—अयमिति विभज्येति च। अल्पितः अल्पीकृतः निर्जित इति यावत्, दानशौण्डत्वादिति

भाव:, कल्पपादप: अल्पतर: वाञ्छितफलप्रदवृक्ष इति यावत्, तेन तथाभूत: स नृप: दारिद्र्यस्य अभावस्य निर्धनत्वस्य इति यावत्, दरिद्रताम्, अभावमिति यावत्, प्रणीय कृत्वा दरिद्रेभ्य: प्रभूतधनदानेन तेषां दारिद्र्यम् अपनीयेति भाव:। अयं दरिद्र: अभाववानिति यावत्, भविता इति अर्थिजनस्य याचकजनस्य ललाटे जाग्रतीं दीप्यमानामिति यावत्, वेधस: इयं वैधसी तां लिपिं मृषा मिथ्या न चक्रे न कृतवान्। विधातुर्लिपौ सामान्यत: दरिद्रशब्दस्य स्थितौ दरिद्रशब्दस्य यथायथं धनदरिद्र: पापदरिद्र:, ज्ञानदरिद्र इत्यादिप्रयोगदर्शनात् अभावमात्रबोधकत्वमङ्गीकृत्य राजा दरिद्राणां धनाभावरूपं दारिद्र्यमपाचकार इति निष्कर्ष:॥१५॥

अन्वय— अल्पितकल्पपादप: नृप: दारिद्र्यदरिद्रतां प्रणीय " अयं दरिद्रो भविता" इति अर्थिजनस्य ललाटेऽ जाग्रतीं वैधसीं लिपिं मृषा न चक्रे?

संस्कृत-व्याख्या—अल्पितकल्पपादप:= अल्पित: अल्पीकृत: (निर्जित: इति भाव:) तुच्छीकृत: वा कल्पपादप: वाञ्छितफलप्रदकल्पवृक्ष: येन तथाभूत:, नृप: = राजा नल:, दारिद्र्यदरिद्रताम् = दारिद्र्यस्य अभावस्य धनाभावस्य वा | निर्धनत्वस्य इत्यभिप्राय:| दरिद्रतां अभावम्, प्रणीय = कृत्वा:— दरिद्रेभ्य: प्रभूतधनदानेन तेषां दारिद्र्यं अपनीय-इतिभाव:, अयम्, दरिद्र: = अभाववान् इति, भविता, इति अर्थिजनस्य= याचकपुरुषस्य, ललाटे = मस्तके, जाग्रतीम् = दीप्यमानामिति यावत्, वैधसीम् = वेधस: ब्रह्मण: इयन इति वैधसीं ब्रह्मसम्बन्धिनीं ब्रह्मणा लिखितां वा, लिपिम्, मृषा = मिथ्या, न चक्रे = न कृतवान्? अपितु मिथ्या कृतवानेवेतिभाव:। ब्रह्मण: लिपौ सामान्यत: दरिद्रशब्दस्य स्थितौ दरिद्रशब्दस्य यथायथं धनदरिद्र:, पापदरिद्र: ज्ञानदरिद्र: इत्यादि प्रयोग दर्शनात् अभावमात्रबोधकत्वमङ्गीकृत्य राजा नल: दरिद्राणां धनाभावरूपं दारिद्र्यमपाचकार इत्यभिप्राय:।

हिन्दी अनुवाद—अल्पितकल्पपादप: = |अत्यधिक दानदाता होने के कारण| कल्पवृक्ष को भी तुच्छ कर देने वाले, नृप: = राजा नल ने, दारिद्र्यदरिद्रताम् = याचकों की धनाभावरूप अथवा निर्धनतारूप दरिद्रता की

भी दरिद्रता अर्थात् अभाव को, प्रणीय = करके, अयम् = यह, दरिद्रः = निर्धन, भविता = होगा, इति = इस प्रकार, अर्थिजनस्य = याचकपुरुषों के, ललाटे = मस्तक पर, जाग्रतीम् = चमकती हुई, वैधसीम् = ब्रह्मा [विधाता] द्वारा लिखित, लिपिम् = लिपि को, मृषा = मिथ्या अथवा असत्य, न चक्रे = नहीं किया ? अर्थात् मिथ्या कर ही दिया।

भावार्थ— ''यह [व्यक्ति] दरिद्र [निर्धन] होगा'' इस प्रकार की याचक लोगों के मस्तकों द्वारा लिखी गयी अथवा अंकित की गयी लिपि को, याचकों को उनकी याचना से भी अधिक धन देने वाले होने के कारण कल्पवृक्ष को अपनी दानशीलता द्वारा नीचा दिखला देने वाले राजा नल ने याचकों की निर्धनता को पूर्ण रूपेण अभाव करके, क्या असत्य नहीं कर दिया ? अर्थात् ब्रह्मा द्वारा याचकों के मस्तकों पर लिखी गयी ''यह दरिद्र होगा'' इस लिपि को राजा नल ने पूर्णतया असत्य सिद्ध कर ही दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा नल ने याचकों को माँग से कहीं अधिक दान लेकर उनकी निर्धनता को सदैव के लिये दूर कर दिया। अतएव उनके राज्य में निर्धन अथवा दरिद्र कहा जाने वाला व्यक्ति नाममात्र के लिये भी विद्यमान न था। प्रत्येक व्यक्ति धनधान्य से परिपूर्ण तथा सुखी था।

व्याकरण— **वैधसीम्** = वेधस् + अण् + ङीप्। अल्पित = अल्प + णिच् (नामधातु) + क्त।

समास— अल्पितकल्पपादपः = अल्पितः तुच्छीकृतः कल्पपादपः कल्पवृक्षः येन सः। दारिद्र्यदरिद्रताम् = दरिद्रस्य भावः दारिद्र्यम् – तस्य दरिद्रतां इति दारिद्र्यदरिद्रताम्। वैधसीम् = वेधसः इयं—वैधसीम्।

टिप्पणियाँ—**अल्पितकल्पपादपः** = [दानशीलता में] तुच्छ कर दिया है [अथवा नीचा दिखला दिया है] कल्पवृक्ष को भी जिसने। कल्पवृक्ष को स्वर्ग का सर्वश्रेष्ठ वृक्ष माना गया है। इसकी विशेषता यह है कि यह वृक्ष अभिलषित फल को प्रदान करने वाला होता है। अपनी इच्छा के अनुसार इस वृक्ष से जो कुछ भी माँगा जाय उसकी प्राप्ति याचक को अवश्य हो जाया करती है। किन्तु

राजा नल की यह विशेषता थी कि वे याचक के द्वारा माँगी गयी राशि से कहीं अधिक दे देने वाले थे। कल्पवृक्ष में तो यह है कि जितना माँगों उतना ही मिलता है। अत: राजा नल ने दानशीलता में कल्पवृक्ष को भी जीत लिया था। **दारिद्र्यदरिद्रताम्** = दरिद्रता की दरिद्रता — धनाभाव के अभाव को—अथवा—निर्धनता के अभाव को। दारिद्र्य और दरिद्रता दोनों ही शब्द समानार्थक है। किन्तु इस स्थल पर "दारिद्र्य" शब्द "धनाभावरूप" विशिष्ट अभाव के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है तथा "दरिद्रता" शब्द "सामान्य—अभाव" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। राजा नल द्वारा याचकों को इतना अधिक धन दान में दिया गया कि उनकी धन की दरिद्रता सदा के लिये दूर हो गयी अर्थात् उनमें धन की दरिद्रता की दरिद्रता आ गयी— अर्थात् धन के अभाव का अभाव आ गया। और इस प्रकार "अयं दरिद्रा भविता = यह दरिद्र अथवा निर्धन ही रहेगा"— विधाता द्वारा लोगों के मस्तकों पर लिखो गयी लिपि सदा के लिये असत्य सिद्ध हो गयी।

वैधसीम् = विधाता से सम्बन्धित। अर्थात् उस व्यक्ति के द्वारा किये गये कर्मों के आधार पर निर्णीत ब्रह्मा का आदेश। **जाग्रतीम्** = दीप्तिमान्। चमकती हुई। **लिपीं** = जो कि याचक व्यक्ति के मस्तक पर भाग्य की रेखा के रूप में अंकित थी—ऐसी लिपि। **मृषा** = झूठ, असत्य, मिथ्या, गलत।

प्रसङ्ग— उस राजा नल ने अपने सिर पर दो भागों में विभक्त अपने केशसमूह को अपने दो अपयशों के रूप में माना। ये दो प्रकार के अपयश निम्नलिखित थे—

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न
सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं
द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरस्थितम्॥१६॥

मल्लिनाथकृत टीका— विभज्येति। मेरुः हेमाद्रिः विभज्य विभक्तीकृत्य

अर्थिसात् अर्थिभ्यो देयः न कृतः। अर्थिने देयमिति 'ये त्रा चे'ति सातिप्रत्ययः। सिन्धुः समुद्रः उत्सर्गजलानां व्ययैः दानाम्बुप्रक्षेपैः मरुः निर्जलदेशः न कृतः इति यत् तत् तस्मात् तेन नलेन द्विफालबद्धाः द्वयोः फालयोः शिरःपार्श्वयोः बद्धा रक्षिता इति यावत्, फलतेर्विशरणार्थे अप्प्रत्ययः। विलासिनां पुंसां सीमन्तिनशिरोरुहत्वात् चिकुराणां द्विफलाबद्धत्वमिति भावः, द्विधा विभक्ता इति यावत्। चिकुराः केशाः 'चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुह' इत्यमरः। शिरःस्थितं मस्तकधृतमिति भावः, निजं स्वीयम् अयशोयुगम् अपकीर्त्तिद्वयं पूर्वोक्त मेरुविभागसिन्धुजल-व्ययाकरणजनितमिति भावः। अमानि केशरूपेण द्विधास्थितं स्वशिरसि अयशोयुगमेव तिष्ठति इति अमन्यत इत्यर्थः। अयशसः पापरूपत्वात् कृष्णवर्णनं कविसमयसिद्धम्। 'तथा च मालिन्यं व्योम्नि पापे' इत्यादि। उद्देश्यविधेयरूपं कर्मद्वयम्। केशेषु कार्ष्ण्यसाम्यात् अयशोरूपणमिति व्यस्तरूपकम्.॥१६॥

अन्वय—यत् मेरुः विभज्य अर्थिसात् न कृतः, सिन्धुः उत्सर्गजलव्ययैर्मरुः [न कृतः], तत् तेन द्विफालबद्धा चिकुराः शिरस्थित् निजायशोयुगं अमानि।

संस्कृत-व्याख्या—यत् = यतः, मेरुः = हेमाद्रिः, विभज्य= विभक्ती-कृत्य, अर्थिसात् = अर्थिभ्यः याचकेभ्यः देयः, न कृतः, सिन्धुः = समुद्रः उत्सर्गजलव्ययैः दानजलप्रक्षेपैः, मरुः = निर्जलदेशः, न कृतः, इति, तत् = तस्मात्, तेन = नलेन, द्विफालबद्धाः = द्वयोः फालपोः शिरःपार्श्वयोः वृद्धाः रक्षिताः [द्विधा विभक्ताः = इति भावः], चिकुराः =केशाः, शिरस्थित् = मस्तकधृतम्ञ- इति भावः, निजायशोयुगम् = निजं स्वकीयं अयशोयुगं अपकीर्तिद्वयम्- पूर्वोक्तमेरुविभागसिन्धुजलव्ययाकरण-जनितमिति भावः, अमानि = केशरूपेण द्विधास्थि स्वशिरसि अपकीर्तिद्वयमेव तिष्ठति— इति अमन्यत।

हिन्दी अनुवाद—यत् = क्योंकि, [मैंने], मेरुः = सुमेरुपर्वत को, विभज्य = विभक्तकर, अर्थिसात् = याचकों को, न कृतः = नहीं दे दिया, और सिन्धुः = समुद्र को, उत्सर्गजलव्ययैर्मरुः = दान देते समय संकल्पजल से, मरु =

निर्जल अथवा मरुस्थल [रेगिस्तान], न कृत: = नहीं बना दिया; इति तत् = इससे [इन उपर्युक्त दोनों कारणों से], तेन = उस राजा नल ने, द्विफालबद्धा = दो भागों में विभक्त कर बँधे हुए, चिकुरा: = अपने केश समूह को, शिर: स्थितम् = अपने सिर पर स्थित, निजायशोयुगम् = अपने दो अपयश [दो प्रकार की अपकीर्तियों], अमानि = माना [समझा]।

भावार्थ— [महाकवि द्वारा प्रकारान्तर से राजा नल की दानवीरता का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है] राजा नल अपने मन में सोच रहे हैं कि मैंने स्वर्णराशि के रूप में विद्यमान सुमेरु पर्वत को टुकड़े २ पर याचकों के लिये दान के रूप में नहीं दे दिया और दान देते समय पुरोहित द्वारा संकल्प पढ़े जाने के अनन्तर छिड़के जाने वाले जल के रूप में मैंने समुद्र के जल को व्ययकर उसे मरुस्थल नहीं बना दिया। अतएव मेरे जीवन के यही दोनों अपयश ही मेरे सिर पर स्थित दो भागों में बँटे हुए केशसमूह के रूप में विद्यमान हैं।

केशों का वर्ण काला होता है। कविसम्प्रदाय में अयश अथवा अपकीर्ति का वर्ण भी काला ही माना गया है। अत: कवि द्वारा यह कल्पना की गयी है कि राजा नल के दो अपयश थे— (१) याचकों को दान में देकर मेरु पर्वत को व्यय न कर देना। (२) दान देते समय पढ़े जाने वाले संकल्प के पश्चात् जल को व्ययकर समुद्र को सुखाकर मरुस्थल न बना देना। राजा द्वारा अपने इन दो अपयशों को स्वीकार किये जाने से यह ध्वनि स्पष्ट होती है कि राजा नल महान् दानी थे तथा उनके पास इतना प्रचुर धन दान देने के लिये था कि उनको मेरु पर्वत को विभक्तकर दान में देने की आवश्यकता ही न पड़ी। याचक लोक राजा के पास जब माँगने आते थे तो राजा उनको उनकी माँग से इतना अधिक दान दे देते थे कि जिससे उनको जीवन-पर्यन्त राजा के पास आकर याचना न करनी पड़े। इस भाँति उनके राज्य में कोई भी याचक शेष नहीं रह गया था कि जिसकी निर्धनता समाप्त न हो चुकी हो ऐसी दशा में कोई माँगने वाला याचक राजा के पास आने के लिये अवशिष्ट नहीं रह गया। फिर मेरुपर्वत के टुकड़े २ कर दान देने आदि का प्रश्न ही नहीं उठता।

[इस भाँति उपर्युक्त वर्णन से राजा नल का अत्यधिक दानशील एवं दयालु होना स्पष्ट हो जाता है।]

अलङ्कार– यहाँ कृष्णवर्ण के केशों में कृष्णवर्ण के अपयश होने का आरोप किया गया है। अतः उक्त पक्ष में '' रूपक'' अलङ्कार है।

व्याकरण– अर्थिसात् = यहाँ 'अर्थिने देयम्' इस अर्थ में '' अर्थिसात् कृतः'' की दृष्टि से कृ धातु के योग में 'अर्थिन्' शब्द के आगे '' देये त्रा च'' से साति प्रत्यय हुआ है। फालबद्धा = 'फल्' धातु से विशरण अर्थ में ' अप्' प्रत्यय हुआ है। अमानि =√मन (दिवादिगणी) + कर्मवाच्य लुङ् लकार।

समास– द्विफालबद्धाः = द्वयोः फालयोः (शिरःपार्श्वयोः) बद्धाः (रक्षिताः) इति। निजायशोयुगम् = निजं अयशसः युगम् – इति।

टिप्पणियाँ–**अर्थिसात्कृत्** = अर्थिभ्यो देयः कृतः इति– याचकों के लिये दिया जाना–किया। अर्थात् याचकों को दिया। **उत्सर्गजलव्ययैर्मरुः** = दान करते समय संकल्प जल के रूप में खर्च किये जाने के द्वारा। जब जयमान किसी भी पदार्थ का दान किया करता है तो उस समय पुरोहित द्वारा संकल्प पढ़ कर जल हाथ में दिया जाता है। फिर उस जल को उस पदार्थ के ऊपर छिड़क दिया जाया करता है। तदनन्तर वह पदार्थ्य देय होता है। राजा नल रात दिन दान करते रहते और पुरोहित संकल्प पढ़-पढ़ कर उनसे समुद्र का जल छिड़कवा छिड़कवा कर दान दिलवाते रहते। इस भाँति समुद्र का जल समाप्त हो जाता और वह मरुस्थल (रेगीस्तान) का रूप धारण कर लेता। **द्विफालबद्धा** = सिर के दो पार्श्वों में बँधे हुए। अर्थात् जिस राजा नल के केश मध्यभाग से दानों ओर के भागों में समानरूप से विभक्त होकर कढ़े हुए थे। यह 'चिकुराः' का विशेषण है।

चिकुराः = केश, बाल (चिकुरःकुन्तलो वालः कचः केशः शिरोरुहः इत्यमरः)। **निजायशोयुगम्** = अपने दो अपयश(१) सुमेरु पर्वत को टुकड़ों में विभक्तकर दान में न दे सकना तथा (२) दान देते समय संकल्प जल के

रूप में समुद्र के जल को व्ययकर उसको न सुखा सकना रूप दो अपयश। राजा नल अपने सिर पर स्थित दो भागों में विभक्त अपने केश समूह को इन दोनों अपयशों के रूप में मानते थे अथवा समझते थे। **अमानि** = माना अथवा समझा।

प्रसङ्ग— राजा नल सदैव अपना समय कवि तथा विद्वानों के साथ व्यतीत किया करते थे। वे इन लोगों के सत्संग में रहकर सदैव हर्ष का अनुभव किया करते थे।

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने॥१७॥

मल्लिनाथकृत-टीका— 'अस्य विद्वज्जनसम्माननामाह— अजस्रमिति। दिनेश्वरस्येव श्रीर्यस्य, अन्यत्र दिने ईश्वरस्येव श्रीः यस्य तथाभूतः पटीयान् समर्थतरः अयं देवो राजा सूर्यश्च 'देवः सूर्ये यमे राज्ञी'ति विश्वः। अजस्रं सततम् अभ्यासं सान्निध्यम् उपेयुषा प्राप्तवता सहचारिणा इति यावत्, 'उपेयिवानना-श्वाननूचानश्चे'ति निपातः। कविना काव्यशास्त्रविदा पण्डितेन शुक्रेण बुधेन च विदुषा धर्मशास्त्रादिदर्शिनेति भावः, सौम्येन च समं सह मुदैव आनन्देनैव न तु दुःखेनेत्येवकारार्थः समयं नयन् अतिवाहयन् दिने दिने प्रतिदिनम् उदयम् अभ्युन्नतिम् आविर्भावञ्च दधौ धारयामास। अत्र श्लेषालङ्कारः॥१७॥

अन्वय— दिनेश्वरश्रीः पटीयान् अयं देवः अजस्रं अभ्यासं उपेयुषा कविना बुधेन च मुदा एव समयं नयन् दिने दिने उदयं दधौ।

संस्कृत-व्याख्या—दिनेश्वरश्रीः= दिनेश्वरस्य सूर्यस्य श्री इव श्रीः यस्य, ऐतादृशः (नलः) अथवा दिने ईश्वरस्य इव श्री यस्य तथाभूतः (नलः), पटीयान् = समर्थतरः अयम् देवः= राजा नलः सूर्यश्च (' देवः सूर्ये यमे राज्ञि'— इति विश्वः), अजस्रम् =सततम् —निरन्तरं वा, अभ्यासम् = सान्निध्यम्, उपेयुषा = प्राप्तवता (सहचारिणा-इति भावः), कविना = काव्यशास्त्रविदा पण्डितेन— शुक्रेणवा, बुधेन च = विदुषाधर्मशास्त्रा-

दिदर्शिना-इति भावः, सौम्येन च, समम् = साधरम्, मुदा एव= आनन्देन एव [– न तु दुखेःन–इति 'एव' इत्यस्यार्थः], समयम् = कालम्, नयन् = अतिवाहयन्, दिने दिने = प्रतिदिनम् उदयम् = उन्नतिम्, आविर्भावञ्च, दधौ = धारयामास।

हिन्दी अनुवाद—दिनेश्वरश्रीरः = दिनेश्वर अर्थात् सूर्य की कान्ति के सदृश कान्तिमान् अथवा तेजस्वी, पटीयान् = अत्यधिक समर्थ, अयं देवः = यह राजा तथा सूर्य, अजस्रम् = निरन्तर, अभ्यासम् = सामीप्य अथवा समीपता को, उपेयुषा = प्राप्त करने वाले—अथवा साथ में रहने वाले, कविना = कवि अथवा काव्यशास्त्र के ज्ञाता और बुधेन = विद्वान् पुरुषों के [सूर्य पक्ष में– कवि अर्थात् शुक्र और बुध नामक दो ग्रहों के] समम् = साथ मुद्रा एव = प्रसन्नता पूर्वक, समयं नयन् = समय को व्यतीत करते हुए, दिने दिने = प्रतिदिन, उदयम् = उन्नति अथवा अभ्युदय को, दधौ = धारण करता था।

भावार्थ– जिस प्रकार दिन में ईश्वर के सदृश कान्ति को धारण करने वाला, अन्धकार दूर करने में अत्यधिक समर्थ, यह देव सूर्य, सर्वदा समीप में स्थित रहने वाले, कवि (शुक्र) और बुध नामक दो ग्रहों के साथ, प्रतिदिन उदय (निकलने) को धारण करने वाला है उसी प्रकार सूर्य की कान्ति के समान कान्ति को धारण करने वाला अर्थात् तेजस्वी और अपने विरोधी अथवा विपक्षी राजाओं को नीच दिखलाने में पूर्णतया समर्थ थे, राजा नल भी निरन्तर समीप में विद्यमान रहने वाले काव्यशास्त्र के ज्ञाता पण्डितों तथा विद्वानों के साथ प्रसन्नतापूर्वक समय को व्यतीत करते हुए प्रतिदिन उन्नति को ही धारण किया करते थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस भाँति सूर्य शुक्र तथा बुध ग्रहों के साथ रहते हुए प्रतिदिन उदित होता है उसी भाँति राजा नल भी निरन्तर कवियों और विद्वानों के साथ रहकर प्रसन्नतापूर्वक अपने समय को व्यतीत करते हुए प्रतिदिन उन्नति को ही प्राप्त करता था।

अलङ्कार— इस श्लोक में दिनेश्वरश्री, देव:, कविना, बुधेन तथा उदयम् शब्दों के श्लेष की दृष्टि से दो-दो अर्थ हैं। अत: उक्त पद्य में श्लेष अलङ्कार है। तथा श्लेषमूलक शब्द-साम्य से उत्पन्न सादृश्य के कारण यहाँ ''उपमा'' अलङ्कार भी हो सकता है।

समास— **दिनेश्वरश्री:** = दिनेश्वरस्य श्री इव श्रीर्यस्य स:। अथवा— दिने ईश्वरस्य इव श्री: यस्य तथाभूत:।

टिप्पणियाँ—दिनेश्वरश्रीर: = (१) दिन का स्वामी अर्थात् सूर्य की कान्ति के समान कान्तिमान् अथवा तेजस्वी। (२) दिन में ईश्वर के सदृश है शोभा जिसकी ऐसा। **पटीयान्** = अत्यधिक समर्थ, शक्तिशाली, सामर्थ्यवान्, **देव:** = दिव्य गुणों से युक्त राजा तथा सूर्य [देव: सूर्ये यमे राज्ञीति विश्व:] **अभ्यासम्** = सामीप्य अथवा समीपता। **उपेयुषा** = प्राप्त करने वाले—अथवा प्राप्त किये हुए। **कविना** = (१) काव्यशास्त्र को जानने वाला पण्डित। (२) शुक्र नामक ग्रह। **बुधेन** = (१) बुद्धिमान्, विद्वान् (२) बुध नामक ग्रह। **मुद्रा एव** = प्रसन्नता के साथ ही। यहाँ ' एव ' का अर्थ यही है— ''लेशमात्र भी दु:ख के साथ नहीं, अपितु पूर्ण आनन्द के साथ।'' **उदयम्** = (१) उन्नति को (२) आविर्भाव को—निकलने को—उदित होने को। **दधौ** = धारण करता था।

प्रसङ्ग— सामुद्रिक लक्षणों के अनुसार राजा नल के चरणों में ऊपर की ओर जाने वाली सर्वोत्कृष्टता की सूचक रेखायें विद्यमान थीं—

अधोविधानात् कमलप्रवालयो: शिरस्सु दानादखिलक्षमाभुजाम्।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया॥१८॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अध इति। कमलप्रवालयो: पद्मपल्लवयो: कर्मभूतयो: अधोविधानात् अध: करणात् न्यक्करणादिति यावत्। तथा अखिलानां सर्वेषां क्षमाभुजां प्रतिकूलवर्त्तिना राज्ञां शिर:सु दानात् विधानात् इदम् अस्य नलस्य पदम् ऊर्ध्वम् उत्कृष्टम् ऊर्ध्वस्थितञ्च पुरा भवति भविष्यतीत्यर्थ:। 'यावत् पुरानिपातयोर्लट्' इति पुराशब्दयोगात् भविष्यदर्थे लट्। इति इदं मत्वा

इति शेषः, गम्यमानार्थत्वादप्रयागेः। वेधसा विधात्रा कर्त्रा ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं चिह्नितं किम्? 'ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदः सर्वोत्कर्षं भजेत् पुमानि'ति सामुद्रिकाः। सौन्दर्यसुलक्षणाभ्यां युक्तमस्य पदमिति भावः॥१८॥

अन्वय– कमलप्रवालयोः अधोविधानात् अखिलक्षमाभुजां शिरस्सुदानात् ''इदं पुरा ऊर्ध्वं भवति'' इति वेधसा अस्य पदं किं ऊर्ध्वरेखया अङ्कितम्?

संस्कृत-व्याख्या– कमलप्रवालयोः = पद्मपल्लवयोः कर्म्मभूतयोः, अधोविधानात् = अधःकरणात्-न्यक्करणात्-इत्यभिप्रायः, अखिलक्षमाभुजाम्= अखिलानां सर्वेषां ज्ञमाभुजाम् प्रतिकूलवर्तिनो राज्ञां, शिरःसु, दानात् = विधानात्, ''इदम् = अस्य नलस्य पदम्, पुरा ऊर्ध्वम् = उत्कृष्टं ऊर्ध्वस्थितं च, भवति = भविष्यति– इत्यर्थः'', इति = इदं मत्वा इति शेषः, वेधसा = विधाज्ञा, अस्य= नलस्य, पदम्, किम्, ऊर्ध्वरेखया, अङ्कितम् = चिह्नितम्? सौन्दर्यसुलक्षणाभ्यां युक्तमस्य पदमिति भावः॥

हिन्दी अनुवाद–[यह राजा नल का चरण] कमलप्रवालयोः = [शोभा में] कमल तथा प्रवाल को [मूँगा अथवा नवीन पल्लव को] , अधोविधानात् = नीचा करने [सौन्दर्य के द्वारा तिरस्कृत करने] से, अखिलक्षमाभुजाम् = सम्पूर्ण पृथ्वीपतियों (राजाओं) के, शिरःसु दानात् = सिरों पर रखे जाने से, ''इदं पुरा ऊर्ध्वं भवति'' = ''यह आगे चलकर ऊँचा [उद्यत] होगा'', इति = ऐसा सोचकर, वेधसा = ब्रह्मा ने, अस्य = इस राजा नल के, पदम् = चरण को, [उनके उत्पन्न होने से पूर्व ही], किम् = क्या, ऊर्ध्वरेखया = ऊर्ध्वगामिनी रेखा के, अङ्कितम् = चिह्नित कर दिया? कहने का तात्पर्य यह है कि राजा नल के चरण सौन्दर्य तथा शुभ लक्षणों से युक्त थे।

भावार्थ– [महाकवि द्वारा राजा नल के सामुद्रिक लक्षणों का वर्णन उक्त पद्य में किया गया है।] सामुद्रिक शास्त्र में कहा गया है कि जिसके चरण में ऊर्ध्व रेखा करती है वह सर्वोत्तम व्यक्ति हुआ करता है [''ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदः सर्वोत्कर्ष भजेत् पुमानि'' ति सामुद्रिकाः] उस राजा नल ने अपने चरण के

सौन्दर्य से कमल तथा पल्लव पर विजय प्राप्त कर ली है और अपने शत्रुओं के ऊँचे उठे हुए सिरों पर अपना पैर रखा है अर्थात् उन पर भी विजय प्राप्त कर ली है। अत: उनका चरण कमल तथा पल्लव की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ तथा राजाओं के सिर पर भी विराजमान है। अतएव कवि द्वारा यहाँ यह कल्पना की गयी है कि कदाचित् ब्रह्मा ने यह समझकर कि आने वाले भविष्य में राजा नल का चरण ऊर्ध्वस्थित होगा, उसे सर्वोत्कृष्टता-सम्बन्धी ऊर्ध्वरेखा से अंकित किया है।

व्याकरण— पुराभवति = यहाँ पर 'भवति' का प्रयोग 'भविष्यति' के रूप में हुआ है। इस स्थल में 'यात्पुरानिपातयोर्लट्' इस सूत्र के आधार पर "पुरा" निपात के योग से भविष्यत्काल में "लट्" लकार का प्रयोग हुआ है।

समास— अखिलक्षमाभुजाम् = अखिलानां क्षमाभुजाम् इति।

टिप्पणियाँ—प्रवाल: = शब्द का अर्थ 'मूँगा' तथा 'नवीन पत्ता' (पल्लव) दोनों ही होते हैं। राजा नल के चरणों की शोभा ने "मूँगे" अथवा "नव पल्लव" की शोभा को नीचा कर दिया था अर्थात् मूँगे अथवा नवपल्लव की शोभा की अपेक्षा राजा नल के चरण की शोभा अति उत्कृष्ट थी। **अधोविधानात्** = नीचा कर देने से— तिरस्कृत कर देने से-नीचा दिखला देने से। **शिर:सु दानात्** = सिरों पर रखे जाने से। "इदं पुरा ऊर्ध्वं भवति" = यह [राजा नल का चरण] आगे [भविष्य में] ऊँचा [सर्वोत्कृष्ट] होगा। राजा नल की उत्पत्ति से पूर्व ही ब्रह्मा ने यह समझ लिया था कि राजा नल पृथ्वी के समस्त राजाओं में सर्वोत्कृष्ट सिद्ध होगा [अत: उन्होंने राजा नल को उत्पन्न करते समय] **अस्यपदम्** = राजा नल के चरण को। **ऊर्ध्वरेखया** = [सामुद्रिक लक्षणों के आधार पर सर्वोत्कृष्टता की सूचक] ऊर्ध्वरेखा से। **अङ्कितम्** = चिह्नित कर दिया।

प्रसङ्ग— आगामी श्लोकों में राजा नल की युवावस्था के प्रारम्भ होने का क्रमिक वर्णन महाकवि द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है—

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं
प्रणीतवान् शैशवशेषवानयम्।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं
वपुस्तथालिङ्गदथास्य यौवनम्॥१९॥

मल्लिनाथकृत-टीका—अथ अस्य यौवनागमं क्रमेण वर्णयति—जगदित्यादिभिः। अयं नलः शैशवशेषवान् ईषदवशिष्टशैशव एवेत्यर्थः। जगतां जयं तेन च जयेनेत्यर्थः। कोषं धनजातम् अक्षयं प्रणीतवान् कृतवान्। अथानन्तरं रतीशस्य कामस्य सखा ऋतुः वसन्त इत्यर्थः। वनं यथा यौवनम् अस्य नलस्य वपुः शरीरं तथा आलिङ्गत् संश्लिष्टवत्। उपमालङ्कारः॥१९॥

अन्वय— शैशवशेषवान् अयं जगज्जयं तेन च कोशं अक्षयं प्रणीतवान्। अथ रतीशस्य सखा ऋतुः वनं यथा तथा यौवनं अस्य वपुः आलिङ्गत्।

संस्कृत-व्याख्या— शैशवशेषवान् = ईषदवशिष्टाशैशवावस्थायां एव, अयम् = नलः, जगज्जयम् = जगतां जयम्, तेन च = जयेन, कोशम् = धनजातम्, अक्षयम् = क्षयरहितं यथास्यात्तथा, प्रणीतवान् = कृतवान्। अथ = अनन्तरम्, रतीशस्य = कामस्य, सखा= मित्रम्, ऋतुः = वसन्त इत्यर्थः, वनं यथा, तथा = तेनैव प्रकारेण, यौवनम् = युवावस्था, अस्य = नलस्य, वपुः शरीरम्, आलिङ्गत् = संश्लिष्टवत्। येन प्रकारेण वसन्तर्तुः वनस्य आलिङ्गनं करोति तथैव युवावस्था अपि नलस्य वपोः आलिङ्गनमकरोत्— इति भावः।

हिन्दी अनुवाद—शैशवशेषवान् = जिसकी कुछ बाल्यवस्था अभी शेष थी अर्थात् १५-१६वर्ष की आयु वाले, अयम् = इस राजा नल ने, जगज्जयम् = संसार की विजय, तथा, तेन च = उससे, कोशम् = अपने खजाने को, अक्षयम् = विनाशरहित अर्थात् कभी नष्ट न होने वाला अथवा सदैव विद्यमान रहने वाला, प्रणीतवान् = कर दिया। अथ = इसके पश्चात्, रतीशस्य = कामदेव का, सखा = मित्र, ऋतुः = वसन्त, वनं यथा = जिस भाँति वन का आलिङ्गन (अथवा स्पर्श) किया करता है, तथा = उसी प्रकार से, यौवनम् = युवावस्था

ने भी, अस्य = इस राजा नल के, वपुः = शरीर का, आलिङ्गत् = आलिङ्गन किया।

भावार्थ—बाल्यावस्था पूरी होते होते ही राजा नल ने संसार पर विजय प्राप्त कर राज्य को शत्रु रहित बना लिया था और इस विजय से अपने खजाने को भी भरपूर (कभी समाप्त न होने वाला-अक्षय) बना दिया था [वास्तव में विश्व-विजय करना ही राजा नल का प्रधान लक्ष्य था। कोष की अक्षय पूर्ति करना तो उनका गौण कार्य था क्योंकि उनके कोष के अक्षय रहने तथा अत्यधिक दानवीर होने का वर्णन तो महाकवि द्वारा इससे पूर्व ही प्रस्तुत किया जा चुका है।] युवावस्था के आ जाने पर अर्थात् उसके प्रारम्भिक आगमनकाल के समय शारीरिक विकास में एक अनुपम सौन्दर्य का आ जाना स्वाभाविक ही हुआ करता है। वह सौन्दर्य युवावस्था के आगमन के समय राजा नल में उसी प्रकार से सुशोभित हो रहा था। जैसे वसन्त ऋतु के आगमन-काल में वन का सौन्दर्य अत्युत्तम रूप से प्रस्फुटित हो जाया करता है।

अलङ्कार— उक्त पद्य में '' उपमा '' अलङ्कार पूर्णतया स्पष्ट ही है।

समास—**शैशवशेषवान्** = शिशोर्भावः शैशवं तस्य शेषः, सः अस्य अस्ति इति शैशवशेषवान्। **जगज्जयम्** = जगता जयमिति।

टिप्पणियाँ—**शैशवशेषवान्** = जिसकी कुछ बाल्यवस्था नाममात्र को अवशिष्ट रह गयी थी। अर्थात् यह समय शैशावावस्था की समाप्ति का तथा शीघ्र ही युवावस्था के प्रारम्भ होने का है। लगभग १५-१६ वर्ष की आयु रही होगी। **जगज्जयम्** = सम्पूर्ण विश्व को जीत लिया था, और **तेन च** = उस (विजय) से। **अक्षयम्** = अक्षीण—अर्थात् कभी क्षीण न होने वाला। **यथा** = जिस प्रकार से। **रतीशस्य** = रति (कामदेव की स्त्री का नाम) का स्वामी (पति) अर्थात् कामदेव का। **सखा** = मित्र— वसन्त। तथा = उसी प्रकार से। **आलिङ्गत्** = आलिङ्गन किया अर्थात् युवावस्था ने राजा नल के शरीर का स्पर्श किया— अर्थात् राजा नल की युवावस्था का प्रारम्भिक समय अब प्रारम्भ हुआ।

प्रसङ्ग—युवावस्था का प्रारम्भ हो जाने पर राजा नल का शारीरिक सौन्दर्य अत्यधिक वृद्धि को प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप शारीरिक सौन्दर्य के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले सभी उपमान राजा नल के शारीरिक सौन्दर्य की समता को भी प्राप्त न कर सके—

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणां क्व
तच्छयच्छापलवोऽपि पल्लवे।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधि-
कारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः॥२०॥

मल्लिनाथकृत-टीका—अधारीति। तस्य नलस्य अङ्घ्रिणा चरणेन पद्मेषु घृमा अवज्ञा 'घृणा जुगुप्साकृपयोरि'ति विश्वः। अधारि धृता। पल्लवे नवकिसलये तस्य नलस्य शयः पाणिः 'पञ्चशाखः शयः पाणि'रित्यमरः। तस्य छाया तच्छयच्छायं 'विभाषे'त्यादिना समासे छायाया नपुंसकत्वम्। तस्य लवो लेशोऽपि क्व? नैव लेशोऽस्तीत्यर्थः। शरदि भवः शारदः शरत्कालीन इत्यर्थः। सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽग्रप्रत्ययः। पर्वणि पौर्णमास्यां भवः पार्विकः। 'पार्वणे'ति पाठान्तरं कालट्ठञ् 'नस्तद्धित' इति टिलोपः। स च असौ शर्वरीश्वरश्चेति तथोक्तः पूर्णचन्द्र इत्यर्थः। अस्य नलस्य यत् आस्यं मुखं तस्य दास्ये कैङ्कर्येऽपि अधिकारितां न गतः न प्राप्तः। एतेनास्य पाणिपादवदनानामनौपम्यं व्यज्यते। अत्र अङ्घ्र्यादीनां पद्मादिषु घृणाद्यसम्भवेऽपि सम्बन्धोक्तेः अतिशयोक्तिः अलङ्कारः॥२०॥

अन्वय— तदङ्घ्रिणा पद्मेषु घृणां अधारि, पल्लवे तच्छयच्छापलवोऽपि क्व? शारदः पार्विक शर्वरीश्वरः तदास्यदास्ये अपि अधिकारितां न गतः।

संस्कृत-व्याख्या—तदङ्घ्रिणा= तस्य नलस्य अङ्घ्रिणा चरणेन, पद्मेषु = कमलेषु, घृणां = अवज्ञा, अधारि= धृता। पल्लवे = नळकिसलये, तच्छयच्छापलवः अपि = तस्य नलस्य शयः पाणि [''पञ्चशाखः शयः पाणिः''— इत्यमरः] तस्य छाया इति तच्छयच्छायं तस्य लवः लेशः अपि

क्व? नैव लेशोऽस्ति— इत्यर्थः। शारदः= शरदि भवः शारदः— शरत्कालीन इत्यर्थः, पार्विक शर्वरीश्वरः = पर्वणि पौर्णमास्यां भवः पार्विकः स च असौ शर्वरीश्वरश्चेति तथोक्तः पूर्णचन्द्र इत्यर्थः, तदास्यदास्ये अपि = तस्य नलस्य यत् आस्यं मुखं तस्य दास्ये कैङ्कर्येऽपि, अधिकारिताम् = योग्यताम्, न गतः = न प्राप्तः। एतेन अस्य नलस्य पाणिपाद मुखानां अनौपम्यमेव ध्वन्यते।

हिन्दी अनुवाद—तदङ्घ्रिणा = उस (राजा नल) के चरण, पद्मेषु = कमलों के प्रति, घृणां = घृणा का भाव, अधारि = धारण किया। पल्लवे = नवीन किसलय (पत्ता) में, तच्छयच्छापलवो अपि = उस (राजा नल) के हाथ की कान्ति का लेशमात्र भी, क्व = कहाँ? शारदः = शरद् ऋतु का, पार्विक शर्वरीश्वरः = पूर्णिमा का चन्द्रमा, तदास्यदास्ये अपि = उस (राजा नल) के मुख की दासता की भी, अधिकारिताम् = योग्यता को, न गतः = प्राप्त नहीं हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा नल के चरण कमल से, हाथ नव पल्लव से तथा मुख शरत्कालीन पौर्णमासी के चन्द्रमा से भी कहीं अधिक सुन्दर तथा शोभाधारक थे।

भावार्थ— [इस पद्य में महाकवि द्वारा राजा नल के अतिशय सौन्दर्य का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।] उस राजा नल के चरण ने कमलों के प्रति घृणा की अथवा दया की ["घृणा जुगुप्साकृपयोरिति विश्वः"]। क्योंकि उन कमलों में नल के चरण की शोभा विद्यमान थी— ये कमल नल-चरण में रेखारूप में स्थित थे— अतः " इन कमलों ने मुझसे ही शोभा प्राप्त की होगी। इस कारण मेरी अपेक्षा हीन शोभा वाले इन कमलों के साथ मेरे द्वारा स्पर्धा किया जाना उचित नहीं है"— यह समझकर नल-चरण ने कमलों से घृणा की अथवा "ये कमल रेखारूप में मेरे शरीर या चरण में ही स्थित अर्थात् मेरे ही आश्रित हैं" यह समझकर राजा नल के चरण ने कमलों पर दया की [अपने से हीन के साथ घृणा करना तथा अपने आश्रित पर दया करना नल-चरण से लिये उपयुक्त ही था।] नूतन किसलय [पल्लव] में उस [नल] के हाथ की कान्ति का लेश [थोड़ा सा अंश] भी कहाँ था। अर्थात् नहीं था। जिस किसलय में राजा

नल के हाथ की कांति का लेशमात्र भी अंश विद्यमान नहीं था फिर वह किसलय इनके हाथ की शोभा की समता को कैसे प्राप्त कर सकता था? तथा शरत्कालीन पूर्णिमा का चन्द्रमा उस राजा नल के मुख के दासत्व का अधिकारी भी नहीं हुआ। फिर ऐसी स्थिति में उसकी समता का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता— क्योंकि चन्द्रमा शरत्काल एवं पूर्णिमा के योग से रमणीयता को प्राप्त हुआ था और वह भी केवल एक दिन के लिये ही। इसके अतिरिक्त वह चन्द्रमा १६ सोलह कलाओं से युक्त था। जबकि राजा नल का मुख स्वत: ही [अर्थात् बिना किसी की सहायता के योग को प्राप्त किये हुए] सदा के लिये रमणीय तथा चौंसठ कलाओं से युक्त था। ऐसी स्थिति में चन्द्रमा द्वारा नल-मुख की समानता प्राप्त कर सकना नितान्त असंभव ही था। अत: चन्द्रमा का उसके मुख की दासता प्राप्त करने की योग्यता भी प्राप्त न कर सकना उचित ही है [क्योंकि रमणीयतम नायक के लिये दास का रमणीय होना भी आवश्यक है।]

अलङ्कार— अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा= इस स्थल पर असम्बन्ध में सम्बन्ध का कथन किये जाने से "अतिशयोक्ति" अलङ्कार है। यहाँ चरण द्वारा कमल के प्रति घृणा किये जाने का वर्णन किया गया है जिसका चरण में होना असंभव है।

"उक्त श्लोक में राजा नल के चरण, हाथ और मुख को क्रमश: कमल, पल्लव तथा चन्द्रमा से [जो सभी उपमान की श्रेणी में आते हैं] कहीं अधिक श्रेष्ठ तथा बढ़कर बतलाया गया है। अतएव इसमें "व्यतिरेक" अलङ्कार भी है।

व्याकरण—तच्छयच्छापलव:— इसमें तत्पुरुष समास है। तत्पुरुष समास के अन्त में छाया शब्द "विभाषा...." इत्यादि में वर्णित नियम के अनुसार नपुंसकलिङ्ग हो गया है। **शारद:**= शरदि भव: शारद:— इस स्थल पर सन्धिवेला आदि ऋतुनक्षत्रों से परे "अण्" प्रत्यय हुआ है।

समास—तदङ्घ्रिणा = तस्य अङ्घ्रि इति तदङ्घ्रि: तेन। तच्छयच्छापलव: = तस्य शय: इति तच्छय:, तस्य छाया इति तच्छयच्छायम्, तस्य लव: इति तच्छयच्छायलव: (तत्पुरुष-समास)। पार्विकशर्वरीश्वर: = पर्वणि भव:

पार्विक: स असौ शर्वरीश्वश्चेति पार्विकशर्ववीश्वर:। तदास्यदास्ये = तस्य यत् आस्यं इति तदास्यम् —तस्य यत् दास्यं इति तदास्यदास्यं तस्मिन्।

टिप्पणियाँ—तदङ्घ्रिणा = उस राजा नल के चरण ने। **पल्लवे** = नवीन पत्ते में— जो पत्ता वृक्ष में नया निकलता है तथा अरुणिमा को भी लिये हुए होता है। उसी को किसलय भी कहा जाता है। **तच्छयच्छायलव:** = उस राजा नल के हाथ की कान्ति का लेशमात्र। 'शय' शब्द का अर्थ हाथ है [पञ्चशाख: शय: पाणि:—इत्यमर:]। **शारद:** = शरद् ऋतु में उत्पन्न हुआ अर्थात् शरत्कालीन। **पार्विक शर्वरीश्वर:** = पर्व अर्थात् पूर्णमासी की रात्रि में निकलने वाला चन्द्रमा— अर्थात् पूर्णचन्द्र। **तदास्यदास्ये** = उस राजा नल के मुख की दासता को प्राप्त करने में। **अधिकारिताम्** = योग्यता को। **न गत:** = नहीं प्राप्त हुआ।

प्रसङ्ग— राजा नल में गुण ही गुण थे, दोष एक भी न था—

किमस्य रोम्णाङ्कपटेन कोटिभिर्विधिर्न रेखाभिरजीगणद् गुणान्।
न रोपकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दव:॥२१॥

मल्लिनाथकृत-टीका— किमिति। विधिर्विधाता अस्य नलस्य गुणान् रोम्णां कटपेन व्याजेन कोटिभि: कोटिसंख्याभि: रेखाभि: लेखाभि: न अजीगणत् न गणितवान् किम्? अपितु गणितवानेवेत्यर्थ: तथा जगत्कृता, स्रष्ट्रा विधिनेत्यर्थ:। रोम्णां कूपा: विवराणि तेषाम् ओध: समूह एवमिषं व्याज: तस्मात्। दूषणानां दोषाणां शून्यस्य अभावस्य बिन्दव: ज्ञापकचिह्नभूता वर्त्तुलरेखा: न कृता: किम्? अपि तु कृता एवेत्यर्थ:। अस्मिन् गुणा एव सन्ति, न कदाचित् दोषा इति भाव:। अत्र रोम्णां रोमकूपाणाञ्च कपटमिषशब्दाभ्याम् अपह्नवे गुणगणनालेखत्वदूषणशून्यबिन्दुत्वयोरुत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षयो: संसृष्टि:॥२१॥

अन्वय— किं विधि: अस्य गुणान् रोम्णां कपटेन कोटिभि: रेखाभि: न अजीगणत्? किं च जगत्कृता रोपकूपौघमिषात् दूषणशून्यबिन्दव: न कृता: ?

संस्कृत-व्याख्या— किम्, विधि: = विधाता, अस्य = नलस्य, गुणान्, रोम्णाम्, कपटेन = व्याजेन, कोटिभि: = कोटिसंख्याभि:, रेखाभि: न अजीगणत् = न गणितवान्? अपितु गणितवानेव-इत्यर्थ: किं च, जगत्कृता = स्रष्ट्रा-विधिना, रोपकूपौघमिषात् = रोम्णां कूपा: विवराणि तेषां ओध: समूह: एवमिषं व्याज: तस्मात् दूषणशून्यबिन्दव: = दूषणां दोषाणां शून्यस्य अभावस्य विन्दव: ज्ञापकचिह्नभूता: वर्तुलरेखा:, न कृता:? अपितु कृता एव- इत्यर्थ:। नले गुणा एव सन्ति, न दोषा इति भाव:।

हिन्दी अनुवाद--किम् = क्या, विधि: = ब्रह्मा ने, अस्य = इस राजा नल के, गुणान् = गुणों को, रोम्णाम् = रोमों के, कपटेन = बहाने से, कोटिभि: रेखाभि: = करोड़ों रेखाओं के द्वारा, न अजीगणत् = नहीं गिना। अपितु गिना ही। किं च = और क्या, जगत्कृता = सृष्टिनिर्माणकर्त्ता ब्रह्मा ने, रोपकूपौघमिषात् = करोड़ों रोम-छिद्रों के बहाने से, दूषणशून्यबिन्दव: = दोषों के अभाव को प्रकट करने वाली गोल गोल रेखाओं को, न कृता: = नहीं बनाया? अपितु अवश्य ही बनाया।

भावार्थ--"तिस्र: कोट्योऽर्द्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे" इस वचन के अनुसार मानव शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम हुआ करते हैं। तथा "रोमैकौकं कृपके पार्थिवानाम्" इस कथन के आधार पर राजा का प्रत्येक रोम एक-एक रोमकूल के अन्तर्गत विद्यमान माना गया है। अत: अब उपर्युक्त श्लोक का भाव यही होगा कि ब्रह्मा ने राजा नल के शरीर में विद्यमान साढ़े तीन करोड़ रोमों के बहाने से राजा नल के गुणों की गणना की थी। तथा उसी ने राजा नल के शरीर में विद्यमान साढ़े तीन करोड़ रोम-छिद्रों के बहाने से राजा नल के अन्दर दोषों के अभाव स्वरूप गोल-गोल छिद्रों का भी निर्माण किया था। अत्यधिक संख्यावाली वस्तुओं की गणना करते समय विस्मरण न होने देने के लिये रेखाओं द्वारा उनकी गणना किया जाना तथा अभावसूचक स्थानों पर गोलाकार शून्य बिन्दुओं को रखना लोक-व्यवहार में भी देखने को मिलता है। अतएव महाकवि द्वारा यह कल्पना किया जाना कि राजा नल के शरीर में ये

रोम नहीं है अपितु राजा नल के गुण गनमा की रेखाएँ ही हैं तथा ये रोमकूप नहीं हैं किन्तु दोषभावसूचक शून्य-बिन्दु ही हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि राजा नल में अत्यधिक गुण थे तथा दोषों का पूर्ण अभाव था।

अलङ्कार— इस श्लोक में रोमों और रोमकूपों का 'कपट' और 'मिष' शब्दों द्वारा निषेध करके क्रमशः अप्रस्तुत गुणों की गणक रेखाओं और दोषशून्यता के ज्ञापक बिन्दुओं की उत्प्रेक्षा की गयी है। अतः यहाँ सापह्नवोत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

व्याकरण—अजीगणत् =√ गण् (चुरादि) + लुङ्लकार-प्रथमपुरुष-एकवचन।

समास—रोपकूपौघमिषात् = रोम्णां कूपाः इति रोमकूपाः, तेषां ओघः इति रोमपूकौघः (तत्पुरुष), रोमकूपौघ एव मिषः तस्मात्। दूषणशून्यबिन्दवः = दूषणानां शून्यस्य बिन्दवः इति।

टिप्पणियाँ—कपटेन = बहाने से। **कोटिभिः रेखाभिः** =करोड़ों रेखाओं के द्वारा। **अजीगणत्** = गिना-गणना की। **जगत्कृता** = सृष्टिनिर्माता— जगत् की रचना करने वाले विधाता ने—ब्रह्मा ने। **रोपकूपौघमिषात्** = [राजा नल के] रोमों के छिद्रों के बहाने से। **दूषणशून्यबिन्दवः** = दोषों के अभाव को बतलाने वाले बिन्दुओं को। **अथवा** दोष-राहित्य के सूचक रोमकूप रूपी गोलाकार बिन्दुओं को। **न कृताः** = नहीं किया—निर्माण नहीं किया अथवा नहीं बनाया।

प्रसङ्ग— राजा नल की दोनों भुजायें अत्यधिक लम्बी अथवा आजानुबाहु थीं। उनका वक्षस्थल अत्यन्त विशाल और कठोर था—

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपीनता।
उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्कवाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता॥ २२॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अमुष्येति अमुष्य नलस्य दोर्भ्यां भुजाभ्यां कर्तृभ्याम् अरिदुर्गलुण्ठने शत्रुदुर्गभञ्जने अर्गलस्य कपाटविष्कम्भारुविशेषस्य

'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः। दीर्घञ्च पीनञ्च तयोर्भावः दीर्घपीनता आयतपीवरत्वमित्यर्थः, किञ्चेति चार्थः। उपसः वक्षसः लक्ष्म्या कर्प्या तत्र अरिदुर्गलण्ठने गोपूरेष पुरद्वारेषु 'पुरद्वारन्तु गोपुरमि'त्यमरः। स्फुरतां राजतां कवाटानां दुर्द्धर्षाणि च तानि तिरःप्रसारीणि च तेषां भावः तत्ता अपधृष्यत्वं तिर्य्यक्प्रसारित्वञ्चेत्यर्थः। गृहीता ध्रुवम् अवलम्बिता किम्? ध्रुवमित्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकम्। तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः' इति दीर्घबाहुः कवाटवक्षाश्चायमिति भावः॥२२॥

अन्वय—अमुष्य दोर्भ्या अरिदुर्गलुण्ठने अर्गलदीर्घपीनता उरःश्रियाः च तत्र गोपुरस्फुरत्कवाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता गृहीता ध्रुवम्।

संस्कृत-व्याख्या—अमुष्य = नलस्य, दोर्भ्या = भुजाभ्यां बाहुभ्यां वा, अरिदुर्गलुण्ठने = शत्रुदुर्गभञ्जने, अर्गलदीर्घपीनता = अर्गलस्य कपाटविप्कम्भदारुविशेषस्य दीर्घं च पीनं च तयोः भाव दीर्घपीनता आयतपीवरत्वमित्यर्थः, उरःश्रियाः = उरसः वक्षसः श्रिया लक्ष्म्या, च तत्र = अरिदुर्गलुण्ठने, गोपुरस्फुरत्कवाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता = गोपुरेषु पुरद्वारेषु स्फुरतां राजतां कवाटानां दुर्धर्षाणि च तानि तिरः प्रसारीणि च तेषां भावः तत्ता—अप्रधृष्यत्वं तिर्यक्प्रसारित्वञ्च-इत्यर्थः, गृहीता ध्रुवम् = अवलम्बिता किम? [राजा नलः दीर्घबाहुः कवाटवक्षाश्च आसीदिति भावः]।

हिन्दी अनुवाद—अमुष्य = राजा नल की, दोर्भ्याम् = दोनों भुजाओं ने, अरिदुर्गलुण्ठने = शत्रु के दुर्गों (किलों) को तोड़ने में, अर्गलदीर्घपीनता = मानों अर्गला (किवाडों को बन्द करने के पश्चात् एक ओर से दूसरी ओर तब लगाई जाने वाली मोटी लकड़ी [किल्ली] की विशालता तथा स्थूलता को [प्राप्त कर लिया था], च = और, उरःश्रियाः = वक्षस्थल की शोभा, तत्र = शत्रु के किलों को तोड़ने में, गोपुरस्फुरत्कवाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता = मानो [शत्रुओं के] नगर द्वार पर स्थित किवाड़ों की दुर्जेयता एवं विशालता को, गृहीता ध्रुवम् = प्राप्त कर लिया।

भावार्थ— इस राजा नल की दोनों बाहों ने शत्रुओं के किलों को लूटने में मानों अर्गल [किवाड़ों को न खुलने देने के लिये लगायी गयी किल्ली] की विशालता तथा स्थूलता को प्राप्त कर लिया था तथा उस [राजा नल] के वक्षस्थल की शोभा ने मानों शत्रुओं के नगर द्वार पर विराजित किवाड़ों की दुर्जेयता एवं विशालता को प्राप्त कर लिया था। अर्थात् राजा नल की दोनों भुजायें अर्गल के समान लम्बी तथा मोटी थीं और उनकी छाती किलों के फाटकों के सदृश दुर्जेय तथा विस्तृत [चौड़ी] थी। इस वर्णन से यह ध्वनि निकलती है कि राजा नल आजानुबाहु तथा विशाल वक्षस्थल वाले थे।

अलङ्कार— उक्त पद्य में 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार है। यहाँ पर ''ध्रुवम्'' यह उत्प्रेक्षावाचक शब्द भी प्रयुक्त हुआ है जैसा कि 'साहित्यदर्पण' में कहा भी गया है:— ''मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादय:। उत्प्रेक्षाव्यञ्जका: शब्दा इव शब्दोऽपि तादृश:॥''

समास—अरिदुर्गलुण्ठने = अरीणां ये दुर्गा: तेषां लुण्ठने। **अर्गलदीर्घपीनता** = दीर्घं च पीनञ्च इति दीर्घपीनम्, तयो: भाव: दीर्घणीनता, अर्गलस्य दीर्घपीनता इति अर्गलदीर्घपीनता। **उरश्रिया:** = उरस: श्रिया इति। **गोपुरस्फुरत्कवाट-दुर्धर्षतिर:प्रसारिता** = गोपुरेषु स्फुरतां कवाटानां दुर्धर्षाणि च तानि तिर:प्रसारीणि च तेषां भाव: तत्ता।

टिप्पणियाँ—अरिदुर्गलुण्ठने = शत्रुओं के किलों को लूटने में अथवा उन पर विजय प्राप्त करने में। **अर्गलदीर्घपीनता** = अर्गला की दीर्घता और स्थूलता को [अर्गला नामक एक मोटी तथा लम्बी लकड़ी हुआ करती थी जो किवाड़ों अथवा फाटकों में लगायी जाती थी। दोनों किवाड़ों अथवा फाटकों की चौड़ाई से इस अर्गला लम्बाई दूनी हुआ करती थी। किवाड़ों अथवा फाटकों के दोनों ओर की दीवारों में अर्गला की मोटाई से अधिक गोलाई के छिद्र हुआ करते थे। एक ओर का छिद्र बहुत लम्बा हुआ करता था। पूरी अर्गला उसमें समा जाया करती थी। जब किवाड़ या फाटक बन्द किये जाया करते थे तो वह अर्गला बाहर खींची जाती थी और दूसरी ओर की फाटक या किवाड़ वाली दीवार के

छिद्र में अन्दर तक डाल दी जाती थी। फिर किवाड़ अथवा फाटक बहुत ही दृढ़ता से बन्द हो जाता करते थे। उनका खुल सकना किसी भी दशा में संभव न था।]। राजा नल की भुजायें इसी अर्गला के सदृश लम्बी तथा मोटी थीं। अत: कवि ने उनकी भुजाओं के बारे में यह उत्प्रेक्षा की है कि जब राजा नल ने शत्रुओं के किलों को तोड़ा तो राजा नल की भुजाओं ने मानों किले के फाटकों में लगी हुई अर्गला की लम्बाई तथा मोटाई (स्थूलता) को प्राप्त कर लिया। **उर:श्रिया:** = वक्षस्थल की शोभा ने। **गोपुरस्फुरत्कवाटदुर्धर्षतिर:प्रसारिता** = शत्रुओं के नगर में स्थित किले के किवाड़ों और फाटकों की दुर्जेयता और विशालता को राजा नल के वक्षस्थल ने प्राप्त कर लिया था।

प्रसङ्ग— राजा नल के मुख की शोभा ने चन्द्रमा एवं कमल की शोभा को जीत लिया था। अब अन्य कोई ऐसा पदार्थ संसार में विद्यमान न था जिससे राजा नल के मुख की उपमा दी जा सकती हो। अथवा उपमेय राजा नल के मुख के लिये कोई उपमान थी ही नहीं। अत: राजा नल का मुख अनुपमेय अथवा अनुपम ही था—

स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनो निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पद:।
अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे॥२३॥

मल्लिनाथकृत-टीका— स्वकेलीति। स्वस्य केलिलेश: विलासबिन्दुर्यत् स्मितं मन्दहसितं तेन निन्दित: तिरस्कृत:। इन्दुश्चन्द्र: येन तथोक्तस्य स्मितरूपकिरणे निर्जितशीतांशुमयूखस्येति भाव:। निजांश: स्वावयव: यादृक् नेत्रं तया तर्जिता निर्भत्सिता पद्मानां सम्पद् सौभाग्यं येन तथाभूतस्य तन्मुखस्य नलमुखस्य तयोश्चन्द्रपद्मयो: द्वयी तस्या जित्वरं जयशीलं ततोऽधिकमिति यावत् सुन्दरान्तरं नास्ति, यत्र तथाविधे चराचरे जगति 'चराचर स्याज्जगदि'ति विश्व:। प्रतिमा उपमानं न आसीदिति शेष:। अत्रक्ष चन्द्रारविन्दजयविशेषणतया मुखस्य निरौपम्यप्रतिपादनात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कार: तदुक्तं दर्पणे— हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' इति॥२३॥

अन्वय—स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः तन्मुखस्य अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे चराचरे प्रतिमा न।

संस्कृत-व्याख्या— स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः = स्वा स्वकीया केलिः क्रीड़ा तस्याः लेशः लवभूतं यत् स्मितं मन्दहसितं तेन निर्जितः तिरस्कृतः इन्दुः चन्द्रः येन तथोक्तस्य, निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः = निजः स्वकीयः अंशः भागः तद्रूपे ये दृशौ नेत्रे ताभ्या तर्जिता निर्भर्त्सिता पद्मानां कमलानां सम्पत् सौभाग्यं समूहो वा येन तादृशस्य, तन्मुखस्य = तस्य राज्ञः नलस्य मुखस्य आननस्य, अतद्-द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे = तयोः पद्मचन्द्रयोः द्वयी तस्याः जित्वरं जयनशीलं ततोऽधिकमित यावत् सुन्दरान्तरं नास्ति यत्र तथाविधे, चराचरे = जगति, प्रतिमा = उपमानं, न = न आसीदिति शेषः।

हिन्दी अनुवाद—स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः = अपनी क्रीड़ा के लेशमात्र ईषद् हास्य के द्वारा अर्थात् अपनी मुस्कान द्वारा चन्द्रमा को तिरस्कृत कर देने वाले, **निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः** = अपने [राजा नल के मुख के] अंशभूत नेत्रों के द्वारा कमलों के सौन्दर्य की भर्त्सना करने वाले [अर्थात् नेत्रों द्वारा कमलों पर भी विजय प्राप्त करने वाले], तन्मुखस्य = उन [राजा नल] के मुख को, **अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे** = उन दोनों [चन्द्रमा और कमल] को जीतने वाली, अन्य सुन्दर वस्तु से रहित, चराचरे = संसार में, प्रतिमा = [कोई] उपमान, न = नहीं था।

भावार्थ—राजा नल के मुख में अपनी क्रीड़ापूर्ण मन्द मुस्कान से चन्द्रमा पर विजय प्राप्तकर ली थी तथा उस [राजा नल के] मुख के एक भाग [नेत्रों] ने कमलों की शोभा को जीत लिया था। अतः उस राजा नल के मुख की उपमा संसार भर में कोई भी [वस्तु] नहीं थी। क्योंकि राजा नल के मुख के द्वारा अखिल विश्व में सुन्दरतम चन्द्रमा तथा कमल पराजित किये जा चुके थे। संसार में अन्य कोई वस्तु ऐसी नहीं थी जो चन्द्रमा और कमल पर विजय प्राप्त करने वाली हो। यदि ऐसी कोई वस्तु विश्व में होती तो वह राजा नल के मुख की तुलना में आ सकती थी और उपमान भी बन सकती थी। अतः राजा नल के

मुख की समानता में भी आ सकने वाली कोई वस्तु नहीं थी। फिर उसकी अपेक्षा और अधिक सौन्दर्यशालिनी अन्य वस्तु की तो आशा भी किया जाना संभव नहीं है। उपमेय की अपेक्षा उपमान पदार्थ के श्रेष्ठ होने पर ही उपमा दी जाया करती है। और ऐसी कोई वस्तु थी ही नहीं जो राजा नल के मुख की अपेक्षा सुन्दर होकर उपमान की श्रेणी में आ सके। अत: राजा नल का मुख अनुपमेय ही था।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में चन्द्रमा और कमल के प्रति विजयसूचक विशेषणों के द्वारा राजा नल के मुख के अनुपमेयत्व का प्रतिपादन किया गया है। अत: इसमें पदार्थ-हेतुक-काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। लक्षण— " हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते"। कुछ टीकाकारों ने इसमें 'प्रतीप' और कुछ अन्यों ने ' व्यतिरेक' अलङ्कार भी माना है।

व्याकरण—जित्वरम् = जि + क्वरप्। यहाँ "इण्नशजिसर्तिभ्य: क्वरप्" सूत्र से उक्त प्रत्यय हुआ है।

समास—**स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुन:** = स्वा केलि: इति स्वकेलि: [कर्मधारय समास] तस्या: लेश: [षष्ठीतत्पुरुष] तद्रूपं स्मितं, तेन निन्दित इन्दु: येन स: [बहुव्रीहि समास] तस्य। **निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पद:** = निज: अंश: इति निजांश: तद्रूपे दृशौ ताभ्यां तर्जिता पद्मसम्पद येन स: [बहुव्रीहि] तस्य। **अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे** = तयो: द्वयी इति तद्द्वयी [षष्ठी तत्पु०], अन्यत् सुन्दरमिति सुन्दरान्तरम्। तद्द्वय्या: जित्वरं तद्द्वयी जित्वरम् [षष्ठी तत्पु०] तादृशं सुन्दरान्तरम् [कर्मधारय] इति तद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरम्, न विद्यते तदद्वयीजित्वरसुन्दरान्तरं यत्र तत् [न बहु०] अतद् द्वयीजित्वसुन्दरान्तरम्, तस्मिन्। **चराचरे** = चराश्च अचराश्च इति चराचराम् [द्वन्द], तस्मिन्।

टिप्पणियाँ—**स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुन:** = अपनी क्रीड़ा के लेशमात्र मुस्कराहट के द्वारा चन्द्रमा को तिरस्कृत [अथवा नीचा दिखा देने वाले] कर देने वाले। यह राजा नल के मुख का विशेषण है।

निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः = अपने मुख के अंशभूत नेत्रों के द्वारा कमलों की शोभा को भी जीत लेने वाले। नेत्र मुख के ही अंश है। जब केवल नेत्रों ने ही कमलों की शोभा पर विजय प्राप्त कर ली तो फिर सम्पूर्ण मुख का तो कहना ही क्या? **तन्मुखस्य** = उन राजा नल के मुख को। **अतद्द्वयीजित्वर-सुन्दरान्तरे** = नहीं है उन दोनों [चन्द्रमा और कमल] से बढ़ चढ़कर प्रतीत होने वाला कोई अन्य सुन्दर पदार्थ जिसमें [ऐसे संसार में]। **चराचरे** = स्थावर और जंगम अथवा जड़ और चेतन [चर = गमनशील अर्थात् चेतन, अचरगतिहीन अर्थात् जड़] इन दो प्रकार के प्राणियों एवं पदार्थों से युक्त संसार में [चराचरं स्याज्जगदिति विश्वः]। **प्रतिमा** = उपमान।

प्रसङ्ग— उपर्युक्त बात को ही प्रकारान्तर से कहते हैं--

सुरोरुहं तस्य दृशैवं निर्जितं जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः।
कुतः परं भव्यमहो महोयसी तदाननस्योपमितौ दरिद्रता॥ २४॥

मल्लिनाथकृत-टीका--उक्तार्थ भङ्ग्यन्तरेणाह-- सरोरुहमिति। तस्य नलस्य दृशैव नयनेनैव सरोरुहं पद्मं तर्जितं न्यक्कृतम्। स्मितेनैव विधोश्चन्द्रस्य श्रियः कान्तयः अपि जिताः तिरस्कृताः परम् अन्यत् आभ्यामिति शेषः भव्यं रम्यं वस्तु कुतः ? न कुत्राप्यस्तीत्यर्थः। अहो आश्चर्य तस्य नलस्य यत् आननं मुखं तस्य उपमितौ तोलने महीयसी अतिमहती दरिद्रता अभावः अत्यन्तभाव इत्यर्थः। सर्वथा निरुपममस्य मुखमित्याश्चर्यम्। अत्र वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलकारः॥ २४॥

अन्वय-- तस्य दृशा एवं सुरोरुहं निर्जितम् स्मितेनैव विधोः श्रियः अपि जिताः। परं भव्यं कुतः ? अहो, तदाननस्य उपमितौ महीयसी दरिद्रता।

संस्कृत-व्याख्या--तस्य = राज्ञा नलस्य, दृशा एवं = नेत्रेण एव, सुरोरुहम् = पद्मम्, निर्जितम् = न्यक्कृतम्, स्मितेनैव = मन्दहासेन एव, विधोः = चन्द्रस्यस श्रियः = कान्तयः, अपि, जिताः = तिरस्कृताः। परम् -- अन्यत आभ्याभिति शेषः, भव्यम् = रम्यम् -- रम्यम्, वस्तु, कुतः-- न कुत्रापि अस्ति-इत्यर्थः। अहो = आश्चर्यम्, तदाननस्य = तस्य नलस्य मुखस्य, उपमितौ =

उपमने, महीयसी = अतिमहती, दरिद्रता = अभावः-अत्यन्तभावः इतिभावः। अस्य राज्ञः नलस्य मुखं सर्वथा निरुपममित्याश्चर्यम्।

हिन्दी अनुवाद—तस्य = उस राजा नल के, दृशा एवं = नेत्र ने ही, सुरोरुहम् = कमल को, निर्जितम् = जीत लिया। स्मितेनैव = [उसकी] मुस्कराहट ने, विधोः = चन्द्रमा की, श्रियः अपि = कान्ति अथवा शोभा को भी जिताः = जीत लिया।। परम् = और अधिक, भव्यम् = सुन्दर वस्तु। कुतः = कहाँ? अहो = आश्चर्य की बात है कि, तदाननस्य = उस [राजा नल] के मुख की, उपमितौ = उपमा [दिलवाने] में, महीयसी = अत्यधिक, दरिद्रता = अभाव है।

भावार्थ— राजा नल के मुख ने कमलों पर विजय प्राप्त कर ली थी। उसकी मुस्कराहट ने चन्द्रमा की कान्ति अथवा शोभा को जीत लिया था। संसार में चन्द्रमा और कमल ये दो ही पदार्थ मुख आदि के उपमान के रूप में विशिष्ट रूप से प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं। अब इनके अतिरिक्त कोई अन्य [तीसरा] पदार्थ कहाँ से प्राप्त हो कि जिससे राजा नल के मुख आदि की उपमा दी जा सके। आश्चर्य की बात है कि उस राजा नल के मुख की उपमा के लिये संसार में उपमानों का सर्वथा अभाव ही हो गया है। कहने का तात्पर्य है कि राजा नल का मुख पूर्णरूपेण अनुपम ही है। अखिल विश्व में उसके मुख के सदृश कोई पदार्थ है ही नहीं जिसके उसके मुख की उपमा दी जा सके।

अलङ्कार— उक्त पद्य में चन्द्रमा और कमल के ऊपर विजय मुख के उपमानों के अभाव में प्रति हेतु है। अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। इसके अतिरिक्त यहाँ उपमानस्वरूप कमल और चन्द्रमा की अपेक्षा नेत्र तथा मुस्कराहट का उत्कर्ष अधिक दिखलाये जाने से व्यतिरेक अलङ्कार भी है।

व्याकरण—**सुरोरुहम्** = [सरसि रोहतोति—] सरस् +√ रुह् + क्विप्। **स्मितम्** =√ स्मि + क्त (भाव में) स्मितम्। उपमिति = उप + √ मा + क्तिन्। **महीयसी** = महत् + ईयसुन् + ङीष् (स्त्रीलिङ्ग)।

समास— तदाननस्य = तस्य यत् आननं इति तदाननम्, तस्य।

टिप्पणियाँ—**निर्जितम्** = निःशेषरूप से जी लिया अर्थात् पूर्ण रूप से जीत लिया। किसी २ संस्करण में ''तर्जितम्'' पाठ भी है। जैसा कि मल्लिनाथीय टीका में है। इसका अर्थ होगा— ''भर्त्सितम्''— भर्त्सना कर दी अथवा झिड़क दिया अथवा तिरस्कृत कर दिया— नीचा दिखला दिया। **स्मितेन** = ईषद् हास्य ने मुस्कराहट अथवा मुस्कान ने। **विधोः** = चन्द्रमा की। **श्रियः** = कान्तियों अथवा शोभाओं को। **भव्यम्** = सुन्दर, रम्य। **उपमितौ** = उपमा में उपमान में। **महीयसी** = अतिमहती, अत्यधिक। **दरिद्रता** = अभाव— अथवा न होना।

प्रसङ्ग— राजा नल के केश चमरी नामक विशिष्ट मृगी [हरिणी] के केशों की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर तथा कोमल थे—

स्वबालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैःस्वयञ्चमर्येव तुलाभिलाषिणः।
अनागसे शंसति बालचापलं पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात्॥ २५॥

मल्लिनाथकृत-टीका— स्वबालेति। चमरी मृगीविशेषः तस्य नलस्य उत्तमाङ्गजैः शिरोरुहैः समं सहैव तुलाभिलाषिणः सादृश्यकाङ्क्षिणः स्वबालभारस्य निजलोमनिचयस्य अनागसे अनपराधाय नीचस्य उत्तमैः सह साम्याभिगमोऽपि महान् अपराध इति भावः। क्वचित्तभावे नञ्समासे दृश्यते। पुनः पुनः पुच्छस्य लङ्गूलस्य विलोलनं विचालनम् एव छलं तस्मात् बालचापलं रोमचाञ्चल्यं शंसति कथयति बालचापल्यं सोढव्यमिति धियेति भावः। अत्र पुच्छविलोलनप्रतिषेधेन अन्यस्य बालचापलस्य स्थापनादपह्नुतिरलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे— 'प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिरि'ति॥ २५॥

अन्वय— चमरी स्वयमेव तदुत्तमाङ्गजैः तुलाभिलाषिणः स्वबालभारस्य अनागसे पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् बालचापलं शंसति।

संस्कृत-व्याख्या—चमरी = मृगीविशेषः, स्वयमेव, तदुत्तमाङ्गजैः = तस्य नलस्य उत्तमाङ्गजैः केशैः शिरोरुहैर्वा, तुलाभिलाषिणः = सादृश्यकांक्षिणः

[''स्वयम्'' इत्यस्य स्थाने ' समम्' इति पाठे तदुत्तमाङ्गजै= नलस्य केशैः, सममेव =सहैव, तुलाभिलाषिणः =सादृश्यं कर्त्तुमिच्छुकः], स्वबालभारस्य= स्वस्य आत्मनः बालाः केशाः तेषां भारः समूहः तस्य, अनागसे =अनपराधाय नीचस्य उत्तमैः सह साम्याभिगमः अपि महान् अपराधः एव-इति भावः, पुनः पुनः =भूयो भूयः, पुच्छविलोलनच्छलात् = पुच्छस्य लाङ्गूलस्य विलोलनं विचालनं इति पुच्छविलोलनं तदेव छलं व्याजः-तस्मात्, बालचापलम् = रोमचाञ्चल्यम् [पक्षान्तरे शिशुचापलम्], शंसति = कथयति। बालचापल्यं सोढव्यमिति धिया—इति भावः।

हिन्दी अनुवाद—चमरी = चमरी नामक मृगी विशेष, स्वयमेव = अपने आप ही, तदुत्तमाङ्गजैः = उस (राजा नल) के केशों के साथ, [''स्वयमेव'' के स्थान पर ''सममेव'' इस पाठान्तर के होने पर— अर्थ होगा— तदुत्तमाङ्गजैः सममेव = उस राजा नल के केशों के साथ ही], तुलाभिलाषिणः = समानता करने की इच्छा [रखने] वाले, स्वबालभारस्य = अपने बालों का समूह की, अनागसे = निरपराधता अथवा अपराधविहीनता बतलाने के लिये, पुनः पुनः = बार बार, पुच्छविलोलनच्छलात् = [अपनी] पूँछ के हिलाने के बहाने से, बालचापलम् = बालों की चंचलता [पक्षान्तर में— शिशु-सुलभ चपलता] को, शंसति = प्रकट करती है— बतलाती है।

भावार्थ—उस राजा नल के केशों के साथ समता करने की इच्छा करने वाले अपने केशसमूह के अपराधभाव के लिये चमरी नामक मृगीविशेष बार-बार अपनी पूँछ को हिलाने के बहाने से अपनी शिशु-सुलभ चपलता को ही प्रकट करती है। चमरी नामक मृगी अपनी पूँछ को हिलाकर राजा नल से मानो यह कह रही है कि उसके बालों ने नल के केशों से समानता करने की इच्छा करके जो धृष्टता की है वह उनकी शिशु-सुलभ-चपलता ही है। अतः उसे क्षमा कर दिया जाय। लोक में बच्चे द्वारा की गयी चपलता को अपराध नहीं माना जाता है और उस ओर ध्यान भी नहीं दिया जाता है तथा उसे सदैव सभ्य ही समझा जाता है। अतः चमरी राजा नल से यह कहती हैं कि उसके बालों ने

उसके केशों के साथ समानता करने की जो इच्छा की है– उस इच्छा को [राजा नल] बाल-सुलभ चंचलता ही समझें और उसे क्षमा कर दें।

कुछ टीकाकारों ने ''चामरी'' शब्द का अर्थ चमरी-गाय भी किया है। शेष सम्पूर्ण व्याख्या यथापूर्व ही है।

भावरूप में यही अर्थ निकलता है कि चामरी नामक मृगी अथवा गाय के बालों की अपेक्षा राजा नल के केश कहीं अधिक सुन्दर तथा सुकोमल थे। यद्यपि चमरी नामक मृगी अपने बालों की सुन्दरता तथा सुकोमलता के लिये प्रसिद्ध है। किन्तु राजा नल के केश इतने अधिक सुन्दर तथा सुकोमल थे कि उनकी समानता में चमरी मृग के केश आते ही न थे।

अलङ्कार– इस पद्य में कहा गया है कि मानो चमरी नामक मृगी अपने बालों के हिलाने के बहाने से राजा नल के बालों की समानता करने रूप अपराध के लिये क्षमा याचना कर रही हो। अतः यहाँ ''उत्प्रेक्षा'' नामक अलङ्कार है। पुच्छविलोलन के बहाने से निरपराधता का कथन करके बालचपलता की स्थापना किये जाने की दृष्टि से ''अपह्नुति'' अलङ्कार भी कहा जा सकता है। लक्षण– ''प्रकृतं प्रतिषिध्यान्तस्थापनं स्यादपह्नुतिः।''

व्याकरण–उत्तमाङ्गजैः = उत्तमाङ्ग +√जन् + ड। यहाँ '' सप्तम्यां जनेर्डः'' सूत्र से ''ड'' हो जाता है। तुलाभिलाषी = तुला + अभि +√ लष् + णिनि (कर्त्ता में)। चापलम् = चपल + अण्।

समास–**तदुत्तमाङ्गजैः** = तस्य उत्तमाङ्गे (मस्तके) जायन्ते इति उत्तमाङ्गजाः तैः। **तुलाभिलाषिणः** = तुलां (साम्यं) अभिलषतीति तुलाभिलाषी तस्य। **पुच्छविलोलनच्छलात्** = पुच्छस्य विलोलनं इति पुच्छविलोलनं तदेव छलं इति पुच्छविलोलनच्छलम् तस्मात्।

टिप्पणियाँ–**चमरी** = एक विशिष्ट प्रकार की हरिणी। इसकी पूँछ के बालों के चँवर बनाया जाता है। **तदुत्तमाङ्गजैः** = उस राजा नल के केशों से– अथवा के साथ। **स्वबालभारस्य** = अपने केश-समूह के। **अनागसे** = अग का अर्थ है अपराध [''अगोऽपराधो मन्युश्च'' इत्यमरः], (अन + अगसे)

अपने अपराध के न होने के लिये। **बालचापलम्** = बालों की चंचलता अथवा पक्षान्तर में– शिशु-सुलभ चपलता। तात्पर्य यह है कि जब कोई छोटा बच्चा अपने से किसी महान् व्यक्ति के साथ अपनी समानता करने लगता है तो उसकी माँ इस भय से , कि कहीं वह महान् व्यक्ति उससे अप्रसन्न न हो जाय, कहने लगती है, "बालक ["अज्ञो भवति वै बालः"] ने अज्ञानतावश ऐसा किया है। अतः या तो आप उसकी बात को बालक समझकर सोचिये ही नहीं अथवा यदि उसका अपराध ही समझे तो बच्चा जानकर उसे क्षमा कर दीजिये"। इसी प्रकार जब चमरी मृगी ने यह देखा की उसके बाल राजा नल के केशों के साथ समता कर रहे हैं तो उसने अपनी पूँछ हिलाकर निवेदन किया कि महाराज! मेरे बालों ने चपलतावश ऐसा अज्ञानपूर्ण कार्य किया है। अतः आप उनका उक्त अपराध या तो मन में न लाइये अथवा क्षमा ही कर दीजिये। **शंसति**= कही है– प्रकट करती है– अथवा– बतलाती है।

प्रसङ्ग– राजा नल कामदेव के समान सुन्दर थे। अतः तीनों लोकों में निवास करने वाली स्त्रियाँ उनको चाहती थीं–

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत्॥ २६॥

मल्लिनाथकृत-टीका– महीभृत इति। तस्य महीभृतो नलस्य मन्मथस्येव श्रीः कान्तिः तया च निजस्य चित्तस्य तं नल प्रति इच्छाय रागेण च तत्र नृपे नले जगत्त्रयीभुवां त्रिभुवनवर्त्तिनीनां नतभ्रुवां कामिनीनां द्विधा द्विप्रकारेण मन्मथविभ्रमः अयं मन्मथ इति विशिष्टा भ्रान्तिः कामावेशश्च अभवत्। अत्र श्लेषसङ्कीर्णो यथासंख्यालङ्कारः॥ २६॥

अन्वय– तस्य महीभृतः मन्मथश्रिया तं प्रति निजस्य चित्तस्य इच्छया च तत्र नृपे जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां द्विधा मन्मथविभ्रमः अभवत्।

संस्कृत-व्याख्या–तस्य= प्रसिद्धस्य, महीभृतः = राज्ञः नलस्य, मन्मथश्रिया = मन्मथस्य कामस्य सदृशा श्रीः कान्तिः तया, तम् = नलम्, प्रति,

निजस्य = स्वस्य, चित्तस्य =मनस:, इच्छया = रागेण, च, तत्र= तस्मिन्, नृपे = नले, जगत्त्रयीभुवाम् = त्रिलोकसमुत्पन्नानाम्, नतभ्रुवाम् = सुन्दरीणाम्, द्विधा = द्विप्रकारेण, मन्मथविभ्रम: = " अयं काम: " इति विशिष्टा भ्रान्ति: कामजनितावेशश्च, अभवत् = जात:।

हिन्दी अनुवाद—तस्य = उस, महीभृत: = राजा नल की, मन्मथश्रिया = कामदेव के समान कान्ति के कारण, और तं प्रति = उस (राजा नल) के प्रति, निजस्य = अपने, चित्तस्य = मन की। इच्छया च = अभिलाषा के कारण, तत्र नृपे = उस राजा नल के विषय में, जगत्त्रयीभुवाम् = तीनों लोकों में उत्पन्न हुई, नतभ्रुवाम् = सुन्दरियों का, द्विधा = दो प्रकार का, मन्मथविभ्रम: = "यही कामदेव है" इस प्रकार का विशिष्ट भ्रम अथवा कामजन्य विलास, अभवत् = हुआ।

भावार्थ— राजा नल कामदेव के समान सुन्दर थे। अत: तीनों लोकों में निवास करने वाली स्त्रियाँ उनको चाहती थीं। इस स्थिति में उन सभी को दो प्रकार का भ्रम होता था [यहाँ "विभ्रम" शब्द का दो प्रकार का अर्थ किया जा सकता है (१) विशिष्टभ्रम (२) विलास] (१) विशिष्टभ्रम— यह (राजा नल) कामदेव ही है और (२) अपने-२ हृदयों में राजा नल के प्रति आसक्ति होने के कारण ये उन्हें देखकर (विलास अर्थात्) कटाक्ष आदि हावभाव भी करने लगा करती थीं। [यहाँ यह आशंका होती है कि तीनों लोकों में पतिव्रता स्त्रियाँ नहीं थी— क्योंकि पतिव्रताओं के हृदयों में कामाभिलाष का उत्पन्न होना संभव नहीं है। अत: यहाँ यह अर्थ कर देना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि पतिव्रता स्त्रियों के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के मन में ही काम समबन्धी विलास की उत्पत्ति हुई।] तात्पर्य यही निकलता है कि राजा नल कामदेव के समान ही सुन्दर थे।

अलङ्कार— इस पद्य में 'मन्मथविभ्रम' पद के दो अर्थ हैं— (१) कामदेव की भ्रान्ति (२) कामजन्य भावनाओं का विलास (कटाक्ष आदि हाव-भाव)। अत: इस पद में "श्लेष" अलङ्कार हुआ। तथा नल की कान्ति और

तीनों लोकों की स्त्रियों की अभिलाषा के साथ इन दोनों प्रकार के अर्थों का यथासंख्य (संख्या के क्रम से) सम्बन्ध होने के कारण श्लेषसंकीर्ण-यथासंख्य-अलङ्कार भी है।

व्याकरण—महीभृतः = मही+ भृ + क्विप्— तदनन्तर तुक् का आगम। नृपे = यहाँ विषयाधिकरण में सप्तमी विभक्ति है।

समास—महीभृतः = महीं बिभर्ति इति महीभृत् तस्य मन्मथश्रिया = मन्मथस्य इव श्रीः इति मन्मथश्रीः, तया। **जगत्त्रयीभुवाम्** = जगतां त्रयी जगत्रयी, तस्या भवन्ति इति जगत्रयीभुवः, तासाम्। **नतभ्रुवाम्** = न... ...यासां ताः नतभ्रुवः (बहुव्रीहि), तासाम्।

टिप्पणियाँ—महीभृतः = राजा (नल) के। **मन्मथश्रिया** = कामदेव के समान कान्ति अथवा शोभा धारण करने के कारण। **जगत्त्रयीभुवाम्** = तीनों लोकों में जिनकी उत्पन्न हुई है अर्थात् तीनों लोकों में उत्पन्न हुई। ... टेढ़ी भौहों वाली स्त्रियों अथवा सुन्दरियों अथवा कामिनियों को। **द्विधा** = दो प्रकार का (१) साक्षात् कामदेव का (२) काम-सम्बन्धी चिन्तन के आधार पर उत्पन्न विलास का [मन्मथः कामचिन्तायां कपित्थे कुसुमायुधे इति विश्वः]। **मन्मथविभ्रमः** = (१) मन्मथ अर्थात् कामदेव का विशिष्टभ्रम अथ... कामचिन्तनजनित विलास। **अभवत्** = हुआ।

प्रसङ्ग— अब राजा नल के सौन्दर्य को देखकर देवलोक में स्थित देवाङ्गनाओं अर्थात् देवकामिनियों का कामविभ्रम प्रस्तुत करते हैं—

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः।
अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनापि लोचनैः॥ २७॥

मल्लिनाथकृत-टीका— निमीलनति। त्रिदशीभिः सुराङ्गनाभिः निमीलनभ्रंशजुषा निर्निमेषेत्यर्थः। दृशा नयनेन तं नलं भृशम् अतिमात्रं निपीय सतृष्णं दृष्ट्वेत्यर्थः। यः अभ्यासभरः अभ्यासातिशयः कृतः, अमूस्त्रिदश्यः देव्यः अधुनापि निमेषनिःस्वैः निमेषशून्यैः लोचनैः तम् अभ्यासभरं विवृण्वते

प्रकटयन्ति। तासां स्वाभाविकाय निमेषाभावस्य तादृशनिरीक्षणाभ्यासवासनया तत्त्वमुत्प्रेक्ष्यते॥ २७॥

अन्वय— त्रिदशीभिः निमीलनभ्रंशजुषा दृशा तं भृशं निपीय यः अर्जितः अमूः अधुना अपि निमेषनिःस्वैः लोचनैः तं अभ्यासभरं विवृण्वते।

संस्कृत-व्याख्या—त्रिदशीभिः= देवाङ्गनाभिःष निमीलनभ्रंशजुषा= निमेष-निवृत्तिभाजा निर्निमेषया- इत्यर्थः, दृशा = नेत्रेण, तम् = नलम् भृशम् = अतिमात्रम्, निपीय = सतृष्णं दृष्ट्वा—इत्यर्थः यः = अभ्यासभरः, अर्जितः = कृतः; अमूः = त्रिदश्यः देव्यः, अधुना अपि = इदानीमपि, निमेषनिःस्वैः = निमेषशून्यैः निमेषरहितैः वा, लोचनैः = नयनैः, तम् अभ्यासभरम् = अभ्यासातिशयम्, विवृण्वते = प्रकटयन्ति।

हिन्दी अनुवाद--त्रिदशीभिः = देवताओं की स्त्रियों ने, निमीलनभ्रंशजुषा = निर्निमेष अथवा निमेषरहित (अथवा बिना पलक मारे हुए), दृशा = नेत्र से अथवा दृष्टि से, तम्= उस राजा नल को, भृशम्= अत्यधिकरूप से, निपीय = तृष्णा के साथ देखकर, यः = जिस अतिशय अभ्यास को, अर्जितः = प्राप्त किया था; अमूः = वे देवाङ्गनायें, अधुनाऽपि = इस समय भी अथवा अब भी, निमेषनिःस्वैः = निमेषरहित अथवा एकटक, लोचनैः = नेत्रों से, तम् = उस, अभ्यासभरम् = अभ्यास के अतिशय को। विवृण्वते = प्रकट करती हैं।

भावार्थ—देवाङ्गनाओं ने निमेष रहित दृष्टि से राजा नल को भली भाँति देखकर जिस अभ्यास के आधिक्य को सम्यक् रूप से प्राप्त किया था उस अभ्यास के आधिक्य को देवाङ्गनायें अब भी अपने निर्निमेष नेत्रों से प्रकट करती हैं।

देवताओं के बारे में यह प्रसिद्ध सदा से चली आ रही है कि वे कभी भी पलक नहीं मारते हैं। अतएव देवङ्गनाओं के लिये पलक का न मारना स्वाभाविक ही है किन्तु कवि द्वारा यह कल्पना की गयी है कि मानों देवाङ्गनाओं निर्निमेष नेत्रों से युवावस्था में विद्यमान राजा नल के सौन्दर्य को तृष्णाभरी दृष्टि से देखती रही थीं और इस कारण उन्हें पलक न मारने का

अभ्यास ही हो गया था और वे इस समय भी राजा नल को न देखती हुई होने पर भी अपने निमेषरहित नेत्रों से उसी अभ्यास को प्रकट कर रही है। अधिक समय तक किये गये अभ्यस्त-कार्य का बहुत समय के पश्चात् भी विस्मरण न हो सकना स्वाभावसिद्ध है।

अलङ्कार– देवताओं के स्वत: सिद्ध निमेषशून्यता के बारे में राजा नल के दर्शनों के अत्यधिक अभ्यास से उत्पन्न होने की संभावना उपर्युक्त श्लोक में की गयी है। अत: यहाँ "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

व्याकरण–निमीलनभ्रंशजुषा = निमीलनभ्रंश + जुष + क्विप् = निमीलनभ्रंशजुट्– पुन: तृतीया विभक्ति के एकवचन में निमीलनभ्रंशजुषा। **निपीय** = नि + पा + क्त्वा–ल्यप्। **विवृण्वते** = वि + वृ+ लट् (अन्यपुरुष बहुवचन का रूप)।

समास–निमीलनभ्रंशजुषा = निमीलनं नेत्रसंकोच: तस्य भ्रंश: अभाव: तं जुषतीति निमीलनभ्रंशजुट् तया। **निमेषनि:स्वै:** = नास्ति स्वं धनं येषां तै: नि:स्वै: निमेषस्य नि:स्वै: इति निमेषनि:स्वै:। **अभ्यासभरम्** = अभ्यासस्य भर: इति अभ्यासभर: तम्।

टिप्पणियाँ–त्रिदशीभि: = देवताओं की स्त्रियों ने। (त्रिदश नाम देवता का है। तृतीया 'यौवनाख्या दशा यस्य' अर्थात् जो सदैव युवावस्था में ही विद्यमान रहा करते हैं। अथवा "त्रीन् तापान् दशति नाशयति-इति त्रिदश:" अर्थात् जो त्रिविधतापों को नष्ट कर देने वाले हैं वह त्रिदश या देवता कहलाते हैं। "त्रिदशस्य स्त्री-त्रिदश् + ङीष्" और उन त्रिदशों की स्त्रियाँ– त्रिदशी कहलाती हैं– अर्थात् देवों की स्त्रियाँ)। **निमीलनभ्रंशजुषा** = पलकों को मारने के अभाव से युक्त, निर्निमेष, निमेषरहित [दृष्टि से], एकटक देखी जाने वाली दृष्टि से। **निपीय** = पान करके– लक्षणा द्वारा – "सादर देखकर" अर्थ होता है। **निमेषनि:स्वै:** = पलकों के मारने से रहित, निमेष शून्य। **लोचनै:** = नेत्रों से अथवा नेत्रों द्वारा। **अभ्यासभरम्** = अभ्यास का आधिक्य अथवा अतिशय। **विवृण्वते** = प्रकट करती हैं।

प्रसङ्ग— अब राजा नल के सौन्दर्य को देखकर पाताल लोकस्थित नागों की स्त्रियों की कामविभ्रम महाकवि द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है—

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं
दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम्।
इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले
स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः॥२८॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अद इति। चक्षुःश्रवसां नागानां प्रियाः पत्न्य इत्यर्थः। अदः इदं नोऽस्माकं दृशोश्चक्षुषोर्द्वयं तं नलम् आकर्णयतीति तदाकर्णि तद्‌गुणश्रावीत्यर्थः, तासां चक्षुःश्रवस्त्वादिति भावः। अत एवफलाढ्यजीवितं सफलजीवितम्। न वीक्षते इत्यवीक्षि, अत्रोभयोस्ताच्छील्ये णिनिः। तस्य नलस्य अवीक्षि तदवीक्षि तददर्शीत्यर्थः। अत एव अफलश्च, इति हेतोः। तदा तस्मिन् काले आत्मना स्वेन हृदा मनसा नले नलविषये स्तुवन्ति प्रशंसन्ति निन्दन्ति कुत्सयन्ति च। अतिशयोक्तिरलङ्कारः॥२८॥

अन्वय—चक्षुःश्रवसां प्रियाः तदा आत्मनः हृदा नले अदः नः दृशोः द्वयं तदाकर्णि फलाढ्यजीवितम् च तदवीक्षि अफलम्, इति स्तुवन्ति निन्दन्ति स्म।

संस्कृत-व्याख्या— चक्षुःश्रवसाम् = नागानां, प्रियाः = स्त्रियः, तदा= तस्मिन् काले, आत्मनः = स्वस्य, हृदा = मनसा, नले = नलविषये, अदः = इदम्, नः = अस्माकम्, दृशोः = नेत्रयोः, द्वयम्= युगलम्, तदाकर्णि = तं नलं आकर्णयति-इति [तद्‌गुणश्रावीत्यर्थः तासां चक्षुःश्रवस्त्वादिति भावः] [अतएव], फलाढ्यजीवितम् = सफलजीवितम्, च तदवीक्षि = तं नलं न वीक्षते इति [तददर्शीत्यर्थः, अतएव] अफलम् = निष्फलम्, इति हेतोः, स्तुवन्ति = प्रशंसन्ति, निन्दन्ति स्म = कुत्सयन्ति स्म [च]।

हिन्दी अनुवाद—चक्षुःश्रवसाम् = नागों की, प्रियाः =प्रियायें [स्त्रियाँ], तदा = उस समय, आत्मनः = अपने, हृदा = हृदय से मन से, नले = राजा नल के विषय में, अदः = यह, नः = हमारे, दृशोः द्वयम् = दोनों नेत्र,

तदाकर्णि = उस राजा नल के गुणों को सुनने वाले हैं, अतः फलाढ्यजीवितम् = जीवन की सफलता से युक्त हैं; च = और तद्वीक्षि = उस राजा नल को देखने वाले नहीं हैं [अतः ये मेरे दोनों नेत्र] अफलम् = निष्फल अथवा फल रहित हैं, इति = इस प्रकार, स्तुवन्ति = प्रशंसा करतीं [और] निन्दन्ति स्म = निन्दा भी करती थीं।

भावार्थ– '' हम लोगों के ये दोनों नेत्र उस राजा नल के चरित को सुनकर सफल-जीवन तो हो गये किन्तु उस राजा नल का साक्षात् दर्शन न कर सके'' इस प्रकार सर्पो की प्रियायें अथवा नाग-अङ्गनायें हृदय से क्रमशः अपने दोनों नेत्रों की प्रशंसा तथा निन्दा किया करती थी।

नाग-अङ्गनायें पाताल में निवास किया करती हैं अतः वे मर्त्यलोकवासी राजा नल के गुणों का श्रणव तो करती हैं किन्तु उनका दर्शन नहीं कर पाती हैं। सर्पजाति आँखों से ही देखती है और आँखों से ही सुनती भी है। इसी कारण इनको ''चक्षुःश्रवाः'' कहा जाता है। अतः अपने नेत्रों से नल-चरित अथवा राजा नल के गुणों को सुनने के कारण नागों की स्त्रियाँ अपनी आँखों को धन्य समझती हैं। और उनकी प्रशंसा करती हैं : किन्तु स्वयं पाताल लोक में निवास करने के कारण राजा नल का साक्षात् दर्शन कर सकने में अपने को असमर्थ पाकर अपने नेत्रों को अधन्य मानती हैं तथा उनकी निन्दा भी करती हैं।

अलङ्कार– उपर्युक्त श्लोक में अतिशयोक्ति अलङ्कार है। तथा ''सफल जीवन वाले दोनों नेत्र निष्फल हैं'' इस प्रकार का वर्णन प्रस्तुत किये जाने के कारण यहाँ विरोध का आभास होता है किन्तु उपर्युक्त भावार्थ में प्रदर्शित स्पष्टीकरण के द्वारा उसका परिहार भी कर दिये जाने से वहाँ ''विरोधाभास'' अलङ्कार भी है।

व्याकरण–**तदाकर्णि** = तत् + आ + √कर्ण + णिच् + णिनि (कर्त्ता में)। **तदवीक्षि** = तत् + अ + वि + ईक्ष् + णिनि (कर्त्ता में)।

समास–**चक्षुःश्रवसाम्** = चक्षूंषि एव श्रवांसि येषां ते चक्षुःश्रवसः (बहुव्रीहि)। **तदाकर्णि** = तं आकर्णयितुं शीलं यस्य तत् तदाकर्णि।

फलाढ्यजीवितम् = फलेन आढ्यं जीवितं यस्य तत् (बहुव्रीहि समास)। **तदवीक्षि** = वीक्षितुं शीलमस्य इति वीक्षि, न वीक्षि— अवीक्षि, तस्य अवीक्षि- इति तदवीक्षि (षष्ठी तत्पुरुष)

टिप्पणियाँ—चक्षुःश्रवसाम् = आँखे ही जिनके कान हैं अर्थात् जो आँखों के द्वारा ही सुनने का भी कार्य करते हैं ऐसे सर्पो की। **प्रियाः** =प्रियायें, स्त्रियाँ। **हृदा** = हृदय से, मन से। **दृशोः द्वयम्** = आँखों के दो अर्थात् दोनों आँखों को। **तदाकर्णि** = उनको अर्थात् नल के गुणों को सुनने वाले। **फलाढ्यजीवितम्** = फल से युक्त अथवा फल से सम्पन्न जीवन वाला अर्थात् जीवन की सफलता से युक्त। **तदवीक्षि** = उसको अर्थात् राजा नल को न देख सकने वाले। सर्पों के बारे में ऐसी प्रसिद्धि परम्परा से ही चलती चली आ रही है कि ये आँखों से ही सुनते तथा देखते हैं। इनके कान नहीं होते। इस प्रसिद्धि के अनुसार वे राजा नल के गुणों का श्रवण तो कर लेती हैं किन्तु पाताल-लोक निवासिनी होने के कारण पृथ्वी लोक पर स्थित राजा नल का दर्शन नहीं कर पाती हैं। **अफलम्** = निष्फल—अर्थात् निरर्थकता से युक्त। नाग-अङ्गनाओं की आँखे राजा नल के सौन्दर्य आदि गुणों का श्रवण [नेत्रों द्वारा] कर लिये जाने के कारण धन्य हैं तथा वही आँखे राजा नल के दूरस्थ होने के कारण दर्शन प्राप्त न कर सकने से अधन्य भी हैं। **स्तुवन्ति स्म** = प्रशंसा करती थीं। **निन्दन्ति स्म** = निन्दा करती थीं।

प्रसङ्ग— अब इस पृथ्वी-लोक पर स्थित मानवों की स्त्रियों द्वारा राजा नल के सौन्दर्य को देखकर जो काम-विभ्रम उत्पन्न हुआ, उसका वर्णन कहते हैं—

विलोकयन्तीभिरजस्रभावना-
बलादमुं तत्र निमीलनेष्वपि।
अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने न
विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः॥ २९॥

मल्लिनाथकृत-टीका— विलोकयन्तीभिरिति। अजस्रभावनाबलात् निरन्तरध्यानप्रभावात् अमुं नलं तत्र भावनायामिति भावः। निमीलनेषु अपि निमेषावस्थासु अपि विलोकयन्तीभिः उन्मेषावस्थायामिव साक्षात् कुर्वतीभिः मर्त्याभिः मानवीभिः अमुष्य नलस्य दर्शने निमेषनिर्मितः नेत्रनिमीलनजनितः विघ्नलेशोऽपि न अलम्भि न प्राप्तः। 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति मुमागमः। मानव्यः दृष्टिगोचरं दृष्ट्या अदृष्टिगोचरञ्च तं मनसा सततं पश्यन्ति स्मेति भावः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः॥ २९॥

अन्वय— अजस्रभावनाबलात् नेत्र निमीलनेषु अपि विलोकयन्तीभिः मर्त्याभिः अमुष्य दर्शने निमेषनिर्मितः विघ्नलेशः अपि न अलम्भि।

संस्कृत-व्याख्या—अजस्रभावनाबलात् = अजस्रं निरन्तरं या भावना वासना चिन्तनं वा तद् बलात् तत्प्रभावात्-निरन्तरचिन्तनप्रभावात्, नेत्र निमीलनेषु अपि = नेत्राणां निमेषावस्थासु अपि, अमुम् = नलम्, विलोकयन्तीभिः = पश्यन्तीभिः, मर्त्याभिः = मानवीभिः, अमुष्य = नलस्य, दर्शने = अवलोकने, निमेषनिर्मितः = नेत्रनिमीलनोत्पन्नः, विघ्नलेशः अपि = अन्तरायलवः अपि, न अलम्भि = न प्राप्तः। मानव्यः दृष्टिगोचरं तं दृष्ट्या, अदृष्टिगोचरञ्च तं मनसा निरन्तरं अवलोकयन्ति स्म-इत्यभिप्रायः।

हिन्दी अनुवाद—अजस्रभावनाबलात् = निरन्तर (सतत) चिन्तन किये जाने के प्रभाव से, नेत्रनिमीलनेषु अपि = नेत्रों के बन्द होने के समय में भी, अमुम् = उस [राजा नल] को ही, विलोकयन्तीभिः = देखती हुई, मर्त्याभिः = मानवी स्त्रियों ने, अमुष्य = उन (नल) के , दर्शने = दर्शन के सम्बन्ध में, निमेषनिर्मितः = नेत्र के निमिलन [बन्द करने अथवा पलक मारने] के समय विघ्नलेशः अपि = विघ्न का लेशमात्र भी, न अलग्भि = नहीं प्राप्त किया।

भावार्थ—निरन्तर नल की ही चिन्तन किये जाने के कारण इस नल के सतत् देखती हुई [मर्त्यलोकवासिनी] कामिनियाँ अथवा सुन्दरियों ने इस राज नल को देखने के विषय में पलक मारने मात्र तक से उत्पन्न थोड़े विघ्न को भ प्राप्त नहीं किया। अर्थात् पलक मारने के क्षण में भी वे नल का ही निरन्त

चिन्तन किये जाने के कारण मन से राजा नल का दर्शन किया ही करती थीं। देवताओं की पलकें नहीं गिरा करती हैं अर्थात् उनको पलक मारने की आदत नहीं हुआ करती है। किन्तु पृथ्वीलोकवासी मनुष्य एवं स्त्रियों को तो पलक मारने की स्वाभाविक आदत हुआ करती है। अतः उन पलक मारने के क्षणों में स्त्रियों को राजा नल का दर्शन हो सकना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में महाकवि ने यहाँ दर्शाया है कि ये स्त्रियाँ राजा नल का सतत् चिन्तन किया करती थीं। अतएव पलक मारने की अवस्था में भी मन द्वारा राजा नल का दर्शन उनको होता ही था। महाकवि के कहने का अभिप्राय यह है कि मानवी-स्त्रियाँ प्रत्यक्षरूप से देखे जाने योग्य नल का दर्शन तो अपनी दृष्टि से करती ही थीं तथा पलकों के मारने के समय अप्रत्यक्ष रूप से मन के द्वारा दर्शन किया करती थीं।

अलङ्कार— उपर्युक्त पद्य में ''पलकों के मारने के समय भी देखने में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पड़ी''— इस कथन में विरोधाभास अलङ्कार है। अथवा ''नेत्रनिमीलन रूप कारण के विद्यमान होते हुए होने पर भी विघ्नसहित दर्शन रूप कार्य नहीं हो रहा है''— की दृष्टि से विशेषोक्ति अलङ्कार भी है।

व्याकरण—**विलोकयन्ति** = वि + लोक् + णिच् + लट्— शत् + डीप। **अलम्भि** = लभ् + लुङ् लकार (कार्य में)— यहाँ पर '' लभेश्च'' की अनुवृत्ति में ''विभाषाचिणणमुलोः'' से ''मुम्'' का आगम हो जाता है।

समास—**अजस्रभावनाबलात्** = अजस्रं भावना (सुप्सुपा समास) इति अजस्रभावना, तस्याः बलम् इति (षष्ठी तत्पुरुष) अजस्रभावनाबलम् तस्मात्। **नेत्रनिमीलनेषु** = नेत्रयोः निमीलनेषु इति। **निमेषनिर्मितः** = निमेषैः निर्मितः इति (तृतीया तत्पु०) निमेषनिर्मितः।

टिप्पणियाँ—**अजस्रभावनाबलात्** = निरन्तर किये गये चिन्तन के प्रभाव से अथवा राजा नल के चिन्तन में तन्मय होने के कारण, **नेत्रनिमीलनेषु** = [अपने] दोनों नेत्रों के बन्द कर लेने में-- अर्थात् स्वाभाविकरूप में होने वाले पलकों के मारने के समय। **मर्त्याभिः** = मृत्यु लोक में निवास करने वाली

स्त्रियों ने [म्रियन्ते अत्र इति मर्त्तः भूलोकः —तत्र भवाः मर्त्याः ताभिः मर्त्याभिः— इसके आधार पर], **निमेषनिर्मितः** = पलकों के गिरने अथवा मारने से उत्पन्न। **अलम्भि** = नहीं प्राप्त किया।

प्रसङ्ग— पतिव्रता स्त्रियों को छोड़कर शेष सभी प्रकार की स्त्रियों का नल के प्रति अनुराग था—

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं
जगाद् गोत्रस्खलिते च का न तम्?।
तदात्मताध्यातधवा रते च का
चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम्?॥३०॥

मल्लिनाथकृत-टीका— नेति। का नारी निशि रात्रौ तं नलं स्वप्नगतं न ददर्श? सर्वैव ददर्शेत्यर्थः। का च गोत्रस्खलितेषु नामस्खलनेषु तं न जगाद् स्वभर्तृनाम्ना उच्चरितव्ये तन्नाम न उच्चरतिवती अपि तु सर्वैव तथा कृतवत इत्यर्थः। का च रते सुरतव्यापारे तदात्मतया नलात्मतया ध्यातः चिन्तितः धवः भर्त्ता यया तथाभूता 'धवः प्रियः पतिर्भर्त्ते'त्यमरः। स्वस्य आत्मनः मनोभवः कामः तस्य उद्भवः तं वा न चकार? अपि तु सर्वैव तथा चकारेत्यर्थः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः॥३०॥

अन्वय— का निशि तं स्वप्नगतं न ददर्श, का च गोत्रस्खलिते तं न जगाद्। च रते तदात्मताध्यातधवा का वा स्वमनोभवोद्भवं न चकार।

संस्कृत-व्याख्या—का = नारी, निशि = रात्रौ, तम् = नलम्, स्वप्नगतम् = स्वप्नप्राप्तम्, न ददर्श = न अवलोकितवती? सर्वैव ददर्शेत्यर्थः। का च, गोत्रस्खलिते = नामस्खलने, तम् = नलन्, न जगाद् = न उक्तवती? स्वभर्तृवाग्नि उच्चरितव्ये तन्नाम न उच्चरितवती? अपितु सर्वैव तथा कृतवती इत्यर्थः। च रते = च सुरतव्यापारे, तदात्मताध्यातधवा = तदात्मतया ध्यातः चिन्तितः धवः भर्त्ता यया तथाभूता, का वा, स्वमनोभवोद्भवम् = स्वस्य आत्मनः मनोभावः कामः तस्य उद्भवः उत्पत्तिः तम्, न चकार = न कृतवती? अपितु सर्वैव तथा चकारेत्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद—का = किस स्त्री ने, निशि = रात्रि में, तम् = उस राजा नल को, स्वप्नगतम् = स्वप्न में, न ददर्श = नहीं देखा ? [अर्थात् सभी ने स्वप्न में उसे देखा]। का च = किसी स्त्री ने, गोत्रस्खलिते = [अपने पति के रूप में] राजा नल का नाम ले देने में, तम् = उस राजा नल को, न जगाद = नहीं कहा ? [अर्थात् सभी ने कहा]। च = और, रते = संभोग-व्यापार में, तदात्मताध्यातधवा = उस राजा नल के रूप में अपने पति का चिन्तन करने वाली, का वा = किस स्त्री ने, स्वमनोभवोद्भवम् = अपने काम का प्रकाशन, न चकार = नहीं किया ? [अर्थात् सभी ने किया]।

भावार्थ— किस स्त्री ने स्वप्न में राजा नल का साक्षात्कार नहीं किया? अर्थात् सभी मुग्धा नायिकायें स्वप्न में राजा नल को ही देखती थी। किस स्त्री ने राजा नल के प्रति मन में लगे हुए होने के कारण अपने पति को पुकारने के स्थान पर राजा नल का नहीं पुकारा ? अर्थात् सभी मध्या-नायिकाओं ने अपने पति का नाम लेने की इच्छा रहते हुए भी निरन्तर राजा नल की ही ओर चित्त के संलग्न रहने के कारण [पति के नाम के स्थान पर] राजा नल के ही नाम का उच्चारण किया। और नल रूप से पति का ध्यान करने वाली किस स्त्री ने रतिकाल में अपने अन्दर काम की उत्पत्ति नहीं की ? अर्थात् सभी प्रगल्भा अथवा प्रौढ़ा नायिकाओं ने अपने पति को ही नल के रूप में समझते हुए उनके साथ रमण किया। कहने का तात्पर्य यह है कि पतिव्रता स्त्रियों को छोड़कर अन्य सभी प्रकार की मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा अथवा प्रौढ़ा स्त्रियों का राजा नल के प्रति अनन्य प्रेम था।

अलङ्कार— उपर्युक्त पद्य में दर्शन आदि के सम्बन्ध में भी सम्बन्ध का वर्णन किये जाने के कारण ''सम्बन्धातिशयोक्ति'' अलङ्कार है।

व्याकरण—जागाद् = गद् + लिट् तिप् = (णल् -अ)। **रते** = रम + क्त (भाव में) रतम्— सप्तमी एकवचन में। **तदात्मता** = तदात्मन् + तल् +टाप्।

समास—तदात्मताध्यातधवा = तस्य नलस्य आत्मा स्वरूपे यस्य (बहुव्रीहि) तस्य भावः तदात्मता, तया ध्यातः धवः पति यया सा (बहुव्रीहि

समास)। **स्वमनोभवोद्भवम्** = स्वस्य मनोभवः कामः तस्य उद्भवः, तम् (षष्ठी तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—स्वप्नगतं न ददर्श = स्वप्नावस्था में प्रत्यक्ष रूप से नहीं देखा अथवा साक्षात्कार किया। **गोत्रस्खलिते** = गोत्र अर्थात् नाम ("नाम गोत्रं कुलं गोत्रं गोत्रस्तु धरणीधरः" इति यादवप्रकाशः) का उच्चारण करने में की गयी त्रुटि में। स्त्रियों के मन में राजा नल बसे हुए थे—अतएव अपने पति का नाम उच्चारण करते समय वे त्रुटिवश राजा नल का ही नाम ले लिया करती थीं। **जगाद्** = कहा, उच्चारण किया। **रते** = रति काल में, संभोग के समय अथवा सुरत-व्यापार में। **तदात्मताध्यातधवा** = उस (राजा नल) रूप से पति का चिन्तन किया है जिसने ऐसी। अर्थात् स्त्रियाँ अपने पति के साथ रमण करते समय अपने पति को ही नल के रूप में देखा करती थीं अर्थात् उन्हीं को राजा नल समझ कर उनके साथ रमण किया करती थीं। उनकी इतनी अधिक आत्मीयता राजा नल के साथ थीं [धवः = पति—"धवः प्रियः पतिर्भर्त्ता" इत्यमरः] **स्वमनोभवोद्भवम्** = अपने मनोभाव अर्थात् काम का प्रकाशन (प्रकट किया जाना)।

प्रसङ्ग— दमयन्ती को छोड़कर अन्य कोई भी स्त्री राजा नल को अपने पति के रूप में वरण करने योग्य नहीं थीं—

श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः॥३१॥

मल्लिनाथकृत-टीका— श्रियेति। तं नलम् आलोक्य दृष्ट्वा श्रिया सौन्दर्य्येण अहमस्य नलस्य योग्यानुरूपा इति धियेति शेषः स्वम् आत्मानं स्वावयवमित्यर्थः ईक्षितुं द्रष्टुं करे धृतः गृहीतः दर्पणः भैमीं भीमनन्दिनीं दमयन्तीमित्यर्थः। विहाय विनेत्यर्थः। कया सुरूपया शोभनरूपवती अहमित्यभिमानवत्या नार्य्या अपदर्पया सत्या श्वासेन दुःखनिश्वासेन मलीमसः मलदूषितः 'मलीमसन्तु मलिनं कच्चरं मलदूषितमि'त्यमरः। न कृतः ? अपि तु

सर्वथैव कृत इत्यर्थः। सौन्दर्य्यगर्विताः सर्वा एव भैमीव्यतिरिक्ताः कामिन्यः तमवलोक्य अहमेवास्य सदृशीत्यभिमानात् करधृतदर्पणे आत्मानं निर्वर्ण्य नाहमस्य योग्येति निश्चयेन विषण्णाः कटुष्णनिश्वासेन तं दर्पणं मलिनयन्ति स्मेति निष्कर्षः॥ ३१॥

अन्वय— तम् आलोक्य श्रिया अहं योग्या इति स्वं ईक्षितुं करे धृतः दर्पणः भैमीं विहाय कया सुरूपया अपदर्पया श्वासमलीमसः न कृतः।

संस्कृत-व्याख्या—तम् = नलम्, आलोक्य = दृष्ट्वा, श्रिया = सौन्दर्येण, अस्य = नलस्य, योग्या = अनुरूपा, इति, स्वम् = आत्मनम्, ईक्षितुम् = द्रष्टुम्, करे= हस्ते, धृतः= गृहीतः, दर्पणः = आदर्शः, भैमीम् = भीमनन्दिनीम् -दमयन्तीम् -इत्यर्थः, विहाय= त्यक्त्वा, कया, सुरूपया= सुन्दर्या नार्या-शोभनरूपवती अहमित्यभिमानवत्या नार्या वा, अपदर्पया= अभिमानशून्यया (सत्या), श्वासमलीमसः= श्वासेन दुःखपूर्णमुखवायुना मलीमसः मलिनः न कृतः= न विहित? अपितु सर्वथा एव कृतः इत्यर्थः। स्वस्वसौन्दर्यगर्विताः दमयन्तीविरहितः सर्वा एव कामिन्यः तं नलमवलोक्य अहमेवास्य योग्यां इति अभिमानात् करधृतदर्पणे आत्मानं विलोक्य नाहमस्य योग्या— इति निश्चयेन दुःखिताः सत्यः कटुष्णनिश्वासेन तं दर्पणं मलिनयन्ति स्म— इत्यभिप्रायः।

हिन्दी अनुवाद—तम् = उस (नल) को, आलोक्य = देखकर, श्रिया = सौन्दर्य की दृष्टि से, अहम् = मैं, अस्य = इस राजा नल के, योग्या = योग्य हूँ, इति = इस प्रकार से, स्वम् = अपने आपको, ईक्षितुम् = देखने के लिये, करे = हाथ में, धृतः = लिये हुए, दर्पणः = शीशे को, भैमीम् = राजा भीम की पुत्री दमयन्ती को, विहाय = छोड़कर, कया, सुरूपया = सुन्दर स्त्री ने, अपदर्पया = अभिमान रहित होकर, श्वासमलीमसः = [अपनी] श्वासवायु को मलिन, न कृतः= नहीं किया?

भावार्थ— अपने सौन्दर्य के अभिमान में चूर स्त्रियाँ राजा नल के चित्र को देखकर '' मैं भी इनके योग्य सुन्दरी हूँ, ऐसा निश्चय कर शीशे को हाथ में ले लेती थीं और जब उसमें अपने सौन्दर्य का निरीक्षण करती थीं तो राजा नल

के सौन्दर्य की अपेक्षा अपने सौन्दर्य को तुच्छ पाती थीं और उनका अभिमान नष्ट हो जाता था तथा वे समझ लेती थीं कि मैं राजा नल के योग्य नहीं हूँ'' ऐसी स्थिति में वे दुःखपूर्ण गहरा-श्वास छोड़ती थीं जिससे दर्पण (शीशा) भी मलिन हो जाता था। केवल दमयन्ती ही इस प्रकार की थी कि जो अपने आपको राजा नल के अनुरूप पाती थी।

व्याकरण– विहाय= वि + हा + ल्यप्। **धृतः** = धृ + क्त।

समास–**सुरूपया** = सुष्ठु रूपं यस्याः सा सुरूपा (प्रा० बहुव्रीहि) तया। **अपदर्पया** = अपगतः दर्पः यस्याः सा अपदर्पा (प्रा० बहुव्रीहि) तया। **श्वासमलीमसः** = श्वासेन मलीमसः इति।

टिप्पणियाँ–**श्रिया** = शोभा अथवा सौन्दर्य से। **स्वम्** = अपने आप को। **ईक्षितुम्** = देखने के लिये। **धृतः** = धारण किया हुआ-हाथ में लिया गया हुआ। **सुरूपया** = सुन्दररूप को धारण करने वाली–सुन्दर स्त्री। **अपदर्पया** = दूर हो गया है अभिमान जिसका ऐसी। शीशे में अपना सौन्दर्य देखने के पश्चात् जिसका अपना सौन्दर्य सम्बन्धी गर्व नष्ट हो गया था ऐसी स्त्री के द्वारा। **श्वासमलीमसः** = श्वासों अथवा आहों से मैला अथवा दूषित-गन्दा [**''मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्''**– इत्यमरः]।

प्रसङ्ग– दमयन्ती के मन में राजा नल के प्रति स्नेह उत्पन्न कराया गया और इसके निमित्त काम को दमयन्ती के मन में बलपूर्वक प्रविष्ट कराया गया–

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम्।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसैव वेशितः॥३२॥

मल्लिनाथकृत-टीका–एवमस्यालौकिकसौन्दर्यद्योतनाथ स्त्रीमात्रस्य तदनुरागमुक्त्वा सम्प्रति दमयन्त्यास्तत्रानुरागं प्रस्तौति =यथेति। मदनः कामः प्रद्युम्न इति यावत् भोगभोजिना सर्पशरीराशिना वयसा पक्षिणा गरुड़ेनेत्यर्थः। उह्यमानः नीयमानः, वहेः कर्मणि यति सम्प्रसारणे पूर्वरूपम्। अनलावरुद्धम् अग्निपरिवेष्टितं विरोचनस्य अपत्यं पुमान् वैचोचनिः बलिः तज्जस्य तत्पुत्रस्य

बाणासुरस्येत्यर्थः। पत्तनं शोणितपुरमिति यावत्। प्रसह्य सहसा यथा वेशितः खलु प्रवेशित एव, ' तत्तो गरुड़मारुह्य स्मृतमात्रागतं हरिः'। उषाहरणे विष्णुपुराणात्। तथा नलावरुद्धं नलासक्तं विदर्भजायाः दमयन्त्याः मनः भोगभोजिना सुखभोगासक्तेनेत्यर्थः, वयसा यौवनेन उह्यमानः परैस्तर्क्यमाणः ऊहेर्वितर्कार्थात् कर्मणि यक्। वेशितः प्रवेशितः। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोरि'त्यमरः। पुरा उषानाम्नी बाणदुहिता स्वप्ने प्रद्युम्नपुत्रमनिरुद्धं दृष्ट्वा सुप्तप्रतिबुद्धा सहचरीं चित्रलेखामवदत्। सा च योगवलेन तस्यामेव रात्रौ द्वारकाया प्रसुप्तमनिरुद्धं विहायसा समानीय तथा समगमयत्। कालेन नारदमुखात् तदाकर्ण्य कृष्णः प्रद्युम्नबलरामाभ्यां बहुभिर्वलैश्च गत्वा बाणनगरमरौत्सीदिति कथा अत्रानुसन्धेया। अत्र यथोह्यमानो नलावरुद्धमिति शब्दश्लेषः। तदनुप्राणिता उपमा च सा च वयसेति वयसोरभेदाध्य-वसानमूलाति-शयोक्तिमूला चेत्येषां सङ्करः॥ ३२॥

अन्वय— यथा भोगभोजिना वयसा एव उह्यमानः मदनः वैरोचनिजस्य अनलावरुद्धं पत्तनं प्रसह्य वेशितः खलु तथा [भोगभोजिना वयसा एव उह्यमानः मदनः] विदर्भजायाः [नलावरुद्धम्] मनः [प्रसह्य वेशितः]।

संस्कृत-व्याख्या--यथा = येन प्रकारेण खलु, भोगभोजिना = भोगं सर्पशरीरं भुङ्क्ते एवंशीलः तेन-- सर्पशरीराशिनः--इत्यर्थः, वयसा= गरुडेनेत्यर्थः, एव, उह्यमानः = नीयमानः = प्रद्युम्नः, वैरोचनिजस्य = विरोचस्य अपत्यं पुमान् वैरोचनिः बलिः तज्जस्य तत्पुत्रस्य-वाणासुरस्य इत्यर्थः, अनलाव रुद्धम् = अनलेन अग्निना अवरुद्धं समन्ततो व्याप्तम्, पत्तनम् = नगरम्, प्रसह्य = बलात्कारेण, वेशितः खलु =प्रवेशित एव; तथा = तेनैव प्रकारेण, [भोगभोजिना =भोगं सुखं भुङ्क्ते भोजयति वा तच्छीलेन, सुखभोगासक्तेन-इत्यर्थः, वयसा एव = यौवनेन एव, उह्यमानः=परैः तर्क्यमाणः, मदनः = कामः विदर्भजायाः= दमयन्त्याः] [नलावरुद्धम् = नलासक्तम्] मनः = हृदयम्, [प्रसह्य = सहसा, वेशितः= प्रवेशितः]।

हिन्दी अनुवाद—यथा = जिस प्रकार, खलु = निश्चितरूप से, भोगभोजिना = सर्पभक्षी, वयसा एव = पक्षी गरुड़ के द्वारा ही, उह्यमान: = ले जाया जाता हुआ, मदन: = प्रद्युम्न, वैरोचनिजस्य = बाणासुर के, अनलावरुद्धम् = अग्नि से घिरे हुए, पत्तनम् = नगर [शोणितपुर] में, प्रसह्य = जबरदस्ती अथवा बलपूर्वक, वेशित: एव = प्रविष्ट कराया गया था, तथा = उसी प्रकार से, [भोगभोजिना = विषयों का भोग कराने वाली, वयसा एव = युवावस्था के द्वारा ही, उह्यमान: = प्राप्त हुआ, मदन: = कामदेव] मन: = मन अथवा हृदय में [प्रसह्य = सहसा, वेशित: = प्रविष्ट कराया गया]।

भावार्थ— जिस भाँति प्रद्युम्न गरुड़ की सहायता से बाणसुर के अग्नि से व्याप्त नगर [शोणितपुर] में प्रविष्ट हो गया था; उस भाँति कामदेव भी युवावस्था की सहायता से दमयन्ती के नल में आसक्त मन में प्रविष्ट हुआ।

इस सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा है और वह इस प्रकार है—

बाणासुर की पुत्री उषा ने (श्रीकृष्ण के पौत्र एवं) प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध को देखा ओर जब वह सोकर उठी तो उसने अपने इस स्वप्न का वर्णन अपनी सखी चित्रलेखा को बतलाया। चित्रलेखा योगिनी थी। अत: उसने योगबल द्वारा द्वारिकापुरी में जाकर सोते हुए अनिरुद्ध को लाकर उषा के साथ उसका संगम करा दिया। जब बाणासुर को इस बात का पता लगा तो वह अत्यधिक क्रुद्ध हुआ और उसने अनिरुद्ध को बाँधकर डाल दिया। नारद द्वारा यह वृत्तान्त श्रीकृष्ण को ज्ञात हुआ। श्रीकृष्ण बलराम तथा प्रद्युम्न के साथ गरुड़ पर चढ़कर बाणासुर के नगर शोणितपुर में, जो कि चारों ओर से प्रज्वलित अग्नि से घिरा हुआ था, पहुँचे। युद्ध में बाणासुर को परास्त कर श्रीकृष्ण ने अनिरुद्ध का उद्धार किया— ''ततो गरुड़मारुह्य स्मृतमात्रगते हरि:। बलप्रद्युम्नसहितौ बाणस्य प्रययौ पुरीम्''[विष्णुपुराण उषाहरण]।

अलङ्कार— उपर्युक्त पद्य में श्लेष अलङ्कार है। '' भोगभोजिना'' '' मदन:'' यथा ''वयसा'' शब्दों में ''अभयश्लेष'' है। ''यथोह्यमान:'' और ''मनोनलावरूद्धम्'' पदों में क्रमश: ''यथा+ उह्यमान:'' तथा '' यथा +

उह्यमानः'' और '' मनः अनलावरुद्धम्'' तथा ' मनःनलावरुद्धम्' दो दो प्रकार का पदच्छेद करने से ''सभङ्गश्लेष'' बनता है।

व्याकरण—भोगभोजिना = भोग + भुज् + णिनि (कर्त्ता में)। **उह्यमानः** = (प्रद्युम्न पक्ष में) वह् + लट् (कर्मणि) + यक् + शानच्। **ऊह्यमानः** = (कामदेव के पक्ष में) ऊह् + लट् (कर्मणि) + यक् + शानच्। **वैरोचनिः** = विरोचन + इञ्। **वैरोचनिजस्य** = वैरोचनि +जन् + ड (षष्ठी एकवचन)। **वेशितः** = विश् + णिच् + क्त। **विदर्भजायाः** = विदर्भ + जन् + ड+ टाप् (षष्ठी-एकवचन)।

समास—भोगभोजिना = भोगंभोक्तुं शीलमस्य इति भोगभोजी, तेन। अथवा भोगान् भोक्तुं शीलमस्य इति भोगभागी तेन। **वैरोचनिजस्य** = विरोचनस्य अपत्यं वैरोचनिः, तस्माज्जातः इति वैरोचनिजः, तस्य। **अनलावरुद्धम्** = अनलेन अवरुद्धं इति (तृतीय तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—भोगभोजिना = [गरुड़ के पक्ष में] सर्पभक्षी अथवा साँप के शरीर को खाने वाले। [युवावस्था के पक्ष में—] विषय-सुखों को भोगने वाले अथवा भोगवाने वाले [भागेः सुखे स्त्र्यादि भूतावहेश्च फणकाययोः— इत्यमरः]। **वयसा** = पक्षी [गरुड़] के द्वारा। [युवावस्था के पक्ष में] यौवन अथवा युवावस्था के द्वारा [खगबाल्यादिनोर्वयः— इत्यमरः] **उह्यमानः** = [प्रद्युम्न पक्ष में]— ढोये जाते हुए अथवा ले जाये जाते हुए। [कामदेव के पक्ष में] — ऊह्यमानः = जाना जाता हुआ। **मदनः** = कामदेव का अवतार प्रद्युम्न—(कृष्ण का पुत्र), अथवा कामदेव। **वैरोचनिजस्य** = बाणासुर के। विरोचन के पुत्र का नाम बलि था। उस बलि से उत्पन्न बाणासुर। **अनलावरुद्धम्** = अग्नि से व्याप्त अर्थात् जिसके चारों ओर अग्नि प्रज्वलित थी। [दमयन्ती के मन के पक्ष में—] **नलावरुद्धम्**—पाठ मानकर—अर्थ होगा—नल में संबद्ध अथवा नल में आसक्त अथवा नल की ओर लगा हुआ। **पत्तनम्** = नगर-शोणितपुर। **प्रसह्य** = बलपूर्वक (जबरदस्ती) अथवा सहसा (एकाएक)। **वेशितः** = प्रविष्ट कराया गया।

प्रसङ्ग— राजा भीम की पुत्री दमयन्ती ने अपने काम के वशीभूत मन को राजा नल के प्रति पूर्णरूप से लगा लिया-

नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन् बहुशः श्रुतिं गते।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः॥३३॥

मल्लिनाथकृत-टीका— इह विरहिणां चक्षुःप्रीत्यादयो दशावस्थाः सन्ति, तत्र चक्षुःप्रीतिः श्रवणानुरागस्याप्युपलक्षणमतस्तत्पूर्विकां मनःसङ्गाख्यां द्वितीयाव-स्थामाह— नृप इत्यादि। सा भीमनरेन्द्रनन्दना दमयन्ती नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः। निजरूपसम्पदां स्वलावण्यसम्पत्तीनामनुरूपे बहुशः 'बह्वल्पार्थाच्छस्कारका-दन्यतरस्यामि'त्यपादानार्थे शस्प्रत्यः। श्रुतिं श्रवणं गते एतेन श्रवणानुराग उक्तः, तस्मिन् नृपे नले मनोभवाज्ञाया एकं वशंवदम् एकस्यैव विधेये शिवभागवतवत् समासः। 'प्रियवशे वदः खच्' 'अरुर्द्विषदि' त्यादिना तस्य मुम्। मनो विशिष्य दिदेश अस्येदमिति निश्चित्यातिससर्जेत्यर्थः, तद्गुणश्रवणात्तदासक्तचित्तासीदित्यर्थः॥३३॥

अन्वय— सा भीमनरेन्द्रनन्दना निजरूपसम्पदां अनुरूपे बहुशः श्रुतिं गते तस्मिन् नृपे मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः विशिष्य दिदेश ।

संस्कृत-व्याख्या—सा = प्रसिद्धा, भीमनरेन्द्रनन्दना = दमयन्ती, निजरूपसम्पदाम् = स्वसौन्दर्यसम्पत्तीनाम्, अनुरूपे = योग्ये, बहुशः = अनेकेभ्यः, श्रुतिम् = श्रवणम्, गते = प्राप्ते, तस्मिन्, नृपे = नले, मनोभवाज्ञैक-वशंवदम् = मनोभवश्य कामस्य आज्ञायाः आदेशस्य एकं मुख्यं वशंवदम् = प्रवणम्, मनः = चित्तम्, विशिष्य= अतिशयेन, दिदेश = निदधौ। नलगुणश्रवणात् नलासक्त-चित्तासीदित्यभिप्रायः।

हिन्दी अनुवाद—सा = वह (उस), भीमनरेन्द्रनन्दना = राजा भीम की पुत्री दमयन्ती ने, निजरूपसम्पदाम् = अपने सौन्दर्य या शोभा के, अनुरूपे = अनुरूप अथवा योग्य, तथा, बहुशः = अनेक व्यक्तियां से अथवा अनेक बार, श्रुतिं गते = सुने गये हुए, तस्मिन् नृपे = उस राजा नल के प्रति,

मनोभवाज्ञैकवशंवदम् = कामदेव की आज्ञा के एकमात्र वशीभूत, मनः = मन को, विशिष्य = अतिशय रूप से, दिदेश = लगा दिया।

भावार्थ—राजा भीम की पुत्री दमयन्ती ने चारण-बन्दी आदि जनों के मुखों से अनेक बार राजा नल के गुणों तथा प्रशंसा आदि को सुना था और तदनुसार यह समझ लिया था कि राजा नल सौन्दर्य आदि की दृष्टि से उस के पति के रूप में स्वीकार किये जाने योग्य हैं। अतः उसने अपने काम के वशीभूत हुए मन को राजा नल की ओर लगा दिया था। कहने का तात्पर्य यह है कामदेव ने जब यह देखा कि राजा नल दमयन्ती के लिये सुयोग्य वर है तो उसने दमयन्ती के मन पर अपना प्रभाव डाला और उसके मन को अपने अधीन कर लिया। दमयन्ती तो पहले से ही राजा नल की ओर आसक्त थी ही। अतएव कामदेव के प्रभाव के कारण उसका मन राजा नल से मिलने हेतु प्रतिक्षण और भी उद्विग्न हो उठा।

अलङ्कार— इस पद्य में "अनुप्रास" अलङ्कार है।

व्याकरण—नन्दना = नन्द + णिच् + ल्यु (नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः— इस सूत्र से), + टाप्। **बहुशः** = बहु +शस्— यहाँ "बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्" से अपादान अर्थ में। तथा ("अनेकबार"—अर्थ की दृष्टि से—) "संख्यैकवचनात्" से "शस्" प्रत्यय होता है। **श्रुतिम्** = श्रु + क्तिन्। **वशंवदम्** = वश (उपपद) + वद् + खच्— यहाँ "प्रियवशे वदः खच्" से 'खच्' प्रत्यय तथा "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" से मुम् का आगम होता है। **दिदेश** = दिश् + लिट् (तिप्)— णल्।

समास—भीमनरेन्द्रनन्दना = भीम एव नरेन्द्रः भीमनरेन्द्रः (कर्मधारय) तस्य नन्दना (षष्ठी तत्पु)। **निजरूपसम्पदाम्** = निजं रूपम् निजरूपम् (कर्मधारय) तस्य सम्पदः (षष्ठी तत्पु०) तासाम्। **अनुरूपे** = रूपं अनुगतः अनुरूपः तस्मिन्। **श्रुतिम्** = श्रूयते अनया इति श्रुतिः ताम्। **मनोभवाज्ञैकवशंवदम्** = मनसः मनसि वा भवतीति अथवा मनसः भवः उत्पत्तिर्यस्य स मनोभवः (बहुव्रीहि) तस्य आज्ञा (तत्पु०)। वंशवदतीति

वशंवदम्, एकं वशंवदम्, इति एकवशंवदम् (कर्मधारय) मनोभवाज्ञाया: एकवशंवदम् — मनोभावाज्ञैकवशंवदम् (षष्ठी तत्पु०)।

टिप्पणियाँ—भीमनरेन्द्रनन्दना = राजा भीम की पुत्री— दमयन्ती। **निजरूपसम्पदाम्** = अपने रूपरूपी सम्पत्तियों के अर्थात् अपने सौन्दर्य के। **अनुरूपे** = अनुरूप, योग्य। **बहुश:** = अनेक व्यक्तियों से [चारण, बन्दी आदि जनों से] **अथवा**— अनेक बार। **श्रुतिं गते** = श्रवणोचर हुए अथवा सुने गये हुए। **मनोभवाज्ञैकवशंवदम्** = कामदेव की आज्ञा के वश में विद्यमान—अर्थात् जिसका मन कामदेव की आज्ञा पर ही आधारित हो गया था। **विशिष्य** = विशेषरूप से। **दिदेश** = लगा दिया, प्रेरित किया।

प्रसङ्ग— जब स्तुतिपाठकर्त्ता चारण आदि भीम के समीप आते थे तब दमयन्ती भी अपने पिता के पास आकर बैठ जाती थी और जब वे अन्य राजाओं का गुणगान करते हुए राजा नल का भी यशोगान करना प्रारम्भ करते थे तो दमयन्ती अति हर्षित होती थी और उसे रोमाञ्च भी हो जाता था—

उपासनामेत्य पितुस्स्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु वन्दिनाम्।
पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाजनि शृण्वती नलम्॥ ३४॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अथास्या: श्रवणानुरागमेव चतुर्भिर्वर्णयति— उपासनामित्यादि। सा भैमी दिने दिने प्रतिदिनं 'नित्यकीप्सयोरि'ति वीप्यासां द्विर्भाव:। वन्दिनां स्तुतिपाठकानामवसरेषु पितुरुपासनां सेवामेत्य प्राप्य तेषु वन्दिषु भूपतीन् प्रति भूपतीनुद्दिश्य पठत्सु सत्स्विति शेष:। नलं शृण्वती अलं रज्यते स्म रक्ताऽभूदित्यर्थ:। रञ्जेर्दैवादिकाल्लट्। अतएव विनिद्ररोमा रोमाञ्चिता अजनीति सात्त्विकोक्ति:। जने: कर्त्तरि लुङ् 'दीपजने'त्यादिना च्लेश्चिणादेश:। नलगुणश्रवणजन्यो रागस्तस्य रोमाञ्चेन व्यक्तोऽभूदिति भाव:॥ ३४॥

अन्वय— सा दिने दिने वन्दिनां अवसरेषु पितु: उपासनां एत्य तेषु भूपतीन् प्रति पठत्सु नलं शृण्वती अलं रज्यते स्म, विनिद्ररोमा अजनि।

संस्कृत-व्याख्या—सा = दमयन्ती, दिने दिने = प्रतिदिनम्, वन्दिनाम् =

स्तुतिपाठकानाम्, अवसरेषु = समयेषु, पितुः = भीमस्य, उपासनाम् = सेवाम्, एत्य = प्राप्य, तेषु = वन्दिषु, भूपतीन् = राज्ञः, प्रति= उद्दिश्य, पठत्सु = स्तुतिपूर्वकं वदत्सु सत्सु, नलम्= निषधपतिम्, शृण्वती = आकर्णयन्ती, अलम् = अत्यर्थम्, रज्यते स्म = अनुरक्ता बभूव: विनिद्ररोमा = रोमाञ्चिता, अजनि = जाता। तस्याः रोमाञ्चेन नलगुणश्रवणजायः रागः व्यक्तः अभूदिति भावः।

हिन्दी व्याख्या—सा = वह [दमयन्ती], दिने दिने = प्रतिदिन, वन्दिनाम् = वन्दियों के (राजाओं की प्रशंसा करने के), अवसरेषु = अवसरों पर, पितुः = अपने पिता भीम के, उपासनाम् = समीप, एत्य = आकर, तेषु = उन [वन्दियों] के, भूपतीन् प्रति = राजाओं के विषय में, पठत्सु = गुणगान [प्रशंसा आदि] करने पर, नलम् = राजा नल के बारे में, शृण्वती = सुनती हुई, अलम् = पूर्णरूप से [पर्याप्त रूप से], रज्यते स्म = प्रसन्न होती थी, तथा, विनिद्ररोमा = रोमाञ्चयुक्त, अजनि = हो जाती थी। अर्थात् राजा नल के गुण और उनकी प्रशंसा सुनकर राजा नल के प्रति विद्यमान उसका प्रेम उसके शरीर में उत्पन्न हुए रोमाञ्च द्वारा स्पष्ट हो जाया करता था।

भावार्थ—राजा भी के समीप जब भाट-चारण आदि वन्दीगण आकर उपस्थित हुआ करते थे तो वह दमयन्ती भी अपने पिता के समीप आकर बैठ जाया करती थी और जब वे वन्दीगण अन्य राजाओं का गुणगान आदि किया करते थे तो उस समय वह नल सम्बन्धी गुणों का वर्णन ध्यानपूर्वक सुना करती थी तथा मन ही मन अत्यधिक हर्षित होती थी। यहाँ तक कि हर्षाधिक्य के कारण उसका शरीर रोमाञ्चयुक्त हो जाता था।

कहने का तात्पर्य यह है कि दमयन्ती के अन्दर नल-विषयक श्रवणानुराग नामक सात्विक भाव जाग्रत हो जाता था।

अलङ्कार— उक्त पद्य में राजा नल के बारे में श्रवण करने में अनुराग और तदनन्तर सात्विक-भाव के उदित होने में ''भावोदय'' नामक अलङ्कार है।

व्याकरण—**दिने दिने** = इस स्थल पर ''नित्यवीप्सयोः'' सूत्र से वीप्सा अर्थ में द्वित्व हुआ है। **उपासनाम्** = उप + आस् + ''ण्यासश्रन्थो युच्'' से

युच् और तदनन्तर यु के स्थान पर अन हुआ है। **एत्य** = आ+ इ + क्त्वा—ल्यप्। **रज्यते स्म** = रञ्ज्, + लट्—यहाँ भूत-अर्थ में "स्मे लट्" से लट् लकार हुआ है। **अजनि** = जन् (दिवादिगणी) + लुङ् लकार [प्रथम पुरुष एकवचन का रूप]।

समास— विनिद्ररोमा = विनिद्राणि रोमाणि यस्याः सा (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—दिने दिने = प्रतिदिन। **वन्दिनाम्** = स्तुति पाठ करने वाले अथवा विरुदावली का गान करने वाले भाट-चारण आदि के। **अवसरेषु** = अवसरों अथवा समयों पर—अर्थात् विभिन्न राजाओं के गुण-गान के अवसरों पर। **उपासनाम्** = समीपता को। **एत्य** = प्राप्त करके। **पठत्सु** = पाठ करते हुए अथवा पढ़ते हुए होने पर—गुणगान करते हुए होने पर। **रज्यते स्म** = अनुराग युक्त हो जाती थी अर्थात् दमयन्ती का हृदय राजा नल के प्रति उत्पन्न हुए अनुराग से परिपूर्ण हो जाता था। **अलम्** = पर्याप्त रूप से अथवा अत्यधिक रूप से। **विनिद्ररोमा** = पुलकायमान शरीर से युक्त अथवा रोमाञ्चित। **अजनि** = हो जाती थी।

प्रसङ्ग— परस्पर वार्त्तालाप के प्रसङ्ग में सखी के मुख से 'नल' नामक घास का भी नाम सुन लेने पर वह (दमयन्ती) तुरन्त ही अपने कानों को उस ओर लगा देती थी—

कथाप्रसङ्गेषु मिथस्सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया॥ ३५॥

मल्लिनाथकृत-टीका— कथेति। मिथोऽन्योन्यं रहसि कथाप्रसङ्गेषु विस्रम्भगोष्ठीप्रसङ्गेषु सखीमुखान्नलनामनि नलाख्ये तृणे श्रुते सित 'नलः पोटगले रात्री'ति विश्वः। अनया तन्व्या दमयन्त्या द्रुतमन्यत् कार्य्यान्तरं विधूय निराकृत्य मुदा हर्षेण तदाकर्णने नलशब्दाकर्णने सज्जकर्णया दत्तकर्णया अभूयत अभावि। 'भुवो भावे' लङ्। अर्थान्तरप्रयुक्तोऽपि नलशब्दो नृपस्मारकतया तदाकर्षकोऽभूदिति रागातिशयोक्तिः॥ ३५॥

अन्वय— कथाप्रसङ्गेषु सखीमुखात् नलनामनि तृणे अपि अनया तन्व्या द्रुतं अन्यत् विधूय मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया अभूयत।

संस्कृत-व्याख्या— मिथः = परस्परम्, कथाप्रसङ्गेषु = विस्रम्भगोष्ठी प्रसङ्गेषु, सखीमुखात् = सख्याः वयस्यायाः मुखात् आननात्, नलनामनि = नलाख्ये, तृणे अपि = तृणविशेषेऽपि, श्रेतु= आकर्णिते, सति, अनया तन्व्या= दमयन्त्या, द्रुतम् = शीघ्रमेव, अन्यत् = इतरत् कार्यं, विधूय= त्यक्त्वा, मुदा = हर्षेण, तदाकर्णनसज्जकर्णया = तस्य नलशब्दस्य आकर्णने श्रवणे सज्जकर्णया दत्तकर्णया, अभूयत = अभावि। अर्थान्तरप्रयुक्तः अपि नलशब्दः राज्ञः नलस्य स्मारकतया तदाकर्षकोऽभूदिति भावः।

हिन्दी अनुवाद—मिथः = परस्पर, कथाप्रसङ्गेषु = वार्त्तालाप के प्रसङ्ग में, सखीमुखात् = सखी के मुख से, नलनामनि = 'नल' नामक [नरसल], तृणे = घास के विषय में, अपि = भी, श्रुते = सुन लेने पर, अनया तन्व्या = यह कोमल अङ्गों वाली दमयन्ती। द्रुतम् = तुरन्त, अन्यत् = दूसरी बात अथवा दूसरे कार्य का, विधूय = छोड़कर, मुदा = हर्ष से, तदाकर्णनसज्जकर्णया = उसको ही सुनने के लिये उद्यत कानों वाली, अभूयत = हो जाती थी।

भावार्थ— आपस में वार्त्तालाप के अवसरों पर अपनी सखी के मुख से तृण (नरसल नामक घास) के बारे में भी 'नल' नाम सुनकर कृशाङ्गी दयमन्ती तुरन्त ही अन्य बातचीत अथवा कार्य छोड़कर [''मेरी यह सखी मेरे प्रियतम 'नल' की चर्चा कर रही है'' ऐसा समझकर] उस बात को सुनने में ही दत्तचित्त हो जाती थी।

यदि कभी वार्त्तालाप करती हुई दमयन्ती की सखियाँ प्रसङ्गवश 'नल' नामक घास का नाम भी ले लेती थीं तो दमयन्ती, यह समझ कर कि ये राजा नल के बारे में कुछ कह रही हैं, सब कार्यों का त्याग कर उनकी बातों की ही ओर अपने कानों को लगा दिया करती थी।

इस वर्णन से दमयन्ती का नल के प्रति अनन्य प्रेम ही अभिव्यक्त होता है।

अलङ्कार— इसमें 'अतिशयोक्ति' नामक अलङ्कार है।

व्याकरण—तन्व्या = तनु + ङीष् = तन्वी (तृतीया एकवचन में तन्व्या) **प्रभूयत्** = भू + लङ् (भाव में) प्रथम पुरुष-एकवचन का रूप।

समास—कथाप्रसङ्गेषु = कथायाः प्रसङ्ग इति कथाप्रसङ्गः तेषु। **सखीमुखात्** = सख्याः मुखात् इति। **तदाकर्णनसज्जकर्णया** = तस्य आकर्णनम् (षष्ठी तत्पु) इति तदाकर्णनम् तस्मिन् सज्जौ कर्णौ यस्याः सा तदाकर्णनसज्जकर्णा (बहुव्रीहि) तया।

टिप्पणियाँ—मिथः = परस्पर, आपस में अथवा एकान्त में। **कथाप्रसङ्गेषु** = कथा अथवा बातचीत के प्रसङ्ग में। यहाँ "कथानुषंगेषु" पाठभेद भी है। **नलनामनि** = नल नामक नरसल या नरकट नामक। **तृणे** = घास का नाम लेने पर। **द्रुतम्** = शीघ्र ही तत्काल ही तुरन्त ही। **विधूय** = छोड़कर अथवा त्यागकर। **मुदा** = हर्ष से, प्रसन्नता से—"मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षप्रमोदामोदसम्मदाः" इत्यमरः। **तदाकर्णनसज्जकर्णया** = 'नल' शब्द के श्रवण करने में लगा दिया है अपने कानों को जिसने—ऐसा (दमयन्ती)। **अभूयत** = हो जाती थी।

प्रसङ्ग— सौन्दर्य में उसकी सखियों मृत-कामदेव के स्थान पर उपमान के रूप में राजा नल का ही नाम प्रस्तुत किया करती थीं—

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद् बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा।

जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत्॥३६॥

मल्लिनाथकृत-टीका—स्मरादिति। परासोर्मृतात् अत एवानिमेषलोचोनान्निश्चालाक्षाद्देवादिति च गम्यते। उभयथापि भयहेतूक्तिः तस्माद्बिभेमीति तद्भिन्नं ततोऽन्यमुदाहरेति तत्सदृशं निदर्शयेत्याह सा दमयन्ती यूनः स्तुवता जनेन प्रयोगकर्त्रा तदास्पदे स्मरस्थाने निदर्शनं दृष्टान्तं नैषधं निषधानां राजानं नलं 'जनपदशब्दत्क्षत्रियादञ्'। अभ्यषेचयत् स्मरस्य स्थाने तत्सदृश एवाभिषेक्तुं युक्तः। स च नलादन्यो नास्तीति तस्मिन् नल उदाहृतेऽनुतर्षं शृणोतीति रागानिरेकोक्तिः। 'उपसर्गात् सुनोती'त्यादिना अड्व्यवायेऽपि षत्वम्।

अन्वय– परासो: अनिमेषलोचनात् स्मरात् बिभेमि। "तत् भिन्नं उदाहर" इति सा यून: स्तुवता जनेन तदास्पदे नैषधं निदर्शनं अभ्यषेचयत्।

संस्कृत-व्याख्या–परासो: = मृतात्, अनिमेषलोचनात् = निमेषरहितनेत्रात् स्मरात् = कामात्, बिभेमि = भयमनुभवामि। तत् = तस्मात् कामात्, भिन्नम् = अन्यम्, उदाहर = निदर्शय, इति= अनेन प्रकारणे, सा = दमयन्ती, यून: = युवापुरुषान् स्तुवता= प्रशंसता, जनेन = प्रयोज्यकर्त्रा, तदास्पदे = स्मरस्थाने, नैषधम् =निषधानां राजानं नलम्, निदर्शनम् = दृष्टान्तम्, अभ्यषेचयत् = स्थापयामास।

हिन्दी अनुवाद–परासो: = मृत अथवा निष्प्राण, अनिमेषलोचनात् = निर्निमेष नेत्रो वाले, स्मरात् = कामदेव से [मैं], बिभेमि = डरती हूँ। [अतएव]। तत् भिन्नम् = उससे भिन्न किसी अन्य का, उदाहर = उदाहरण दो। इति = इस प्रकार, सा = उस दमयन्ती ने, यून: = युवकों की, स्तुवता = प्रशंसा करने वाले, जनेन = [सखी] जन से, तदास्पदे = उस कामदेव के स्थान पर, नैषधम् = निषधदेश के राजा नल को, निदर्शनम् = उदाहरण अथवा दृष्टान्त के रूप में, अभ्यषेचयत् = अभिषिक्त कराया।

भावार्थ– "मृत (अतएव) निर्निमेष नेत्रों वाले कामदेव से मैं डरती हूँ अत: कोई अन्य उदाहरण प्रस्तुत करो" ऐसा कहकर उस दमयन्ती ने युवा पुरुषों की प्रशंसा करते हुए (सखी) लोगों के द्वारा कामदेव के स्थान पर नल को अभिषिक्त किया।

दमयन्ती की सखियाँ सुन्दर युवा व्यक्तियों की प्रशंसा करती हुई उनकी उपमा कामदेव से दिया करती थीं। किन्तु दमयन्ती राजा नल के प्रति अनुराग रखने के कारण युवकों के वर्णन में उपमा के रूप में राजा नल का ही नाम सुनना चाहती थी। अत: वह अपनी सखियों से कहती थी कि मुझे मरे हुए तथा निमेष रहित कामदेव से भय प्रतीत होता है। अत: तुम लोग उपमान कामदेव के स्थान पर किसी अन्य का नाम लो। कामदेव के स्थान पर लोक में उपमान होने योग्य नल के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति था ही नहीं अत: उसकी सखियाँ

राजा नल का ही नाम उपमान के स्थान पर प्रस्तुत कर देती थीं। इस भाँति दमयन्ती अपने अभिलषित को अप्रकट रूप से करा लेती थी।

शिव जी द्वारा कामदेव को भस्म कर दिया गया था। अत: यह मृत थे मृत व्यक्ति का निमेषशून्य होना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त कामदेव को भी देवताओं की श्रेणी में रखा जाता है। देवगण निमेषशून्य होते ही हैं।

जब किसी राजा आदि विशिष्ट व्यक्ति की मृत्यु हो जाता करती है तब उसके स्थान पर किसी अन्य विशिष्ट व्यक्ति को अभिषेक्त किया जाता है। कामदेव को तो शिव द्वारा भस्म किया ही जा चुका है। अतएव वे मृत हैं। उनके स्थान पर किसी अन्य अनुपम सुन्दर व्यक्ति का नाम उपमान रूप में लिया जाना आवश्यक ही था। अत: उसके स्थान पर अपूर्व सौन्दर्य युक्त नल का नाम लेना उचित ही है।

अलङ्कार– कामदेव देवता होने से निमेषशून्य हैं। उसे यहाँ मरा हुआ अतएव निमेषशून्य होने तथा उससे भय-भीत होने सम्बन्धी ''उत्प्रेक्षा'' को गयी है।

महाकवि ने जिस कामदेव को यहाँ मृतक रूप में प्रस्तुत किया है। उसी के स्थान पर ''तदास्पदे'' पद का प्रयोग कर नल को प्रस्तुत किया है। अतएव इस स्थल पर अमङ्गलसूचक अश्लील दोष आ गया है।

व्याकरण–**उदाहर** = उद् + आ + हृ +लोट्– सिप्–हि-लुक्। **स्तुवता** =स्तु + लट् +शतृ =स्तुवन् (तृतीया एकवचन का रूप)। **निदर्शनम्** = नि + दृश् + णिच् + ल्युट् – अन। **नैषध:** = निषध + अण् (''तस्येदम्'' से)॥ **स्मरात्** = यहाँ ''भीत्रार्थानां भयहेतु:'' सूत्र से पंचमी विभक्ति हुई है। **अभ्यषेचयत्** = अभि + सिच् + णिच् + लङ्– तिप्।

समास–**परासो:** = परागता: असव: (प्राणा:) यस्य स: (बहुव्रीहि) परासु: तस्मात्। **अनिमेषलोचनात्** = नास्ति निमेषो ययो: ते अभिमेषे (बहुव्रीहि) तस्मात्। **तदास्पदे** = तस्य आस्पदन् इति तदास्पदम् (षष्ठी तत्पु०) तस्मिन्। **नैषधम्** = निषधानां अयमिति नैषध: तम्।

टिप्पणियाँ— **परासोः** = प्राणरहित-मृत-निष्प्राण। **अनिमेषलोचनात्** + निमेषशून्य अथवा निश्चल नेत्रों से युक्त। **स्मरात्** = कामदेव से। **उदाहर** = उदाहरण अथवा दृष्टान्त दो। **स्तुवता** = प्रशंसा करते हुए। **तदास्पदे** = उस (कामदेव) के स्थान पर। **निदर्शनम्** = उदाहरण अथवा दृष्टान्त। **नैषधम्** = राजा नल। **अभ्यषेचयत्** = अभिषिक्त कराया।

प्रसङ्ग— निषधदेश से आये हुए दूतों, ब्राह्मणों, वन्दियों तथा चारणों से वह दमयन्ती (उस देश के राजा का नाम क्या है? प्रजाओं का पालन कैसा करता है? तथा उसकी क्या-२ विशेषतायें हैं? इत्यादि प्रकारों से) राजा नल के गुणों को ही पूछा करती थी—

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान् मिषेण दूतद्विजवन्दिचारणाः।
निपीय तत्कीर्तिकथामथानया चिराय तस्थे विमनायमानया॥

मल्लिनाथकृत-टीका— नलस्येति। निषधेभ्य आगता दूताः सन्देशहराः, द्विजा ब्राह्मणाः, वन्दिनः स्तावकाः चारणाः देशभ्रमणजीविनः ते सर्वे मिषेण व्याजेन नलस्य गुणान पृष्टाः पृच्छतेर्दुहादित्वात् प्रधाने कर्मणि क्तः। अथ प्रश्नानन्तरमनया। भैम्या तत्कीर्त्तिकथा नलस्य यशःकथामृतं निपीय नितरां श्रुत्वेत्यर्थः। चिराय विमनायमानया विमनीभवन्त्या भृशादित्वात्क्यङि सलोपश्च 'अकृत्सार्वधातु-कयोर्दीर्घः' ततो लटः शानचादेशः। तदा तस्थे स्थितं तिष्ठतेर्भावे लिट्। अयञ्च दूतादिव्यवधाने गुणकीर्त्तनलक्षणः प्रलापाख्यो रत्यनुभवः॥३७॥

अन्वय— निषधागता दूतद्विजवन्दिचारणाः मिषेण नलस्य गुणान् पृष्टाः, अथ तत्कीर्तिकथां निपीय अनया चिराय विमनायमानया तस्थे।

संस्कृत-व्याख्या—निषधागताः = निषधदेशात् आगताः, दूतद्विजवन्दिचारणाः = दूताः सन्देशहराः द्विजाः ब्राह्मणः वन्दिनः स्तुतिपाठकाः चारणाः देशभ्रमणजीविनः ते सर्वे, मिषेण= व्याजेन, नलस्य, गुणान् = सौन्दर्यादीन्, पृष्टाः = जिज्ञासिताः, अथ= प्रश्नः नन्तरम्, तत्कीर्तिकथाम् =

तस्य नलस्य कीर्तिकथां यशः कथामृतम्, निपीय= नितरां श्रुत्वा, अनया =दमयन्त्या, चिराय = चिरकालं यावत्, विमनायमानया = विमनीभवन्त्या, तस्थे = स्थितरा।

हिन्दी अनुवाद—निषधागता = निषधदेश से आये हुए, दूतद्विजवन्दिचारणाः = दूतों, ब्राह्मणों, स्तुतिपाठकों तथा चारणों से, [वह दमयन्ती], मिषेण = किसी बहाने से, नलस्य = नल के, गुणान् = गुणों को, पृष्टाः = पूछती थी, अथ = और तदनन्तर, तत्कीर्तिकथाम् = उस राजा नल के यशसम्बन्धी वर्णन को, निपीय = भली भाँति पानकर (सुनकर), अनया = दमयन्ती, चिराय = बहुत समय तक, विमनायमानया तस्थे = अन्यमनस्क रहा करती थी। ।

भावार्थ— वह दमयन्ती निषध देश से आये हुए दूतों, ब्राह्मणों, वन्दीजनों तथा भाटों चारणों आदि से यह प्रश्न किया करती थी कि उस देश का राजा कौन है— प्रजा के साथ उसका व्यवहार कैसा है ? कौन-कौन से विशिष्ट गुणों से वह सम्पन्न है ? इसके पश्चात् उन लोगों द्वारा वर्णित राजा नल की उत्तमकीर्ति तथा गुणों आदि का श्रवण कर वह अन्यमनस्क हो जाया करती थी। वह इस सोच में पड़ जाती थी कि ऐसे सद्‌गुणों एवं कीर्ति से युक्त राजा नल को मैं किस भाँति प्राप्त कर सकूँगी ? इस भावना से वह बहुत समय तक अन्यमनस्क रहा करती थी **अथवा**— ऐसे उत्तम गुणों से युक्त राजा नल के प्रति मेरा अनुराग हुआ है। अतः उनको प्राप्त कर मैं निश्चय ही कृतकृत्य हो जाऊँगी। इस भावना से वह बहुत समय तक आनन्द का अनुभव करते हुए उदासीन रूप में स्थित रहा करती थी।

अलङ्कार— इस श्लोक में 'भावोदय' नामक अलङ्कार की संभावना की जा सकती है।

व्याकरण—गुणान् पृष्टाः = इस स्थल पर ''प्रच्छ्'' धातु के द्विकर्मक होने के कारण '' पृष्टा'' में कर्म में 'क्त' प्रत्यय हुआ है तथा कर्म के उक्त होने

के कारण ''दूतद्विजवन्दिचारणाः'' में द्वितीया-विभक्ति नहीं हुई है। 'गुणान्' में ' न लोका'– इत्यादि सूत्र से षष्ठी का निषेध हो जाने पर द्वितीया (बहुवचन) विभक्ति हुई है। **निषीय** = नि + पा + क्त्वा–ल्यप् + ईत्व होकर। **चिराय** = यह अव्यय शब्द है। **विमनायमानया** = विमनस् + क्यङ् (नामधातु), 'स' का लोप, दीर्घ होने के पश्चात् + शानच् + टाप् विमनायमाना– [तृतीया एकवचन]। **तस्थे** = स्था + लिट् (भाव में)।

समास–**दूतद्विजवन्दिचारणाः** = दूताश्च द्विजाश्च वन्दिनश्च चारणाश्च इति दूतद्विजवन्दिचारणाः (द्वन्द्व समास)। **विमनायमानया** = विमना इव आचरति इति विमनायेत–वियनायमाना तया–**विमनायमानया**।

टिप्पणियाँ–**निषधागता** = निषध देश से आये हुए। प्राचीन काल में 'निषध' नामक एक देश था जिसके अधिपति राजा नल थे। इसकी राजधानी 'अलका' नामक नगरी थी– यह नदी तट पर स्थित थी। **दूतद्विजवन्दिचारणाः** = दूतों, ब्राह्मणों, वन्दियों (स्तुति-प्रशंसा करने वालों) और चारणों (भाटों) से। **मिषेण** = ब्याज से– बहाने से। **गुणान् पृष्टाः** = गुणों को पूछती थी। **निषीय** = निश्शेष रूप से पानकर के –भली भाँति। सन्तोष के साथ] सुनकर। **चिराय** = अधिक समय तक– चिरकालपर्यन्त। **विमनायमानया** = अन्यमनस्क होकर अथवा उदासीनता के साथ। **तस्थे** = उपस्थित रही– स्थित रहती थी।

प्रसङ्ग– उपर्युक्त पाँच श्लोकों में नल के प्रति दमयन्ती के श्रवणजन्य अनुराग का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अब महाकवि द्वारा चित्र एवं स्वप्न आदि में दर्शनजन्य दमयन्ती के अनुराग का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है–

प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ
लिखाधिलीलागृहभित्तिकावपि।
इति स्म सा कारुतरेण लेखितं नलस्य
च स्वस्य च सख्यमीक्षते॥ ३८॥

मल्लिनाथकृत-टीका—प्रतिकृतिस्वप्नदर्शनादयो विरहिणां विनोदोपायाः, अथ तत्कथनमुखेन दर्शनानुरागञ्चास्या दर्शयन् प्रतिकृतिदर्शनं तावदाह—प्रियमिति। सा भैमी त्रीणि जगन्ति समाहृतानि त्रिजगत्। समाहारो द्विगुरेकवचनम्। तस्य जयिनो लोकत्रयजित्वरी श्रीः शोभा ययोस्तादृशौ कावपि प्रियं प्रियाञ्च तौ अधिलीलागृहभित्ति विलासवेश्मकुड्ये विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। लिखेत्युक्तौ कारुतरेण शिल्पिकाण्डेन प्रयोज्येन लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यं रूपसाम्यापादनम् ईक्षते स्म॥ ३८॥

अन्वय— अधिलीलागृहभित्ति त्रिजगज्जयिश्रियौ कावपि प्रियं प्रियां च लिख इति सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यम् ईक्षते स्म।

संस्कृत-व्याख्या—अधिलीलागृहभित्ति = विलासवेश्मकुड्ये, त्रिजगज्जयिश्रियौ = त्रयाणां जगतां समाहारः त्रिजगत् तत् जयति इत्येवंशीला श्रीः शोभा ययोः तादृशौ, कावपि = अनिर्दिष्टनामानौ, प्रियम् = नायकम्, प्रियाम् = नायिकां च, लिख= चित्रय, इति= एवम्, सा = दमयन्ती, कारुतरेण = कुशलशिल्पिना, लेखितम् = चित्रितम्, नलस्य = नलस्य च, स्वस्य च = स्वकीयस्य च, सख्यम् = रूपसाम्यापादनं रूपसादृश्यम् वा, ईक्षते स्म = पश्यति स्म।

हिन्दी अनुवाद— अधिलीलागृहभित्ति = क्रीड़ागृह अथवा विलासगृह की दीवाल पर, त्रिजगज्जयिश्रियौ = तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य (शोभा) वाले— अथवा तीनों लोकों को जीतने वाली शोभा से युक्त, कावपि = किन्हीं दो, प्रियम् = प्रेमी, च = और, प्रियाम् च = प्रेमिका के, लिख = चित्र बनाओ। इति = इस प्रकार [कहकर], सा = वह दमयन्ती, कारुतरेण = चतुर शिल्पी अथवा चित्रकार के द्वारा, लेखितम् = चित्रित, नलस्य = राजा नल के, च = और, स्वस्य च = अपने, सख्यम् = रूपसादृश को, ईक्षते स्म = देखा करती थी।

भावार्थ— वह दमयन्ती 'लोकत्रय-विजयिनी सुन्दरता वाले किसी प्रिय तथा प्रिया अर्थात् स्त्री-पुरुष को विलासगृह की दीवार पर चित्रित करो' ऐसा

कहने पर चित्रकार द्वारा चित्र में बनाये गये राजा नल के तथा अपने रूपसाम्य को देखा करती थी।

अपने प्रिय के चित्र दर्शन द्वारा उत्कण्ठा दूर करने की इच्छा से दमयन्ती चित्रकार से लीलागृह की दीवाल पर संसार में सबसे अधिक सुन्दर युवक तथा युवती का चित्र बनाने को कहती और चित्रकार नल तथा दमयन्ती का चित्र बना देता— क्योंकि ये दोनों ही संसार में सर्वाधिक सुन्दर थे। इस चित्र को देखकर दमयन्ती अपना मनोरञ्जन कर लेती थी।

अलङ्कार— इस श्लोक में 'उपमेयोपमा' नामक अलङ्कार व्यञ्जित हो रहा है।

व्याकरण— सख्यम् = सखि + यत् (भाव में)। **ईक्षते स्म** = यहाँ 'स्म' के योग में भूत अर्थ में 'लट्' लकार का प्रयोग हुआ है। **कौ** = यहाँ पर "पुमान स्त्रिया" सूत्र से एकशेषसमास हुआ है।

समास—अधिलीलागृहभित्ति = लीलाया: गृहम् — इथि (षष्ठी तत्पु०) अथवा लीलार्थ वा गृहम् (चतु० तत्पु०), तस्य भित्ति: (षष्ठी तत्पु०), लीलागृहाभित्तौ इति अधिलीलागृहमिति— यहाँ "अव्ययं विभक्तिसमीप"— इत्यादि सूत्र से अव्यय के साथ सुबन्त का समास हुआ है (अव्य० समास)। **त्रिजगज्जयिश्रियौ** = त्रयाणां जगतां समाहार: त्रिजगत्, त्रिजगत् जयतीत्येवंशीला त्रिजगज्जयिनी ["जिदृक्षि—" इत्यादि सूत्र से "इनि" प्रत्यय] त्रिजगज्जयिनी श्री: ययो: तौ त्रिजगज्जयिश्रियौ (बहु० समा०)। पुंवद्भाव। **कारुतरेण** + कारुषु तर: कारुतर: (सप्तमी तत्पु०) तेन। **सख्यम्** = सख्युर्भाव: सख्यम्।

टिप्पणियाँ—अधिलीलागृहभित्ति = लीलागृह अथवा विलासगृह की दीवार पर। **त्रिजगज्जयिश्रियौ** = तीनों लोकों से सौन्दर्य को जीत लिया है जिन्होंने अर्थात् त्रिभुवन विजयी शोभा (सौन्दर्य) से युक्त। **प्रिया प्रियाम्** = प्रेमी-प्रेमिका अथवा नायक-नायिका को। **कारुतरेण** = उत्तम शिल्पी अथवा

चित्रकार द्वारा [''कारु: शिल्पी'' इत्यमर:]। **सख्यम्** = सादृश्य, सौन्दर्य के अथवा रूप के सादृश्य को। इस स्थल पर ''सखि'' शब्द का लक्षणया सदृश अर्थ में प्रयोग किया गया है। **ईक्षते स्म** = देखा करती थी, देखती थी।

अपने प्रिय का दर्शन तीन रूपों में किया जाया करता है (१) चित्र दर्शन (२) स्वप्नदर्शन तथा (३) साक्षात् दर्शन। इस श्लोक में चित्र द्वारा दर्शन का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

प्रसङ्ग— यद्यपि दमयन्ती ने नल का साक्षात् दर्शन अभी तक नहीं किया था किन्तु फिर भी अपने प्रारब्ध कर्मों के परिणामस्वरूप वह स्वप्न में उनको देख लेती थी—

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा न स्वपती स्म पश्यति।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्॥ ३९॥

मल्लिनाथकृत-टीका— मनोरथेनेति। मनोरथेन सङ्कल्पेन स्वपतीकृतं स्वभर्तृकृतं नलम् अभूततद्भावेच्वौ दीर्घ:। स्वपती निद्राती सा दमयन्ती क्व निशि कुत्र रात्रौ न पश्यति स्म? सर्वस्यामपि रात्रौ दृष्टवती। तथा हि सुप्ति: स्वप्न: अदृष्टम् अत्यन्ताननुभूतमप्यर्थं किमुत दृष्टमिति भाव:। अदृष्टवैभवात् प्राक्तनभाग्यबलात् जनदर्शनातिथिं लोकदृष्टिगोचरं करोति, तदत्रापि निमित्तादद्दृष्टात्तादृक् स्वप्नज्ञानमुत्पन्नमित्यर्थ:। सामान्येन विशेषसमर्थन-रूपोऽर्थान्तरन्यास:॥ ३९॥

अन्वय—मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं स्वपती सा क्व निशि न पश्यति स्म? सुप्ति: अदृष्टवैभवात् अदृष्टमपि अर्थं जनदर्शनातिथिं करोति।

संस्कृत-व्याख्या—मनोरथेन = संकल्पेन, स्वपतीकृतम् नलम्= नैषधम, स्वपती = निद्राती, सा = दमयन्ती, क्व = कुत्र, निशि= रात्रौ, न पश्यति स्म = न दृष्टवती? सुप्ति:= स्वप्न:, अदृष्टवैभवात् = प्राक्तनभाग्यबलात्, अदृष्टमपि = अत्यन्ताननुभूतमपि, अर्थम्= वस्तु, जनदर्शनातिथिम् = लोकदृष्टि गोचरम्, करोति = विदधाति।

हिन्दी अनुवाद—मनोरथेन = संकल्प के द्वारा, स्वपतीकृतम् = पति बनाये हुए, नलम् = राजा नल को, स्वपती = निद्रा में पड़ी हुई, सा = वह दमयन्ती, क्व निशि = किस रात्रि में, न पश्यति स्म = नहीं देखती थी? अर्थात् सभी रात्रियों में देखा करती थी। [क्योंकि] सुप्तिः = स्वप्न, अदृष्टवैभवात् = पुरातन भाग्य के बल से, अदृष्टमपि अर्थम् = कभी न देखी गयी हुई वस्तु को भी जनदर्शनातिथिम् = लोगों की दृष्टि का अतिथि, करोति = कर देता है अथवा बना देता है।

भावार्थ— अपने मन के द्वारा संकल्पित तथा अपने पति के रूप में स्वीकृत राजा नल को वह दमयन्ती प्रतिदिन रात्रि में सोयी हुई अवस्था में देखा करती थी। क्योंकि स्वप्न पहले कभी न देखे गये हुए पदार्थ को भी पूर्वजन्मकृत भाग्य के बल से मनुष्य को अवश्य दिखला दिया करता है। चूँकि भाग्य दमयन्ती को स्वप्न में राजा नल का दर्शन करा देने वाला है, अतएव दमयन्ती का राजा नल के प्रति किया गया हुआ प्रेम भाग्य द्वारा अनुमोदित ही प्रतीत होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि ''यद्यपि दमयन्ती ने राजा नल को पहले कभी नहीं देखा था किन्तु फिर भी वह उसे स्वप्न में देख लेती थी क्योंकि कभी पहले न देखी गयी वस्तु का दर्शन भी स्वप्नावस्था में प्रारब्ध द्वारा हो जाया करता है।''

अलङ्कार— इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में ''स्वपती'' तथा उत्तरार्धभाग में ''अदृष्ट'' पदों की आवृत्ति के भिन्न-२ अर्थ होने के कारण यहाँ ''यमक'' अलङ्कार है। इसके अतिरिक्त उक्त श्लोक के पूर्वार्धभाग में वर्णित विषय का उत्तरार्धभाग के सामान्य वर्णन द्वारा समर्थन किये जाने से '' अर्थान्तरन्यास'' अलङ्कार भी बन जाता है।

व्याकरण— **स्वपतीकृतम्** = स्वपति + च्वि, ईत्व, दीर्घ—कृ.+ क्त। स्वपती = स्वप् +लट्— शतृ + ङीप। सुप्तिः = स्वप् + क्तिन्।

समास— **स्वपतीकृतम्** = मनसः रथः—मनोरथः तेन। **स्वपतीकृतम्**

= स्वस्य पतिः स्वपतिः, न स्वपतिः इति = अस्वपतिः, अस्वपतिः स्वपतिः कृतः इति स्वपतीकृतः तम्। **जनदर्शनातिथिम्** = जनस्य दर्शनम् इति जनदर्शनम्, तस्य अतिथिः—तम्।

टिप्पणियाँ—मनोरथेन = इच्छा अथवा मन में किये संकल्प के द्वारा। **स्वपतीकृतम्** = जिसको अपना पति मान लिया गया है उसको— अर्थात् राजा नल को। **स्वपती** = शयन करती हुई अथवा निद्रा की अवस्था में विद्यमान। **अदृष्टवैभवात्** = [अपने पुरातन] भाग्य के वैभव से— भाग्य के प्रभाव से। **अदृष्टमपि अर्थम्** = जीवन में पहले कभी न देखी गयी हुई वस्तु को। **जनदर्शनातिथिम्** = लोगों के दर्शनों के अतिथि के रूप में— अर्थात् लोगों द्वारा देखे जाने योग्य। **करोति** = कर देता है— बना देता है।

प्रसङ्ग— जैसे कोई दासी चुपके से नायिका को किसी नायक को संकेत द्वारा दिखला दिया करती है उसी प्रकार से निद्रा ने दमयन्ती को राजा नल का दर्शन कराया—

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्यास्स महन्महीपतिः॥४०॥

मल्लिनाथकृत-टीका— निमीलितादिति। निद्रया प्रयोजिकया निमीलितान् मुकुलितादुपरतव्यापारादित्यर्थः, अक्षियुगाच्च तथा बाह्येन्द्रियाणां चक्षुरादीनांमौनेन व्यापाराराहित्येन मुद्रितात्प्रतिष्टब्धात्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यादिति भावः। हृदो हृदयादपिसङ्गोप्य गोपयित्वेत्यर्थः, 'अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छती' त्यक्षियुगमनसोरपादानत्वम्। अदर्शनं चात्र मनसो बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितादिति विशेषणसामथर्यादिन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्यज्ञानविरह एवेति ज्ञायते, स्वप्नज्ञानं तु मनोजयन्मेव। तदजन्यज्ञानमत्रेत्याह=कदाप्यवीक्षित इति। अत्यन्तादृष्टचर इत्यर्थः महद्रहस्यमतिगोप्य वस्तु स महीपतिर्नलः। अस्या भैम्या अदर्शि दर्शयाञ्चक्रे, दृशेर्ण्यन्तात्, कर्मणि लुङ्। यथा काचिच्चेटी कस्यैचित्कामिन्यै कञ्चन कान्तं संगोप्य दर्शयति तद्वदिति ध्वनिः॥४०॥

अन्वय—निद्रया निमीलितात् अक्षियुगात् च बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् हृदः अपि संगोप्य कदापि अवीक्षितो महत् रहस्यं स महीपतिः अस्याः अदर्शि।

संस्कृत-व्याख्या—निद्रया = प्रयोजिकया सुषुप्त्या, निमीलितात् = मुकुलितात्-उपरतव्यापारादित्यर्थः, अक्षियुगात् = नेत्रद्वयात्, च बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् = बाह्य इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मौनेन स्वविषयग्रहणाभावेन मुद्रितात् प्रतिष्टब्धात् मनसः बहिरस्वातन्त्र्यात्— इति भावः, हृदः अपि = हृदयादपि, संगोप्य = गोपयित्वा-इत्यर्थः, कदापि अवीक्षितः = अत्यन्तादृष्टचरः-इत्यर्थः, महद् रहस्यम् = अतिगोप्यं वस्तु, स महीपतिः = नलः, अस्याः = दमयन्त्याः, अदर्शि = दर्शयाञ्चक्रे। यथा काचित् दासी कस्यैचित् कामिन्यै कञ्चन कान्तं संगोप्य दर्शयति तथैव निद्रा दमयन्त्यै नलं संगोप्य अदर्शयत्।

हिन्दी अनुवाद—निद्रया = निद्रा ने, निमीलितात् = बन्द हुई, अक्षियुगात् = दोनों आँखों से, च = और, बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् = बहिरिन्द्रियों के अपने २ विषयों को ग्रहण न करने के कारण स्तब्ध, हृदः अपि = हृदय से भी, संगोप्य = छिपाकर, कदापि = कभी भी, अवीक्षितः = न देखे गये हुए, महत् रहस्यम् = अत्यधिक रहस्य रूप, स महीपतिः = उस राजा नल को, अस्याः = इस [दमयन्ती] को, अदर्शि = दिखला दिया।

भावार्थ— निद्रा ने बन्द हुए दोनों नेत्रों से तथा बाह्य (कर्ण आदि) इन्द्रियों के अपने २ विषय (सुनना आदि) को ग्रहण करने में मौन हो जाने से स्तब्ध अर्थात् शयन-अवस्था में विषयों को ग्रहण न करते हुए हृदय से भी छिपाकर, कभी पहले न देखे गये हुए अतएव रहस्य रूप उस राजा नल को इस दमयन्ती के लिये दिखला दिया।

जैसे कोई चतुर दूती नायिका को अन्य लोगों से छिपाकर उसके प्रियतम नायक को दिखला दिया करती है उसी प्रकार निद्रा ने भी, नायिका दमयन्ती द्वारा जिनका दर्शन पहले कभी नहीं किया जा सका था, ऐसे नायक राजा नल को नायिका दमयन्ती को दिखला दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि दमयन्ती

ने राजा नल को स्वप्न में देखा किन्तु उसके दोनों नेत्रों तथा बाह्य-इन्द्रियों की क्रिया से रहित हृदय को भी इसका पता न लग सका।

जाग्रत् अवस्था में किसी वस्तु अथवा पदार्थ अथवा व्यक्ति का चाक्षुप ज्ञान मन के नेत्रेन्द्रिय के साथ तथा नेत्रेन्द्रिय का उस वस्तु के साथ सम्बद्ध होने पर भी संभव है किन्तु स्वप्नावस्था में होने वाला ज्ञान केवल मानस ही है क्योंकि इस अवस्था में बाह्य-इन्द्रियों व्यापार-शून्य रहा करती है। इस कारण यहाँ यह कहा गया है कि निद्रा ने, नेत्रों तथा शेष बाह्य-इन्द्रियों के मौन से मुद्रित मन से छिपाकर राजा नल का दर्शन दमयन्ती को कराया।

अलङ्कार— इसमें रूपक अलङ्कार की प्रतीति होती है।

व्याकरण— **संगोप्य** = सम् + गुप् + णिच् + क्त्वा—ल्यप्। **अदर्शि** = दृश् + णिच् + लुङ् (कर्म में)।

समास—बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् = बाह्येन्द्रियाणां मौनेन मुद्रितात्।

टिप्पणियाँ—निद्रया = निद्रा के द्वारा। **निमीलितात्** = बन्द हुई। **अक्षियुगात्** = दोनों आँखों से। **बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्** = बाह्य-इन्द्रियों द्वारा अपने-२ विषयों को ग्रहण न करने के कारण मुद्रित अथव शून्य। **हृदः** = हृदय से, मन से। **संगोप्य** = छिपाकर। **अदर्शि** = दिखला दिया।

प्रसङ्ग— कामपीड़ित उस दमयन्ती को हेमन्त ऋतु की रात्रियाँ बड़ी प्रतीत होने लगी—

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यतिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम्।
तपर्तुपूर्त्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्विभरांबभूविरे॥४१॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अथास्याश्चिन्ताजागरावाह— अहो इति। हिमागमे हेमन्तेऽपि स्मरार्दिता तां दमयन्तीं प्रति अहोभिर्दिवसः अतिमहिमा अतिवृद्धिः प्रपेदे तथा तपर्तुपूर्त्तावपिग्रीष्मान्तेऽपि विभावरीभिर्निशाभिः मेदसां भरा मांसराशयो-ऽतिवृद्धिरिति यावत्। विभराम्बभूविरे बभ्रिरे, मृञः कर्मणि लिट् आम् प्रत्ययः। अहो आश्चर्यं शास्त्रविरोधादनुभवविरोधाच्चेति भावः। विरहिणां

तथा प्रतीयत इत्यविरोधः एतेनास्या निरन्तरचिन्ता जागरश्च गम्यते। अहोशब्दस्य 'ओदि' ति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावः॥

अन्वय—अहो, स्मरार्दितां तां प्रति हिमागमे अपि अहोभिः अति महिमा प्रपेदे। तपर्तुपूर्त्तौ अपि विभावरीभिः मेदसां भरा विभरांबभूविरे।

संस्कृत-व्याख्या—अहो =आश्चर्यम्, स्मरार्दिताम् = कामपीडिताम्, ताम्= दमयन्तीं, प्रति= लक्ष्यीकृत्य, हिमागमे अपि = हेमन्ते अपि, अहोभिः= दिवसैः, अति महिमा = दैर्ध्यम्, प्रपेदे = प्राप्तः। [अभिप्रपेदे पाठोऽपि लभ्यते] तपर्तुपूर्त्तौ अपि = ग्रीष्मान्ते अपि, विभावरीभिः = निशाभिः मेदसां भरा = मांसल-तातिशयः—स्थूलत्वमिति यावत् विभरांबभूविरे = बभ्रिरे।

हिन्दी अनुवाद—अहो =आश्चर्य की बात है कि, स्मरार्दिताम् = कामपीड़ित, ताम्= उस दमयन्ती के प्रति अथवा [दमयन्ती को] लक्षित करके, हिमागमे अपि = हेमन्त ऋतु के आ जाने पर भी, अहोभिः= दिनों ने, अति महिमा = दीर्घता को, प्रपेदे = प्राप्त कर लिया। [तथा] तपर्तुपूर्त्तौ अपि = ग्रीष्म ऋतु की समाप्ति पर भी, विभावरीभिः = रात्रियों ने, मेदसां भरा = अतिशय मांसलता स्थूलता (लक्षणा से) दीर्घता, विभरांबभूविरे = धारण कर ली।

भावार्थ—यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उस दमयन्ती के लिये हेमन्त ऋतु में भी दिन बड़े प्रतीत होने लगे तथा ग्रीष्म ऋतु की पूर्णता होने पर भी रात्रियाँ बड़ी प्रतीत हुई।

हेमन्तऋतु में दिन तथा ग्रीष्म-ऋतु में रात्रि छोटी हो जाया करती है। विरह अवस्था में अल्प-काल भी बहुत बड़ा प्रतीत होने लगा करता है। अतः नल के विरह का अनुभव करने वाली दमयन्ती को हेमन्त ऋतु सम्बन्धी दिन तथा ग्रीष्मकालीन रात्रियाँ अत्यधिक लम्बी प्रतीत हो रहीं थी।

अलङ्कार— उपर्युक्त श्लोक में हिम-आगम रूप कारण के रहते हुए होने पर भी दिनों का लघुत्व नहीं हुआ तथा ग्रीष्म रूप कारण के विद्यमान रहते हुए भी रात्रियों में लघुता का कथन न किये जाने से ''विशेषोक्ति'' अलङ्कार की संभावना की जा सकती है।

इसके अतिरिक्त श्लोक के अन्तिम चरण में ''अनुप्रास'' अलङ्कार है।

व्याकरण—अहो = यह आश्चर्य वाचक अव्यय है। इस स्थल पर ''ओत्'' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा तथा प्रकृतिभाव हो जाने के कारण ''एङ्पदान्तादति'' सूत्र से होने वाला पूर्वरूप नहीं हुआ।, **अभिप्रमेदे** = अभि (उसर्ग) प्र + पद् + लिट् (लकार)। **विभरांबभूविरे** = भृ + लिट्।

समास— हिमागमे = हिमस्य आगम: इति हिमागम: तस्मिन्।

टिप्पणियाँ—स्मरार्दिताम् = काम से पीड़ित अथवा विह्वल। **हिमागमे** = हेमन्त ऋतु में [अगहन तथा पौष मास में हेमन्त ऋतु होती है।] **अहोभि:** = दिनों ने। **महिमा** = महत्व (लक्षणा-व्यापार द्वारा) महानता अथवा दीर्घता-लम्बा हो जाना)। **अभिप्रपेदे** = प्राप्त की। **तपर्तुपूर्त्तौ** = ग्रीष्म ऋतु की पूर्णता पर। **विभावरीभि:** = रात्रियों ने। **मेदसांभरा** = मेद के (चर्बी के) कारण अत्यधिक स्थूलता—अर्थात् दीर्घता। **विभरांबभूविरे** =धारण की-स्वीकार की।

प्रसङ्ग— इधर राजा नल ने भी जब दमयन्ती के गुणों का श्रवण किया तब उनेक हृदय में भी उसके प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया। उसी अनुराग का वर्णन निम्नलिखित श्लोक में वर्णित है—

स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्त्रज:
श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम्।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिन: नलोऽपि
लोकादश्रृणोद् गुणोत्करम्॥४२॥

मल्लिनाथकृत-टीका— स्वेत्यादि। अथ नलोऽपि स्वस्य कान्त्या सौन्दर्येण या: कीर्त्तय: तासां व्रज: पुञ्ज एव मौक्तिकस्त्रक् मुक्ताहार: तस्या अन्त: अभ्यन्तरे घटनागुणश्रियं गुम्फनसूत्रलक्ष्मीं श्रयन्तं भजन्तं युवधैर्यलोपिनं तरुणचित्तस्थै-र्य्यपरिहारिणम् अस्या दमयन्त्या गुणोत्करं सौन्दर्यसन्दोहं लोकादागन्तुकजनात् अश्रृणोत्। अत्र कीर्त्तिव्रजगुणोत्करयोर्मुक्ताहारगुम्फन-सूत्रत्वरूपणादूपकालङ्कार:॥४२॥

अन्वय— नलः अपि कदाचिद् लोकात् स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः अन्तर्घटनागुणश्रियं श्रयन्तं युवधैर्यलोपिनः अस्याः गुणोत्करं अश्रृणोत।

संस्कृत-व्याख्या—नलः = नैषधः, अपि, कदाचित् = कस्मिंश्चित्समये, लोकात् = आगन्तुकजनात्, स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः = स्वस्य निजस्य कान्त्या सौन्दर्येण याः कीर्त्तयः यशांसि तासां व्रजः पुञ्ज एव मौक्तिकस्रक् मुक्ताहारः तस्याः, अन्तर्घटनागुणश्रियम् = अन्तः अभ्यन्तरे घटनागुणश्रियम् गुम्फनसूत्रलक्ष्मीं (शोभाम्), श्रयन्तम् = भजन्तम्, युवधैर्यलोपिनम् = तरुणचित्तस्थैर्यपरिहारिणम्, अस्याः = दमयन्त्याः, गुणोत्करम्, अश्रृणोत = श्रुतवान्।

हिन्दी अनुवाद— नलः = राजा नल ने, अपि = अभी, कदाचित् = किसी समय, लोकात् = आगन्तुक लोगों से, स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः = अपने सौन्दर्य सम्बन्धी कीर्तिसमूह रूपी मोतियों की माला को, अन्तर्घटनागुणश्रियम् = अन्दर से गूँथने वाले सूत्र की शोभा को, श्रयन्तम् = धारण करते हुए, युवधैर्यलोपिनः = युवकों के धैर्य को लुप्त करने वाले, अस्याः = इस दमयन्ती के, गुणोत्करम् = सौन्दर्य सम्बन्धी गुण समूह को, अश्रृणोत = सुना।

भावार्थ—राजा नल ने भी कभी आगन्तुक लोगों के द्वारा अपने सौन्दर्य के यशःसमूह रूपी मुक्ताहार को अन्दर से गूँथने वाले सूत्र की शोभा से युक्त एवं युवकों के धैर्य को नष्ट कर देने वाले इस [दमयन्ती] के गुण समूह को सुना।

राजा नल के [अपने] सौन्दर्य सम्बन्धी कीर्त्ति-समूह रूपी मोतियों के हार को अन्दर से जोड़ने वाले धागे (सूत) के समान दमयन्ती के गुणों को राजा नल ने आगन्तुक लोगों के मुखों से सुना। तात्पर्य यह है कि राजा नल ने दमयन्ती के गुणों को सुना।

कीर्ति अथवा कीर्तिसमूह का रंग श्वेत माना जाता है। अतः राजा नल के सौन्दर्य सम्बन्धी कीर्ति के शुभ्र होने से उसमें मोतियों की कल्पना की गयी है।

इन मोतियों से निर्मित माला का गुम्फन करने के लिये बीच के धागे के समान दमयन्ती के गुण-समूह की कल्पना की गयी है। इस भाँति गुँथी हुई मुक्तामाला के रूप में राजा नल तथा दमयन्ती दोनों ही के गुण गुम्फित हो गये।

अलङ्कार— इस पद्य में ''कीर्तिव्रज'' में ''मोक्तिकस्त्रज'' का तथा ''गुणोत्कर'' में '' घटनागुण'' का आरोप किये जाने पर ''रूपक'' अलङ्कार है।

व्याकरण—युवधैर्यलोनी = युवधैर्य + लुप् + णिच् + णिनि [कर्त्तरि ताच्छील्ये]।

समास—स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्त्रजः= स्वस्यकान्त्या याः कीर्त्तयः तासां व्रजः एव मौक्तिकस्त्रक् तस्याः इति। **अन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम्** = अन्तः घटना इति अन्तर्घटना, तदर्थं गुणः [चतुर्थी तत्पुरुष] इति अन्तर्घटनागुणः तस्य श्रीः [षष्ठी तत्पु०] ताम्। **युवधैर्यलोपिनम्** = यूनां धैर्यम् [षष्ठी तत्पु०] इति युवधैर्यम्, तत् लोपयितुं शीलमस्य इति युवधैर्यलोपी तम्। **गुणोत्करं** = गुणानां उत्करमिति [षष्ठी तत्पु०] गुणोत्करम्।

टिप्पणियाँ— लोकात् = लोगों से [आगन्तुक व्यक्तियों से]। **स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्त्रजः** = अपने [राजा नल के] सौन्दर्य विषयक यशः समूह रूपी मोतियों की माला के। **अन्तर्घटनागुणश्रियम्** = [मोतियों को] अन्दर से जोड़ने वाले सूत्र [धागा] की शोभा को। **श्रयन्तम्** = सेवन करने वाले—धारण करने वाले। [ऐसे दमयन्ती के गुण समूह को] **युवधैर्यलोपिनः** = युवा-पुरुषों के धैर्य को नष्ट कर देने वाले अथवा युवा व्यक्तियों के धैर्य को खो देने वाले। यह '' गुणोत्करम्'' का विशेषण है। अस्याः = इस [दमयन्ती] के। **गुणोत्करम्** = गुण समूह को। **अश्रृणोत** = सुना, श्रवण किया।

प्रसङ्ग— शारीरिक सौन्दर्य में राजा नल ने कामदेव को पराजित कर दिया था। अतः कामदेव उसका बदला लेना चाहता था। इस दृष्टि से कामदेव ने अवसर पाकर अपनी अमोघ शक्तिरूपिणी दमयन्ती के द्वारा राजा नल पर विजय प्राप्त करने की इच्छा की—

तमेव लब्ध्वावसरं ततः स्मरश्शरीरशोभाजयजातमत्सरः।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम॥४३॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अथास्य तस्या रागोदयं वर्णयति= तमेवेति। ततो गुणश्रवणानन्तरं शरीरशोभाया देहसौन्दर्य्यस्य जयेन जातमत्सरः उत्पन्नवैरः स्मरः तमेवावसरमवकाशं लब्ध्वा मूर्त्तया मूर्तिमत्या निजया अमोघशक्त्येव अकुण्ठितसामर्थ्येनेचेत्युत्प्रेक्षा। तया दमयन्त्या नैषधं नलं विनिर्जेतुमियेष इच्छति स्म, रन्ध्रान्वेषिणो हि विद्वेषिण इति भावः। तेन रागोदय उक्तः॥४३॥

अन्वय— ततः शरीरशोभाजयजातमत्सरः स्मरः तमेव अवसरं लब्ध्वा मूर्त्तया निजया अमोघशक्त्या इव तया नैषधं विनिर्जेतुं इयेष।

संस्कृत-व्याख्या— ततः = [दमयन्त्याः] गुणश्रवणानन्तरम्, शरीरशोभाजय-जातमत्सरः = शरीरशोभायाः देहसौन्दर्यस्य जयेन जातः उत्पन्नः मत्सरः वैरः यस्य तादृशः, स्मरः = कामः, तमेव अवसरम् = अवकाशम्, लब्ध्वा = प्राप्य, मूर्त्तया = शरीरधारिण्या, निजया = स्वकीयया, अमोघशक्त्या = अकुण्ठितसामर्थ्येन इव, तया=दमयन्त्या, नैषधम् = नलम्, विनिर्जेतुम् = पराभवितुम्, इयेष = इच्छति स्म।

हिन्दी अनुवाद—ततः = दमयन्ती के गुणों को [राजा नल द्वारा] श्रक्षण कर लिये जाने के पश्चात्, शरीरशोभाजयजातमत्सरः [अपने] शरीर की कान्ति [शोभा] को जीत लिये जाने के कारण उत्पन्न हुई ईर्ष्या से युक्त, स्मरः = कामदेव ने, तमेव = उस ही, अवसरम् = अवसर को, लब्ध्वा = पाकर, मूर्त्तया = शरीरधारिणी, निजया = अपनी, अमोघशक्त्या = अमोधशक्तिरूपिणी, तया = उस दमयन्ती के द्वारा, नैषधम् = राजा नल को, विनिर्जेतुम् = जीतने की, इयेष = इच्छा की।

भावार्थ—[जब राजा नल ने दमयन्ती के सौन्दर्य एवं तत्सम्बन्धी गुणों का श्रवण कर लिया तो उनके हृदय में दमयन्ती के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया—राजा नल की इस प्रकार की स्थिति हो जाने के] अनन्तर [राजा नल के

शरीर की शोभा द्वारा कामदेव के] शरीर की शोभा को जीत लिये जाने के कारण उत्पन्न हुई ईर्ष्या (डाह तथा द्वेष) से युक्त कामदेव ने उसी अवसर को पाकर शरीरधारिणी [मूर्तिमती] अपनी अमोघ [कभी विफल न होने वाली] शक्ति के सदृश उस दमयन्ती के द्वारा राज नल को जीतने की अभिलाषा की।

कामदेव को अपने सौन्दर्य पर गर्व था। किन्तु समस्त ब्रह्माण्ड में सर्वाधिक सौन्दर्यशाली राजा नल को ही माना गया है। अत: इस प्रकार राजा नल कामदेव से कहीं अधिक सौन्दर्यशाली हुए। अतएव यह कहा जाना उचित ही था कि राजा नल ने सौन्दर्य में कामदेव को परास्त कर दिया था। कामदेव ने जब यह देखा कि कि मैं सौन्दर्य में राजा नल से पराजित हो गया हूँ तो वह राजा नल का शत्रु बन गया। और ऐसा अवसर ढूँढ़ने लगा कि जिससे मैं नल को नीचा दिखला सकूँ।

शत्रु छिद्रान्वेषी हुआ करता है और वह अवसर प्राप्त हो जाने पर बदला लेने की इच्छा रखा करता है। जब राजा नल के हृदय में दमयन्ती के प्रति अनुराग उत्पन्न हो जाता है तो कामदेव ने सोचा कि मेरे लिये यही अच्छा अवसर है। अत: नल पर विजय प्राप्त करने के लिये इसी अवसर को उचित समझकर कामदेव ने दमयन्ती के रूप में विद्यमान अपनी अमोघ शक्ति का प्रयोग [राजा नल पर] करने की इच्छा की।

अलङ्कार– इस श्लोक में ''अमोघशक्त्येव'' में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

व्याकरण– **शोभा** = शोभ् + अङ् [षिद्भिदादिभ्योऽङ-सूत्र से] तदन्तर टाप् होकर शोभा शब्द बनता है। **इयेष** = इष् + लिट्।

समास–**शरीरशोभाजयजातमत्सरः** = शरीरस्य शोभा तस्याः जयः (षष्ठी तत्पुरुष), तेन जातः मत्सरः यस्य सः (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ–**ततः** = तदनन्तर, उसके पश्चात् राजा नल द्वारा दमयन्ती के गुणों का श्रवण किये जाने के बाद। **शरीरशोभाजयजातमत्सरः** = [अपने] शरीर के सौन्दर्य को [राजा नल द्वारा] जीत लिये जाने के कारण उत्पन्न हुई

ईर्ष्या से युक्त। दूसरे शुभ अर्थात् उत्कर्ष के कारण जो द्वेष उत्पन्न हो जाता है उसी को ''मत्सर'' शब्द द्वारा कहा जाता है–''मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे''– इत्यमरः। **तमेव अवसरम्** = उस ही अवसर को– राजा नल ने जब लोगों के मुख से दमयन्ती के सौन्दर्य और उसके गुणों का श्रवण कर लिया तब। **मूर्त्तया** = मूर्तिधारिणी अथवा शरीरधारिणी। **अमोघशक्त्या इव** = कभी भी निष्फल न होने वाली शक्ति के सदृश। **नैषधम्** = निषद देश के राजा नल को। **विनिर्जेतुम्** = जीत लेने के लिये। **इयेष** = इच्छा की।

प्रसङ्ग– दमयन्ती के गुणों का श्रवण करने के अनन्तर राजा नल के मन में दमयन्ती के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया और परिणामस्वरूप उनका मन काम-पीड़ित हो गया–

अकारि तेन श्रवणातिथिर्गुणः क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रितः।
तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः॥४४॥

मल्लिनाथकृत-टीका– अकारीति। तेन क्षमाभुजा नलेन भीमनृपात्मजायाः दमयन्त्याः श्रितः गुणः तदीयः सौन्दर्यादिः श्रवणातिथिः श्रोत्रविषयः अकारि कृतः श्रुतः इत्यर्थः। करोतेः कर्मणि लुङ्। तस्य नलस्य उच्चधैर्यव्ययाय उच्चधैर्य्यनाशाय संहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मनः शरासनाश्रयः चापनिष्ठो गुणो मौर्वी श्रवणातिथिरकारि आकर्णं कृष्ट इत्यर्थः। दमयन्तीगुणश्रवणान्नलमनसि महान् मदनविकारः प्रादुर्भूत इत्यर्थः। अत्रोक्तवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः॥४४॥

अन्वय– तेन क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रितः गुणः श्रवणातिथिः अकारि। च तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण स्वात्मशरासनाश्रयः [गुणः श्रवणातिथिः अकारि]।

संस्कृत-व्याख्या– तेनक्षमाभुजा = राज्ञा नलेन, भीमनृपात्मजाश्रितः = भीमनृपात्मजायाः दमयन्त्याः श्रितः आश्रितः [भीमनृपात्मजालयः पाठे सति] भीमनृपात्मजालयः= भीमनृपकन्या आलयः स्थानमाश्रयो वा यस्य तादृशः,

गुणः = तदीयः सौन्दर्यादिः गुणः, श्रवणातिथिः = श्रोणविषयः, अकारि= कृतः [श्रुतः—इत्यर्थः]। च तदुच्च धैर्यव्ययसंहितेषुणा = तस्य नलस्य उच्चं उत्कृष्टं धैर्यं तस्य व्ययः नाशः तस्यै संहितः धनुषि आरोपितः इषुः वाणः येन तथाभूतेन, स्मरेण = कामेन, स्वात्मशरासनाश्रयः = स्वात्मनः यत् शरासनं धनुः तदाश्रयः आधारः स्थानं वा यस्य तथाभूतः [गुणः =मौर्वी, श्रवणातिथिः अकारि = आकर्णं [कर्णपर्यन्तं वा] कष्टः—इत्यर्थः]। दमयन्तीगुणश्रवणानन्तरं नलमनसि महान् मदनविकारः प्रादुर्भूतः— इति भावः।

हिन्दी अनुवाद—तेन क्षमाभुजा = पृथ्वी के पालक उस राजा नल ने, भीमनृपात्मजाश्रितः = राजा भीम की कन्या के अधीन [पाठान्तर में] भीमनृपात्मजालयः = राजा भीम की पुत्री दमयन्ती के आश्रित [अर्थात् दमयन्ती में विद्यमान], गुणः = गुणों को, श्रवणातिथि = श्रवण (कान) का अतिथि, अकारि = बनाया। च = और, तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा = उस राजा नल के उत्कृष्ट धैर्य को नष्ट करने के लिये बाणों का संधान करने वाले, स्मरेण = कामदेव ने, स्वात्मशरासनाश्रयः = अपने धनुष पर आश्रित रहने वाली [गुणः = प्रत्यञ्चा को, श्रवणातिथिः = कान का अतिथि, अकारि = बनाया]।

भावार्थ— उस राजा (नल) ने भीमनन्दिनी (दमयन्ती) के आश्रित गुणों को अपने कानों का अतिथि बनाया अर्थात् दमयन्ती के गुणों को सुना और उस (नल) के अत्यधिक धैर्य को नष्ट करने के लिये बाण चढ़ाये हुए कामदेव ने अपने धनुष पर आश्रित प्रत्यञ्चा को कान का अतिथि बनाया अर्थात् कामदेव ने धनुष की डोरी को कान तक खींचा।

कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे ही राजा नल ने दमयन्ती के सौन्दर्य सम्बन्धी गुणों का श्रवण किया वैसे ही वह दमयन्ती के प्रति अनुरक्त हो गया।

अलङ्कार—उपर्युक्त श्लोक में ''स्वात्मशरासनाश्रयः'' में ''पुनरुक्ताभास'' नामक अलङ्कार की प्रतीति होती है। इसके अतिरिक्त श्लोक में पूर्वार्ध सम्बन्धी वाक्यार्थ के प्रति श्लोक के उत्तरार्ध का वाक्यार्थ हेतु है। अतः ''काव्यलिङ्ग'' नामक अलङ्कार की भी संभावना की जाती है।

व्याकरण— **क्षमाभुजा** = क्षमा + भुज् +क्विप्। तृतीया विभक्ति के एकवचन का रूप। **अकारि** + कृ +लुङ्।

समास— **क्षमाभुजा** = क्षमां पृथ्वीं भुङ्क्ते इति क्षमाभुज् तेन। **भीमनृपात्मजाश्रित:** = भीमनृपस्य आत्मजा तस्या: श्रित:। [पाठान्तरे] **भीमनृपात्मजालप:** = भीम एव नृप: (कर्मधारय) इति भीमनृप: तस्य आत्मजा (षष्ठी तत्पु०) सा एव आलय: यस्य स: (बहुव्रीहि)। **तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा** = उच्चं धैर्यं (कर्मधारय) इति उच्चधैर्यम्, तस्य व्यय:, तस्मै संहित: इषु: ये स: (बहुव्रीहि) तेन। **स्वात्मशरासनाश्रय:** = स्वात्मन: शरासनम् अथवा सु– शोभनं यत् आत्मशरासनं तत् आश्रयो यस्य स: (बहुव्रीहि)। **श्रवणातिथि:** = श्रवणस्य अतिथि: इति।

टिप्पणियाँ—**क्षमाभुजा** = पृथ्वी का भोग करने वाले अर्थात् राजा ने। **भीमनृपात्मजाश्रित:** = भीम कन्या दमयन्ती के अधीन। (पाठान्तर में) **भीमनृपात्मजालप:** = भीमनन्दिनी दमयन्ती ही जिसका आश्रय अथवा स्थान हो ऐसे गुण। **गुण:** = सौन्दर्य आदि गुण। [कामदेव के धनुष के पक्ष में–]प्रत्यञ्चा अथवा डोरी। **तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा** = उस [राजा नल] के महान् धैर्य को नाश करने के लिये [अपने] धनुष पर बाण चढ़ाने वाले। **स्वात्मशरासनाश्रय:** = अपना अथवा [शोभन] धनुष ही है आश्रय जिसका ऐसी प्रत्यञ्चा। **श्रवणातिथि:** अकारि = कान का अतिथि किया। दमयन्ती के गुणों के पक्ष में अर्थ होगा–श्रवण किया–सुना-कर्णगोचर किया। कामदेव के धनुष की डोरी के पक्ष में अर्थ होगा– कान तक [डोरी अथवा प्रत्यञ्चा को] खींचा।

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी
तदा खलु ज्यां विशिखैस्सनाथयन्।
निमज्जयामास यशांसि
संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि॥४५॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अमुष्येति। स स्मर: साहसी साहसकार: 'न साहसमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यती'ति न्यायादविलम्बी सन्नित्यर्थ:। अमुष्य धीरस्य अविचलितस्य नलसय जयाय शरासनज्यां निजधनुर्मौर्वी विशिखै: शरै: सनाथयन् सनाथां कुर्वन् संयोजन्नित्यर्थ:, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी 'तद्धितार्थे' त्यादिना समास: 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगु: स्त्रियामिष्यत' इति स्त्रीलिङ्गत्वात् 'द्विगोरि'ति ङीप्। तस्य विजयेनार्जितानि सम्पादितान्यपि यशांसि संशये निमज्ज्यामास किं पुन: सम्प्रति सम्पाद्यमित्यपिशब्दार्थ:। वृद्ध्यपेक्षया अनुचितकर्मारम्भे मूलमपि नश्येदिति संशयितवानित्यर्थ:। अत्र स्मरस्योक्तसंशया-ऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति:॥४५॥

अन्वय— तदा खलु धीरस्य अमुष्य जयाय ज्यां विशिखै: सनाथयन् साहसी स्मर: त्रिलोकीविजयार्जितानि यशांसि अपि संशये निमज्जयामास।

संस्कृत-व्याख्या— तदा= तस्मिन् समये, खलु = निश्चयेन, धीरस्य = अविचलितस्य, अमुष्य = नलस्य, जयाय = विजयाय, ज्याम् = मौर्वीम्, विशिखै:= शरै:, सनाथयन्= सनाथां कुर्वन्—संयोजयन्—इत्यर्थ:, साहसी= साहसकर:, स्मर: = कामदेव:, त्रिलोकीविजयार्जितानि = त्रयाणां लोकनां समाहार:—त्रिलोकी तस्य विजयेन अर्जितानि सम्पादितानि, यशांसि= कीर्त्तय:, अपि, संशये = संदेहे, निमज्जयामास = निक्षिप्तवान्। वृद्ध्यपक्षेया अनुचितकर्मारम्भे मूलमपि नश्येदिति संशयितवानित्यर्थ:।

हिन्दी अनुवाद—तदा = उस समय, खलु = निश्चय के साथ, धीरस्य = धैर्यशाली, अमुष्य = इस राजा नल को, जयाय = जीतने के लिये, ज्याम् = [अपने धनुष की] प्रत्यञ्चा को, विशिखै: = बाणों से, सनाथयन् = युक्त करते हुए, साहसी = साहसयुक्त, स्मर: = कामदेव ने, त्रिलोकीविजयार्जितानि = तीनों लोकों को जीतने से प्राप्त हुए [अपने], यशांसि = यश को, अपि = भी, संशये = सन्देह में, निमज्जयामास = डाल दिया।

भावार्थ— उस समय इस धैर्यशाली नल पर विजय प्राप्त करने के लिये अपने धनुष की प्रत्यञ्चा को बाणों से युक्त करते हुए साहसी कामदेव ने तीनों

लोकों के लोगों पर विजय प्राप्त करने से प्राप्त हुए अपने यश को सन्देह में डाल दिया।

यद्यपि महान् धैर्यशाली राजा नल को जीत लेना कामदेव के लिये एक दुष्टकर कार्य ही था, किन्तु फिर भी उससे ऐसा करने का साहस किया। क्योंकि अनुचित कार्य के करने से यश की वृद्धि तो दूर रही, मूल भी नष्ट हो जाया करता है।

अलङ्कार— उपर्युक्त श्लोक में वर्णित संशय के साथ कामदेव का सम्बन्ध न होने पर भी कामदेव के साथ उसका सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है— अत: ''अतिशयोक्ति'' अलङ्कार है।

व्याकरण—जयाय = इसमें ''तुमर्थाच्च भाववचनात्'' सूत्र से चतुर्थी विभक्ति हुई है। **त्रिलोकी** = त्रयाणां लोकानां समाहार: ''त्रिलोकी'' इस द्विगु समास में ''द्विगो:'' इस सूत्र से ङीप् होता है।

समास—त्रिलोकीविजयार्जितानि = त्रयाणां लोकानां समाहार: त्रिलोकी (द्विगु), त्रिलोक्या: विजय: त्रिलोकीविजय: (षष्ठी तत्पु) तेन अर्जितानि (तृतीया तत्पु०) इति।

टिप्पणियाँ—धीरस्य = धैर्यशाली। **अमुष्य** = इस (राजा नल) के। **जयाय** = जीतने के लिये। **ज्याम्** = डोरी अथवा प्रत्यञ्चा को—''मौर्वीज्याशिञ्जिनी गुण:'', इत्यमर:। **विशिखै:** = बाणों से—''पृषत्कबाणविशिखा अजिह्मगखगाशुगा:''— उत्यमर:। **सनाथयन्** = सनाथ अर्थात् युक्त करते हुए। **साहसी** = साहसयुक्त— साहस से परिपूर्ण। अपनी शक्ति से अधिक कार्य करने की क्षमता साहस से ही आया करती है—'' न साहसमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति''। **स्मर:** = कामदेव। **त्रिलोकीविजयार्जितानि** = तीनों लोकों अथवा भुवनों को जीत लेने से प्राप्त हुए। राजा नल कामदेव की अपेक्षा सौन्दर्य, गुणों तथा बल आदि सभी में कहीं अधिक थे अत: उनपर विजय प्राप्त करने की इच्छा करना भी कामदेव के लिये

नितान्त अनुचित था। अतएव उनके द्वारा राजा नल को जीतने के लिये किया गया साहस दुस्साहस मात्र ही कहा जायगा। फिर भी उसने साहस किया और इस भाँति उसने अपने त्रिलोकविजयी यश को खतरे में डाल दिया।

प्रसङ्ग— राजा नल अत्यन्त महान् तथा धीर व्यक्ति थे फिर भी वे काम के वशीभूत हो गये। इससे प्रतीत होता है कि भगवदिच्छा ही ऐसी थी।

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरबन्ध्येच्छतया व्यलासि तत्।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चकम्॥४६॥

मल्लिनाथकृत-टीका— दैवसहायात् पुष्पेषोरेव पुरुषकार: फलित इत्याह- अनेनेति। अनेन नलेन सह भैमीं घटयिष्यत: योजयिष्यतो विधेर्विधातुरबन्ध्येच्छतया अमोघ सङ्कल्पत्वेन यत्तस्मात्तथा तेन प्रकारेण योऽग्रे वक्ष्यत इति भाव:। व्यलासि विलसितं लसतेर्भावे लुङ्। यत् पौष्पैरपि न तु कठिनैरनङ्गस्य न तु देहवत: मार्गणैर्धैर्य्यमेव कञ्चुकमस्य नलस्य अभेदि भिन्नं, कर्म्मणि लुङ्। दमयन्तीनलयोर्दाम्पत्यघटनाय अनङ्गमार्गणैर्नलधैर्यकञ्चुक-भेदनाद्विधेरबन्ध्येच्छत्वं विज्ञायत इत्यर्थ:, दैवानुकूल्ये किं दुष्करमिति भाव:। तत्रानङ्गपौष्पयो: कञ्चुकं भिन्नमिति विरोध:, तस्य विलासेनाभासी-करणाद्विरोधाभास:, स च धैर्य्यकञ्चुकमिति रूपकोत्थापित इति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर:॥४६॥

अन्वय— अस्य तत् तादृक् धैर्यकञ्चुकं पौष्पै: अपि अनङ्गमार्गणै: यत् अभेदि तत् तथा अनेन भैमीं घटयिष्यत: विधे: अबन्ध्येच्छतया व्यलासि।

संस्कृत-व्याख्या—अस्य= नलस्य, तत् = प्रसिद्धम्, तादृक् = तथा अभेद्यमित्यर्थ:, धैर्यकञ्चकम् = धैर्यमेव कञ्चुकम्, पौष्पै: अपि = कुसुम निर्मितैरपि, अनङ्गमार्गणै: = कन्दर्पवाणै:, यत् = यस्माद्, अभेदि = भिन्नम्; तत्= तस्मात्, तथा= तेन प्रकारेण, अनेन = नलेन, भैमीम्= दमयन्तीम्, घटयिष्यत: = योजयिष्यत:, विधे: = विधातु:, अबन्ध्येच्छतया = अमोघसंकल्पत्वेन, व्यलासि = विलसितम्। दमयन्तीनलयो: दाम्पत्यघटनाय

कामबाणैः नलधैर्यकञ्चुकभेदनाद् विधातुः अमोघसंकल्पत्वं विज्ञायतेः, इत्यर्थः, दैवानूकूल्ये कि दुष्करम् ?— इति भावः।

हिन्दी अनुवाद— अस्य = इस नल का, तत् = प्रसिद्ध, तादृक् = वैसा (अभेध), धैर्यकञ्चकम् = धैर्यरूपी कवच, पौष्पैरपि = कुसुमनिर्मित अर्थात् कोमल सुकोमल, अनङ्गमार्गणैः = कामदेव के बाणों से, यत् = जिस कारण, अभेदि = विदीर्ण हो गया; तत् = उस कारण, तथा = उस प्रकार से, अनेन = नल के साथ, भैमीम् = दमयन्ती का, घटयिष्यतः = संगम कराने वाले, विधेः = विधाता के, अबन्ध्येच्छतया = अमोघ संकल्प का ही, व्यलासि = विलास था।

भावार्थ— वैसे प्रसिद्ध एवं दुर्भेद्य राजा नल के साथ उस प्रकार का (इन्द्र आदि देवों का त्यागकर) दमयन्ती का संगम कराने वाले विधाता के सफल मनोरथ का ही यह विलास था। अन्यथा अत्यधिक शूरवीर एवं महान् धैर्यसम्पन्न राजा नल का धैर्य अशरीरी कामदेव पुष्पनिर्मित कोमलतम बाणों से कदापि भेदा नहीं जा सकता था। इससे ज्ञात होता है कि विधाता की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी कर सकना संभव नहीं हुआ करता है अथवा विधाता के अनुकूल होने पर संसार में कुछ भी असंभव नहीं हुआ करता है।

कामदेव के पुष्पसदृश सुकोमल बाणों ने राजा नल के धैर्यरूपी कवच को विदीर्ण कर डाला। इससे यह भाव प्रकट होता है कि ब्रह्मा की यही दृढ़ इच्छा थी कि दमयन्ती का संयोग राजा नल के साथ हो।

अलङ्कार— इसमें 'शरीरसहित' (कामदेव) का बाणों द्वारा कवच नष्ट हो गया में स्पष्ट विरोध की प्रतीति होती है किन्तु विधाता के विलास द्वारा उस विरोध का परिहार भी प्रस्तुत कर दिया गया है। अतः ''विरोधाभास'' अलङ्कार है। ''धैर्यकञ्चुकम्'' में रूपक अलङ्कार का होना स्पष्ट ही है। अतएव दोनों में अंग-अंगी भाव में ''संकर'' है।

व्याकरण— **पौष्पैः** = पुष्प + अण्। **अभेदि** = भिद् + लुङ्। **घटयिष्यतः** = घट् + णिच् + लृट्— शतृ = घटयिष्यन् (षष्ठी एकवचन में—

घटयिष्यतः)। **अबन्ध्येच्छतया** = अबन्ध्येच्छ + तल् + टाप् (तृतीया एकवचन में अबन्ध्येच्छतया)।

समास—धैर्यकञ्चकम् = धैर्यमेव कञ्चुकम् – इति। **अनङ्गमार्गणैः** = नास्ति अङ्गं यस्य स अनङ्गः (बहुव्रीहि) तस्य मार्गणैः। **अबन्ध्येच्छतया** = अबन्ध्या अव्यर्था इच्छा यस्य स अबन्ध्येच्छया तया।

टिप्पणियाँ—तादृक् = उस प्रकार का अर्थात् दुर्भेद्य। **धैर्यकञ्चकम्** = धैर्यरूपी कवच अथवा कंचुक। [कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री– इत्यमरः॥] पौष्पैः = फूलों से निर्मित। **अनङ्गमार्गणैः** =अशरीरी अथवा शरीर रहित (भगवान् शिव द्वारा कामदेव का शरीर नष्ट कर दिया था– तभी से कामदेव का नाम ''अनङ्ग'' पड़ गया [''कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः कामः पञ्चशरः स्मृतः''– इत्यमरः॥] कामदेव के पंच प्रसिद्ध बाण पाँच फूल ही माने जाते हैं और वे ये हैं–''अरविन्दमशोकञ्च चूतञ्च नवमल्लिका। नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः॥'' **यत्** = जिस कारण से। **अभेदि** = भेद दिया—विदीर्ण कर दिया। **घटयिष्यतः** = आगे आने वाले समय में संगम कराने की इच्छा रखने वाले। **विधेः** = विधाता के अथवा भाग्य के। **अबन्ध्येच्छतया** = सफल मनोरथ अथवा दृढ़संकल्प वाला होने से। **व्यलासि** = विलास था।

प्रसङ्ग— राजा नल अपने से न्यून कान्ति वाले कामदेव को नहीं लाँघ सके—

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः
पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो।
स्मरं तनुच्छायतया तमात्मना
शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नल॥४७॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अथ विधिमपि जितवतः कं विध्यपेक्षयेत्या-शयेनाह— किमिति। किमन्यत् अन्यत् किमुच्यते, पितामहो विधिरपि तस्य स्मरस्या-स्त्रैस्तापितः सन्तापितः अद्यापि वारिजमाश्रयति तस्य पद्मासनत्वादिति

भावः। सर्वनीतेरपचारश्च गम्यते, अहो विधेरपि स्मरविधेयत्वमाश्चर्यम्। पितामहतापिनं स्मरं स नलः आत्मनस्तनोः छायेव छाया कान्तिर्यस्य तस्य भावस्तत्ता तया तनुच्छायतया तनोश्छाया अनातपस्तनुच्छाया तत्तयेति च गम्यते 'छाया त्वनातपे कान्ताविति'वैजयन्ती। लङ्घितुं न शशाक इत्यहं शङ्के, न हि स्वच्छाया लङ्घितुं शक्या इति भावः। अत्र स्मरलङ्घने पितामहोऽप्यशक्तः किमुत नल इत्यर्थापत्ति-स्तावदेकोऽलङ्कारः। 'एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया'॥ इति लक्षणात् तनोश्छायेवच्छायेत्युपमा छाययोर-भेदाध्यवसायादतिशयोक्ति एतत्त्रितयोपजीवनेनालङ्घ्यत्वे तनुच्छायताया हेतुत्वोत्प्रेक्षा सङ्कीर्णा, सा च शङ्क इति व्यञ्जककप्रयोगा द्वाच्येति॥४७॥

अन्वय—किमन्यत्? अहो, यदस्त्रतापितः पितामहः अद्यापि वारिजं आश्रयति। तं स्मरं स नलः आत्मनः तनुच्छायतया लङ्घितुं न शशाक [इति] शङ्के।

संस्कृत-व्याख्या—किम् अन्यत् = अन्यत् किं उच्यते? अहो = आश्चर्यम्, यदस्त्रतापितः= यस्य कामस्य अस्त्रैः बाणैः तापितः सन्तापितः, पितामहः = विधिः, अद्यापि = इदानीमपि, वारिजम् = जलजम्, आश्रयति = अवलम्बते [तस्य पद्मासनत्वादित्यर्थः]। तम् स्मरम् = कामम्, सः नलः, आत्मनः = स्वस्य, तनुच्छायतया = तनोः शरीरस्य छाया कान्तिः यस्य तस्य भावः तत्ता तया, लङ्घितुम् = अतिक्रमितुम्, न शशाक = शक्तः नाभूत्, [इति] शङ्के = इत्यहं मन्ये।

हिन्दी अनुवाद—किमन्यत्? = और क्या कहा जाय? अहो = आश्चर्य की बात है कि, यदस्त्रतापितः = जिस (कामदेव) के अस्त्रों से संतापितः, पितामहः = ब्रह्मा भी, अद्यापि = आज तक भी [कमलासन होने के कारण], वारिजम् = कमल का, आश्रयति = सहारा लिये हुए हैं। तम् = उस, स्मरम् = कामदेव को, स नलः = वह नल, आत्मनः = अपने, तनुच्छायतया = अपने शरीर की कान्ति की छाया सदृश कान्ति से युक्त होने के कारण, लङ्घितुम् =

अतिक्रमण कर सकने में, न शशाक = समर्थ न हो सके। [इति] शङ्के = ऐसा मैं मानता हूँ।

भावार्थ— और अधिक क्या कहा जाय? ब्रह्मा भी इस कामदेव के बाणों के प्रभाव से संतप्त होकर निरन्तर कमल का ही आश्रय प्राप्त किये हुए हैं और इसी कारण उनको "कमलासन" भी कहा जाता है फिर राजा नल तो सांसारिक पुरुष ही थे वे यद्यपि शारीरिक कान्ति की दृष्टि से कामदेव को नीचा दिखला चुके थे, किन्तु उनकी दमयन्ती के प्रति अनुरक्ति देखकर कामदेव को अपना बदला लेने का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया था, अतः इस अवस्था में वे काम के बाणों के प्रभाव को अपने से दूर न कर सके। जब ब्रह्मा, जिन्हें सृष्टि का उत्पादक कहा जाता है, वे ही काम के प्रभाव को अपने से दूर हटा सकने में समर्थ नहीं हो सके तो फिर राजा नल की तो हस्ती ही क्या थी? वे किस भाँति उस काम के बाणों के प्रभाव का उल्लंघन कर सकने में सक्षम हो सकते थे?

जिस कामदेव ने अतिशय वृद्ध पितामह (ब्रह्मा) को ऐसा सन्तप्त कर दिया कि इतना अधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी उन्हें आज तक मल का आश्रय प्राप्त करना पड़ रहा है, फिर वही काम अपने प्रतिद्वन्द्वी राजा नल को संतप्त नहीं करेगा, यह कैसे संभव हो सकता था?

राजा नल अत्यधिक (काम से अधिक) सुन्दर थे। कामदेव को उनके शरीर की छाया रूप उस कामदेव का उल्लंघन कैसे कर सकते थे? क्योंकि संसार में अति प्रबल व्यक्ति भी अपने शरीर की परछाई को कभी भी लाँघ नहीं सकता— स्वशरीर की छाया कभी के लिये अनतिक्रमणीय (अनुल्लंघनीय) ही हुआ करती है।

अलङ्कार— इस श्लोक में कामदेव के 'अलंध्यत्व' सम्बन्धी हेतु की संभावना किये जाने से "हेतूत्प्रेक्षा" अलङ्कार है। उत्प्रेक्षावाचक शब्द "शङ्के" है। "कामदेव का अतिक्रमण किये जाने में जब ब्रह्मा भी समर्थ नहीं है तब राजा नल की तो बात ही क्या?" इस भाग में "अर्थापत्ति" अलङ्कार है तथा "तनोश्छायेव छाया" में "उपमा" भी बन जाती है।

व्याकरण—वारिजम् = वारि + जन् + ड (नपु० लि० प्रथमा वि० एकवचन)। **तनुच्छायतया** = तनुच्छाय + तल् + टाप् (तृतीया-एकवचन)। **शशाक** = शक् +लिट्।

समास—यदस्त्रतापित: = यस्य अस्त्राणि (षष्ठी तत्पु) यदस्त्राणि, तै: तापित: (तृतीया तत्पु०)। **वारिजम्** = वारिणि जायते इति वारिजम्, **तनुच्छायतया** = तनो: छाया इव छाया यस्य स तनुच्छायता तया।

टिप्पणियाँ—किमन्यत् = और क्या कहा जाय अर्थात् इससे भी अधिक और क्या कहा जा सकता है कि भगवान् ब्रह्मा भी काम के बाणों से संतप्त हो गये थे और आज तक उसी अवस्था में विद्यमान हैं। इसी कारण कमलों का आश्रय भी प्राप्त किये हुए हैं। **अहो** = यह आश्चर्योत्पादक अव्यय है। **यदस्त्रतापित:** = जिसके अस्त्रों अर्थात् पुष्पनिर्मित बाणों से संतप्त। **पितामह:** = ब्रह्मा। **वारिजम्** = कमल का। ब्रह्मा का आसन कमल माना गया है अत: महाकवि ने ब्रह्मा के स्वभाव सिद्ध कमलासनत्व के बारे में कामसंतप्त होने सम्बन्धी संभावना की है। संतप्तावस्था में विद्यमान व्यक्ति शीतलवस्तु के आश्रय की ही सदैव इच्छा किया करता है। **आश्रयति** = आश्रय अथवा सहारा प्राप्ति किया है। **तनुच्छायतया** = [अपने] शरीर की छाया के सदृश छाया को धारण किये हुए होने के कारण– ''छाया त्वनातपे कान्तौ''– इति वैजयन्ती। **लङ्घितुम्** = अतिक्रमण कर सकने में, उल्लंखन करने हेतु लाँघ सकने में। **शशाक** = समर्थ अथवा सक्षम हुआ।

प्रसङ्ग– वह दमयन्ती लज्जारूपिणी नदी को पार करके राजा नल के हृदय में प्रविष्ट हो गयी–

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं
नवोपहारेण वयस्कृतेन किम्।
त्रपासारिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा
नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत्॥४८॥

मल्लिनाथकृत-टीका— उरोभुवेति। सा तन्वी भैसी त्रपैव सरित् सैव दुर्गं नलसम्बन्धि तदपि प्रतीर्य्य नलस्य हृदयं विवेशेति यत् तत्प्रवेशनं यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्, वयस्कृतेन नवोपहारेण नूतननिर्म्माणेन उरोभुवा तज्जन्येन कुम्भयुगेन कुचयुगाख्येनेति भाव: इत्यतिशयोक्ति:। 'न लोके'त्यादिना कृद्योगषष्ठीप्रतिषेधात्कर्त्तरि तृतीया, 'नपुंसके भाव उपसंख्यानमि'ति षष्ठी तु शेषविवक्षायाम्। जृम्भितं जृम्भणं किमुत्प्रेक्षा सा चोक्तातिशयोक्तिमूलेति सङ्कर:। दमयन्तीकुचकुम्भविभ्रमश्रवणान्नलस्त्रपां विहाय तस्यामासक्तचित्तोऽभूदित्यर्थ:, तेन मन:सङ्ग उक्त:॥४८॥

अन्वय— सा तन्वी त्रपासारिद्दुर्गं अपि प्रतीर्य नलस्य हृदयं यत् विवेश, [तत्] किं वयस्कृतेन नवोपहारेण ऊरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितम्।

संस्कृत-व्याख्या—सा = प्रसिद्धा, तन्वी = कृशाङ्गी, दमयन्ती, त्रपासारिद्दुर्गमपि = त्रपा लज्जा एव सरित् नदी तस्या: दुर्गं नल सम्बन्धि तदपि, प्रतीर्य = तीर्त्वा, नलस्य, हृदयम् = चित्तम्, यत्, विवेश = प्रविष्टवती [तत् = प्रवेशनम्], किम् वयस्कृतेन = वयसा युवावस्थया कृतेन संपादितेन, नवोपहारेण = नव: नूतन: उपहार: उपायनं तद्रूपेण, उरोभुवा= उरसि जन्येन, कुम्भयुगेन = कुचकलशद्वयेन कुचयुगाख्येन वा, जृम्भितम् = विलसितम् ? दमयन्तीकुचुकुम्भविलासश्रवणात् नल: त्रपां विहाय तस्यां आसक्तचित्त: अभूदित्यर्थ:।

हिन्दी अनुवाद—सा = उस, तन्वी = कृशाङ्गी (दमयन्ती) ने, त्रपासारिद्दुर्गमपि = लज्जा रूपिणी नदीरूप दुर्ग को भी, प्रतीर्य = पार करके, नलस्य = (राजा) नल के, हृदयम् = हृदय में, यत् = जो, विवेश = प्रवेश पा लिया; [तत् = वह], किम् = क्या, वयस्कृतेन = युवावस्था द्वारा दिये गये, नवोपहारेण = नवीन उपहाररूप, ऊरोभुवा = वक्ष:स्थल पर उत्पन्न हुए, कुम्भयुगेन = दोनों स्तनरूपी कलशों का, जृम्भितम् = विलास था।

भावार्थ— कृशाङ्गी वह दमयन्ती अपनी लज्जारूपिणी नदी के उत्कृष्टतम प्रकार को पारकर जो नल के हृदय में प्रविष्ट हो गयी, वह क्या युवावस्था द्वारा

व्याकरण—**वारिजम्** = वारि + जन् + ड (नपु० लि० प्रथमा वि० एकवचन)। **तनुच्छायतया** = तनुच्छाय + तल् + टाप् (तृतीया-एकवचन)। **शशाक** = शक् +लिट्।

समास—**यदस्त्रतापित:** = यस्य अस्त्राणि (षष्ठी तत्पु) यदस्त्राणि, तैः तापित: (तृतीया तत्पु०)। **वारिजम्** = वारिणि जायते इति वारिजम्, **तनुच्छायतया** = तनोः छाया इव छाया यस्य स तनुच्छायता तया।

टिप्पणियाँ—**किमन्यत्** = और क्या कहा जाय अर्थात् इससे भी अधिक और क्या कहा जा सकता है कि भगवान् ब्रह्मा भी काम के बाणों से संतप्त हो गये थे और आज तक उसी अवस्था में विद्यमान हैं। इसी कारण कमलों का आश्रय भी प्राप्त किये हुए हैं। **अहो** = यह आश्चर्योत्पादक अव्यय है। **यदस्त्रतापित:** = जिसके अस्त्रों अर्थात् पुष्पनिर्मित बाणों से संतप्त। **पितामह:** = ब्रह्मा। **वारिजम्** = कमल का। ब्रह्मा का आसन कमल माना गया है अतः महाकवि ने ब्रह्मा के स्वभाव सिद्ध कमलासनत्व के बारे में कामसंतप्त होने सम्बन्धी संभावना की है। संतप्तावस्था में विद्यमान व्यक्ति शीतलवस्तु के आश्रय की ही सदैव इच्छा किया करता है। **आश्रयति** = आश्रय अथवा सहारा प्राप्ति किया है। **तनुच्छायतया** = [अपने] शरीर की छाया के सदृश छाया को धारण किये हुए होने के कारण— "छाया त्वनातपे कान्तौ"— इति वैजयन्ती। **लङ्घितुम्** = अतिक्रमण कर सकने में, उल्लंखन करने हेतु लाँघ सकने में। **शशाक** = समर्थ अथवा सक्षम हुआ।

प्रसङ्ग— वह दमयन्ती लज्जारूपिणी नदी को पार करके राजा नल के हृदय में प्रविष्ट हो गयी—

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं
नवोपहारेण वयस्कृतेन किम्।
त्रपासारिद्‌दुर्गमपि प्रतीर्य सा
नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत्॥४८॥

मल्लिनाथकृत-टीका— उरोभुवेति। सा तन्वी भैसी त्रपैव सरित् सैव दुर्गं नलसम्बन्धि तदपि प्रतीर्य्य नलस्य हृदयं विवेशेति यत् तत्प्रवेशनं यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्, वयस्कृतेन नवोपहारेण नूतननिर्म्माणेन उरोभुवा तज्जन्येन कुम्भयुगेन कुचयुगाख्येनेति भाव: इत्यतिशयोक्ति:। 'न लोके'त्यादिना कृद्योगषष्ठीप्रतिषेधात्कर्त्तरि तृतीया, 'नपुंसके भाव उपसंख्यानमि'ति षष्ठी तु शेषविवक्षायाम्। जृम्भितं जृम्भणं किमुत्प्रेक्षा सा चोक्तातिशयोक्तिमूलेति सङ्कर:। दमयन्तीकुचकुम्भविभ्रमश्रवणान्नलस्त्रपां विहाय तस्यामासक्तचित्तोऽभूदित्यर्थ:, तेन मन:सङ्ग उक्त:॥४८॥

अन्वय— सा तन्वी त्रपासारिद्दुर्गं अपि प्रतीर्य नलस्य हृदयं यत् विवेश, [तत्] किं वयस्कृतेन नवोपहारेण ऊरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितम्।

संस्कृत-व्याख्या—सा = प्रसिद्धा, तन्वी = कृशाङ्गी, दमयन्ती, त्रपासारिद्दुर्गमपि = त्रपा लज्जा एव सरित् नदी तस्या: दुर्गं नल सम्बन्धि तदपि, प्रतीर्य = तीर्त्वा, नलस्य, हृदयम् = चित्तम्, यत्, विवेश = प्रविष्टवती [तत् = प्रवेशनम्], किम् वयस्कृतेन = वयसा युवावस्थया कृतेन संपादितेन, नवोपहारेण = नव: नूतन: उपहार: उपायनं तद्रूपेण, उरोभुवा= उरसि जन्येन, कुम्भयुगेन = कुचकलशद्वयेन कुचयुगाख्येन वा, जृम्भितम् = विलसितम्? दमयन्तीकुचुकुम्भविलासश्रवणात् नल: त्रपां विहाय तस्यां आसक्तचित्त: अभूदित्यर्थ:।

हिन्दी अनुवाद—सा = उस, तन्वी = कृशाङ्गी (दमयन्ती) ने, त्रपासारिद्दुर्गमपि = लज्जा रूपिणी नदीरूप दुर्ग को भी, प्रतीर्य = पार करके, नलस्य = (राजा) नल के, हृदयम् = हृदय में, यत् = जो, विवेश = प्रवेश पा लिया; [तत् = वह], किम् = क्या, वयस्कृतेन = युवावस्था द्वारा दिये गये, नवोपहारेण = नवीन उपहाररूप, ऊरोभुवा = वक्ष:स्थल पर उत्पन्न हुए, कुम्भयुगेन = दोनों स्तनरूपी कलशों का, जृम्भितम् = विलास था।

भावार्थ— कृशाङ्गी वह दमयन्ती अपनी लज्जारूपिणी नदी के उत्कृष्टतम प्रकार को पारकर जो नल के हृदय में प्रविष्ट हो गयी, वह क्या युवावस्था द्वारा

दिये गये नवीन (मुक्ताहार के सदृश) उपहार से युक्त वक्षस्थल पर उत्पन्न हुए स्तनरूप दो कलशों का ही प्रभाव था।

जिस भाँति कोई अभिसारिका दो घड़ों की सहायता से नदी को पारकर दुर्गम संकेतस्थल पर पहुँच जाया करती है उसी भाँति दमयन्ती ने भी दो स्तनरूपी कलशों की सहायता से लज्जारूपिणी नदी के प्राकार को पार करके राजा नल के हृदय में प्रवेश प्राप्त कर लिया।

अलङ्कार— इस श्लोक में अतिशयोक्तिमूलक ''उत्प्रेक्षा'' नामक अलङ्कार है।

व्याकरण—प्रतीर्य = प्र +तृ + क्त्वा—ल्यप्। **उरोभुवा** = उरस् + भू + क्विप् (तृतीया एकवचन में)। **जृम्भितम्** = जृम्भ् + क्त (भाव में)।

समास—त्रपासारिद्दुर्गम् = त्रपा एव सरित् तस्याः दुर्गम् — इति। **वयस्कृतेन** = वयसा कृतं इति वयस्कृतम्—तेन। **नवोपहारेण** = नवः उपहारः इति नवोपहारः (कर्मधारय) तेन। **उरोभुवा** = उरसि भवतीति उरोभू तेन।

टिप्पणियाँ— **तन्वी** = कृशाङ्गी— दुर्बल अंगो वाली-पतली दुबली। त्रपासारिद्दुर्गम् = लज्जारूपी नदी के दुर्ग को अथवा लज्जा-नदी रूपी दुर्ग को। [दुर्ग-किला]। **प्रतीर्य** = पार करके। **वयस्कृतेन** = युवावस्था द्वारा किये गये अथवा युवावस्था द्वारा दिये गये। **नवोपहारेण** = नवीन उपहाररूप। **ऊरोभुवा** = वक्षःस्थल पर उत्पन्न होने वाले। **कुम्भयुगेन** = दो कलशों से। दो स्तनों रूपी कलशों से। **जृम्भितम्** = विलास था।

प्रसङ्ग— दमयन्ती के विरह से उत्पन्न राजा नल की अधीरता को उनकी शय्या ही जान सकी-- कोई दूसरा नहीं--

अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजाम-
धीरतामस्य कृतं मनोभुवा।
अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा
च शय्या च शशाङ्ककोमला॥४९॥

मल्लिनाथकृत-टीका—अथास्य जागरावस्थामाह— अपह्नुवानस्येति। निजामधीरतां चपलत्वं जनायापह्नुवानस्यापलषतः 'श्लाघह्नुङ्स्थे' त्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। अस्य नलस्य मनोभुवा कामेन यज्जागरप्रलापादिकं कृतन्तत्सर्वं जागरदुःखस्य साक्षिणी। 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायामि'ति साक्षाच्छब्दादिनिप्रत्यये ङीप्। शशाङ्केन कोमला रम्या निशा चाबोधि। 'दीपजने'त्यादिना कर्त्तरि च्लेश्चिणादेशः। तथा शशाङ्कत्वत्कोमला मृदुला शय्या अबोधि, निशायां शय्यायां जागरणयोस्तत्साक्षित्वमिति भावः॥४९॥

अन्वय— निजां अधीरतां जनाय अपह्नुवानस्य अस्य मनोभुवा यत् कृतं तत् जागरदुःखसाक्षिणी शशाङ्ककोमला शय्या च निशा च अबोधि।

संस्कृत-व्याख्या—निजाम् = स्वकीयाम्, अधीरताम् = चपलत्वम्, जनाय= लोकाय, अपह्नुवानस्य = गोपायतः, अस्य= नलस्य, मनोभुवा = कामेन, यत् = अनिर्वाच्यम्, कृतम्= विहितम्, तत्, जागरदुःखसाक्षिणी =जागरणजन्यकष्टस्य साक्षिणी, शशाङ्ककोमला= शशस्य मृगविशेषस्य अङ्कः उत्सङ्गः तद्वत् कोमला मृदुला, शय्या = आस्तरणम्, च [शशाङ्केन चन्द्रेण कोमला रम्या—] निशा च = रात्रिश्च, अबोधि = जानाति स्म।

हिन्दी अनुवाद—निजाम् = अपनी, अधीरताम् = अधीरता को, जनाय = लोगों से, अपह्नुवानस्य = छिपाते हुए, अस्य = इस राजा नल के साथ, मनोभुवा = कामदेव ने, कृतम् = जो किया था, तत् = उसे, जागरदुःखसाक्षिणी = जागरण के कष्ट को साक्षात् (प्रत्यक्ष) रूप से देखने वाली तथा, शशाङ्ककोमला = मृगविशेष की गोद के समान कोमल, शय्या = च = और, [शशाङ्ककोमला = चन्द्रमा से रमणीय—] निशा = रात्रि ही, बोधि = जानती थी।

भावार्थ— अन्य लोगों से अपनी दमयन्ती संबंधी अनुरक्ति से होने वाली चंचलता को छिपाने वाले राजा नल के साथ कामदेव ने जो भी व्यवहार किया उसको राजा नल के रात्रिपर्यन्त जागरण को देखने वाली सुकोमल शय्या अथवा चन्द्रमा के कारण अत्यन्त मनोहर रात्रि ही जानती थी।

राजा नल काम द्वारा संतप्त किये जा चुके थे अतः उनको रात्रि में निद्रा नहीं आती थी और वे अपनी शय्या पर करवटें ही बदलते रहते थे। इसी भाँति उनकी रात्रियाँ व्यतीत हो रही थीं। अतः राजा नल की शारीरिक एवं मानसिक कष्टजन्य विकलता को प्रत्यक्ष रूप से देखने वाली या तो उनकी शय्या ही थी अथवा रात्रि ही थी।

व्याकरण—**अधीरताम्** = अधीर + तल् + टाप् = अधीरता—द्वितीया-एकवचन में—अधीरताम्। **जनाय** = यहाँ पर "श्लाघह्नुङ्स्थाशयां ज्ञीप्स्यमानः" सूत्र से "जनया अपह्नुवानस्य" के प्रयोग की दृष्टि से ह्नु धातु के योग में "चतुर्थी विभक्ति" हुई है। **अपह्नुवानस्य** = अप + ह्नु + लट् — शानच् = अपह्नुवानः— षष्ठी एकवचन में अपह्नुवानस्य। **मनोभुवा** = मनस् + भू +क्विप्— तृतीया एकवचन में। **साक्षिणी** = साक्षात् + इनि + ङीप्। **शय्या** =शी + क्यप् ("सत्तायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः" सूत्र से) तदनन्तर "अयङ् यि क्ङिति" सूत्र से अयङादेश। **अबोधि** = बुध् (दिवादिगणी) + लुङ् (कर्त्ता में—) तिप्— "दीपजन..." इत्यादि सूत्र से च्लि के स्थान पर चिणादेश होकर।

समास—**अधीरताम्** = अधीरस्य भावः अधीरता ताम्। **मनोभुवा** = मनसि भवतीति मनोभूः तेन। **जागरदुःखसाक्षिणी** = जागरस्य यत् दुःखम् तस्य साक्षिणी। **शशाङ्ककोमला** = शशाङ्कवत् कोमला इति (उपमित समास)। **शय्या** = शेते अस्यामिति शय्या। **निशा** = नितरां श्यति तनूकरोति व्यापारान् इति निशा।

टिप्पणियाँ— **निजाम् अधीरताम्** = अपनी अधीरता को। राजा नल के हृदय में दमयन्ती को स्थान प्राप्त हो चुका था। इस परिस्थिति को समझकर कामदेव ने भी राजा नल पर अपना प्रभाव उत्पन्न किया। अतः उनकी दमयन्ती विषयक अभिलाषा और भी अधिक उत्कट हो गयी। और उसी के कारण उनके हृदय में अधैर्य उत्पन्न हो गया। **जनाय** = लोगों से। **अपह्नुवानस्य** = छिपाते हुए। **मनोभुवा** = कामदेव ने। **जागरदुःखसाक्षिणी** = (राजा नल के सम्पूर्ण

रात्रि—) जागरण किये जाने से उत्पन्न हुए कष्ट की प्रत्यक्ष द्रष्टा। **शशाङ्ककोमला** = मृगविशेष की गोद के सदृश सुकोमल अथवा चन्द्रमा के समान शुभ्रवर्ण की [रात्रि के पक्ष में—] चन्द्रमा के सदृश सुन्दर अथवा चन्द्रमा (की चाँदनी) से सुशोभित। **निशा** = रात्रि। **अबोधि** = जाना, समझा-अथवा-जानती थी।

प्रसङ्ग— अत्यधिक काम-संतप्त हो जाने पर राजा नल ने विदर्भराज भीम से उनकी कन्या दमयन्ती की याचना नहीं की—

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स
प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत।
त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वं
त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम्॥५०॥

मल्लिनाथकृत-टीका— ननु किमनेन निबन्धेन, याच्यताम्भीमभूपतिर्दमयन्तीम्, नेत्याह— स्मरेत्यादि। भृशं गाढं स्मरोपतप्तः कामसन्तप्तोऽपि प्रभुः समर्थः स नलः विदर्भराजं भीमनृपतितनयां दमयन्तीं न अयाचत न याचितवान् 'दुहियाची'त्यादिना याचेर्द्विकर्मकता। तथाहि-मानिनो मनस्विनोऽत्युच्चमनस्काः असून् प्राणान् शर्म च सुखञ्च त्यजन्ति एतत्त्यागोऽपि वरं मनाक् वरमिति मनागुत्कर्ष इति महोपाध्यायवर्द्धमानः। किन्तु, एकमद्वितीयमयाचितव्रतम् अयाञ्चानियमन्तु न त्यजन्ति, मानिनां प्राणत्यागदुःखाद् दुःसहं याञ्चाया दुःखमित्यर्थ। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥५०॥

अन्वय— भृशं स्मरोपतप्तोऽपि प्रभुः विदर्भराजं तनयां न अयाचत। मानिनः असून् शर्म च वरं त्यजन्ति, तु एकं अयाचितव्रतं न त्यजन्ति।

संस्कृत-व्याख्या—भृशम् = गाढम्, स्मरोपतप्तः अपि = कामसंतप्तः अपि, स प्रभुः = सः राजा नलः, विदर्भराजम् = विदर्भदेशाधिपं भीमम्, तनयाम् = कन्यां दमयन्तीम्, न अयाचत = न याचितवान्। मानिनः = मनस्विनः, असून्= प्राणान्, शर्म च= सुखं च, वरम् = कामम्, त्यजन्ति, तु =

किन्तु, एकम् = अद्वितीयम्, अयाचितव्रतम् अयाञ्चानियमम्, न त्यजन्ति = न जहति। मानिनां प्राणत्यागदु:खाद् याचनाया: दु:खं दु:सहं भवतीत्यर्थ:।

हिन्दी अनुवाद— भृशम् = अत्यधिक, स्मरोपतप्त: अपि = काम द्वारा संतप्त हो जाने पर भी, स प्रभु: = उस राजा नल ने, विदर्भराजम् = विदर्भ नरेश राजा भीम से, तनयाम् = उनकी कन्या दमयन्ती को, न अयाचत = नहीं माँगा। मानिन: = स्वाभिमानी अथवा मनस्वी जन, अशून् = प्राणा शर्म च = और सुख को, वरम् = भले ही, त्यजन्ति = छोड़ दिया करते हैं, तु = किन्तु, एकम् = एक, अयाचितव्रतम् = याचना न करने के नियम को, न त्यजन्ति = नहीं छोड़ा करते हैं। मानो पुरुष प्राण एवं सुख के त्याग की अपेक्षा न माँगने सम्बन्धी नियम को न त्यागना ही अधिक श्रेष्ठ समझा करते हैं। तात्पर्य यह है कि वे प्राणों तथा अपने सुखों का उत्सर्ग सरलतापूर्वक कर सकते हैं किन्तु किसी से याचना न करने सम्बन्धी नियम को कभी भी छोड़ना पसन्द नहीं करते।

भावार्थ— कामदेव द्वारा अत्यधिक रूप से सताये जाने पर भी राजा नल ने विदर्भराज भीम से उनकी कन्या दमयन्ती की याचना नहीं की क्योंकि मानी पुरुष प्राण एवं सुख का त्याग भले ही कर देते हैं किन्तु एकमात्र अयाचना के नियम का त्याग नहीं किया करते हैं।

कामदेव राजा नल से बदला लेना चाहता था। अत: उसने राजा नल के हृदय पर पूर्ण प्रभाव डाला और यह चाहा कि वह विदर्भराज से उनकी कन्या दमयन्ती की याचना करें किन्तु राजा नल बड़े ही स्वाभिमानी व्यक्ति थे। उन्होंने कामदेव द्वारा उत्पन्न की गयी हुई संतप्तावस्था की कोई चिन्ता नहीं की और परिणामस्वरूप दमयन्ती की याचना भी नहीं की क्योंकि स्वाभिमानी व्यक्तियों का यह स्वभाव हुआ करता है कि वे अपने प्राणों अथवा सुखों का त्याग सरलतापूर्वक कर सकते हैं किन्तु न माँगने सम्बन्धी अपने नियम का उल्लंघन कभी भी नहीं किया करते हैं।

अलङ्कार— इस श्लोक में उत्तरार्ध के वाक्यार्थ रूप सामान्य द्वारा पूर्वार्ध के वाक्यार्थ रूप विशेष का समर्थन किया गया है अत: ''अर्थान्तरन्यास''

अलङ्कार है।

व्याकरण—विदर्भराजम् = यहाँ पर ''राजाहः सखिभ्यष्टच्' सूत्र से समासान्त ''टच्'' प्रत्यय हुआ है। **मानिनः** = माण+ इति। **याचित** = यात् + क्त (भाव में)।

समास—स्मरोपतप्तः = स्मरेण उपतप्तः इति (तृतीया तत्पुरुष)। **विदर्भराजम्** = विदर्भस्य राजा विदर्भराजः तम्। **मानिनः** = मानः अस्ति एषाम् इति मानिनः। **अयाचितव्रतम्** = न याचितम् अयाचितम् (नञ् तत्पु॰), तस्य व्रतम् (षष्ठी तत्पु॰)।

टिप्पणियाँ—भृशम् = अत्यधिक, अतिशयरूप से—''अतिवेलभृशात्यर्थाति-मात्रोद्गाढनिर्भरम्''— इत्यमरः। यह ''उपतप्तः'' का विशेषण है। **स्मरोपतप्तः** = कामपीड़ित-काम द्वारा सताये गये हुए। **विदर्भराजम्** = विदर्भदेशाधिपति राजा भीम से। **तनयाम्** = (उनकी) पुत्री (दमयन्ती) को। ''विदर्भराजम्'' तथा ''तनयाम्'' ये दोनों ही ''आयाचत्'' क्रिया के कर्म हैं क्योंकि ''याच्'' धातु द्विकर्मक है। **मानिनः** = मानी अथवा स्वाभिमानी अथवा मनस्वी जन। **असून्** = प्राणों को। **शर्म** = सुख को, **वरम्** = भले ही, अच्छे प्रकार से। यह ''त्यजन्ति'' क्रिया विशेषण है। **अयाचितव्रतम्** = न माँगने के व्रत अथवा नियम को।

प्रसङ्ग— राजा नल ने दमयन्ती के वियोग से उत्पन्न अपनी आहों तथा अपनी पाण्डुता को किसी बहाने से छिपाया—

मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जु-
गोप निःश्वासततिं वियोगजाम्।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागता-
विभावनाच्चापललाप पाण्डुताम्॥५१॥

मल्लिनाथकृत-टीका— मृषेतु। अयं नलो वियोगजां दमयन्तीवियोगजन्यां निःश्वासततिं निःश्वासपरम्परां क्वचित् कुत्रचिद्वस्त्वन्तरे

विषये मृषाविधादस्य मिथ्यादु:खस्याभिनयात् छलेन, जुगोप संववार। तथा पाण्डुतां विशदतां शरीरपाण्डिमानं च विलेपनस्य चन्दनादधिक: चन्द्रभाग: कर्पूरांशो यस्मिन् विलेपने 'घनसारश्चन्द्रसंज्ञ: सिताभ्रो हिमवालुका' इत्यमर:। तस्य विभावनात् कर्पूरभागाधिकतोत्प्रेक्षणादपललाप निह्नुते स्म। अत्राङ्गताभ्यां मृषाविषादचन्द्र-भागपाण्डिमभ्यां तद्विरहश्वासपाण्डिम्नोर्निगूहनान्मीलनालङ्कार:। 'मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम्।' इति लक्षणात्॥५१॥

अन्वय— अयं वियोगजां नि:श्वासततिं क्वचित् मृषाविषादाभिनयात् जुगोप, च पाण्डुतां विलेपनस्य अधिकचन्द्रभागताविभावनात् अपललाप।

संस्कृत-व्याख्या—अयम् = नल:, वियोगजाम् = दमयन्तीविरहजनिताम्, नि:श्वासततिम् = निश्वासपरम्पराम्, क्वचित् = कुत्र-चिद् वस्तु अन्तरे विषये, मृषाविषादाभिनयात् = मिथ्याभूतदु:खस्य अभिनयात् छलेन, जुगोप = संववार:। च, पाण्डुताम् = विशदतां शरीरपाण्डिमानं च विलेपनस्य= चन्दनस्य, अधिकचन्द्रभागताविभावनात् = अधिक: चन्द्रभाग: कर्पूरांश: यस्मिन् तस्य भाव: तत्ता तस्या: विभावनात् ज्ञापनात्, अपललाप = निह्नुते स्म।

हिन्दी अनुवाद— अयम् = इस (राजा नल) ने, वियोगजाम् = (दमयन्ती के) विरह से उत्पन्न, नि:श्वासततिम् = निश्वासों के समूह को अथवा आहों की परम्परा को, क्वचित् = किसी दूसरी वस्तु के बारे में, मृषाविषादाभिनयात् = झूठे दु:ख के बहाने से, जुगोप = छिपाया। च = और, पाण्डुताम् = (अपने शरीर की) पाण्डुता को, विलेपनस्य = चन्दन के लेप में, अधिकचन्द्रभागताविभावनात् = कपूर के अधिक होने की कल्पना से, अपललाप = छिपाया।

भावार्थ— वे (राजा नल) किसी वस्तु के विषय में झूठे विषाद (दु:ख) के प्रदर्शित करने के बहाने दमयन्ती-विरह से उत्पन्न (अपने) निश्वास-समूह को छिपाते थे और चन्दनादिनिर्मित लेप से अधिक कपूर के छोड़े जाने का बहाना बनाकर अपनी (शरीरजन्य) पाण्डुता को छिपाते थे।

अर्थात् राजा नल दमयन्ती के विरह के कारण बार-बार लम्बी साँसे लेते थे अथवा आहें भरते थे। किन्तु वे उन आहों को किसी अन्य विषय के झूठे दु:ख का वहाना बना कर छिपा देते थे इसी प्रकार दमयन्ती के विरह के कारण उनके शरीर में जो पाण्डुता आ गयी थी उसे वे यह कहकर, कि लेप में कर्पूर का अंश अधिक हो गया था, छिपाते थे। इससे लोग दमयन्ती विषयक उनकी विकलता को न जान पाते थे।

अलङ्कार—इस श्लोक में निश्वासों का झूठे विषादों द्वारा और पाण्डुता का कपूर की अधिकता द्वारा निगूहन किये जाने से ''मीलन'' अलङ्कार है। मीलन का लक्षण है—''मीलने वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम्''। इसके अतिरिक्त निश्वासों का झूठे विषादों के बहाने से तथा पाण्डुता का कपूर की अधिकता के व्याज (बहाने) से कथन किये जाने के कारण यहाँ ''व्याजोक्ति'' अलंकार की संभावना भी की जा सकती है।

व्याकरण— **अपलालप** = अप् + लप् + लिट्— तिप्-णल् -द्वित्व आदि होकर प्रथमपुरुष एकवचन में।

समास—मृषाविषादाभिनयात् = मषाविषादस्य अभिनयात्। **अधिकचन्द्र-भागताविभावनात्** = चन्द्रस्यभाग: चन्द्रभाग: अधिक: चन्द्रभाग: यस्मिन् तत् अधिकचन्द्रभागम् तस्य भाव: अधिकचन्द्रभागता तस्या: विभावनम् तस्मात्।

टिप्पणियाँ—वियोगजाम् = (दमयन्ती के) विरह से उत्पन्न। नि:श्वासततिम् = लम्बी साँसों की परम्परा को अथवा बार-बार लम्बी लम्बी साँसों के लेने को अथवा आहें भरने को। **मृषाविषादाभिनयात्** = झूठे विषाद (दु:ख) के अभिनय अथवा बहाने से। अथवा विषमत्तीति विषाद: [विष +अद् + अण् के अनुसार] इस व्युत्पत्ति के आधार पर ''विषाद'' शब्द का अर्थ होगा— शिव। तब इस समूचे पद का अर्थ होगा— लम्बी साँसों की परम्परा को झूठे ''शिव-शिव'' उच्चारण के बहाने से। **जुगोप** = छिपाया। **पाण्डुताम्** = अपने शरीर की सफेद युक्त पीतिमा (पीलापन) को।

अधिकचन्द्रभागताविभावनात् = [लेप में] कपूर के अंश के अधिक हो जाने की तर्कणा से। चन्द्रभाग: = कर्पूर– ''घनसारश्चन्द्रसंज्ञ: सिताभ्रो हिमवालुका'' इत्यमर:। **अपललाप** = छिपाया।

प्रसङ्ग– अपनी प्रिया दमयन्ती की प्राप्ति सम्बन्धी भावना से ओतप्रोत हृदय वाले राजा नल न तो मिथ्यारूप में देखी गयी दमयन्ती के साथ किये गये भाषण को ही लोगों से छिपा सके और न उसके विरह के कारण उत्पन्न हुई अपनी मूर्च्छा को ही–

शशाक निह्नोतुमनेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम्।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूच्छनासु च॥५२॥

मल्लिनाथकृत-टीका– शशाकेति। अयत्रलोऽलीकवीक्षितां मिथ्यादृष्टां प्रियां दमयन्तीं समाजे सभायामेव यत् बभाषे वीणा शिल्पमेषां तैर्वैणिकै: वीणावादै: 'शिल्पमि'ति ठञ्। आलपितासु सूच्चरितासु व्यक्तिं गतास्वित्यर्थ:। 'रागव्यञ्जक आलाप' इति लक्षणात्। पञ्चमस्य पञ्चमाख्यस्य स्वरस्य मूर्च्छनासु आरोहावरोहणेषु 'क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहादवरोहणम्। मूर्च्छनेत्युच्यत' इति लक्षणात्। पञ्चमग्रहणन्तस्य कोकिलालापकोमलत्वेन उद्दीपकरत्वातिशयविवक्षयेत्यनुसन्धेयम्। मुमूर्च्छेत्यपि यत्तदुभयम् अनेक प्रकारेण निह्नोतुमाच्छादयितुं शशाक। 'अये' इति पीठे विषादे इत्यर्थ:। 'अये क्रोधे विषादे चे'ति विश्व:। एतेन ह्रीत्यागोन् मादमूर्च्छावस्था: सूचिता॥५२॥

अन्वय– अयं यत् अलीकवीक्षितां प्रियां बभाषे च यत् वैणिकै: पञ्चममूच्छनासु आलपितासु समाजे एवं मुमूर्च्छ, अये तत् निह्नोतुं न शशाक।

संस्कृत-व्याख्या–अयम् = नल:, यत्, अलीकवीक्षिताम् =मिथ्यादृष्टाम्, प्रियाम्= दमयन्तीम्, बभाषे = बभाण, च, यत् वैणिकै: = वीणावादनचतुरै:, पञ्चममूर्च्छनासु = पंचमस्य पंचमाव्यस्य स्वरस्य मूर्च्छनासु आरोहावरोहणेषु, आलपितासु = सु उच्चरितास्-व्यक्तं गतासु– इत्यर्थ:, समाजे एवं = सभायां एव, मुमूर्च्छ = मूर्च्छां आप्नोत्, अये= विपादे, तत्, निह्नोतुम्= आच्छादयितुम्, न शशाक = अशक्नोत्।

हिन्दी अनुवाद—अयम् = इस [राजा नल] ने, यत् = जो, अलीकवीक्षिताम् = मिथ्यारूप में देखी गयी, प्रियाम् = (दमयन्ती) से, बभाषे = वार्त्तालाप किया, च = और, यत् = जो , वैणिकैः = वीणावादकों द्वारा, पञ्चममूर्च्छनासु = पंचमस्वर की मूर्च्छनाओं के, आलपितासु = आलापों के अवसर पर, समाजे एव = सभा में ही [वे], मुमूर्च्छ = मूर्च्छित हो गये, अयेन = दुःख है, तत् = उसे, निह्नोतुम् = छिपा सकने में, वे, न शशाक = समर्थ न हो सके।

भावार्थ— इस राजा नल ने [भावना के वशीभूत होकर]मिथ्यारूप में देखी गयी प्रिया दमयन्ती से जो वार्त्तालाप किया तथा वीणा बजाने वालों के पंचमस्वर सम्बन्धी मूर्च्छनाओं के अवसर पर समाज में ही जो वे बेहोश (मूर्च्छित) हो गये, बड़े दुःख की बात है कि इन दोनों बातों को छिपा सकने में वे समर्थ न हो सके।

[टीकाकार मल्लिनाथ ने "अये न" के स्थान पर "अनेन" पाठ मानकर व्याख्या की है। उसके अनुसार यह व्याख्या होगी—] उक्त वार्त्तालाप और स्वयं मूर्च्छित हो जाने सम्बन्धी दोनों बातों को [अनेन = अनेन प्रकारेण] इस प्रकार से अर्थात् भाग्य के बल पर ही राजा नल छिपाने में समर्थ हो सके। अर्थात् नल के उक्त भाषण और मूर्च्छा को संयोगवश लोग सुन देख नहीं सके।

अथवा— ["अये न" पाठ होने पर—] मिथ्यारूप में देखी गयी प्रिया दमयन्ती से जो राजा नल ने "अये" इस सम्बोधन के साथ कहा उसे वे छिपा नहीं सके। तथा वीणावादकों के पंचमस्वरसम्बन्धी मूर्च्छना के अवसर पर जो राजा नल दमयन्ती के उद्देश्य से मूर्च्छित हुए उसे लोगों ने यह समझा की वे वीणा की मूर्च्छनाओं के कारण उत्पन्न हुए आनन्दातिशय से ही नेत्रनिमीलन आदि कर रहे हैं। अतः उसे भी कोई जान न सका।

अथवा— ["समाजे एव" के स्थान पर "समाज एव"पाठभेद होने पर—] उक्त मूर्च्छनाओं के आनन्दातिशय के कारण समाज ही मूर्च्छित हो गया। अतएव मिथ्यादृष्ट दमयन्ती के साथ किया गया नल का वार्त्तालाप कोई भी नहीं

सुन सका। **अथवा**— उक्त मूर्च्छनाओं के अवसर पर सभा ही मूर्च्छित हो गयी। अत: मिथ्यादृष्ट दमयन्ती के प्रति किये गये नल के भाषण को सभा का कोई भी व्यक्ति न सुन सका। किन्तु इन दोनों बातों को वे कामदेव से न छिपा सके अर्थात् कामदेव ने तो उनके भाषण और उसकी मूर्च्छना दोनों ही भली भाँति समझ ही लिया क्योंकि वे उनके हृदय-स्थल में पहले से ही विराजमान थे।

उपर्युक्त वर्णन द्वारा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उक्त श्लोक में राजा नल सम्बन्धी लज्जात्याग, उन्माद तथा मूर्च्छारूप कामदशाओं का वर्णन महाकवि द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

व्याकरण—बभाषे= भाष् +लिट्। **वैणिकैः** = वीणा + ठक् + इक् (तृतीया बहुवचन का रूप)। **समाजे** = सम् + अज् + घञ् समाज: (सप्तमी एकवचन में)—समाजे। **मुमूर्च्छ** = मूर्च्छा + लिट्-तिप्- णल् (अ)।

समास—अलीकवीक्षिताम् = अलीक यथा स्यात् तथा वीक्षिता (सुप्सुपा समास), ताम्। **वैणिकैः** = वीणावदनं शिल्पं एषां इति वैणिका: तैः। **पञ्चममूर्च्छनासु** = पञ्चमस्य पञ्चमस्वरस्य या: मूर्च्छना: तासु।

टिप्पणियाँ—अयम् = इस (राजा नल) ने, **अलीकवीक्षिताम्** = मिथ्यारूप में देखी गयी हुई। **प्रियाम्** = (दमयन्तो) से। **बभाषे** = वार्त्तालाप अथवा संभाषण किया। **वैणिकैः** = वीणा बजाने वालों के द्वारा, **पञ्चममूर्च्छनासु** = पंचमस्वर सम्बन्धी मूर्च्छनाओं (आरोह-अवरोह आदि) के। **आलपितासु** = आलापों पर अथवा आलापने पर। पञ्चमस्वर कोकिल का स्वर माना गया है। यह अत्यन्त कोमल तथा उद्दीपक होता है। इसी दृष्टि से यहाँ इसका प्रयोग किया गया है। **समाजे** = समाज अथवा सभा में। **मुमूर्च्छ** = मूर्च्छित हो गया। **अयेन** = ''अये न'' इस प्रकार से विभाजन करें— ''अये'' को विषादसूचक अव्यय मानकर— अये, तत् निह्नोतुं नं शशाक का अर्थ होगा— दु:ख है कि उसे छिपा न सका। ''अयो क्रोधे विषादे च संभ्रमे स्मरणेऽपि च'' इति विश्व:। **अथवा**—अये = ''कामाय निह्नोतुं न शशाक'' के

आधार पर अर्थ होगा— कामदेव से छिपा सकने में समर्थ न हो सका [इ: कामः तस्मै अये] ''इः कामः परुषोक्तौ च'' इति विश्वः। अथवा **अयेन** = भाग्य से ''अयः शुभावहो विधिः'' इत्यमरः।

प्रसङ्ग— लोगों द्वारा धीरे-धीरे राजा नल के कामजन्य विकार जान लिये गये—

अवाप सापत्रपतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः।
असंवरे शम्बववैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषिः॥५३॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अवापेति। जितेन्द्रियाणां धुर्यग्रे कीर्त्तितस्थितिः स्तुतमर्यादः स भूपतिः नलः तत्र समाजे असंवरे संवरितुमशक्ये संवरणं संवरः शमश्चेत्यपि, न विद्यते संवरो यस्य तस्मिन शम्बरवैरिविक्रमे मनसिजविकारे क्रमेण स्फुटतामुपेयुषि सति सापत्रपतां सलज्जताम् अवाप। धैर्यशालिनां तद्भङ्गस्त्रपाकर इति भावः॥५३॥

अन्वय— जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः स भूपतिः तत्र असंवरे शम्बववैरिविक्रमे क्रमेण स्फुटतां उपेयुषिः (सति)सापत्रपतां अवाप।

संस्कृत-व्याख्या—जितेन्द्रियाणाम् = इन्द्रियजयिनाम्, धुरि = अग्रे, कीर्तिस्थितिः= स्तुतमर्यादः स = प्रसिद्धः, भूपतिः = राजा नलः, तत्र = समाजे, असंवरे = संवरणरहिते ओगोप्ये इति यावत्, शम्बववैरिविक्रमे = कामस्य पराक्रमे— विकारे इत्यर्थः, क्रमेण = परिपाट्या, स्फुटताम् = प्रकाशताम्, उपेयुषिः= प्राप्ते [सति], सापत्रपताम् = सलज्जताम्, अवाप= प्राप।

हिन्दी अनुवाद—जितेन्द्रियाणाम् = जितेन्द्रिय (पुरुषों) में, धुरि= अग्रगण्य, कीर्तितस्थितिः = कीर्तिमान स्थापित करने वाले, सः = वे, भूपतिः = राजा नल, तत्र = वहाँ सभा में, असंवरे = न छिपाये जा सकने वाले, शम्बववैरिविक्रमे = कामदेव के पराक्रम अर्थात् विकार के, क्रमेण = क्रमशः, स्फुटतां उपेयुषिः = प्रकटता को प्राप्त हो जाने पर अर्थात् प्रकट हो जाने पर, सापत्रपताम् = सलज्जता को, अवाप = प्राप्त हुए।

भावार्थ— जितेन्द्रिय पुरुषों में अग्रणीय कीर्तिमान् स्थापित करने वाले वे राजा नल वहाँ समाज में (जन-समूह के बीच) अगोपनीय कामविकार के क्रमश: प्रकट हो जाने पर लज्जित हो गये। अर्थात् दमयन्ती सम्बन्धी कामजन्य विकार के कारण राजा नल का शरीर पाण्डुता आदि से युक्त हो गया था। अत: ऐसी शारीरिक अवस्था हो जाने पर लोगों द्वारा वास्तविकता का समझ लिया जाना स्वाभाविक ही था।

अलङ्कार— इस श्लोक में छेकानुप्रास की प्रतीति होती है।

व्याकरण—असंवर: = न संवर:—असंवर:—संवर: = सम् + वृ + अप्। **उपेयुषि:** = उप + इ + लिट्— क्वसु—द्वित्वादि होकर— उपेयिवान् (सप्तमी एकवचन में)। **सापत्रपताम्** = सापत्रप + तल् + टाप् (द्वितीया एकवचन में)। **अवाप** = अव + आप् + लिट् तिप्—णल् (अ)।

समास—जितेन्द्रियाणाम् = जितानि इन्द्रियाणि यै: जितेन्द्रिया: (बहुव्रीहि), तेषाम्। **कीर्तितस्थिति:** = कीर्तिता स्थिति: यस्य स कीर्तितस्थिति: (बहुव्रीहि)। **असंवरे** = न विद्यते संवरो यस्य स असंवर: (नञ्-बहुव्रीहि), तस्मिन्। **शम्बववैरिविक्रमे** = शम्बरस्य शम्बरनाम्न: असुरस्य वैरी कामदेव:, तस्य विक्रम:, तस्मिन्। **सापत्रपताम्** = अन्यतो त्रपा इति अपत्रपा तया सह वर्त्तमान: सापत्रप: ("तेन सह-" इत्यादि से बहुव्रीहि) तस्य भाव: सापत्रपता, ताम्।

टिप्पणियाँ—जितेन्द्रियाणाम् = जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को अपने आधीन कर लिया है ऐसे (लोगों) के। **धुरि** = आगे, अग्रभाग में। **कीर्तितस्थिति:** = जिसकी स्थिति अर्थात् मर्यादा कीर्तिसम्पन्न हो—लब्ध प्रतिष्ठ। **असंवरे** = जिसका संवरण किया जाना सम्भव न हो— अथवा— जिसको छिपाया न जा सके। **शम्बववैरिविक्रमे** = शम्बर नामक असुर के शत्रु अर्थात् कामदेव के पराक्रम अर्थात् काम द्वारा उत्पन्न विकार। कामदेव ने कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में अवतार ग्रहण कर शम्बर नामक असुर का वध कर रति से विवाह किया था। **तत्र** = वहाँ (समाज में)। **स्फुटताम्** =

स्पष्टता—प्रकटता को। **उपेयुषिः** = प्राप्त कर लेने पर। **सापत्रपताम्** = सलज्जता को—लज्जायुक्त होने को। **अवाप** = प्राप्त किया।

प्रसङ्ग— विवेकसम्पन्न होने पर भी राजा नल दमयन्ती के विरह से उत्पन्न काम-पीड़ा से अत्यधिक चञ्चल मन वाले हो गये—

अलं नलं रोद्धुममी किलाभवन् गुणा विवेकप्रभवा न चापलम्।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः॥५४॥

मल्लिनाथकृत-टीका— ननु विवेकिनः कुतं इदं चापल्यम्? इत्यत आह-अलमिति। युक्तायुक्तविचारो विवेकः तत्प्रभवा अमी गुणा धैर्यादयः नलमिदं स्त्रीलाभरूपं चापलं निरोद्धुम् 'दुहियाची'त्यादिना रुन्धेर्द्विकर्मकत्वम्। अलं समर्था नाभवन् किल खलु। तथाहि— स्मरः कामः। जनमिति शेषः। जन रत्यां रागे अनिरुद्धं सृजति अनीश्वरमवशंकरोति रत्यां रतिदेव्यामनिरुद्धाख्यं कुमारं सृजतीति ध्वनिः। इति यत् अर्थ सर्गनिसर्गः सृष्टिस्वभाव ईदृशः। 'रतिः स्मरप्रियायां च रारेऽपिसुरतेऽपि च'। अनिरुद्धः कामपुत्रेऽरुद्धे चानीश्वरेऽपि चे'ति विश्वः। अत्र स्मररागदुर्वारतायाः सर्वसृष्टिसाधारण्येन चापलदुर्वारता-समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥५४॥

अन्वय— अमी विवेक प्रभवाः गुणाः नलं चापलं रोद्धुं अलं न अभवन् किल। अयम् ईदृशः सर्गनिसर्गः यत् स स्मरः रत्यां अनिरुद्धं एव सृजति।

संस्कृत-व्याख्या—अमी = एते, विवेकप्रभवाः = युक्तायुक्तविचारो विवेकः तत्प्रभवाः, गुणा : = धैर्यादयः, नलम् = नैषधम्, चापलम् = चञ्चलताम्, रोद्धुम् = निवारयितुम्, अलम् = समर्थाः, न अभवन् = न जाताः। अयम् ईदृशः सर्गनिसर्गः= सृष्टिस्वभावः, यत्, सः, स्मरः = कामः, जनमितिशेषः— जनम्, रत्याम् = अनुरागे अनिरुद्धम् = अनीश्वरमवशम्, एव, सृजति = करोति। [अथवा— रत्याम् = रतिदेव्याम्, अनिरुद्धम्, अनिरुद्धाख्यम् कुमारम् एव सृजतीति ध्वनिः।]

हिन्दी अनुवाद—अमी = ये, विवेकप्रभवाः = विवेक से उत्पन्न, गुणः = ''धैर्य आदि गुण'', नलम् = राजा नल को, चापलम् = चपलता से, रोद्धुम् =

रोकने में, अलम् = समर्थ, न अभवन् = नहीं हुए, किल। अयम् = यह, ईदृशः = ऐसा, सर्गनिसर्गः = सृष्टि का स्वभाव है, यत् = कि, स स्मरः = वह कामदेव, रत्याम् = रति (अनुराग) उत्पन्न होने पर, [जनम् = प्राणी को,] अनिरुद्धं एव = बेबस (चंचल), एव सृजति = करता ही है। [अथवा रत्याम् = रति देवी में, अनिरूद्धम् = अनिरुद्ध नामक कुमार की, सृजति = उत्पन्न करता है।]

भावार्थ— ये प्रसिद्ध विवेक आदि गुण नल की चपलता को रोक नहीं सके क्योंकि कामदेव रति (अनुराग) होने पर चपलता की ही उत्पत्ति (सृष्टि) करता है— यही सृष्टि का नियम है। अथवा कामदेव रतिकाल में चपलता की ही सृष्टि करता है अर्थात् रति काल में सभी चंचल हो जाते हैं— यही सृष्टि का नियम है। अथवा— कामदेव रति नामक अपनी प्रिया में अनिरुद्ध नामक अपने पुत्र को ही उत्पन्न करता है, यही सृष्टि का नियम है।

कहने का तात्पर्य यह है, कि विवेक आदि गुण सम्पन्न होने पर भी राजा नल दमयन्ती के विरह से उत्पन्न काम-पीड़ा के कारण अत्यधिक चञ्चल हो गये।

अलङ्कार— इस श्लोक में पूर्वार्ध में वर्णित वाक्यार्थ सामान्य का उत्तरार्ध में वर्णित वाक्यार्थ-विशेष द्वारा समर्थन किये जाने से "अर्थान्तरन्यास" नामक अलङ्कार है।

व्याकरण—नलं तथा चापलम् दोनों ही कर्म "**रोद्धुम्**" के हैं क्योंकि "रुध्" धातु द्विकर्मक है। "नलम्" में षष्ठी अथवा सप्तमी विभक्ति के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है। **रोद्धुम्** = यहाँ "अलम्" के योग में "पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु" सूत्र से "तुमुन्" प्रत्यय हुआ है।

समास—**विवेकप्रभवाः** = युक्तायुक्तविचारों विवेकः तत्प्रभवाः इति। **सर्गनिसर्गः** = सर्गस्य (सृष्टेः) निसर्गः (स्वभावः) इति सर्गनिसर्गः।

टिप्पणियाँ—**अमी** = ये। **विवेकप्रभवाः** = कौन सी बात युक्त अर्थात् ठीक है और कौन सी अयुक्त अर्थात् गलत है इसका ज्ञान होना ही 'विवेक'

कहलाता है। अथवा कौन सी बातें आदि ग्रहण करने योग्य हैं और कौन सी त्यागने योग्य? इसका ज्ञान ही विवेक कहा जाता है। विवेक से हुई है उत्पत्ति जिनकी ऐसे गुण। पाठभेद में **'विवेकप्रमुखाः'** भी आता है। इसका समास होगा "विवेकः प्रमुखो येषु ते" (बहुव्रीहि)। अर्थ होगा जिनमें विवेक ही प्रमुख है ऐसे गुण—अर्थात् विवेकसम्पन्न गुण। **गुणाः** = गुण-धैर्य, शौर्य आदि। **अलम्** = पर्याप्त, समर्थ। **सर्गनिसर्गः** = सृष्टि का स्वभाव अथवा धर्म। "सर्गः स्वभावनिर्मोक्षो निश्चयाध्यायसृष्टिषु" इत्यमरः। "स्वभावश्च निसर्गश्च" इत्यमरः। **रत्याम्** = प्रेम अथवा अनुराग। दूसरे पक्ष में—कामदेव की स्त्री। रतिः स्मरप्रियायां च रागेऽपि सुरतेऽपि च" इति विश्वः। **अनिरुद्धम्** = चंचल अथवा वशरहित। दूसरे पक्ष में— कामदेव के पुत्र। "अनिरुद्धः कामपुत्रेऽरुद्धे चानीश्वरेऽपि च" इति विश्वः।

प्रसङ्ग— विवश होकर राजा नल ने उद्यान में विहार करने के बहाने से कुछ काल पर्यन्त निर्जन देश में रहने की इच्छा प्रकट की—

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदासितुं संसदि यत्नावानपि।
क्षणं तदारामविहार कैतवान्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम्॥५५॥

मल्लिनाथकृत-टीका—अथास्य मनोरथसिद्ध्यौपयिक दिव्यहंससंवाद-निदानभूतं वनविहारं प्रस्तौति— अनङ्गेति। स नैषधो नलो यत्नवानप्यनङ्गचिह्नं मूर्च्छाप्रलापादिस्मरविकारं विना संसदि क्षणमप्यासितुं यदा नो शशाक, तदा आरामविहारकैतवादुपवनविहरणव्याजान्निर्जनं देशं निषेवितुम् इयेष देशान्तरं गन्तुमैच्छंदित्यथर्थः। एतेन चापलाख्ये सञ्चारिणि भ्रमणलक्ष्णोऽनुभाव उक्तः॥५५॥

अन्वय— यदा स यत्नवान् अपि अनङ्गचिह्नं विना संसदि क्षणं आसितुं न शशाक तदा आरामविहारकैतवात् निर्जनं देशं निषेवितुं इयेष।

संस्कृत-व्याख्या—यदा = यस्मिन् कालेः, सः= नलः, यत्नावान् अपि = कृतप्रयत्नः अपि, अनङ्गचिह्नम् =मूर्च्छाप्रलापादिकामविकारम्, विना = ऋते,

संसदि = सभायाम्, क्षणम् = किञ्चिद कालमपि, आसितुम् = स्थातुम, न शशाक = न समर्थः अभूत्, तदा = तस्मिन् काले, आरामविहारकैतवात् = उद्यानविहरणव्याजात, निर्जनम् = जनरहितम्, देशम् = स्थानम्, निषेवितुम् = सेवितुम्, इयेष = ऐच्छत्। देशान्तरं गन्तुमैच्छदित्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद—यदा = जल, सः = वे नल, यत्नावान् अपि = प्रयत्न करने पर भी, अनङ्गचिह्नम् = मूर्च्छा प्रलाप आदि काम-विकार के, विना = विना, संसदि = सभा में, क्षणम् = क्षणभर के लिये भी, आसितुम् = बैठने के लिये, न शशाक = समर्थ नहीं हुए, तदा = तब [उन्होंने], आरामविहारकैतवात् = उद्यान-भ्रमण के बहाने से, निर्जनम् = जनरहित, देशम् = देश को, निषेवितुम् = सेवन करने की, इयेष = इच्छा की।

भावार्थ—प्रयत्न करने पर भी वे नल जब जनसमूह के समक्ष दमयन्ती विरहजन्य मूर्च्छा, प्रलाप आदि कामदेव द्वारा उत्पन्न किये गये हुए विकारों को छिपा सकने में समर्थ न हो सके तब उन्होंने बाग-बगीचे आदि स्थानों में भ्रमण करने के बहाने से कुछ समय के लिये निर्जन स्थान की इच्छा प्रकट की।

राजा नल यह निरन्तर प्रयत्न करते रहे कि उनके शरीर में दमयन्ती के विरह के कारण काम द्वारा पाण्डुता, कृशता, दीर्घनिश्वास, मूर्च्छा, प्रलाप इत्यादि उत्पन्न किये गये हुए विकार किसी प्रकार शान्त हो जायँ किन्तु जब वे अपने एतत्सम्बन्धी प्रयत्नों में किसी भी प्रकार सफल न हो सके तब उन्होंने सोचा कि लोगों के बीच में इस दशा में रहना मेरे लिये उचित नहीं है और उन्होंने यही निर्णय किया कि मुझे इस स्थान को छोड़कर किसी अन्य एकान्त स्थान पर चला जाना चाहिये। तब उन्होंने लोगों से यही कहा कि मैं उद्यान-भ्रमण आदि करने का इच्छुक हूँ और इस बहाने से उन्होंने एतत्सम्बन्धी प्रबन्ध करने का आदेश दे दिया।

इस पद्य में चंचलता नामक संचारीभाव के उदित हो जाने पर ''भ्रमण'' नामक अनुभाव का कथन किया गया है।

अलङ्कार— इस श्लोक में ''अपह्नुति'' अलङ्कार की प्रतीति होती है।

व्याकरण—यत्नवान् = यत्न + मतुप्। **अनङ्गचिह्नम्** = में ''पृथक् विनानानार्भिस्तृतीयान्यतरस्याम्'' सूत्र में वर्णित नियम के आधार पर द्वितीया विभक्ति हुई है। **संसदि** = सम् + सत् + क्विप्—संसद् (सप्तमी एकवचन में—संसदि)। **क्षणम्** = में ''कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे'' सूत्र से द्वितीया विभक्ति हुई है। ''कालविशेषोत्सवयोः क्षणः'' इत्यमरः। **निषेवितुम्** = नि + सेव् = तुमुन् ''परिनिविभ्यः सेवसित'' से 'स' के स्थान पर 'ष' हो जाता है।

समास—अनङ्गचिह्नम् = अनङ्गस्य चिह्नम् इति। **आरामविहारकैतवात्** = आरामे विहारः इति आरामविहारः (सप्तमी तत्पुरुष) तस्य कैतवम् (षष्ठी तत्पुरुष) तस्मात्।

टिप्पणियाँ—यत्नवान् = प्रयत्न करने पर भी— प्रयत्नशील होने पर भी। **अनङ्गचिह्नम्** = मूर्च्छा प्रलाप,पाण्डुता, लम्बी -लम्बी साँसों (आँहों) का लेना आदि कामदेव द्वारा उत्पन्न किये गये हुए विकार रूपी चिह्नों को. **संसदि** = सभा में—जनसमूह के समक्ष। ''समज्या परिषद्गोष्ठी सभासमितिसंसदः'' इत्यमरः। **आसितुम्** = बैठने अथवा स्थित करने के लिये। **न शशाक** = समर्थ नहीं हुए। **आरामविहारकैतवात्** = उपवन (बाग, बगीचा) में विहार करने के बहाने से। ''आरामः स्यादुपवनम्'' इत्यमरः। **निषेवितुम्** = सेवन करने के लिये। **इयेष** = इच्छा की, अभिलाषा (प्रकट) की।

प्रसङ्ग— उद्यान-विहार के इच्छुक राजा नल ने अपने अभिन्न मित्रों के साथ उद्यान जाने हेतु सवारी (घोड़ा आदि) तैयार करने के लिये नौकरों को आदेश दिया—

अत श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनस्समं वयस्यैस्स्वरहस्यवेदिभिः।
पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः॥५६॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अथेति। अथानन्तरं श्रिया सौन्दर्येण भर्त्सित-मत्स्यकेतनस्तिरस्कृतस्मरः स नलः स्वरहस्यवेदिभिः निजभैमीरागमर्मज्ञैर्वयस्या

तुल्या वयस्याः स्निग्धाः 'स्निग्धो वयस्यः सवया' इत्यमरः। तैः सह समं पुरोपकण्ठोपवनं पुरसमीपाराममीक्षिता द्रष्टा, तृन्नन्तमेवैतत् अतएव 'न लोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। किलेत्यलीके। निदेशकारिणा आज्ञाकरान् यानाय यानमानेतुमित्यर्थः। क्रियार्थोपे त्यादिना चतुर्थी। दिदेश आज्ञापयामास॥५६॥

अन्वय—अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनः स्वरहस्यवेदिभिः वयस्यैः समं पुरोपकण्ठोपवनं ईक्षिता किल निदेशकारिणः यानाय दिदेश।

संस्कृत-व्याख्या—अथ=अनन्तरम्, श्रिया=सौन्दर्येण, भर्त्सितमत्स्यकेतनः= भर्त्सितः तिरस्कृतः मत्स्यकेतनः कामः येन तादृशः [नलः], स्वरहस्यवेदिभिः= निजभैमीरागमर्मज्ञः, वयस्यैः=स्निग्धैः, समम्, पुरोपकण्ठोपवनम्= नगरसमीप-स्थमुद्यानम्, ईक्षिता=द्रष्टा, किल=अलीकम्, निदेशकारिणः = आज्ञाकरान् मृत्यान्, यानाय = यानमानेतुमित्यर्थः, दिदेश=आज्ञापयामास।

हिन्दी अनुवाद— अथ = इसके पश्चात्, श्रिया = [अपने] सौन्दर्य से, भर्त्सितमत्स्यकेतनः = कामदेव को तिरस्कृत करने वाले, [राजा नल ने] **स्वरहस्यवेदिभिः** = अपने रहस्य को जानने वाले, वयस्यैः = [अपने] मित्रों के, समम् = साथ, पुरोपकण्ठोपवनम् = नगर के पास में स्थित उद्यान को, ईक्षिता किल = देखने की इच्छा से, निदेशकारिणः = अपने आज्ञाकारी सेवकों को, यानाय = सवारी लाने के लिए, दिदेश = आज्ञा दी।

भावार्थ— उद्यान-विहार सम्बन्धी अपनी इच्छा प्रकट करने के पश्चात् काम-पीड़ित होने पर भी अपने शरीर की शोभा से कामदेव को तिरस्कृत [नीचा दिखाने वाले]करने वाले राजा नल ने, अपने रहस्य (ये राजा नल वस्तुतः विहार करने की दृष्टि से उद्यान को नहीं जा रहें हैं अपितु अपने अन्दर उत्पन्न हुए काम विकारों को छिपाने की दृष्टि से ही उद्यान की ओर जा रहे हैं-इत्यादि गुप्त बातों को) जानने वाले मित्रों के साथ नगर के पास में ही स्थित उद्यान को देखने की इच्छा से सवारी लाने के लिये अपने आज्ञाकारी नौकरों को आदेश दिया।

अलङ्कार— इस श्लोक में "सहोक्ति" अलङ्कार है।

व्याकरण—वेदिभि: = विद्+णिनि— [तृतीया बहुवचन]। **वयस्यै:** = वयस् + यत्— (तृतीया बहुवचन)। **ईक्षिता**— ईक्ष् + तृन्। तृन्नन्त "ईषिता" के योग में "उपवनं" में "न लोकव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" सूत्र से षष्ठी विभक्ति का निषेध हो जाने पर द्वितीया हुई। **यानाय** = यहाँ "यानमानेतुम्" ऐसी विवक्षा होने के कारण "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन:" सूत्र के द्वारा चतुर्थी विभक्ति हुई है।

समास—भर्त्सितमत्स्यकेतन: = भर्त्सित: मत्स्यकेतन: येन स:। **स्वरहस्य-वेदिभि:** = स्वस्य रहस्यम् (षष्ठी तत्पु०), तत् विदन्तीति स्वरहस्यवेदिन: तै:। वयस्यै: वयसा तुल्या: वयस्या: तै:। **पुरोपकण्ठोपवनम्** = कण्ठस्य समीपं उपकण्ठम् (अव्ययीभाव) पुरं उपकण्ठं यस्य तत् पुरोपकण्ठम् (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—अथ = अनन्तर—उद्यान में विहार करने सम्बन्धी इच्छा को प्रकट करने के उपरान्त। **श्रिया** = [शरीर की] शोभा से अथवा सौन्दर्य से। **मर्त्सितमत्स्यकेतन:** = कामदेव को तिरस्कृत करने वाले अथवा कामदेव को नीचा दिखलाने वाले। पाठभेद में— "भर्त्सितमत्स्यकेतन:" ऐसा भी प्रयोग मिलता है कि किन्तु अर्थ समान ही है। कामदेव के रथ की ध्वजा में मछली का चिह्न विद्यमान है। अत: इसी से उनको "मत्स्यलाम्छन:" अथवा "मत्स्यकेतन:" नाम से कहा गया है। **स्वरहस्य-वेदिभि:** = अपने [राजा नल के] रहस्य को जानने वाले। **वयस्यै:** = मित्रों के साथ। **समम्** = साथ। **पुरोपकण्ठोपवनम्** = नगर के समीप में स्थित उद्यान को। **ईक्षिता** = देखने वाला, द्रष्टा। **किल** = इस स्थल पर प्रयुक्त यह अव्यय मिथ्यासूचक है। क्योंकि राजा नल का अभिप्राय काम-विकार को छिपाना ही है, उद्यान-भ्रमण नहीं। **निदेशकारिण:** = आज्ञापालक, नौकरों अथवा भृत्यों। **यानाय** = सवारी लाने के लिये। **दिदेश** = आज्ञा दी, आदेश दिया।

प्रसङ्ग— तत्पश्चात् नौकर राजा नल के लिये सुसज्जित घोड़े को ले आये—

अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम्।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम्॥५७॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अमी इति। तत आज्ञापनानन्तरं अमी निदेशकारिणःतस्य विभूषितमलङ्कृतञ्जवेऽपि वेगेऽपि माने प्रमाणेऽपि च पौरुषात् पुरुषगतिवेगात् पुरुषप्रमाणात् चाधिकं 'ऊर्ध्वविस्तृतदोः पाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु' इत्यमरः। 'पुरुषहस्तिभ्यामण् चे' त्यणप्रत्ययः। अजस्नचञ्चलैश्चटुलस्वभावैः खुराञ्चलैःशफाग्रैः क्षोदितं मन्दुरोदरं चूर्णीकृताश्वशालाभ्यन्तरं 'वाजिशाला तु मन्दुरे'त्यमरः। एतेनोत्तमाश्वलक्षणयुक्त सितं श्वेतमश्वमुपाहरन्नानिन्युरित्यर्थः॥५७॥

अन्वय—ततः अमी तस्य विभूषितं सितं जवे अपि माने अपि पौरुषाधिकं अजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरं अश्वं उपाहरन्।

संस्कृत-व्याख्या—ततः = तदाज्ञानन्तरम्, अमी = निदेशकारिणः मृत्याः, तस्य = नलस्य, विभूषितम् = अलंकृतम्, सितम् = श्वेतम्, जवे अपि = वेगे अपि, माने अपि च= परीक्षणे अपि च, पौरुषाधिकम् = पौरुषात् पुरुषगतिवेगात् पुरुषप्रमाणाच्चाधिकम्, अजस्रचञ्चलैः = चटुलस्वभावैः, खुराञ्चलैः = शफाग्रैः, क्षोदितमन्दुरोदरम्= क्षोदितं चूर्णीकृतं मन्दुरावाः वाजिशालायाः उदरं मध्यभागं येन तादृशम्, अश्वम्= घोटकम्, उपाहरन् = आनिन्युः।

हिन्दी अनुवाद—ततः = तदनन्तर, अमी = वे नौकर, तस्य = उसके (लिये), विभूषितम् = भली भाँति सजाये गये हुए, सितम् = श्वेतवर्ण के, जवे अपि = वेग में भी, माने अपि च = और परिणाम में भी, पौरुषाधिकम् = पुरुष की अपेक्षा अधिक परिमाण वाले, अजस्रचञ्चलैः = निरन्तर चंचल, खुराञ्चलैः = खुरों के अग्रभागों से, क्षोदितमन्दुरोदरम् = घुड़साल का फर्श खोदने वाले, अश्वम् = घोड़े को, उपाहरत् = ले आये।

भावार्थ—तदनन्तर वे नौकर अलङ्कारों से विभूषित, श्वेतवर्ण वाले, वेग तथा ऊँचाई में पुरुष से भी अधिक और निरन्तर चंचल अपनी टापों द्वारा घुड़साल के मध्य भाग को अर्थात् फर्श को खोद डालने वाले घोड़े को [राजा नल के लिये] ले आये।

कहने का तात्पर्य यह है कि वे नौकर उत्तम लक्षणों से संपन्न घोड़े को राजा नल के गमन करने के लिये वहाँ ले आये। उत्तम घोड़े के लक्षण— ''खुरैः खनन्त्यः पृथ्वीमश्वो लोकोत्तरः स्मृतः'' इति शालिहोत्रः॥

व्याकरण—**विभूषितम्** = वि +भूष् +णिच् +क्त। **पौरुषम्** = पुरुष + अण् ''पुरुषहस्तिभ्यामण च'' सूत्र से। **उपाहरन्** = उप + आ+ ह +लङ्-झि।

समास—**अजस्रचञ्चलैः** = अजस्रं यथा स्यात्तथा चञ्चलानिन तैः। **क्षोदितमन्दुरोदरम्** = मन्दुरायः उदरम् इति मन्दुरोदरम् (षष्ठी तत्पु॰) क्षोदितं मन्दुदोदरं येन स क्षोदितमन्दुरोदरः (बहुव्रीहि), तम्।

टिप्पणियाँ—**ततः** = तदनन्तर— राजा नल की आज्ञा प्राप्ति के पश्चात्। **विभूषितम्** = विशेष रूप से अलंकृत अथवा सजाये गये। **सितम्** = श्वेतवर्ण के। **जवे** = वेग में। ''रंहस्तरसी तु रयः स्यदः। जवः'' इत्यमरः। **माने** = परिणाम में— नाप में, ऊँचाई में। **पौरुषाधिकम्** = ऊपर को उठाये हुए हाथ और भुजा सहित एक पुरुष के नाप को ''पौरुष'' कहा जाता है— ''उर्ध्वविस्तृतदोष्पाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु'' इत्यमरः। पुरुष के नाम से भी अधिक ऊँचाई वाले। **अजस्रचञ्चलैः** = निरन्तर चंचल— ''नित्यानवरता- जस्रम्''— इत्यमरः। **खुराञ्चलैः** = खुरों के अग्रभागों से— टापों से। **क्षोदित- मन्दुरोदरम्** = खोद दिया है अस्तबल (घुड़साल) के फर्श को जिसने— ''बाजिशाला तु मन्दुरा'' इत्यमरः। **उपाहरत्** = ले आये।

प्रसङ्ग— अब आगे के सात श्लोकों में घोड़े का वर्णन करते हैं। इनमें वर्णित विशेषणों से युक्त उस घोड़े पर राजा नल सवार हुए।

अथान्तरेणावटुगामिनाऽध्वना निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः।
निगालगाद्देवमणेरिवोत्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः॥५८॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अथ सप्तभिः कुलकमाह— अथेत्यादि। अथानयनान्तरं स नलो हयमारुरोहेत्युत्तरेणान्वयः। कथंभूतमान्तरेणाभ्यन्तरेण अवटुगामिना कृकाटिकाख्यमस्तकपृष्ठभाजा 'अवटुर्घाटा कृकाटिके'त्यमरः, अध्वना मार्गेम निगालगाद्गलोद्देशात् 'निगालस्तु गलोद्देश' इत्यमरः। देवमणिः आवर्त्तविशेषः, 'निगालजो देवमणिरि'-ति लक्षणात्। दिव्यमाणिक्यं च गम्यते, तस्मादुत्थितैरिव स्थितैरित्युप्रेक्षा। निशीथिनीनाथमहःसहोदरैश्चन्द्रांशुसदृशैनित्युपमा। केसरकेशा एव रश्मय इति रूपकं तैर्विराजितम्॥५८॥

अन्वय— अथ आन्तरेण अवटुगामिना अध्वना निगालगाद् देवमणेः उत्थितैः इव निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः केसरकेशरश्मिभिः विराजितम् (हयं आरुरोह)।

संस्कृत-व्याख्या—अथ = आववनान्तरम् [सः= नलः हयमारुरोह— इत्युत्तरेणान्वयः] बथंभूतसश्वम्? तदाह—आन्तरेण= आभ्यन्तरेण, अवटुगामिना =कृकाटिकामस्तकपृष्ठभाजा, अध्वना = मार्गेण, निगालगाद् = गलोद्देशजात्, देवमणेः = आवर्त्तविशेषः-तस्मात्, उत्थितैः इव = निःसृतैः इव निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः= निशीथिनी रात्रिः तस्याः नाथः चन्द्रः, तस्य महांसि किरणाः, तेषां सहोदरैः सदृशैः— चन्द्रांशुसदृशैः, केसरकेशरश्मिभिः = स्कन्धप्ररूढाः केसरकेशाः तेषां रश्मिभिः अथवा केसरकेश एव रश्मयः तैः, विराजितम् = शोभितम् [अश्वम्]।

हिन्दी अनुवाद—अथ = घोड़े के आ जाने के अनन्तर (राजा नल), आन्तरेण = अन्दर की ओर से, अवटुगामिना = कृकाटिका की ओर जाने वाले, अध्वना = मार्ग से, निगालगाद् = गल प्रदेश में विद्यमान, देवमणेः = 'देवमणि' नामक भौंरी से, उत्थितैः इव = मानों उठे हुए अथवा मानो निकले हुए, निशीथिनीनाथ-महस्सहोदरैः = चन्द्रमा की किरणों के सदृश,

केसरकेशरश्मिभिः = गर्दन के केश अथवा अयालों की किरणों से, विराजितम् = सुशोभित (अश्व पर सवार हुए)।

भावार्थ– इसके पश्चात् गल प्रदेश में स्थित देवमणि नामक शुभलक्षण सूचक चिट्ट विशेष से कण्ठ के मध्य में स्थित गर्दन के ऊपरी प्रदेश की ओर जाते हुए मार्ग से निकले हुए तथा चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल वर्णवाले केसर (अयाल) के बालों की किरणों से सुशोभित [घोड़े पर राजा नल सवार हुए—ऐसा आगामी श्लोक सं० १/६४ से सम्बन्ध करना चाहिये।]

अलङ्कार– "देवमणेः उत्थितैः इव" में उत्प्रेक्षा, "निशीथिनीनाथमहस् सहोदरैः" में उपमा तथा "केसरकेशरश्मिभिः" में रूपक अलङ्कार है। अतः यहाँ अलङ्कारों का संकर ही कहा जा सकता है।

व्याकरण–अवटुगामिना = अवटु + गम् +णिनि (कर्ता में)– अवटुगामी [तृतीया एकवचन में]।

समास–अवटुगामिना = अवटुं गच्छतीति अवटुगामी तेन। **निशीषिनी-नाथ महस्सहोदरैः** = निशीथिन्याः नाथः इति निशीथिनीनाथः तस्य महांसि, तेषां सहोदरैः। [इस स्थल पर लक्षणा द्वारा "सहोदर" पद का "तुल्य" अर्थ लिया गया है– समाने उदरे शयितः—सहोदरः—यहाँ "वोपसर्जनस्य" सूत्र से विकल्प करके 'समान' के स्थान पर 'स' आदेश हो जाता है।] **केसरकेशरश्मिभिः** = केसरकेशानां रश्मिभिः इति।

टिप्पणियाँ– **आन्तरेण** = अभ्यन्तर की ओर से अथवा मध्य से। **अवटुगामिना** = 'अवटु गर्दन के जोड़ अथवा गर्दन के ऊपर के हिस्से को कहते हैं ["अवटुर्घाटा कृकाटिका" इत्यमरः]। राजा नल के घोड़े की गर्दन के अधोभाग में "देवमणि" नामक भौंरी थी और गर्दन के ऊपरी भाग में श्वेतवर्ण के, अयाल थे। यहाँ महाकवि द्वारा यह उत्प्रेक्षा की गयी है कि वह मानो "देवमणि" से निकलने वाली किरणें ही थीं जो गर्दन के ऊपरी भाग पर पहुँचने वाले आन्तरिक मार्ग से होकर आयालों के रूप में गर्दन के ऊपर फैली हुई थीं।

अध्वना = मार्ग से। **निगालगात्** = गले में स्थित अथवा विद्यमान। गले के एक भाग को ही "निगाल" कहा जाता है– "निगालस्तुगलोद्देशः" इत्यमरः। **देवमणेः** = घोड़ों के गले पर उत्पन्न होने वाली एक प्रकार के केशों की भँवरी (भौंरी)। घोड़ों से इसका होना शुभलक्षणपरक माना जाता है– "देवमणिः शिवेऽवस्य कण्ठावर्त्ते" इति विश्वः। **निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः** = चन्द्रमा की किरणों के समान। **केसरकेशरश्मिभिः** = गले के बालों अर्थात् अयालों से निकलने वाली किरणों से। संस्कृत भाषा में घोड़े की गर्दन पर निकलने वाले बालों को "केसर" तथा फारसी में "अयाल" नाम से कहा जाता है। **विराजितम्** = सुशोभित। इस पद का एक अन्य अर्थ भी किया जा सकता है– वीनां पक्षिणां राजा विराजः–गरुडः, तद्वत् आचरितम् इति [विराज + णिच् + क्त]– इस व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ होगा– गरुड़ के सदृश आचरण करने वाले अर्थात् अत्यन्त तीव्रवेगगामी (घोड़े पर नल सवार हुए)।

अजस्रभूभीतटकुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
रयमकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः॥५९॥

मल्लिनाथकृत-टीका–अजस्रेति। अजस्रेण भूभीतटकुट्टनेन उद्गतैरुत्थितै रेणुभिः रयप्रकर्षस्थ वेगातिशयस्याध्ययनार्थमभ्यासायागतैरणिमाङ्कितैरणुत्व-परिमाणविशिष्टैर्जन्स्य लोकस्य चेतोभिरिवेत्युत्प्रेक्षा। चरणेषु पादेषु उपास्यमानं सेव्यमानम्। 'अणुपरिमाणं मन' इति तार्किकाः॥५९॥

अन्वय–अजस्रभूभीतटकुट्टनोद्गतैः रेणुभिः रयमकर्षाध्ययनार्थम् आगतैः अणिमाङ्कितैः जनस्य चेतोभिः इव चरणेषु उपास्यमानम् (हयमारुरोह)।

संस्कृत-व्याख्या–अजस्रभूभीतटकुट्टनोद्गतैः = अजस्रं निरन्तरं भूमीतटकुट्टनं पृथ्वीतलचूर्णनं तेन उद्गतैः उत्थितैः, रेणुभिः = धूलिभिः, रयमकर्षाध्ययनार्थम् = रयप्रकर्षस्य वेगातिशयस्य अध्ययनार्थ अभ्यासाय, आगतैः = आयातैः, अणिमाङ्कितैः = अणुत्वपरिमाणविशिष्टैः, जनस्य = लोकस्य, चेतोभिः = चित्तैः, इव, चरणेषु = पादेषु, उपास्यमानम् = सेव्यमानम् (हयमारुरोह)।

हिन्दी अनुवाद—अजस्रभूभीतटकुट्टनोद्गतैः = निरन्तर पृथ्वी तट के ताड़न से उठी हुई, रेणुभिः = धूलियों से, रयमकर्षाध्ययनार्थम् = [मानों] वेग के आधिक्य को सीखने के निमित्त, आगतैः = आये हुए, अणिमाङ्कितैः = अणुपरिमाण से युक्त, जनस्य = लोगों के, चेतोभिः इव = [साक्षात् रूप से] अन्तःकरण ही हों। [इस रूप में], चरणेषु उपास्यमानम् = सेवित चरणों वाले (घोड़े पर राजा नल सवार हुए)।

भावार्थ— तीव्रवेग को सीखने के निमित्त आये हुए, अणुपरिमाण वाले लोगों के मनों के सदृश, लगातार पृथ्वीतल (फर्श) पर ताड़न किये जाने से उठी हुई धूलियों के द्वारा उस घोड़े के चरण सेवित किये जा रहे थे। (ऐसे घोड़े पर राजा नल सवार हुए)।

अर्थात् उस घोड़े का वेग मनुष्यों के मन से भी अधिक तीव्र था। अतः लोगों के मन तीव्र-वेग की शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त उस घोड़े के समीप आये हुए थे। इस भाँति लोगों के मन शिष्य के रूप में थे और घोड़ा गुरु रूप में। अतएव मन रूपी शिष्य गुरु रूप में विद्यमान घोड़े के चरणों का स्पर्श धूल के रूप में कर रहे थे, ऐसा प्रतीत होता था क्योंकि लोगों के मन का परिमाण भी अणुपरिमित है (मन को अत्यन्त सूक्ष्म माना गया है)। अतः लोगों के मन (लगातार भूमि पर पैरों को पटकने से उड़ी हुई सूक्ष्म रूप में विद्यमान) धूलि के रूप में विद्यमान थे।

अलङ्कार— "चेतोभिः इव" इत्यादि में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

व्याकरण—**भूमी** = भूमि + ङीष् ("कृतिकारादक्तिनः" से) = भूमी। **अणिमा** = अणु + इमनिच्। **उपास्यमानम्** = उप+ आस् + शानच् (कर्मवाच्य में)।

समास—**अजस्रभूभीतटकुट्टनोद्गतैः** = भूम्याः तटम् इति भूमीतटम्, तस्य कुट्टनम् (षष्ठी तत्पु०) इति भूमीतटकुट्टनम्, अजस्रं भूमीतटकुट्टनम् (सुप्सुपा समास), तेन उद्गताः (तृतीय तत्पुरुष), तैः। **रयमकर्षाध्ययनार्थम्** = रयप्रकर्षस्य अध्ययनार्थम् – (षष्ठी तत्पु०)।

टिप्पणियाँ—**अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः** = निरन्तर (लगातार) पृथ्वी तट को कूटने से (फर्श पर अपने चरणों को बार-बार पटकने से) उड़ी हुई। पृथ्वीतल पर इस प्रकार से पैरों को मारना अथवा अपनी टापों से निरन्तर पृथ्वीतल (फर्श) को खोदना उत्तम जाति के घोड़ों के अनेक लक्षणों में एक है। **रेणुभिः** = धूलियों से। **रयमकर्षाध्ययनार्थम्** = वेग की प्रकर्षता (अतिशयिता अथवा आधिक्य) का अध्ययन (सीखने) करने के लिये। **आगतैः** = आये हुए। **अणिमाङ्कितैः** = अणु सदृश परिमाण से अङ्कित अथवा युक्त। ("अणुपरिणामं मनः" इति तार्किकाः) अणु का परिमाण अत्यन्त सूक्ष्म होता है तथा अदृश्य भी। **जनस्य** = लोगों के—जन समूह के अथवा लोगों के। **उपास्यमानम्** = सेवन किये जाते हुए। लोगों के मन राजा नल के घोड़े से वेगातिशय को सीखने के लिये आये हुए हैं। अतएव धूलि के रूप में विद्यमान उनके मन अपने गुरु घोड़े के चरणों का स्पर्श कर रहे हैं।

चलाचलप्रोथतया महीभृते
स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम्।
अलं गिरा वेद किलायमाशयं स्वयं
हयस्येति च मौनमास्थितम्॥६०॥

मल्लिनाथकृत-टीका—चलाचलेति। पुनः चलाचलप्रोथतया स्वभावतः स्फुरमाणघोषतया 'चरिचलिपदीनामुपसंख्याना' च्चलेर्द्विर्वचनं दीर्घश्च। 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियामि' त्यमरः। महीभृते नलाय स्ववेगदर्पान् वेगातिरेकान् वक्तुमुत्सुकमुद्युक्तमिवेत्युत्प्रेक्षा। अथावचने हेतुमुत्प्रेक्षते—अलमिति। गिरा उक्त्या अलं, कुतः, अयं नलः स्वयं हयस्याश्वस्य आशयमभिप्रायं वेद वेत्ति। 'विदो लटो वे'ति णलादेशः। इति हेतोरिवेत्यनुषङ्गः मौनं तूष्णीम्भावञ्चास्थितं प्राप्तम्। अश्वहृदयवेदी नल इति प्रसिद्धिः॥६०॥

अन्वय— चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पान् वक्तुं उत्सुकं इव, 'गिरा अलं अयं स्वयं हयस्य आशयं वेद किल' इति मौनं च आस्थितम् (हयमारुरोह)

संस्कृत-व्याख्या—चलाचलप्रोथतया= स्फुरमाणघोणतया, महीभृते = राज्ञे नलाय, स्ववेगदर्पान्= वेगातिरेकान्, वक्तुम् = कथयितुम्, उत्सुकमिव=उद्युक्तमिव, गिरा = वाचा, अलम् =व्यर्थम्, अयम् = नलः, स्वयम् = साक्षात्, हयस्य= अश्वस्य, आशयम्= अभिप्रायम्, वेद = जानाति, किल, इति-हेतोः, मौनम् = तूणीम्भावम्, च, आस्थितम् = पाप्तम्, (अश्वमारुरोह)।

हिन्दी अनुवाद—चलाचलप्रोथतया = अत्यधिक चलायमान नथुनों के होने से, महीभृते = राजा नल ने, स्ववेगदर्पान् = अपने वेग के सम्बन्ध में अभिमानयुक्त बातों को, वक्तुम् = कहने के लिये, उत्सुकं इव = मानों उत्सुक [किन्तु], गिरा = वाणी द्वारा, अलम् = मत कहो, अयम् = यह नल, स्वयम् = अपने आप ही, हयस्य = घोड़े के, आशयम् = अभिप्राय को, वेद किल = जानते ही हैं, इति = इस कारण, मौनम् = मौनभाव को, आस्थितम् = धारण किये हुए (घोड़े पर राजा नल सवार हुए)।

भावार्थ— नथुनों अथवा ओष्ठ के अग्रभाग की अत्यधिक चञ्चलता के द्वारा अपने वेग सम्बन्धी दर्प को मानों राजा नल के कहने के लिये उत्कण्ठित किन्तु "मत कहो, ये नल स्वयं ही घोड़े के वास्तविक अभिप्राय को जानने वाले हैं" इस कारण पूर्णरूपेण मौन को धारण किये हुए— (घोड़े पर राजा नल सवार हुए)।

राजा नल के सम्बन्ध में ऐसी प्रसिद्धि है कि वे अश्व-सम्बन्धी विद्या के भी पूर्ण पारखी थे। अतः वे अपने लिये लाये गये घोड़े के हृदय में विद्यमान भावों को भली भाँति समझ रहे थे। इसी कारण बाद में घोड़े ने मौन धारण कर लिया।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में अश्व-सम्बन्धी स्वाभाविक वर्णन के विद्यमान होने से "स्वभावोक्ति" अलङ्कार की प्रतीति होती है। "स्ववेगदर्पान् वक्तुं उत्सुकमिव" में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार भी है।

व्याकरण—**चलाचलः** = चल् + अच्— पश्चात् "चरिचलिपतिवदीनां वाद्विर्वचनमाक्चाभ्यासस्य" से द्वित्व और आक् आगम होकर "चलाचलः"

बना है। **वेद** = विद् + लट् – "विदो लटो वा" सूत्र से णल् (अ) आदेश। **मौनम्** = मुनेर्भावः मौनम् –मुनि + अण्।

समास–**चलाचलप्रोथतया** = चलाचलः अतिचञ्चलः प्रोथः ओष्ठाग्रं नासापुटं वा यस्य तस्य भावः– चलाचलप्रोथता, तया। **स्ववेगदर्पान्** = स्वस्य वेगदर्पान् इति।

टिप्पणियाँ–**चलाचलप्रोथतया** = नथुनों के अत्यधिक चञ्चलता युक्त होने से। प्रोथ-नथुना "घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्" इत्यमरः। **महीभृते** = राजा नल से। यहाँ "क्रियया यमभिप्रेति सोऽपि सम्प्रदानम्" से सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हुई है। **स्ववेगदर्पान्** = अपने अतिशय वेग के सम्बन्धी दर्पों को। **वक्तुम् उत्सुकमिव** = कहने के लिये मानों उत्कण्ठित। **वेद** = [वेत्ति, जानाति] जानते हैं। **इति** = इस कारण। **मौनम्** = मौन भाव को, चुप्पी को। **आस्थितम्** = प्राप्त अथवा धारण किये हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि अश्व अपने तीव्रगमन सम्बन्धी वेग के दर्प को राजा से कहने का इच्छुक है। इसी कारण बार बार अपने नथुनों को अत्यधिक चञ्चलता युक्त कर रहा है। किन्तु बाद में वह यह सोचकर कि राजा नल स्वयं ही अश्वविद्या में भी पारंगत हैं अतः वे मेरे हृदय की बात को स्वयं ही समझ रहे होंगे, चुप हो जाता है।

महारथस्याध्वनि चक्रवर्तिनः परानपेक्षोद्वहनाद्यशस्सितम्।
रदावदातांशुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः॥६१॥

मल्लिनाथकृत-टीका– महारथस्येति। महान् रथो यस्य तस्य महारथस्य। 'आत्मानं सारथिञ्चाश्वं रक्षन् युद्ध्येत यो नरः। स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः।' इत्युक्तलक्षणस्य रथिकविशेषस्येत्यर्थः। अन्यत्र महारथो नलः तस्य महारथस्य चक्रं राष्ट्रं वर्त्तयतीति चक्रवर्त्ती सार्वभौमः तस्य नलस्य, 'हरिश्चन्द्रो नलो राजा पुरुः कुत्सः पुरूरवाः। सागरः कार्त्तवीर्य्यश्च षष्टेते चक्रवर्त्तिनः।' इत्यागमात् अन्यत्र चक्रेणैकेन वर्त्तनशीलस्येत्यर्थः। अध्वनि मार्गे नापेक्षत इत्यनपेक्षम्, पचाद्यच्, परेषामनपेक्षं तस्मादुद्वहनादसहायोद्वहना-द्धेतोर्यक्षः सितं कीर्त्तिविशदम् अतएवानीदृशामीदृशयशोरहितानाम्। 'सप्त युञ्जन्ति

रथमेकचक्रमि' ति सप्तानां सम्भूयोद्वहनश्रवणादिति भावः। रवेरर्वतामश्वानामन्तर्बलमन्तःसारं रदानां दन्तानां ये अवदाताः सिताः अंशवः तेषां मिषाद्धसन्तं हसन्तमिव स्थितमित्यर्थः। अत्र मिषशब्देनांशूनामसत्यत्वमापाद्य हासत्वोत्प्रेक्षणात्सापह्नवोत्प्रेक्षेयं गम्या च व्यञ्जकाप्रयोगात्। 'रदना दशना दन्ता रदा' इत्यमरः॥६१॥

अन्वय—महारथस्य चक्रवर्तिनः अध्वनि परानपेक्षोद्वहनाद् यशःसितं रदावदातांशुमिषाद् रवेः अनीदृशां अर्वतां अन्तःबलं हसन्तम् (हयमारुरोह)।

संस्कृत-व्याख्या—महारथस्य= अयुतयोधिनः (सूर्यपक्षे– महान् रथो यस्य तस्य महारथस्य—रथिकविशेषस्येत्यर्थः), चक्रवर्तिनः = सार्वभौमस्य नलस्य (सूर्यपक्षे-चक्रेण एव एकेन वर्त्तनशीलस्य), अध्वनि = मार्गे, परानपेक्षोद्वहनाद् = न अपेक्षते इत्यनपेक्षम् - परेषां अन्येषां अनपेक्षया अनाश्रयेण यत् उद्वहनं प्रापणं तस्मात्, यशःसितम् = कीर्तिविशदम्, रदानां दन्तानां अवदाता निर्मला ये अंशव किरणाः तेषां मिषात् व्याजात्, रवेः = सूर्यस्य, अनीदृशाम् = ईदृग्यशोरहितानाम्, अर्वताम् = अश्वानाम्, अन्तःबलम् =अन्तःसारम्, हसन्तम् (इव अश्वं नलः आरुरोह)।

हिन्दी अनुवाद—महारथस्य = महारथी तथा, चक्रवर्तिनः = चक्रवर्ती राजा नल के, सूर्यपक्ष में— एक पहिया वाले अपने विशिष्ट रथ को धारण करने वाले सूर्य के, अध्वनि = मार्ग में, परानपेक्षोद्वहनाद् = दूसरे की अपेक्षा के बिना ही ले जाने के कारण, यशस्सितम् = कीर्ति से सुभ्र, (अतएव) रदावदातांशुमिषाद् = (अपने) दाँतों से निकलने वाली शुभ्र अथवा धवल वर्ण की किरणों के बहाने से, रवेः = सूर्य के, अनीदृशाम् = इस प्रकार के (उपर्युक्त-यश की धवलता से शुभ्र) न रहने वाले, अर्वताम् = घोड़ों के, अन्तःबलम् = आन्तरिक बल पर [अथवा बलमन्तः = बल का मन ही मन] हसन्तम् = उपहास करने वाले (अथवा हँसी उड़ाने वाले) [घोड़े पर राजा नल सवार हुए।]

भावार्थ— दस हजार योद्धाओं के साथ अपने सारथी, अश्व, रथ तथा

अपनी रक्षा करते हुए युद्ध करने वाले तथा चक्रवर्ती कहे जाने वाले राजा नल के मार्ग में किसी अन्य की अपेक्षा के बिना ही रथ को ले जाने सम्बन्धी यश से श्वेतवर्ण के (अतएव) दाँतों से निकलने वाली श्वेतवर्ण की किरणों के बहाने, एकमात्र चक्र से युक्त विशाल रथ वाले सूर्य के मार्ग अर्थात् आकाश में दूसरे की अपेक्षा से ही रथ को ले जाने वाले तथा हरे रंग वाले (सूर्य के) घोड़ों के आन्तरिक बल पर हँसने वाले (अर्थात् सूर्य के घोड़ों की हँसी उड़ाने वाले) अथवा सूर्य के घोड़ों के बल की मन ही मन हँसी उड़ाने वाले– [घोड़े पर राजा नल सवार हुए]।

एक ही पहिये (चक्र) से युक्त विशाल रथ वाले सूर्य के मार्ग में उसके (सूर्य के) घोड़े दूसरों की सहायता से ही रथ को ढोते थे। अतएव वे यश से रहित होने के कारण हरे रंग के थे। किन्तु महारथी एवं चक्रवर्ती राजा नल के मार्ग में (नल का वह) घोड़ा बिना किसी की सहायता के ही रथ को ढोता था। अतएव इससे उत्पन्न यश के कारण ही वह (राजा नल का घोड़ा) शुभ्र (श्वेत) वर्ण का था। इसी कारण वह (राजा नल का घोड़ा) अपने दाँतों से निकलने वाली शुभ्रवर्ण की किरणों के बहाने से सूर्य के हरितवर्ण के घोड़ों (ऊपर वर्णित) पर हँस रहा था– ऐसे घोड़े पर राजा नल चढ़े।

तात्पर्य यह है कि राजा नल का घोड़ा अकेले ही महारथी एवं चक्रवर्ती सम्राट नल को ढो सकने में (ले जाने में) समर्थ था। अतः वह यश से धवल (श्वेत वर्ण का) था। किन्तु सूर्य के एक पहिले वाले रथ को ढोने वाले घोड़ों की संख्या सात है। अतः वे धवल वर्ण के न होकर हरित वर्ण के हैं। अतएव सूर्य के घोड़ों की अपेक्षा राजा नल का एकमात्र घोड़ा कहीं अधिक श्रेयस्कर है। अतः वह (राजा नल का घोड़ा) मानों अपने शुभ्र दाँतों से निकलने वाली शुभ्र किरणों के बहाने से उन (सूर्य के घोड़ों) पर हँस रहा हो– ऐसी उत्प्रेक्षा महाकवि द्वारी की गयी है।

अलङ्कार– इस श्लोक में अपह्नुति-सहित ''उत्प्रेक्षा'' अलङ्कार है। ऊपर की पंक्तियों से उसकी विद्यमानता स्पष्ट ही है।

व्याकरण—चक्रवर्तिनः = चक्र + वृत् +णिच् + णिनि (कर्त्ताङ अर्थ में) षष्ठी बहुवचन में। **अर्वताम्** = ऋ + वनिप्– "अर्वणस्त्रसावनत्रः" सूत्र से 'तु' आदेश = अर्वन्त– (षष्ठी बहुवचन में)।

समास—महारथस्य = महान् रथो यस्य स महारथः तस्य। **चक्रवर्तिनः** = चक्रं राष्ट्रं वर्त्तयतीति चक्रवर्त्ती तस्य। **परानपेक्षोद्वहनात्** = न अपेक्षते इति अनपेक्षम्, परेषां अनपेक्षया यत् उद्वहनम् तस्मात्। **रदावदातांशुमिषात्** = रदानां ये अवदाताः (सिताः) अंशवः तेषां मिषात्। **अनीदृशाम्** = न ईदृशः अनीदृशः (नञ् तत्पु०), तेषाम्।

टिप्पणियाँ—महारथस्य = महान् योद्धा- महारथ का लक्षण– "एको दशसहस्त्राणियोद्धयेद्यस्तु धन्विनाम्। शस्त्रशास्त्रप्रवीणश् विज्ञेयः स महारथः॥ अथवा = आत्मानं सारथिञ्चाश्वं रक्षन् युद्धयेत् यो नरः। स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः॥ **सूर्य के पक्ष में**– जिसका रथ महान् हो। अथवा महान् रथा वाला। **चक्रवर्तिनः** = चक्रवर्ती सम्राट् अथवा सार्वभौम सम्राट्। प्राचीन समय में हुए निम्नलिखित छ राजाओं को चक्रवर्ती माना गया है–"हरिश्चन्द्रो नलो राजा पुरुः कुत्सः पुरूरवा सगरः कार्तवीर्यश्च षेडेते चक्रवर्तिनः॥" सूर्य के पक्ष में = एक चक्र (पहिये) से चलने वाले (विशाल रथ से युक्त) दैवत कथा के अनुसार सूर्य के रथ में एक पहिया है तथा उसे साथ घोड़े खींचा करते हैं। **परानपेक्षोद्वहनाद्** = किसी अन्य की सहायता के बिना ही ले जाने (ढोने) से। सूर्य के घोड़ों की अपेक्षा राजा नल के घोड़े की यह एक पहली विशेषता थी कि राजा नल का घोड़ा रथ को अकेला ही खींचने वाला था। सूर्य के रथ में सात घोड़े जुता करते हैं। जो एक दूसरे की सहायता से ही सूर्य के रथ को आकाश में खींचा करते हैं ("सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमिति")। इस महती विशेषता के कारण राजा नल का घोड़ा अपने यश के कारण श्वेतवर्ण का था जब कि सूर्य के घोड़े यश-रहित होने के कारण हरित (हरे) वर्ण के मान गये हैं। **यशःसितम्** = शुभ्र (धवल अथवा निर्मल) यश अथवा कीर्ति से श्वेतवर्ण के। **रदावदातांशुमिषाद्** = दाँतों से निकलने

वाली (निर्मल) (शुभ्र अथवा धवल) किरणों के बहाने से। **अनीदृशाम्** = जो इस प्रकार के न हों अर्थात् नल के घोड़े के सदृश यश (कीर्ति) सम्पन्न न हों। **अर्वताम्** = घोड़ों के। **अन्तःबलम्** = आन्तरिक बल को या बल पर। **हसन्तम्** = हँसते हुए अथवा हँसी उड़ाते हुए।

सितत्विषश्चञ्चलतामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च।
स्फुटाञ्चलच्चामरयुग्मचिह्नकैरनिह्नुवानं निजवाजिराजताम्॥६२॥

मल्लिनाथकृत-टीका— सितेति। पुनः कथम्भूतम्? सितत्विषः विशदप्रभस्य चञ्चलता मुपेयुषः चञ्चलस्येत्यर्थः। पुच्छस्य लाङ्गूलस्य केसरस्य ग्रीवास्थबालस्य च मिषेण छलेन चलतच्चामरयुग्मस्य चिह्नकैः लक्षणैः स्फुटां प्रसिद्धां निजां वाजिराजतां अश्वेष्टरत्वमनिह्नुवानं प्रकाशयन्तमिव। अस्वामिनः कुथञ्चामरयुग्ममिति भावः। पूर्ववदलङ्कारः॥

अन्वय—सितत्विषः चञ्चलतां उपेयुषः पुच्छस्य च केशरस्य च मिषेण चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः स्फुटां निजवाजिराजतां अनिह्नुवानम् [हयं आरुरोह]।

संस्कृत-व्याख्या—सितत्विषः = विशदप्रभस्य, चञ्चलताम् = चापल्यम्, उपेयुषः= प्राप्तस्य (चञ्चलस्येत्यर्थः), पुच्छस्य= लाङ्गूलस्य, च, केशरस्य च = ग्रीवास्थबालस्य च, मिषेण = छलेन, चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः = चलतः चंचलस्य चामरयुग्मस्य चामरद्वयस्य चिह्नकैः लक्षणैः, स्फुटाम्= प्रसिद्धाम्, निजवाजिराजताम् = निजां स्वीकायां वाजिराजतां अश्वेश्वरत्वम्, निह्नुवानम् = प्रकाशन्तमिव (हयं आरुरोह)।

हिन्दी अनुवाद—सितत्विषः =धवल (श्वेतवर्ण की) कान्ति से युक्त, चञ्चलतां उपेयुषः = चञ्चलता को प्राप्त (हिलती-डुलती हुई), पुच्छस्य च = पूँछ और, केशरस्य च = गर्दन पर स्थित बालों अथवा अयालों के, मिषेण = बहाने से, चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः = चलायमान दो चामर रूपी चिह्नों से, स्फुटाम् = प्रकट हुए, निजवाजिराजतां = अपनी घोड़ों के राजा होने सम्बन्धी बात को, अनिह्नुवानम् = प्रकट करते हुए ये (घोड़े पर राजा नल सवार हुए)।

भावार्थ– श्वेतवर्ण की कान्ति से युक्त तथा हिलती-डुलती हुई पूँछ और गर्दन पर स्थित बालों (अयालों) के बहाने से (के रूप में) हिलाये और डुलाये जाते हुए दो चामरों के चिह्नों के द्वारा अपने अश्वराजत्व को प्रकट करते हुए (घोड़े पर राजा नल सवार हुए)।

घोड़े के पृष्ठ भाग में उसकी श्वेतवर्ण की पूँछ हिल-डुल रही थी तथा आगे की ओर उसके गर्दन पर स्थित बाल (अयाल) हिल-डुल रहे थे। मध्य में उसकी पीठ पर राजा नल विराजमान थे। अतएव ऐसा प्रतीत होता था कि मानो राजा के दोनों ओर दो चमर डुलाये जा रहे हों। इस वैशिष्ट्य के कारण वह घोड़ा अपने को " घोड़ों का राजा (अर्थात् श्रेष्ठतम घोड़ा) होना" प्रकट कर रहा था।

अलङ्कार– इस श्लोक में भी अपह्नुति-सहित "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

व्याकरण–**उपेयुषः** = उपेयिवस् शब्द की षष्ठी विभक्ति का एकवचन का रूप। **वाजिराजताम्** = वाजिराज + तल् + टाप्। **अनिह्नुवानम्** = अ+ णि+ ह्नु+ लट्–शानच्।

समास–**सितत्विषः** = सिता त्विट् यस्य तत् तस्य। **चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः** = चमरयोः युग्मम् (षष्ठी तत्पु०), चलत् चामरयुग्मम् (कर्मधारय) इति चलच्चामरयुग्मम् तस्य चिह्नकैः इति (षष्ठी तत्पु०)। **निजवाजिराजताम्** = वाजिनां (अश्वानां) राजा वाजिराजः (षष्ठी तत्पु०), तस्य भावः वाजिराजता, निजा वाजिराजता (कर्मधारय) इति निजवाजिराजता ताम्। **अनिह्नुवानम्** = न निह्नवानः अनिह्नुवानः (नञ् तत्पु०), तम्।

टिप्पणियाँ–**सितत्विषः** = जिसकी कान्ति श्वेतवर्ण की हो–अर्थात् श्वेत अथवा धवल वर्ण की कान्ति से युक्त। यह "पुच्छस्य" का विशेषण है। **चञ्चलतामुपेयुषः** = चञ्चलता को प्राप्त किये हुए अर्थात् हिलती-डुलती हुई। **केशरस्य** = गर्दन पर स्थित बालों अथवा अयालों के। **मिषेण** = बहाने से। **चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः** = हिलाये डुलाये जाते हुए दो चँवर-रूपी (राज) चिह्नों से। राजा के इधर उधर दोनों ओर दो चामर हैं–(१) पूँछ (२) गर्दन

पर के बाल (अयाल)। इसमें "चिह्नकै:" के स्थान पर "चिह्नैः" पाठ भी मिलता है। अर्थ पूर्ववत ही है। **स्फुटाम्** = स्पष्ट प्रतीत होने वाली (प्रसिद्ध। **निजवाजिराजताम्** = अपनी अश्व राजता (घोड़ों का राजत्वपन) को। **अनिह्नुवानम्** = बिना छिपाये हुए अर्थात् प्रकट करते हुए।

अपि द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया।
उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः॥६३॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अपीति। पुनः कथम्भूतं स्थितम्? रयस्मये वेगप्रयुक्ताहङ्कारे प्रसभं प्रसह्य जितस्य प्रागेव निर्जितस्य गरुत्मतः मुखानुषक्ता वक्त्रलग्ना आयता दीर्घा वल्गु रम्या च या वल्गा मुखरज्जुः तया-तन्मिषेणेत्यर्थः। द्विजिह्वानामहीनामभ्यवहारे आहारे यत् पौरुषे सर्पभक्षणपुरुषकारेऽपि प्रतिमल्लतां प्रतिद्वन्द्विता मुपेयिवांसं प्राप्तम्। तथा च गम्योत्प्रेक्षेयम्। 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चे'ति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः॥६३॥

अन्वय— रयस्मये प्रसभं जितस्य गरुत्मतः मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे अपि प्रतिमल्लतां उपेयिवांसम् [हयमारुरोह]।

संस्कृत-व्याख्या—रयस्मये = वेगगर्वे, प्रसभम् = बलात्कारेण जितस्य= प्रागेव निर्जितस्य, गरुत्मतः = गरुड़स्य, मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया = मुखानुषक्ता वक्त्रलग्ना आयता दीर्घा वल्गु रम्या च या वल्गा रम्या मुखरज्जुः तथा— तन्मिषेणेत्यर्थः, द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे = द्विजिह्वानां सर्पाणां अस्यवहारे आहारे यत् पौरुषं पुरुषकारः तस्मिन्, अपि, प्रतिमल्लताम् = प्रतिद्वन्दिताम् — प्रतिभटत्वं वा, उपेयिवांसम् = प्राप्तवन्तम् (हयं आरुरोह)।

हिन्दी अनुवाद—रयस्मये = (अपनी) तीव्र गति के दर्प में, प्रसभम् = हठात्-जबरदस्ती, जितस्य = जीते गये हुए, गरुत्मतः = गरुड़ की, मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया = मुख में लगी हुई लम्बी तथा सुन्दर लगाम के द्वारा, (मानों), द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे = सर्पों के भक्षण किये जाने के पुरुषार्थ में, अपि = भी, प्रतिमल्लताम् = प्रतिद्वन्दिता को, उपेयिवांसम् = प्राप्त किये हुए (घोड़े पर नल सवार हुए)।

भावार्थ– [अपने] वेग के अभिमान में बलपूर्वक जीते गये हुए गरुड़ के सर्पभक्षण रूप पुरुषार्थ में भी मुख में पड़ी हुई सर्पाकार लगाम के द्वारा प्रतिद्वन्दिता को प्राप्त हुए [घोड़े पर राजा नल आरूढ़ हुए]।

इस घोड़े ने अपने वेग की तीव्रता में तो पहले ही गरुढ़ को पराजित कर दिया था किन्तु गरुड़ की एक शक्ति अभी शेष ही थी और वह थी उसकी सर्पभक्षण सम्बन्धी शक्ति। इस शक्ति को भी इस घोड़े ने अपने मुख में पड़ी हुई सर्पाकार लगाम की रस्सी के द्वारा मानों [गरुड़ का] प्रतिद्वन्दी होकर जीत लिया था। घोड़े के मुख में पड़ी हुई लगाम के साथ संलग्न मुख के दोनों ओर लगी हुई रस्सी दो सर्पों के रूप में प्रतीत हो रही थी। ऐसे अश्व पर राजा नल सवार हुए।

अलङ्कार– इस श्लोक में ''गम्योत्प्रेक्षा'' अलङ्कार है।

व्याकरण–गरुत्मतः = गरुत् + मतुप्– गरुत्मान् (पंचमी एकवचन में)। **अभ्यवहारः** = अभि + अव + हृ + घञ्। **पौरुषम्** = पुरुष + अण्। **प्रतिमल्लताम्** = प्रतिमल्ल +तल् + टाप्–प्रतिमल्लता (द्वितीय एकवचन में)। **उपेयिवांसम्** = उप +इ + क्वसु। (द्वितीया एकवचन में)।

समास–रयस्मये = रयजनितः स्मय (मध्य० स०) इति रयस्मयः तस्मिन्– अथवा–रयस्य स्मयः इति रयस्मयः (षष्ठी तत्पु०), तस्मिन्। **गरुत्मतः** = प्रशस्तः गरुत्-पक्षः अस्ति अस्य इति गरुत्मान् तस्मात्। **मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया** = मुखे अनुषक्ता (सप्तमी तत्पु०) इति मुखानुषक्ता, आयता, चासौ, वल्गुः–आयतवल्गुः वल्गा–आयतवल्गुवल्गा, मुखानुषक्ता आयतवल्गुवल्गा इति मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गा तया (कर्मधारय)। **द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे** = द्वे जिह्वे यस्य स द्विजिह्वः [सर्पः] (बहुब्रीहि), अभ्यवहारः–भक्षणम्, पुरुषस्य भावः पौरुषम्, द्विजिह्वानाम् अभ्यवहारः (षष्ठी तत्पु०), तस्मिन् पौरुषम् (सुप्सुरा समास) इति द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषम् – तस्मिन्। **प्रतिमल्लताम्** = प्रतिकूलः मल्लः प्रतिमल्लः–तस्य भावः प्रतिमल्लता ताम्।

टिप्पणियाँ—**रयस्मये** = [अपने] तीव्र गति के अहंकार में। रंहस्तरसी तु रयः स्यदः'' इत्यमरः। ''दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेकः स्मयो मदः'' इत्यमरः। **जितस्य** = जीते गये हुए। **गरुत्मतः** = गरुड़ से। **मुखानुषक्तायतवल्गु-वल्गया** = मुख में लगी हुई (अथवा संलग्न) लम्बी तथा सुन्दर लगाम द्वारा। **द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे** = सर्पों के भक्षण करने सम्बन्धी [अपने] पौरुष अथवा उद्योग में। **प्रतिमल्लताम्** = प्रतिस्पर्धा को। **उपेयिवांसम्** = प्राप्त किये हुए।

स सिन्धुजं शीतमहस्सहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवणसः श्रियं हयम्।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः॥६४॥

मल्लिनाथकृत-टीका— स इति। जिता अखिलाः छमाभृतो भूषा भूधराश्र येन सः अनल्पलोचनो विशालक्षः अन्यत्र बहुनेत्र सहस्राक्ष इति यावत्। क्षितिपाकशासनः क्षितीन्द्रो नलः देवेन्द्रश्च सिन्धुजं सिन्धुदेशोद्भवञ्च समुद्रोद्भवञ्च 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियामि'त्यमरः। शीतमहःसहोदरं चन्द्रसवर्णमित्यर्थः, अन्यत्र चन्द्रभ्रातरमेकयोनित्वादिति भावः। उच्चैःश्रवस इन्द्राश्वस्य श्रियं हरन्तं तत्स्वरूपमित्यर्थः तं हयमारुरोह। अत्रोच्चैःश्रवसः श्रियं हरन्तमिवेत्युपमा। सा च श्लिष्टविशेषणात् सङ्कीर्णेयं क्षितिपाकशासन इत्यतिशयोक्तिः॥६४॥

अन्वय— जिताखिलक्ष्माभृत् अनल्पलोचनः क्षितिपाकशासनः सः सिन्धुजं शीतमहस्सहोदरं उच्चैःश्रवसः श्रियं हरन्तं तं हयं आरुरोह।

संस्कृत-व्याख्या—जिताखिलक्ष्माभृत् = जिताः अखिलाः समस्ताः चमाभृतः भूपाः येन सः, [इन्द्रपक्षे—जिताः अखिलाः चमाभृतः भूधरा येन सः], अनल्पलोचनः= विशालाक्षः [इन्द्रपक्षे—बहुनेत्रः, सहस्राक्षः इति यावत्], क्षितिपाकशासनः= क्षितौ पृथिव्यां पाकशासन एव इन्द्र इव, सः = नलः, सिन्धुजम् = सिन्धुदेशोद्भवम्, [उच्चैःश्रवसः पक्षे—समुद्रोद्भवम्], शीतमहस्सहोदरम् = शीतमहाः चन्द्रः तस्य सहोदरम् तुल्यम् — चन्द्रसवर्णमित्यर्थः [उच्चैःश्रवसः पक्षे— चन्द्रभातरम् — एकधोनित्वात्—

र्जनभाव:], उच्चै:श्रवसः = इन्द्राश्वस्य, श्रियम् = शोभाम्, हरन्तम् = तत्स्वरूपमित्यर्थ:, तम् = प्रसिद्धम्, हयम् = अश्वम्, आरुरोह = आरूढवान्।

हिन्दी अनुवाद—जिताखिलक्ष्माभृत् = सम्पूर्ण राजाओं पर विजय प्राप्त करने वाले [इन्द्रपक्ष में—अनेक नेत्रों वाले अथवा सहस्र आँखों वाले] क्षितिपाकशासन: = पृथ्वी पर [साक्षात्] इन्द्र के सदृश:, स: = वे राजा नल, सिन्धुजम् = सिन्धु देश में उत्पन्न हुए [उच्चै:श्रवास नामक इन्द्र के घोड़े के पक्ष में—समुद्र में उत्पन्न], शीतमहः सहोदरम् = चन्द्रमा के समान [उच्चै:श्रवा: के पक्ष में— चन्द्रमा के भाई] उच्चै:श्रवणसः = उच्चै:श्रवस नामक इन्द्र के घोड़े की, श्रियम् = शोभा को, हरन्तम् = हरण करने वाले, तम् = उस, हयम् = घोड़े पर, आरुरोह = सवार हुए।

भावार्थ— सम्पूर्ण पर्वतों के विजेता, अनेक अथवा सहस्र नेत्रों वाले स्वर्गाधिपति इन्द्र के सदृश, समस्त राजाओं पर विजय प्राप्त करने वाले, विशाल नेत्रों वाले पृथ्वीपति राजा नल, समुद्र से उत्पन्न, चन्द्रमा के सहोदर भ्राता के रूप में विद्यमान, इन्द्र के घोड़े उच्चै:श्रवा: की शोभा को भी नीचा दिखलाने वाले, सिन्धु देश में उत्पन्न हुए, साक्षात् चन्द्रतुल्य अपने घोड़े पर सवार हुए।

इस भाँति इस श्लोक में श्लेष के द्वारा राजा नल को इन्द्र के सदृश और उनके घोड़ों को (स्वर्गाधिपति इन्द्र के घोड़े) उच्चै:श्रवस् के सदृश कहा गया है।

समुद्र मन्थन के समय चन्द्रमा तथा उच्चै:श्रवस् नामक अश्व दोनों की उत्पत्ति समुद्र से हुई थी, ऐसा माना जाता है। अत: ये दोनों भाई भाई हुए। राजा नल का घोड़ा वर्ण की दृष्टि से चन्द्रमा के सदृश था तथा उसने उच्चै:श्रवस् नामक अश्व की शोभा को भी हरण कर लिया था अर्थात् उसकी शोभा उच्चै:श्रवस् नामक घोड़े से भी कहीं अधिक श्रेष्ठ थी। ऐसे सिन्धुदेशोत्पन्न श्रेष्ठतम घोड़े पर राजा नल सवार हुए।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में श्लिष्ट विशेषणों से युक्त ''उपमा'' अलङ्कार है तथा ''क्षितिपाकशासन:'' (अर्थात् पृथ्वी के इन्द्र-अधिपति) में ''अतिशयोक्ति'' अलङ्कार है।

व्याकरण–सिन्धुजम् = सिन्धु + जन् +ड = सिन्धुजः (द्वितीया एकवचन में)। शीतमहस्सहोदरं उच्चैःश्रवणसः श्रियं हरन्तं तं हयं आरुरोह।

समास–सिन्धुजम् =सिन्धौ जायते इति सिन्धुजः तम्। **शीतमहस्सहोदरम्** =शीतं महः यस्य स शीतमहाः (बहुव्रीहि) तस्य सहोदरम्। **उच्चैः श्रवसः** = उच्चैः श्रवो यशो यस्य अथवा उच्चैः श्रवसो कर्णौ यस्य स उच्चैःश्रवाः (बहुव्रीहि), तस्य। **जिताखिलक्ष्माभृत्** = अखिलाः चमाभृतः (कर्मधारय) इति अखिलक्ष्माभृतः, जिताः अखिलक्ष्माभृतो येन सः (बहुव्रीहि)। :**अनल्पलोचनः** = अनल्पे लोचने यस्य सः अथवा इन्द्र पक्ष मे– अनल्पानि लोचनानि यस्य सः अनल्पलोचनः (बहुव्रीहि), **क्षितिपाकशासनः**= क्षितौ पाकशासनः इव (उपमित समास) अथवा क्षितौ पाकं पचिक्रियां शास्ति उपदिशति इति क्षितिपाकशासनः।

टिप्पणियाँ–**सिन्धुजम्** = सिन्धु देश में पैदा हुए [उच्चैःश्रवस नामक इन्द्र के घोड़े के पक्ष में–सिंधु अर्थात् समुद्र में उत्पन्न–दैवतकथा के अनुसार उच्चैःश्रवस् नामक अश्व समुद्रमन्थन के समय समुद्र से ही निकला था। ''देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुना सरिति स्त्रियामित्यमरः''] **शीतमहः सहोदरम्** = चन्द्र सदृश वर्ण वाला, चन्द्र के तुल्य [इन्द्र के अश्व के पक्ष में – चन्द्रमा के भाई, क्योंकि चन्द्रमा और उच्चैःश्रवस् दोनों की उत्पत्ति समुद्र से ही हुई है।] **उच्चैःश्रवसः** = उच्चैःश्रवस नामक स्वर्गाधिपति इन्द्र के अश्व की। **श्रियम्** = शोभा को। **हरन्तम्** = हरण करने अथवा मात करने वाले। **जिताखिलक्ष्माभृत्** = राजा नल के पक्ष में– जीत लिया है सम्पूर्ण राजाओं को जिसने अथवा सम्पूर्ण राजाओं के विजेता। [इन्द्र पक्ष में– जीत लिया है सम्पूर्ण पर्वतों को जिसने अथवा समस्त-पर्वतों के विजेता]। इन्द्र ने अपने तीक्ष्ण वज्र से समस्त पर्वतों के पंख काट दिये थे। केवल मैनाक पर्वत ही समुद्र में जाकर छिप गया था– ऐसी दैवत कथा है। **अनल्पलोचनः** = नल के पक्ष में विशाल नेत्रों वाले [इन्द्रपक्ष में–अनेक अथवा सहस्र नेत्रों वाले], दैवत कक्षा में इन्द्र को सहस्राक्ष

कहा गया है। **क्षितिपाकशासनः** = पृथ्वी पर इन्द्र के समान अथवा पृथ्वी का इन्द्र। अथवा— पृथ्वी पर पाकशास्त्र का उपदेष्टा। राजा नल को पाक-शास्त्र-प्रणेता भी माना गया है। वे पाक-शास्त्र में प्रवीण तो थे ही— (देखिये श्लोक सं० ५ की व्याख्या)।

प्रसङ्ग— जिस भाँति किरणें सूर्य के साथ गमन किया करती हैं उसी भाँति घुड़सवार भी नल के साथ-साथ चले—

निजा मयूखा इव तिग्मदीधितिं स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम्।
तमश्ववारा जवनाश्वयायिनं प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयुः॥६५॥

मल्लिनाथकृत-टीका— निजा इति। आत्मीयाः प्रकाशरूपा उज्ज्वलाकारा भास्वररूपाश्च अश्वान्वारयन्तीत्यश्ववाराः अश्वरोहाः स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजं पद्मरेखाङ्कितहस्तम्, अन्यत्र पद्महस्तं जवनो जवशीलः 'जुचङ्क्रम्ये'त्यादिना युच्। तेनाश्वेन अन्यत्र तैरश्वैर्यातीति तथोक्तं मनुजा नरास्तेषामीशं राजानञ्च तं नलं तिग्मदीधितिं सूर्य्यं मयूखा इव अन्वयुः अन्वगच्छन्। यातेर्लङिझेर्जुसादेशः॥

अन्वय—निजाः प्रकाशरूपाः अश्ववाराः स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजं जवनाश्वयायिनं तं मनुजेशं मयूखाः तिग्मदीधितिमिव अन्वयुः।

संस्कृत-व्याख्या—निजाः = आत्मीयाः, प्रकाशरूपाः = उज्ज्वलाकाराः [मयूखपक्षे—भास्वररूपाः], अश्ववाराः =अश्वारोहाः, स्फुटारविन्दाङ्कित-पाणिपङ्कजम् = स्पष्टपद्मरेखाङ्कितहस्तकमलम् [सूर्यपक्षे-विकसितपद्महस्त-कमलम्], जवनाश्वया-यिनम् = जवनः वेगशीलः यः अश्वः तेन याति-इत्येवंशीलम् [सूर्यपत्रे-जवनैः वेगशीलैः अश्वैः यातीति तथोक्तम्], तम् मनुजेशम् = राजानम् नलम्, मयूखाः = किरणाः, तिग्मदीधितिम् = सूर्यम्, इव अन्वयुः = अन्वगच्छन्।

हिन्दी अनुवाद—निजाः = अपने, प्रकाशरूपाः = उज्ज्वल आकार वाले [किरणों के पक्ष में— चमकती हुई अथवा देदीप्यमान] अश्ववाराः = घुड़सवारों

ने, स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम् = स्पष्ट रूप से प्रतीत होने वाली कमल की रेखा से चिह्नित हस्त-कमल वाले [सूर्य पक्ष में— विकसित कमलों से युक्त कमलसदृश किरणों वाले], जवनाश्वयायिनम् = तीव्रगति वाले अश्व पर चढ़कर गमन करने वाले [सूर्य पक्ष में— अत्यन्त वेगशाली घोड़ों पर आरूढ होकर गमन करने वाले], तम्= उस, मनुजेशम् = राजा नल को, मयूखाः तिस्मदीधितिं इव अन्वयु: = उसी प्रकार अनुगमन किया जैसे सूर्य का अनुगमन उस (सूर्य) की किरणें किया करती हैं।

भावार्थ— जैसे विकसित कमलों से युक्त सदृश किरणों वाले तथा अत्यन्त वेगशील घोड़ों से युक्त अपने रथ पर आरूढ़ सूर्य का अनुगमन उस (सूर्य) की चमकती हुई अथवा देदीप्यमान किरणें किया करती हैं उसी प्रकार स्पष्ट रूप से प्रतीत होने वाली कमलाकार रेखा से युक्त कमल सदृश हाथ वाले, अत्यन्त वेगशील घोड़े पर आरूढ़ राजा नल का उसके अपने ही उज्ज्वल आकर वाले घुड़सवार अनुगमन कर रहे थे।

अलङ्कार— इस श्लोक में उपमा, श्लेष तथा रूपक अलङ्कार है जो कि अर्थ में ही स्पष्ट हैं।

व्याकरण—अश्ववारा: = अश्व + वृ + अण्। **जवनाश्वयायिनम्** = जु +युच्— (यु) अनादेश होकर जवन:—जवन: अश्व: जवनाश्वा:— +या+ णिनि (कर्त्ता में) नवनाश्वयायी (द्वितीया एकवचन में)। **अन्वयु:** = अनु + या + लङ्-झि (उस्-होकर)।

समास—अश्ववारा: = अश्वान् वृण्वते इति अश्ववारा:। **स्फुटारविन्दाङ्कित-पाणिपङ्कजम्** = पाणि: पङ्कजं इव इति पाणिपङ्कजम् (उपमित समास), स्फुटं अरविन्दं (कर्मधारय), स्फुटारविन्दम्, तेन अङ्कितं पाणिपङ्कज यस्य स: (बहुव्रीहि), तम्। **जवनाश्वयायिनम्** = जवन: अश्व: (कर्मधारय) जवनाश्व:, तेन तैर्वा यातीति जवनाश्वयायी, तम्। **मनुजेशम्** = मनोजाती: मनुजा:, मनुजानां ईश: मनुजेश:, तम्।

टिप्पणियाँ—प्रकाशरूपाः = उज्ज्वल आकार वाले, तेजस्वी अथवा अति प्रसिद्ध। ''प्रकाशोऽतिप्रसिद्धे स्यात्प्रकाशातपयोः स्फुटे'' इति विश्व [अश्वरोही अथवा घुड़सवार]। **अश्ववाराः** = घुड़सवार अथवा अश्वारोही। **स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम्** = स्पष्ट रूप से प्रतीत होने वाली कमलाकार रेखा से युक्त है कमलसदृश हाथ जिसका— अथवा जिसके कमलसदृश हाथ में कमलाकार रेखा स्पष्ट रूप से चिह्नित हो। सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार भाग्यशाली पुरुषों के हाथों में कमल, शङ्ख आदि के चिह्न विद्यमान रहा करते हैं। राजा नल का हाथ इसी प्रकार का था। [सूर्य पक्ष में— विकसित कमल से युक्त कमलसदृश किरणें जिसकी—अथवा जिसकी कमल सदृश किरणों से कमल विकसित हो रहा हो]। **जवनाश्वयायिनम्** = अत्यन्त तीव्रगति वाले घोड़े पर सवार होकर गमन करने वाले [राजा नल] [सूर्य पक्ष में— अत्यन्त वेग सम्पन्न घोड़ों से युक्त रथ पर आरूढ़ होकर गमन करने वाले]। **मनुजेशम्** = नरेश को— राजा (नल) को। **मयूखाः** = किरणें। **तिग्मदीधितिम्** = तीक्ष्ण किरणों से युक्त— अर्थात् सूर्य को। **अन्वयुः** = अनुगमन कर रहे थे।

प्रसङ्ग— ऐसे अश्व पर आरूढ़ होकर जाते हुए राजा नल को नगर-निवासियों ने निर्निमेष नेत्रों से देखा—

चलन्नलङ्कृत्य महारयं हयं स वाहवाहोचितवेषपेशलः।
प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः॥६६॥

मल्लिनाथकृत-टीका— चलन्निति। वाहवाहोचितवेषपेशलः अश्ववाहोचितने-पथ्यचारुः 'चारौ दक्षे च पेशल' इत्यमरः। स नलो महारयमतिजवं हयमलङ् कृत्य चलन् स्वयं हयस्य भूषणीभूय गच्छन्नित्यर्थः। प्रमोदेन निष्पन्दनराणि अत्यन्त-निश्चलानि अक्षिपक्ष्माणि येषान्तैरनिमेपदृष्टिभि-रित्यर्थः। नगरालयैर्नगरनिवासि-भिरित्यर्थः। लोकैर्जनैर्व्यलोकि विस्मयहर्षायां विलोकित इत्यर्थः। वृत्यनुप्रासोऽलङ्कारः॥

अन्वय— वाहवाहोचितवेषपेशलः महारयं हयं अलङ्कृत्य चलन् स नलः प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः नगरालयैः लोकैः व्यलोकि।

संस्कृत-व्याख्या—वाहवाहोचितवेषपेशलः = अश्ववाहोचितवेषचारुः, महारयम् = अतिवेगशीलम्, हयम् = अश्वम्, अलङ्कृत्य = विभूष्य, चलन् = मध्येमार्ग गच्छन् (स्वयं अश्वस्य भूपणीभूय गच्छन्— इत्यर्थः), स नलः, प्रमोदनिष्पन्दत-राक्षिपक्ष्मभिः= प्रमोदेन अतिशयितानन्देन निष्पन्दतराणि अत्यन्तनिश्चलानि अक्षिपक्ष्माणि येषां तैः— अनिमेषदृष्टिभिरित्यर्थः, नगरालयैः = नगरनिवासिभिः— इत्यर्थः, लोकैः = जनैः, व्यलोकि = विस्मयहर्षाभ्यां विलोकितः—इत्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद—वाहवाहोचितवेषपेशलः = [अपने] अश्वारोही-योग्य वेष से सुन्दर, तथा, महारयं हयं अलङ्कृत्य चलन् = महावेगशाली घोड़े को अलंकृत करके गमन करते हुए, स नलः = (राजा) नल, प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः = आनन्दातिरेक के कारण जिनके नेत्रों की पलकें नहीं गिर रहीं थीं अर्थात् निमेषरहित दृष्टि वाले, नगरालयैः = नगरनिवासी , लोकैः = लोगों के द्वारा, व्यलोकि = देखा गया। अर्थात् नगरनिवासियों ने जाते हुए राजा नल का निर्निमेष दृष्टि से देखा।

भावार्थ—[अपने] घुड़सवार योग्य वेष में मनोहर तथा तीव्र वेगवाले घोड़े को अपने चढ़ने से अलङ्कृत पर गमन करते हुए राजा नल को अतिशय हर्ष के कारण निमेषहीन नेत्रों से नगरनिवासी लोगों ने देखा।

राजा नल ने अश्वरोही के सदृश ही वेप को धारण कर रखा था। उनका अश्व भी अपनी विशेषताओं के कारण अद्वितीय था। अतः उस पर सवार होकर चलने के लिये जिस प्रकार के वेष का धारण किया जाना आवश्यक था उसी प्रकार के वेष को राजा नल धारण किये हुए थे। और वह अपने को (स्वयं को) घोड़े पर आरूढ़ होने से घोड़े को और भी अधिक अलङ्कृत कर रहे थे। इस रूप में (घोड़े पर सवार होकर) गमन करते हुए राजा नल को अत्यधिक हर्ष से युक्त नगरनिवासी लोगों ने बिना पलक मारे हुए नेत्रों से देखा।

अलङ्कार— इस श्लोक में ''वृत्त्यनुप्रास'' अलङ्कार है जो कि स्पष्ट ही है।

व्याकरण—**वाहवाहः** = वाह + वह् + णिच्+ अण्। **व्यलोकि** = वि + लोक् + लुङ् (कर्म में)।

समास—**वाहवाहोचितवेषपेशलः** = वाहं वाहयतीति वाहवाहः, वाहवाहस्य उचितः (षष्ठी तत्पु०), वाहवाहोचितः वेषः (कर्म धारय)—वाहवाहोचितवेषः तेन पेशलः (तृतीय तत्पु०)। अथवा वाहस्य (अश्वस्य) वाहे (संचारणे) उचितेन वेषेण पेशलः। **अलङ्कृत्य** = अलम् + कृ + ल्यप्— भूषणअर्थ में "अलम्" का कृ धातु के साथ "भूषणेऽलम्" सूत्र से समास हो जाता है। **प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः** = प्रमोदेन निष्पन्दतराणि (सुप्सुपा समास) इति प्रमोदनिष्पन्दतराणि अक्ष्णां पक्ष्माणि (षष्ठी तत्पु०) इति अक्षिपक्ष्माणि, प्रमोदनिष्पन्दतराणि अक्षिपक्ष्माणि (बहुव्रीहि) येषां तैः। **नगरालयैः** = नगाः इव प्रसादादयः सन्ति यत्र तत् नगरम् - नम + र "नगपांसुपाण्डुभ्यश्च" से। नगरं आलयः स्थानं येषा ते नगरालयाः (बहुव्रीहि), तैः।

टिप्पणियाँ—**वाहवाहोचितवेषपेशलः** = अश्वारूढ़ होकर गमन किये जाने योग्य वेष से मनोहर। "वाहस्तु मीनभेदे वृषे हये" इति विश्वः। **महारयम्** = अत्यन्त वेगशाली। हयं **अलङ्कृत्य** = अश्व को अलंकृत करके अर्थात् अपने बैठने से उसकी शोभा बढ़ाकर। **चलन्** = चलते हुए। गमन करते हुए। **प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः** = अतिशय आनन्द अथवा हर्ष के कारण जिनकी पलकें गिर नहीं पा रही थीं अर्थात् निमेषरहित दृष्टि वाले। **नगरालयैः** = नगर निवासियों के द्वारा। **व्यलोकि** = देखा गया अर्थात् देखा।

प्रसङ्ग— जैसे ही नागरिकों ने राजा नल को देखा वैसे ही वह वायु सदृश वेगगामी घोड़े पर सवार होने के कारण क्षणभर में ही नगर से बाहर चला गया—

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्बहिःपुरोऽभूत् पुरुहूतपौरुषः॥६७॥

मल्लिनाथकृत-टीका— क्षणादिति। अथान्तरं क्षणदापतिप्रभश्चन्द्र-तल्यस्तथा पुरुहूतपौरुष: इन्द्रस्येव पौरुषं कर्म तेजो वा यस्य तादृश एष नल: प्रभञ्जनेन वायुना अध्येय: शिक्षमीय: जवो वेगो यस्य तथाविधेन वाजिना अश्वेन क्षणादिति-क्षणात्ताभि: पूर्वोक्ताभि: जनानां दृष्टिवृष्टिभि: दृक्पातै: सह जनैर्दृश्यमान एवेत्यर्थ:। बहि: पुर: पुराद्वाहि: स्थितोऽभूदिति बहिर्योगे पञ्चमी पूर्वं पुरे दृष्ट: क्षणादेव पुराद्वाहिर्दृष्ट इति वेगातिशयोक्ति:॥६७॥

अन्वय—अथ क्षणदापतिप्रभ: पुरुहूतपौरुष: एष: प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना क्षणात् ताभि: जनदृष्टिवृष्टिभि: सह एव पुर: बहि: अभूत्।

संस्कृत-व्याख्या—अथ = अनन्तरम्, क्षणदापतिप्रभ: = चन्द्रतुल्य:, तथा पुरुहूतपौरुष:= पुरुहूत: इन्द्र: तद्वत् पौरुषं कर्म तेजो वा यस्य तादृश:, एष:= नल:, प्रभञ्जनाध्येयजवेन= प्रभञ्जनेन वायुना अध्येय: शिक्षणीय: जव: वेगो यस्य तथाविधेन, वाजिना= अश्वेन, क्षणात् = निमेषमात्रेण, ताभि: = पूर्वोक्ताभि: जनदृष्टिवृष्टिभि: = जनानां लोकानां दृष्टिवृष्टिभि: दृक्पातै:, सह= साकम्, एव, पुर: = नगरात्, बहि:, अभूत् = [नगरात् बहि:] स्थितोऽभूत्। पूर्वं पुरे दृष्ट:, क्षणादेव नगराद् बहि: दृष्टि इत्यर्थ:।

हिन्दी अनुवाद—अथ = इसके पश्चात्, क्षणदापतिप्रभ: = चन्द्रसदृश कान्ति वाले, तथा पुरुहूतपौरुष: = इन्द्र सदृश सामर्थ्य अथवा पराक्रम वाले, वाजिना = अश्व के साथ, क्षणात् = क्षण मात्र में ही, ताभि: = पूर्ववर्णित, जनदृष्टिवृष्टिभि: = लोगों के दृष्टिपातों के, सह एव = साथ ही, पुर: बहि: = नगर से बाहर, अभूत् = हो गये।

भावार्थ— [आह्लादक होने के कारण] चन्द्रमा के समान कान्तिधारी तथा इन्द्र सदृश सामर्थ्य वाले वे राजा नल वायु द्वारा भी सीखे जाने योग्य वेग वाले घोड़े से (घोड़ों पर सवार होने के कारण) नागरिकों के देखते देखते ही क्षणमात्र में ही नगर से बाहर हो गये।

चन्द्रमा के समान आह्लादक एवं शुभ्र कान्ति से युक्त, पराक्रम एवं सामर्थ्य में साक्षात् इन्द्र के सदृश राजा नल घोड़े पर सवार होकर नगर से बाहर चले

गये। उनके घोड़े की गति अत्यधिक तीव्र थी– इतनी अधिक कि वायु को भी उससे तीव्र वेग को सीखने की आवश्यकता थी। कहने का भाव यह है कि वायु के भी अपेक्षा कहीं अधिक वेग वाला उनका घोड़ा था। जैसे ही वे घोड़े पर सवार हुए और घोड़े ने चलना प्रारम्भ किया वैसे ही वे नगर के बाहर पहुँच गये। नगर निवासी लोग देखते ही रह गये और वे क्षण भर में ही नगर के बाहर पहुँच गये।

अलङ्कार– इस श्लोक में वायु से अधिक तीव्रगतिमान् घोड़े का वर्णन किये जाने से "अतिशयोक्ति" अलङ्कार है। "क्षणदापतिप्रभः" एवं "पुरुहूतपौरुषः" में "उपमा" अलङ्कार है।

व्याकरण–**अध्येय** = अधि+ इङ् + यत्।

समास–**क्षणदापतिप्रभः** = क्षणदायाः रात्रेः पतिः क्षणदापतिः तस्य प्रभा इव प्रभा यस्य सः (बहुव्रीहि)। **पुरुहूतपौरुषः** = पुरूतः इन्द्रः तद्वत् पौरुषं सामर्थ्यं यस्य सः अथवा पुरुहूतस्य पौरुषमिव पौरुषं यस्य सः (बहुव्रीहि)। **प्रभञ्जनाध्येयजवेन** = प्रभञ्जनेन वायुना अध्येयः जवः यस्मात् सः (बहुव्रीहि), तेन। **जनदृष्टिवृष्टिभिः** = जनानां दृष्यय: तासां वृष्टयः (षष्ठी तत्पु०)– जनदृष्टिवृष्टयः ताभि।

टिप्पणियाँ–**अथ** = घोड़े पर सवार होने के पश्चात्। **क्षणदापतिप्रभः** = निशानाथ चन्द्रमा के सदृश है कान्ति जिसकी [ऐसा राजा नल]। **पुरुहूतपौरुषः** = पुरुहूत अर्थात् इन्द्र सदृश पुरुषार्थी अथवा पराक्रमी अथवा सामर्थ्यवान्। "पुरुहूतः पुरन्दरः" इत्यमरः। **एष** = यह [राजा नल]। **प्रभञ्जनाध्येयजवेन** = वायु भी जिससे गति सम्बन्धी तीव्रता की शिक्षा प्राप्त कर सकती थी–अर्थात् अतिशय वेगशाली। **वाजिना** = अश्व के द्वारा। **क्षणात्** = क्षण भर में ही। यह विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय है। **ताभिः** = उन पूर्ववर्णित लोगों के द्वारा। **जनदृष्टिवृष्टिभिः** = लोगों की दृष्टियों की वर्षा के साथ ही– अर्थात् लोगों के देखते-देखते ही। अथवा–जैसे ही नगर निवासियों ने राजा की ओर देखने के

लिये दृष्टि डाली वैसे ही वायु से भी अधिक वेगशाली घोड़े पर सवार वे [राजा नल] उनकी [लोगों की] दृष्टि से ओझल हो गये।

प्रसङ्ग— नगर से बाहर होने के पश्चात् सेना के अग्रभाग में स्थित घुड़सवारों के दो दल कुतूहल के साथ मिथ्या युद्ध का प्रदर्शन करने लगे—

ततः प्रतीच्छ प्रहरति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे।
मृषा मृधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः॥६८॥

मल्लिनाथकृत-टीका— तत इति। ततः पुराद्बहिर्गमनानन्तरं प्रतीच्छ गृहाण प्रहर जहीति भाषिणी भाषमाणे इत्यर्थः। परस्परमन्योन्योपरि उल्लासितानि प्रसारितानि शल्यपल्लवानि तोमराग्राणि याभ्यां ते तथोक्ते 'शल्य तोमरमि'त्यमरः। नलस्य नासीरगते सेनाग्रवर्तिनी 'सेनामुखन्तु नासीरमि'त्यरः। सादिबले तुरङ्गसैन्ये कुतूहलात् मृषा मृधं मिथ्यायुद्धं युद्धनाटकमित्यर्थः। वितेनतुश्चक्रतुः 'मृधमायोधनं संख्यमि'त्यमरः॥६८॥

अन्वय— ततः 'प्रतीच्छ' 'प्रहर' इति भाषिणी नासीरगते परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे नलस्य सादिबले कुतूहलात् मृषा मृधं वितेनतुः।

संस्कृत-व्याख्या—ततः = पुराद्बहिर्गमनानन्तरम्, प्रतीच्छ= गृहाण, प्रहर=जहि, इति= इत्थम्, भाषिणी = भाषमाणे—इत्यर्थः, नासीरगते = सेनाग्रवर्तिनी, परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे = परस्परं अन्योन्योपरि उल्लासितानि प्रसारितानि शल्यपल्लवानि तोमराग्राणि याभ्यां ते तथोक्ते, नलस्य = राज्ञः नलस्य, सादिबले = तुरङ्गसैन्ये, कुतूहलात् = कौतूकात्, मृषा मृधम् = मिथ्यायुद्धं-युद्धनाटकमित्यर्थः, वितेनतुः = चक्रतुः।

हिन्दी अनुवाद—ततः = तत्पश्चात्, 'प्रतीच्छ' = पकड़ो, 'प्रहर' = मारो, इति = इस प्रकार, भाषिणी = कहने वाले, नासीरगते = सेना के अग्रभाग में स्थित, परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे = तथा एक दूसरे पर भालों अथवा शस्त्रों के अग्रभागों को ताने हुए, नलस्य = राजा नल के, सादिबले = घुड़सवारों के दो दल, कुतूहलात् = कुतूहल वश मृषामृधम् = मिथ्या (कृत्रिम) युद्ध, वितेनतुः = करने लगे।

भावार्थ– इसे (राजा नल के नगर से बाहर पहुँच जाने के पश्चात्) ''पकड़ों, मारो'' ऐसा कहते हुए, परस्पर एक दूसरे की ओर भालों अथवा शस्त्रों के अग्रभागों को उठाये अथवा ताने हुए (राजा नल की) सेना के अग्रभाग में स्थित घुड़सवारों के दो दल बड़े कुतूहल से कृत्रिम युद्ध का प्रदर्शन करने लगे।

व्याकरण–वितेनतुः = वि+तन्+ लिट् (प्रथमपुरुष-द्विवचन का रूप)।

समास–परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे = परस्परं उल्लासितानि शल्यपल्लवानि याभ्यां ते (बहुव्रीहि)। **सादिबले** = सादिनां अश्वारोहिणां बले सैन्ये (षष्ठी तत्पु०)।

टिप्पणियाँ–ततः = तदनन्तर, तत्पश्चात्। **प्रतीच्छ** = पकड़ लो। **प्रहर** = मारो। **इति** = इस प्रकार। **भाषिणी** = कहते हुए। **नासीरगते** = 'सेना के अग्रभाग में स्थित। ''सेनामुखं तु नासीरम्'' इत्यमरः। **परस्परोल्लासित-शल्यपल्लवे** = एक दूसरे पर भालों अथवा शस्त्रों के अग्रभागों को उठाये हुए अथवा ताने हुए। **सादिबले** = घुड़सवारों के दो दल अथवा टुकड़ियाँ। **कुतूहलात्** = कुतूहल वश अथवा उत्सुकतावश। **मृषामृधम्** = कृत्रिम अथवा बनावटी युद्ध। ''मृधमायोधनं संख्यम्''– इत्यमरः।

प्रसङ्ग– घोड़ों के दौड़ने पर धूलि उड़ रही थी। अतः इस आधार को लेकर महाकवि द्वारा यह कल्पना की गयी है कि घोड़े अपने मन में यह सोच रहे थे कि हम लोगों के दौड़ने के लिये यह पृथ्वी छोटी होगी। अतः समुद्र को ही स्थल बना लिया जाय, इस उद्देश्य से वे घोड़े धूलि उड़ा रहे थे–

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम्।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः॥६९॥

मल्लिनाथकृत-टीका– प्रयातुमिति। इयं धरा भूः समुद्रातिरिक्तेति भावः। अस्माकं प्रयातुं प्रस्थातुं कियत् पदं गन्तव्यं स्थानं न किञ्चित्पर्याप्त-मित्यर्थः। तस्मादम्भोधिरपि स्थलीयतां स्थलवदाचरतु, भूरेव मत्वित्यर्थः। 'कर्त्तुः

क्यङ् सलोपपश्चे'ति क्यङ् प्रत्ययः। इतीवेति। इतीव इति मत्वेत्यर्थः। इतिनैव गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः, अन्यथा पौनरुक्त्यात्। क्रियानिमित्तोत्प्रेक्षा। निजवेगेन दर्पितैः सञ्जातदर्पैः वाहैर्नलाश्वैः पयोधिरोधक्षमं समुद्रच्छादनपर्याप्तं रज उत्थितमुत्थापितं तथा सान्द्रमिति भावः॥६९॥

अन्वय— इयं धरा अस्माकं प्रयातुं कियत् पदम्? तत् अम्भोधिः अपि स्थलायताम्। इति इव निजवेगदर्पितैः वाहैः पयोधिरोधक्षमं रजः उत्थितम्।

संस्कृत-व्याख्या—इयम् = दृश्यमाना, धरा= पृथ्वी, अस्माकम्= धावमश्वानाम्, प्रयातुम्= प्रस्थातुम्, कियत्पदम् = गन्तव्यं स्थानं न किञ्चित्पर्याप्तमित्यर्थः, तत् = तस्मात्, अम्भोधिरपि = समुद्रोऽपि, स्थलायताम् = स्थलवत् आचरतु-भूरेव भवतु-इत्यर्थः। इति इव = इति मत्वा—इत्यर्थः, निजवेगदर्पितैः = निजवेगेन स्वजवेन दर्पितैः सञ्जातगर्वैः, वाहैः = अश्वैः, पयोधिरोधक्षमम् = पयोधेः समुद्रस्य रोधः पूरणं तत्र क्षमं समर्थम्, —समुद्रच्छादन पर्याप्तम् -इत्यर्थः, रजः = धूलिः, उत्थितम् = उत्थापितम् (उद्धतमपि पाठो लभ्यते)।

हिन्दी अनुवाद—इयम् = यह. धरा = पृथ्वी, अस्माकम् = हमारे, प्रयातुम् = गमन करने के लिये, कियत् पदम् = कितने पद होगी? तत् = इसलिये, अम्भोधिः अपि = समुद्र भी, स्थलायताम् = स्थल हो जाय। इति एव = ऐसा सोचकर, निजवेगदर्पितैः = अपने वेग के गर्व में चूर, वाहैः = घोड़ों ने, पयोधिरोधक्षमम् = समुद्र को पाट देने में समर्थ, रजः = धूलि, उत्थितम् = उड़ायी।

भावार्थ— हम सभी (घोड़ों) के गमन करने के लिये यह पृथ्वी कितने पग होगी? अर्थात् अति स्वल्प ही होगी। अतः यह समुद्र भी स्थल बन जाय। ऐसा सोचकर अपने वेग का अभिमान करने वाले (राजा नल के) घोड़ों ने समुद्र को सुखाकर स्थल बना देने योग्य धूलि को उड़ाया।

घोड़ों के दौड़ने पर धूलि का उड़ना स्वाभाविक है। महाकवि द्वारा इस उड़ती हुई धूलि के सम्बन्ध में यह कल्पना की गयी है कि मानो घोड़े अपने

मन में सोच रहे हैं कि हम लोगों के गमन करने के निमित्त यह पृथ्वी बहुत ही थोड़ी है। अतः यह आवश्यक है कि समुद्र को भी स्थल बना दिया जाय। ऐसा सोचकर घोड़े अपनी टापों द्वारा अत्यधिक धूलि उड़ा रहे हैं जिससे वह धूलि समुद्र में जाकर गिरे और उस धूलि से समुद्र पट जाये। इस भाँति समुद्रों के स्थल बन जाने पर उनके गमन करते हेतु पर्याप्त स्थलप्रदेश उनको प्राप्त हो जायगा।

अलङ्कार— इसमें "अनुप्रास" अलङ्कार की प्रतीति होती है।

व्याकरण—धरा = धृ + अच् + टाप्। **अम्भोधिः** = अम्भस् + धा + कि। **स्थलायताम्** = स्थल + क्यङ् "कर्त्तुः क्यङ् सलापेश्च" से— स्थलाय + लोट् – ताम्। **निजवेगदर्पितैः** = निजवेग + दृप् + णिच् + क्त = निजवेगदर्पित (तृतीया बहुवचन में)। **वाहैः** = वह् +णिच् + अच् – वाहा (तृतीया बहुवचन में)। **उत्थितम्** = उत् स्था + क्त। (पाठान्तरे उद्धतम् = उद् + हन् + क्त)।

समास— धरा = धरति जीवसंघान् इति धरा। **निजवेगदर्पितैः** = निजः वेगः (कर्मधाराय) निजवेगः तेन दर्पिताः, तै (तृतीया तत्पु०)। **पयोधिरोधक्षमम्** = पयोधेः रोधः (षष्ठी तत्पु०), तस्मिन् क्षमः, तम्।

टिप्पणियाँ—इयम् = दृश्यमान। **धरा** = पृथ्वी। **प्रयातुम्** = गमन करने के लिये। **अम्भोधिः** = अम्भांसि धीयन्ते अस्मिन्निति अम्भोधिः-समुद्र। स्थलायताम् = स्थलवत् आचरण करे अर्थात् स्थल के रूप में हो जाय। **निजवेगदर्पितैः** = अपने वेग के अभिमान में चूर। **वाहैः** = घोड़ों ने। **पयोधिरोधक्षमम्** = समुद्र को ढक देने अथवा पाट देने योग्य। **रजः** = धूलि। **उत्थितम्** = उड़ायी।

प्रसङ्ग— घोड़े आकाश को लाँघना चाहते थे किन्तु उन्होंने यह सोचकर " कि भगवान् विष्णु ने तो इसे एक ही पैर में लाँघ लिया था। अतः चार पैरों से इसको लाँघना हम सबके लिये लज्जा की बात है" अपना विचार त्याग दिया।

हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि तस्य नः।
त्रपा हरीणामिति नम्रिताननैर्न्यवर्ति तैरर्धनभःकृतक्रमैः॥७०॥

मल्लिनाथकृत-टीका—हरेरिति। यत् खमाकाशं हरेर्विष्णोरेककेन एकाकिना 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कन् प्रत्ययः। पदा पादेन 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियामि'त्यमरः। 'पद्न्नि'त्यादिना पदादेशः। अक्रामि अलङ्घि, तस्य खस्य चतुर्भिः पदैः क्रमणे लङ्घने कृते सत्यपीति शेषः। हरीणां वाजिनां विष्णूनां चेति गम्यते, 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहाशुवाजिषु। शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिष्वि'त्यमरः। उभयत्रापि नोऽस्माकं त्रपेति वेत्यर्थः। गग्यार्थत्वादिशब्दस्याप्रयोगः। अत एवगम्योत्प्रेक्षा। नम्रितानि निम्नीकृतानि आननानि यैस्तैः हरिभिः अर्धेनभसि कृतक्रमैः कृतलङ्घनैः सद्भिर्न्यवर्त्तितम्, भावे लुङ्। यदन्येन पुंसा लघूपायेन साधितं तस्य गुरूपायेन करणं समानस्य लाघवाय भवेदिति भावः। एतेन प्लुतगतिरुक्ता, तत्र गगनलंघनस्य सम्भवादिति भावः॥७०॥

अन्वय—यत् खं हरेः एककेन पदा अक्रामि तस्य चतुर्भिः पदैः क्रमणेऽपि नः हरीणां त्रपा इति नाम्रिताननैः तैः अर्धभःकृतक्रमैः न्यवर्ति।

संस्कृत-व्याख्या—यत् खम् = आकाशम्, हरेः = विष्णोः, एककेन = एकाकिना, पदा=पदेन चरणेन वा, अक्रामि= अलङ्घि, तस्य= आकाशस्य, चतुर्भिः, पदैः = चरणैः, क्रमणे अपि = लङ्घने कृते सत्यपीति शेषः, नः = अस्माकम्, हरीणाम् = अश्वानाम्, त्रपा= लज्जा, इति इवेत्यर्थः, नाम्रिताननैः = नम्रितानि निम्नकृतानि आननानि मुखानि यैः तादृशैः तैः = अश्वैः, अर्धभःकृतक्रमैः = अर्धे नभसि आकाशे कृतक्रमैः कृतलङ्घनैः सद्भिः, न्यवर्ति = निवर्त्तितम्। यत् अन्येन पुंसा लघूपायेन साधितं तस्य गुरूपायेन करणं लाघवाय एवभवेदित्यभिप्रायः।

हिन्दी अनुवाद—यत् = जिस, खम् = आकाश को, हरेः = विष्णु के, एककेन = अकेले एक ही, पदा = पैर ने, अक्रामि = लाँघ लिया था, तस्य =

उस आकाश को, चतुर्भिः पदैः = चार पैरों से, क्रमणे अपि = लाँघने में भी, नः हरीणाम् = हम घोड़ों के लिये, त्रपा = लज्जा की बात है, इति = ऐसा सोचकर ही मानों। नाम्रिताननैः = नीचा मुख किये हुए, तैः = वे (घोड़े), अर्धभःकृतक्रमैः = आधे आकाश का लङ्घन किये हुए ही, न्यवर्ति = लौट पड़े।

भावार्थ– "हरि (एक विष्णु अथवा एक घोड़े) के एक पैर ने ही जिस आकाश का अतिक्रमण (लाँघना) कर लिया था उस आकाश का हम अनेक हरियों (घोड़ों अथवा विष्णुओं) के चार पैरों द्वारा अतिक्रमण किया जाना लज्जा की बात है" मानों ऐसा सोचकर ही आकाश में अपने आधे-आधे पैरों को उठाये हुए, [लज्जा के कारण] अधोमुख वाले वे घोड़े (आकाशलंघन रूप कार्य से) निवृत्त हो गये अर्थात् लौट पड़े।

अलङ्कार– इस श्लोक में " उत्प्रेक्षा" तथा "श्लेष" अलङ्कार है।

व्याकरण–एककेन = एक +कन् –"एकादाकिनिच्चासहाये" सूत्र से "कन्"। **अक्रामि** = क्रम् + लुङ्– (कर्मवाच्य)। **त्रपा** = त्रप् +अङ् + टाप्। **नाम्रित** = नम्र + णिच् (नाम धातु) + क्त। **न्यवर्ति** = नि+वृत +लुङ् (भाववाच्य)।

समास–नाम्रिताननैः = नम्रितानि आननानि यैः ते (बहुव्रीहि) नम्रिताननाः तैः। **अर्धभःकृतक्रमैः** = अर्धेन नभसि कृतः क्रमः यैः (व्यधिकरण बहुव्रीहि समास), तैः।

टिप्पणियाँ–यत् = जिस। **खम्** = आकाश को "नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुरवर्त्मखम्" इत्यमरः। **हरेः** = विष्णु के। हरि का अर्थ घोड़ा होता है– "यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु" इत्यमरः **एककेन** = अकेले एक अथवा एक। **पदा** = पैर से। **अक्रामि** = अतिक्रमण किया था, लंघन किया था, लाँघा था अथवा नापा था। **तस्य** = उस (आकाश) के। **क्रमणे** = अतिक्रमण करने में तथा लाँघने में। **त्रपा** = लज्जा। राजा नल के अश्व इस कारण लज्जित हो रहे हैं कि वामनावतार में विष्णु (हरि) ने एकचरण में ही

सम्पूर्ण आकाश को लाँघ (नाप) लिया था किन्तु वे (राजा नल के) अश्व (हरि) अपने चार चरणों द्वारा आकाश को लाँघना चाहते हैं। एक ही जाति के लोगों के लिये अधिक उपायों का अवलम्ब लेकर समान कार्य का किया जाना उनके लिये लज्जास्पद हुआ करता है। **नाम्रिताननैः** = झुके हुए मुखों के साथ अथवा अधोमुख अथवा नतमुख। लज्जा से युक्त व्यक्तियों के मुख इस प्रकार के हो ही जाया करते हैं। अर्धभःकृतक्रमैः = [लाँघने के निमित्त जो घोड़े] अपने आधे पैरों को आकाश में उठा चुके थे अथवा उठाये हुए थे। घोड़े तीव्रगति के साथ गमन कर रहे थे। वे आकाश में अधिक और पृथ्वी पर (नाम मात्र को स्पर्शमात्र द्वारा) अति स्वल्प गमन करते थे। उन्होंने आकाश का अतिक्रमण करने की इच्छा की किन्तु पूर्वोक्त रूप से ये लज्जित होकर निवृत्त हो गये। **न्यवर्ति** = लौट पड़े अथवा नियुक्त हो गये। अर्थात् उन्होंने लाँघने रूपी अपने विचार को त्याग दिया।

प्रसङ्ग— जब घुड़सवार विहार योग्य उपवन के स्थल पर पहुँचे तो उन्होंने घोड़ों को भी वहाँ चक्राकार या वृत्ताकार रूप में (स्थित रखने के लिये) प्रयास किया—

वमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवाः।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन् भूरितुरङ्गमानपि॥७१॥

मल्लिनाथकृत-टीका— चमूचराइति। तस्य नृपस्य चमूचराः सेनाचराः चरेष्टच्, सिन्धुदेशभवः सैन्धवाः अश्वाः, 'हयसैन्धवसप्तय' इत्यमरः। 'तत्र भव' इत्यण्प्रत्ययः, तत्सम्बंधिनोऽपि सैन्धवा 'तस्येदमि'त्यण्। ते सादिनः अश्वसादिन इत्यर्थः, जिनोक्तिषु श्राद्धतयवे जैनदर्शनश्रद्धालुतयेवेत्युत्प्रेक्षा, 'श्रद्धार्चावृत्तिभ्योऽणि' ति मत्वर्थोयोऽण्प्रत्ययः, तं विहारदेशं सञ्चारभूमिं सुगतालयञ्च 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलीयां सुगतालयं' इति विश्वः। अंवाप्य तुरङ्गमान् भूरि बहुलं मण्डलीमपि मण्डलाकारं च अकारयन् अपिशब्दोऽवासिसमुच्चयार्थः। अन्यत्र मण्डलासनमित्यर्थः। 'बौद्धाः स्वकर्मानुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्ति' इति प्रसिद्धिः॥७१॥

अन्वय— तस्य नृपस्य चमूचराः सादिनः जिनोक्तिषु श्राद्धतया सैन्धवाः इव तं विहारदेशं अवाप्य तुरङ्गमान् अपि भूरि मण्डलीं अकारयन्।

संस्कृत-व्याख्या—तस्य नृपस्य = नलस्य, चमूचराः = सेनाचराः, सादिनः = अश्वारोहिणः [सैनिकः], जिनोक्तिषु = जैनदर्शने, श्राद्धतया =श्रद्धालुतया, सैन्धवाः इव =सिन्धुदेशोद्भवाः जिना इव, तं विहारदेशम् = तं वाह्यसंचारप्रदेशम् [पक्षान्तरे-सुगतालयम्], अवाप्य=प्राप्य, तुरङ्गमान् = अश्वान्, अपि, भूरि= बहुलम्, मण्डलीम्= मण्डलाकारं गतिविशेषम् [पक्षान्तरे-मण्डलासनमित्यर्थ—बौद्धाः स्कर्मानुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्तीति प्रसिद्धिः] अकारयन् = कारितवन्तः।

हिन्दी अनुवाद—तस्य नृपस्य = उस राजा नल के, चमूचराः = सैनिक, सादिनः = घुडसवारों ने, जिनोक्तिषु = जैन दर्शन में, श्राद्धतया = श्रद्धा रखने के कारण, सैन्धवाः इव = सिन्धु देश में उत्पन्न हुए जिनों के सदृश, तम् = उस, विहारदेशम् = विहार के योग्य [सञ्चरणशील] भूमि में, [जिन पक्ष में—जिनालय अथवा जैनमठों में], अवाप्य = प्राप्त होकर [पहुँचकर], तुरङ्गमान् = घोड़ों को भी, भूरि = अत्यधिक, मण्डलीम् = मण्डलाकाल रूप में, कारितवन्तः = खड़ा कराया [जिन-पक्ष में- मण्डल के सदृश गोलाकार रूप में बिठलाया।]।

भावार्थ— उस राजा नल के सैनिक घुड़सवारों ने उस बाहरी क्रीड़ास्थल में पहुँचकर घोड़ों को भी [घोड़ों पर सवार होने के कारण स्वयं को भी] अत्यधिक मण्डलाकार गति में घुमाया अर्थात् उस गोलाकार मैदान में गोलाकार रूप से उन घोड़ों को चक्कर लगवाकर उन्हें मण्डलाकार रूप में उसी प्रकार खड़ा किया जिस प्रकार से ''जिन'' के प्रति श्रद्धाभाव रखने वाले सिन्धुदेशोत्पन्न जिनभक्तगण अपने देवमठ अथवा देवमन्दिर में पहुँचकर मण्डलाकार रूप में स्थित हो जाया करते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे जैनदर्शन में विश्वास रखने वाले श्रद्धालु जैन लोग अपने विहारों (मठों) में पहुँचकर मण्डलाकार (वृत्ताकार)

रूप में स्थित हो जाया करते हैं उसी प्रकार से राजा नल के घुड़सवार सैनिक जब राजा के विहार के योग्य वनस्थली में पहुँच गये तब उन्होंने घोड़ों को [उन पर सवार होने के कारण अपने को भी] गोलाकार रूप में घुमाकर मण्डलाकार रूप में ही खड़ा किया।

अलङ्कार— इस श्लोक में "जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव" में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है। "विहारदेशम्" तथा "मण्डलीम्" में "श्लेष" अलङ्कार है।

व्याकरण— **चमूचराः** = चमू + चर् + ट् ["चरेष्टः" सूत्र से] **श्राद्धः** = श्रद्धा +अण्ज- "श्रद्धाचवृत्तिभ्योऽण" सूत्र से। **सैन्धवाः** = सिन्धु + अण् (मत्वर्थीय)।

समास—**चमूचराः** = चम्वां चरन्तीति चमूचराः। **श्राद्धतया** = श्रद्धा अस्ति अस्य इति श्राद्धः, तस्य भाव श्राद्धता [श्राद्ध + तल् +टाप्], तया। **सैन्धवाः** = सिन्धौ भवः इति सैन्धवाः।

टिप्पणियाँ—**तस्य नृपस्य** = उस राजा नल के। **चमूचराः** = सैनिक। **सादिनः** = अश्वारोही-घुडसवार। **जिनोक्तिषु** = जिन सम्बन्धी कथनों में अथवा जैन दर्शन में। **श्राद्धतया** = श्रद्धालु होने के कारण। **सैन्धवाः** = सिन्धु देश में उत्पन्न हुए। **विहारदेशम्** = क्रीड़ास्थली अथवा संचरण करने योग्य प्रदेश में। [जिन पक्ष में— जिनालय अथवा सुगतालय अथवा जैनमठ (मन्दिर) में] " विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालये" इति विश्वः। **तुरङ्गमान्** = घोड़ों को। **भूरि** = अधिक। **मण्डलीम्** = मण्डलाकाल अथवा वृत्ताकार रूप में।

प्रसङ्ग— घोड़ों ने अपनी मण्डलाकार स्थिति के द्वारा उस भूमि को अलंकृत किया—

द्विषद्भिरेवास्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाब्धिकारि गोष्पदम्।
इतीव धारामवधीर्य्य मण्डलीक्रियाश्रियाऽमण्डि तुरङ्गमैः स्थली॥७२॥

मल्लिनाथकृत-टीका— द्विषद्भिरिति। अस्य नलस्य द्विषद्भिरेव पलायमानैरिति भावः। दिशो विलङ्घिताः। अस्य यशोभिरेवाब्धिः गोः पदं

गोष्पदमकारि गोष्पदमात्रः कृतः, 'गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणार्थे' इति सुडागमषत्वयोर्निपातः। इतीव इति मत्वेवेत्युत्प्रेक्षा, अन्यसाधारणं कर्म नोत्कर्षाय भवेदिति भावः। तुरङ्गमैर्धाराङ्गत्रि जातावेकवचनं पञ्चापि धारा इत्यर्थः। 'आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम्। गतयोऽमूः पञ्च धारा' इत्यमरः। अवधीर्य्य अनादृत्य मण्डलीक्रियाश्रिया मण्डलीकरणलक्ष्म्या मण्डलगत्यैवेत्यर्थः। स्थली अकृत्रिमा भूः 'जनपदे'त्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप्, अमण्डि अभूषि। मडि भूषायामिति धातोर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् इदित्त्वान्नुमागमः॥७२॥

अन्वय— अस्य द्विषद्भिः एव दिशः विलङ्घिताः, अस्य यशोभिः एव अब्धिः गोष्पदं अकारि। इति इव तुरङ्गमैः धारां अवधीर्य मण्डलीक्रियाश्रिया स्थली अमण्डि।

संस्कृत-व्याख्या—अस्य = राज्ञः नलस्य, द्विषद्भिः = [पालयमानैः] शत्रुभिः एव, दिशः= ककुभः, विलङ्घिताः =लङ्घिता, अस्य, यशोभिः =कीर्तिभिः, एव अब्धिः= समुद्रः, गोष्पदम्= गोष्पदमात्रः— गोखुरप्रमाण इत्यर्थः, अकारि = कृतः, इति इव = इति मत्वा इत्यर्थः, तुरङ्गमैः = अश्वैः, धाराम् = गतिम्, अवधीर्य= अनादृत्य, मण्डलीक्रियाश्रिया = मण्डलीकरण-जनितशोभया, स्थली = अकृत्रिमा भूः, अमण्डि = अभूषि।

हिन्दी अनुवाद—अस्य = इस राजा नल के, द्विषद्भिः = शत्रुओं ने, एव = ही, दिशः = दिशाओं को, विलङ्घिताः = लाँघ लिया है। [और] अस्य = इस राजा नल की, यशोभिः = कीर्तियों ने, एव = ही, अब्धिः = समुद्र को, गोष्पदम् = गौ के खुर के सदृश, अकारि = कर दिया अथवा बना दिया है, इति इव = मानों ऐसा मानकर अथवा सोचकर ही, तुरङ्गमैः = घोड़ों ने, धाराम् = [अपनी] गति विशेष को, अवधीर्य = छोड़कर, मण्डलीक्रियाश्रिया = मण्डलाकार (गोलाकार) क्रिया [गति] स्थली की शोभा से, स्थलीम् = [उस] अकृत्रिम भूमि अथवा विहार की स्थली को, अमण्डि= अलंकृत किया।

भावार्थ—इस [राजा नल] के शत्रु [अपने प्राणों की रक्षा के निमित्त युद्ध-भूमि को छोड़कर और भागकर] दिशाओं को लाँघ गये हैं [अर्थात् दिशाओं के अन्तराल भाग में पहुँच गये हैं।] और इसके यशों के द्वारा समुद्र भी गाय के पैर के गड्डे [चिह्न] के सदृश [अत्यन्त छोटा] बना दिया गया है। ऐसा सोचकर ही मानों घोड़ों ने अपनी गतियां [आस्कन्दित = सरपट दौड़ना आदि अपनी पाँच प्रकार की विशिष्ट गतियों को] को छोड़कर मण्डलाकाररूप में चक्कर से उस विहारभूमि में ही स्थित [खड़े] होने सम्बन्धी शोभा से उस विहारभूमि को [अकृत्रिम (प्राकृतिक) स्थली को] अलङ्कृत अथवा सुशोभित किया।

उपर्युक्त वर्णन से राजा नल के आतङ्क से शत्रुओं का भागकर दिशाओं के अन्त तक पहुँच जाना तथा यशःसमूह का समुद्र पार तक चला जाना ध्वनित होता है।

अलङ्कार— " इति इव" के द्वारा इस श्लोक में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार की प्रतीति होती है। साथ ही वर्णनात्मक दृष्टि से "अतिशयोक्ति" अलङ्कार की भी प्रतीति होती है।

व्याकरण—**अब्धिः** = अप + धा + कि [अधिकरण में]। **अवधीर्य** = अवधि+ ईर् + क्त्वा-ल्यप् [शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्]। अवधीर् (अत्यवज्ञायाम्) धातु से क्त्वा करने पर ल्यप् न हो सकेगा। अतः उक्त रीति से ही इसकी व्युत्पत्ति करनी चाहिये। **स्थलीम्** = स्थल् + ङीष्- "जानपदकुण्डगोणस्थल... इत्यादि सूत्र से अकृत्रिम अर्थ में। **अमण्डि** = मण्ड् + णिच् + लुङ् (कर्मवाच्य में)।

समास—**गोष्पदम्** = गोः पदम् इति गोष्पदम् (षष्ठीतत्पु०)। यहाँ पर "गोष्पदे सेवितासेवितप्रमाणेषु" सूत्र से प्रमाण अर्थ में सुडागम और षत्वनिपातन हुआ है। **मण्डलीक्रियाश्रिया** = मण्डल्याः क्रिया इति मण्डली क्रिया तस्याः श्रीः (षष्ठी तत्पु०) तया।

टिप्पणियाँ—**विलङ्घिताः** = लाँघ ली है अथवा पार कर ली है। **अब्धिः** = समुद्र— "समुद्रोब्धिरकूपारः"— इत्यमरः। **गोष्पदम्** = गाय के खुर के

समान—अर्थात् अत्यधिक छोटे आकार का। **धाराम्**= घोड़ों की पाँच प्रकार की गतियों को "धारा" कहा जाता है— "आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम्। गतयोऽमूः पञ्च धाराः— इत्यमरः। **अवधीर्य** = तिरस्कृत करके, छोड़कर। **मण्डलीक्रियाश्रिया** = मण्डलाकार किये जाने की शोभा से। **स्थलीम्** = वन की अकृत्रिम (प्राकृतिक) भूमि को। **अमण्डि** = सुशोभित किया।

प्रसङ्ग—ग्रीष्म ऋतु में मण्डलाकार उड़ते हुए वायुसमूह (बवण्डर) को देखकर कवि द्वारा यह कल्पना की गयी है कि मानो इस बवण्डर ने अपने गोलाकार घूमने को घोड़ों के उपर्युक्त मण्डलाकार घूमने से ही सीखा हो—

अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः।
मरुत् किमद्यापि न तासु शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रचङ्क्रमान्॥७३॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अचीकरदिति। नलश्चरु यथा भवति तथा हयेन प्रयोज्येन कर्त्रा निजातपत्रस्य तलस्थले अधःप्रदेशे 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलमि'त्मयरः। या भ्रमीर्मण्डलगतीरचीकरत् कारितवान्, करोतेर्णौ चङ्। तासु भ्रमीषु विषये मरुत् अद्यापि वातानां समूहो वात्या, 'वातादिभ्यो यः'। अत्र तद्भ्रमयो लक्ष्यन्ते, तन्मयान्, तद्रूपान् चक्रचङ्क्रमान् मण्डलगतीर्वितत्य विस्तीर्य्य न शिक्षते किन्नाभ्यस्यते किमित्युत्प्रेक्षा। शिक्षितश्चेत् तथा सोऽपि गतिं कुर्यादित्यर्थः। वायोरप्यसम्भविता गतीरचीकरदिति भावः॥७३॥

अन्वय— नलः निजातपत्रस्य तलस्थले चारु हयेन या भ्रमीः अचीकरत्, तासु मरुत् अद्य अपि वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् वितत्य न शिक्षते।

संस्कृत-व्याख्या—नलः = नैषधः, निजातपत्रस्य = स्वच्छत्रस्य, तलस्थले =अधःप्रदेशे, चारु यथाभवति तथा, हयेन =अश्वेन, याः, भ्रमीः =भ्रमणानि-मण्डलगतीः वा, अचीकरत् = कारितवान्; तासु-भ्रमीषु विषये, मरुत् = वायुः, अद्य अपि= इदानीमपि, वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् = वातानां समूहो वात्या, वात्यामयाः वातसमूहरूपाः चक्राकाराः चङ्क्रमाः भ्रमणानि तान्, वितत्य = विस्तीर्य, न शिक्षते = अभ्यस्यते, किम्?

हिन्दी अनुवाद— नल: = [राजा] नल ने, निजातपत्रस्य = अपने छत्र के, तलस्थले = नीचे, चारुहयेन = सुन्दर घोड़े से, या: = जो,. भ्रमी: = मण्डलाकार गतियाँ, अचीकरत् = करवाई, तासु = इन [मण्डलाकार चक्करों] के विषय में, मरुत् = वायु, अद्य अपि = आज अथवा इस समय भी, वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् = वात्या (बवण्डर) के रूप में चक्राकार (गोल-गोल), वितत्य = धूम-धूम करके, न शिक्षते = नहीं सीख रहा है, किम् = क्या।

भावार्थ— राजा नल ने अपने छत्र के नीचे घोड़े से जिन सुन्दर गोलाकार चक्करों को लगवाया, उन गोलाकार चक्करों को वायु आज भी बवण्डर के रूप में नहीं सीख रहा है क्या? अर्थात् बहुत समय बीत जाने पर भी वायु घोड़े द्वारा किये गये उन चक्करों का अभ्यास कर ही रहा है। इतना होने पर भी इस समय तक भी यह वायु यथार्थ रूप में उन्हें नहीं सीख पाया है।

अलङ्कार—ग्रीष्मकाल में चक्राकार रूप में उड़ते हुए वायु-समूह (बवण्डर) के सम्बन्ध में यह उत्प्रेक्षा की गयी है कि मानों यह बवण्डर राजा नल द्वारा उस समय कराये गये घोड़े के गोल-गोल चक्करों का वायु द्वारा किया जाने वाला अभ्यास है। अत: यहाँ ''उत्प्रेक्षा'' अलङ्कार है।

व्याकरण—**भ्रमी:** = भ्रम + इक्। **अचीकरत्** = कृ + णिच् + लुङ्। **वात्यामयचक्रचङ्क्रमान्** = वात + यत् = वात्या। वात्या + मयट् = वात्यामय क्रम + यङ् + घञ् (द्वित्व इत्यादि, अतो लोप और तदनन्तर ''यस्यहल:'' से 'य' लोप होकर ''चङ्क्रम''।)

समास— **निजातपत्रस्य**= निजं आतपत्रम् – इति निजातपत्रम् –तस्य। **वात्यामय चक्रचङ्क्रमान्** = वात्यामया: चक्रा: इति वात्यामयचक्रा: (कर्मधारय) तद्रूपा: चङ् क्रमा: इति वात्यामयचक्रचङ्क्रमा: तान्।

टिप्पणियाँ—**निजातपत्रस्य** = स्वकीय राजछत्र के। **तलस्थले** = अध: प्रदेश में–नीचे। **चारु** = सुन्दर। **भ्रमी:** = मण्डलाकार (गोल-गोल, चक्राकार) में विद्यमान भ्रमणों को। **अचीकरत्** = करवाया, कराया। **वात्यामयचक्रचङ्क्रमान्** = वायु के समूह अर्थात् बवण्डर रूप में विद्यमान

रहने वाले चक्राकार अथवा गोलाकार भ्रमणों को। **वितत्य** = विस्तृत करके अथवा विस्तार करके (धूम-धूम करके)। **शिक्षते** = सीख रहा है-अभ्यास कर रहा है।

प्रसङ्ग— इसके अनन्तर राजा नल ने विलास वन में प्रवेश किया—

विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात् क्षोणिपतिर्धृतीच्छया।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवाम्भसां निधिम्॥७४॥

मल्लिनाथकृत-टीका— विवेशेति। ततः स क्षोणीपतिः क्षणाद्गत्वा धृतीच्छया सन्तोषकाङ्क्षया प्रवालाः पल्लवाः अन्यत्र प्रवालाः विद्रुमाः 'प्रवालो वल्लकीदण्डे विद्रुमे नवपल्लव' इत्यमरः। तेषां रागेणारुण्येन छुरितं रूषितं घनच्छायं सान्द्रानातपमन्यत्र मेघकान्तिं 'छाया त्वनातपे कान्तावि'ति विश्वः। विलासकाननं क्रीड़ावनम् अन्यत्र बवयोरभेदात् बिलासकानां बिलेशयानां सर्पाणाम् आननं प्राणनं सुषुप्सया स्वप्तुमिच्छया हरिर्विष्णुरम्भसान्निधिमब्धिमिव विवेश॥७४॥

अन्वय— ततः क्षोणिपतिः सः क्षणात् गत्वा धृतीच्छया प्रवालरागच्छुरितं घनच्छायं विलासकाननं अम्भसां निधिं सुषुप्सया हरिः इव विवेश।

संस्कृत-व्याख्या—ततः = तदनन्तरम्, क्षोणिपतिः = पृथ्वीपालकः, सः =प्रसिद्धः—राजा नलः, क्षणाद्= शीघ्रं यथास्यात्तथा, गत्वा= यात्वा धृतीच्छया= सन्तोषकाङ्क्षया, प्रवालरागच्छुरितम् = प्रवालाः पल्लवाः तेषां रागेण आरुणयेन रुषितं विचित्रं वा [समुद्रपत्रे-प्रलालाः विद्रुमाः तेषां रागेण आरुण्येन छुरितं विचित्रम्,] घनच्छायम् = सान्द्रानातपम् — निविडच्छायं वा [समुद्रपक्षे—घनच्छायम् =मेघकान्तिम्], विलासकाननम् = क्रीड़ावनम्, [समुद्रपक्षे- (बवयोरभेदात्) बिलासकानां बिलेशयानां सर्पाणां आननं प्राणनम्], अम्भसां निधिम् = जलनिधिम् —समुद्रं वा, सुषुप्सया = स्वप्तुं इच्छया, हरिः इव = विष्णुः इव, विवेश = प्राविशत्।

हिन्दी अनुवाद—ततः = तदन्तर, क्षोणिपतिः सः = पृथ्वीपति उस राजा नल ने, क्षणात् गत्वा = क्षणभर में ही पहुँचकर, धृतीच्छया = धैर्य अथवा

शान्ति (प्राप्ति) की इच्छा से, प्रवालरागच्छुरितम् = नूतन पल्लवों (किसलयों) की लालिमा (रागिमा) से युक्त, घनच्छायम् = सघन छाया से युक्त [समुद्रपक्ष में—मेघों सदृश कान्ति वाले], विलासकाननम् = क्रीड़ा वन में, अम्भसां निधिं सुषुप्सया हरिः इव = समुद्र में सोने की इच्छा से प्रविष्ट हुए विष्णु के समान, विवेश = प्रवेश किया।

भावार्थ—तदनन्तर राजा नल नूतन पल्लवों से युक्त तथा सघनछाया से परिपूर्ण विलास (क्रीड़ा) वन में शान्ति (धैर्य) प्राप्त करने की अभिलाषा से उसी प्रकार प्रविष्ट हुए जिस प्रकार भगवान् विष्णु मूँगों की लालिमा से मिश्रित तथा मेघों जैसी कान्ति को धारण करने वाले क्षीरसागर में शयन करने की इच्छा से प्रवेश करते हैं [अथवा हरि नाम सिंह का भी है– इस आधार पर यह अर्थ होगा कि जिस प्रकार सिंह पल्लवों की लालिमा से युक्त सघन छाया से परिपूर्ण वन में शीघ्र ही सोने अथवा विश्राम करने की इच्छा से प्रवेश किया करता है]।

अलङ्कार– इस श्लोक में प्रयुक्त ''प्रवालरागच्छुरितम्'' तथा ''घनच्छायम्'' इन दोनों ही पदों में ''श्लेष'' है। अतः ये ''विलासकाननम्'' और अम्भसां निधिम् क्रमशः उपमेय और उपमान– दोनों के ही विशेषण हैं। ''अम्भसां निधिं इव विलासकाननम्'' में ''उपमा'' अलङ्कार है। अतः उपर्युक्त श्लोक में श्लेषनिष्ठ उपमा अलङ्कार हुआ।

व्याकरण—**सुषुप्सया** = स्वप् + सन् (दित्वाति के पश्चात्)– सुषुप्स +अ + टाप् (तृतीया विभक्ति के एकवचन का रूप)।

समास– **क्षोणिपतिः** = क्षोण्याः पृथिव्याः पतिः– क्षोणिपतिः (षष्ठी तत्पुरुष)। ''क्षोणि'' में ''ङ्यापोः'' इस सूत्र से ह्रस्व हो जाता है। अथवा क्षोणि तथा क्षोणी दोनों ही शब्दों को पृथ्वी वाचक कहा जा सकता है। क्योंकि ''कृतिकारादक्तिनः'' इस गुणसूत्र द्वारा विकल्प से ''ङीष्'' होने पर ''क्षोणी'' तथा न होने पर ''क्षोणिः'' रूप बनते हैं। **धृतीच्छया** = धृते इच्छा– धृतीच्छा तया। **प्रवालरागच्छुरितम्** = प्रवालं रागेण छुरितम् –इति। **घनच्छायम्** =

घना छाया यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि)। समुद्रपक्ष में– घनस्य मेघस्य छाया इव यस्य तत् (बहुव्रीहि)। **विलासकाननम्** = विलासार्थं काननम् – विलासकाननम् (चतुर्थीतत्पुरुष)। **सुषुप्सया** = स्वप्तुं इच्छा सुषुप्सा तया।

टिप्पणियाँ–ततः = तत्पश्चात्- उस वन में पहुँच जाने के पश्चात्। **क्षोणिपतिः** = पृथ्वी के पालक अथवा रक्षक (राजा नल ने)। **धृतीच्छया** = धैर्य अथवा शान्ति की प्राप्ति की इच्छा से। **प्रवालरागच्छुरितम्** = (वन के पक्ष में) नव पल्लवों अथवा किसलयों अथवा (समुद्रपक्ष में–) मूँगों की लालिमा से युक्त अथवा विचित्र [" प्रवालो वल्लकीदण्डे विद्रुमे नवपल्लवे"– इत्यमरः]। **घनच्छायम्** = घनी (सान्द्र) छाया से युक्त (समुद्रपक्ष में–मेघों जैसी कान्ति से युक्त)। "छाया त्वनातपे कान्तौ" इति विश्वः। **विलासकाननम्** = क्रीड़ावन में– विलास हेतु निश्चित वन में। **सुषुप्सया** = सोने अथवा शयन की इच्छा से। **विवेश** = प्रवेश किया-घुसा।

प्रसङ्ग– नगर निवासियों की दृष्टियाँ राजा नल को उस समय तक देखती रहीं कि जब तक वे उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हो गये–

वनान्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे।
न्यवर्त्तिदृष्टिप्रकरैः पुरोकसामनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः॥७५॥

मल्लिनाथकृत-टीका– वनान्तेति। अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः स्नेहादनु-गच्छद्बन्धुसङ्घसदृशैरित्यर्थः। अत एवोपमालङ्कारः। पुरौकसां दृष्टिप्रकरैर्दृष्टिसमूहैः कर्तृभिर्वनान्तपर्यन्तं काननोपान्तसीमाम् उदकप्रान्तपर्य्यन् तञ्चेति गम्यते, 'वने सलिलकानने' इत्यमरः। सस्पृहं साभिलाषं यथा तथा उपेत्य गत्वा अथ अनन्तरं क्रमेण तस्मिन् नले अवतीर्णदृक्पथे अतिक्रान्त-दृष्टिविषये सति न्यवर्ति निवृत्तं भावे लुङ्। यथा बन्धुभिः उदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेदि' त्यागमात्प्रवसन्तमनुव्रज्य निवर्त्यते तद्वदित्यर्थः॥७५॥

अन्वय– अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः पुरौकसां दृष्टिप्रकरैः वनान्तपर्यन्तं सस्पृहं उपेत्य क्रमेण तस्मिन् अवतीर्णदृक्पथे न्यवर्त्ति।

संस्कृत-व्याख्या—अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः = अनुव्रजन्, स्नेहादनुगच्छन्, यो बन्धुसमाजः इष्टसमूहः तस्य बन्धुभिः सदृशैः, पुरौकसां = नगरनिवासिनाम्, दृष्टिप्रकरैः= दृष्टिसमूहैः, वनान्तपर्यन्तं = काननोपान्तसीमाम् - उदकप्रान्तपर्यन्तञ्चेति गम्यते, सस्पृहं = साभिलाषम्, यथा तथा, उपेत्य= गत्वा, क्रमेण= परिपाठ्या, तस्मिन् = नले, अवतीर्णदृक्पथे = अतिक्रान्तदृष्टिविषये सति, न्यवर्त्ति = निवृत्तम्।

हिन्दी अनुवाद—अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः = पीछे जाते हुए (पहुँचा कर वापिस जाते हुए) इष्टजनों के समूह के सदृश, पुरोकसाम् = नगरनिवासियों की, दृष्टिप्रकरैः = दृष्टियों, वनान्तपर्यन्तम् = वन की सीमा तक, सस्पृहम् = अभिलाषापूर्वक, उपेत्य = जाकर, क्रमेण = क्रमशः, तस्मिन् = उस (राजा नल) के, अवतीर्णदृक्पथे = दृष्टिमार्ग से आझेल हो जाने पर, न्यवर्त्ति = लौट आयीं।

भावार्थ— (किसी जाते हुए सम्बन्धी के) पीछे जाते हुए बन्धु समूह के सदृश नगरनिवासियों की दृष्टियाँ (राजा नल को देखने के लिये) वन तक जाकर क्रमशः उस नल के दृष्टि-पथ से ओझल हो जाने पर (वापिस) लौट आयीं। ऐसा शास्त्रीय विधान है कि यदि कोई अपना सम्बन्धी अपने यहाँ आता है और फिर जब वह वापिस जाने के लिये गमन करता है तो उस समय घर के लोग उसे थोड़ी दूर तक पहुँचाने के लिये जाया करते हैं जैसा कि शास्त्र भी कहता ''उदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेदिति''अर्थात् इष्टजनों को पहुँचाने जलाशय पर्यन्त जायें। तदनन्तर जब वह जाने वाला व्यक्ति सवारी आदि में बैठकर चल दिया करता है और घर के लोगों की दृष्टि से ओझल हो जाया करता है तब घर के लोग अपने घर वापिस आ जाया करते हैं। इसी प्रकार राजा नल ने जब वन के लिए गमन किया तो नगर-निवासी जन उसको निरन्तर देखते रहे किन्तु जब नगरनिवासियों की दृष्टियों से राजा ओझल हो गया तो नगरनिवासियों की दृष्टियाँ भी वापिस लौट आयीं। अर्थात् जब तक राजा नल नगरनिवासियों की दृष्टि द्वारा देखने योग्य रहे तब तक वे लोग उन्हें निरन्तर देखते रहे किन्तु जब

राजा वन के समीप पहुँचे और नगरनिवासियों की दृष्टि से ओझल हो गये तो नगरनिवासियों की दृष्टियाँ उस ओर से वापिस लौट आयीं।

अलङ्कार—"अनु.... बन्धुभिः" के आधार पर "उपमालङ्कार" है। "अनुप्रास" अलङ्कार की भी छटा उक्त श्लोक में विद्यमान है जो कि सुस्पष्ट ही है।

व्याकरण— **न्यवर्त्ति** = नि + वत् +लुङ् (भाववाच्य)।

समास—**अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः** = बन्धूनां समाजः (षष्ठी तत्पुरुष), अनुव्रजन् बन्धुसमाजः (कर्मधारय), तस्य बन्धुः (षष्ठी तत्पुरुष), तैः। **पुरोकसाम्** = पुरे पुरं वा लोको येषाम् (बहुव्रीहि)। **दृष्टिप्रकरैः** = दृष्टीनां प्रकरः, दृष्टिप्रकरः तैः। **अवतीर्णदृक्पथे** = दृशोः पन्थाः दृक्पथः (षष्ठी तत्पुरुष), अवतीर्णः दृक्पथः येन स अवतीर्णदृक्पथः (बहुव्रीहि), तस्मिन्।

टिप्पणियाँ—**अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः** = बन्धूनां समाजः (षष्ठी तत्पुरुष), अनुव्रजन् बन्धुसमाजः (कर्मधारय), तस्य बन्धु (षष्ठी तत्पुरुष), तैः। **पुरौकसाम्** = पुर अर्थात् नगर ही है ओक-निवासस्थान जिनका ऐसे । अर्थात् नगरनिवासियों के। **दृष्टिप्रकरैः** = दृष्टिसमूह-दृष्टियाँ। **वनान्तपर्यन्तम्** = क्रीड़ावन अथवा जल के समीप तक। "वन का अर्थ 'जल' भी हुआ करता है— "जीवन भुवनं वनम्"। " उदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेत्" अर्थात् जलसीमा (जलाशय) तक अपने प्रिय (सम्बन्धी) यात्री का अनुगमन करे। अर्थात् उसे थोड़ी दूर तक पहुँचाकर लौट आये अथवा जब कोई जलाशय दिखलाई पड़ जाय तो वहीं से वापिस चला आवे। प्रायः सभी नगरों से बाहर (अर्थात् नगर की सीमा समाप्त होने पर) जलाशय आदि हुआ करते थे। इसी आधार पर इस प्रकार के शिष्टाचार का नियम बना होगा। **अवतीर्णदृक्पथे** = नेत्रों के मार्ग को पार कर जाने पर अथवा दृष्टि से ओझल हो जाने पर। **न्यवर्त्ति** = लौट आये।

प्रसङ्ग— तदनन्तर राजा नल ने उस विलासवन (अथवा उपवन) की शोभा को देखा—

ततः प्रसूने च फले च मञ्जुले स सम्मुखीनाङ्गुलिना जनाधिपः।
निवेद्यमानं वनपालपाणिना व्यलोकयत् काननरामणीयकम्॥७६॥

मल्लिनाथकृत-टीका—तत इति। ततः वनप्रवेशानन्तरं स जनाधिपो नलः मञ्जुले मनोज्ञे प्रसूने कुसुमे फले च विषये सम्मुखीनां सन्दर्शिनी सम्मुखावस्थितवस्तुप्रकाशिकेति यावत् 'यथामुखसम्मुख्य दर्शनः ख' इति खप्रत्ययान्तो निपातः। तादृशी अङ्गुलिर्यस्य तेन वनपालपाणिना निवेद्यमानम् इदमित्यङ्गुल्या पुष्पफलादिनिर्देशेन प्रदर्श्यमानमित्यर्थः। काननरामणीयकं वनरामणीयकम् 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इति वुञ्प्रत्ययः। व्यलोकयत् अपश्यदिति स्वभावोक्तिः॥७६॥

अन्वय—ततः सा जनाधिपः मञ्जुले प्रसूने च फले च सम्मुखीनाङ्गुलिना वनपालपाणिना निवेद्यमानं काननरामणीयकं व्यलोकयत्।

संस्कृत-व्याख्या—ततः = वनप्रवेशानन्तरम्, स जनाधिपः =राजा नलः, मञ्जुले =मनोहरे, प्रसूने = कुसुमे, च फले च विषये, सम्मुखीनाङ्गुलिना = सम्मुखीना सन्दर्शिनी संमुखावस्थितवस्तुप्रकाशिका इति यावत्, तादृशी अङ्गुली यस्या तेन, वनपालपाणिना = उद्यानरक्षकहस्तेन, निवेद्यमानम् = इदमिदमित्यङ्गुल्या पुष्पफलादिनिर्देशेन प्रदर्श्यमानमित्यर्थः, काननरामणीयकम् = वनसौन्दर्यम्, व्यलोकयत् = अपश्यत्।

हिन्दी अनुवाद—ततः = तदनन्तर, सा जनाधिपः = उस राजा नल ने, मञ्जुले = सुन्दर, च, प्रसूने = फूलों, फले च = और फलों की ओर, सम्मुखीनाङ्गुलिना = दिखलाने वाली अंगुलि से युक्त, वनपालपाणिना = उद्यान-रक्षक के हाथ के द्वारा, निवेद्यमानम् = बतलाये जाते हुए, काननरामणीयकम् = वन के सौन्दर्य को, व्यलोकयत् = देखा।

भावार्थ— उस वन में प्रवेश करने के उपरान्त राजा नल ने सुन्दर फूल और फलों की ओर उद्यानरक्षक द्वारा अपनी अंगुली से निर्देशित वन की शोभा को देखा।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में ''स्वभावोक्ति'' अलङ्कार है जो कि स्पष्ट ही है।

व्याकरण—**सम्मुखीना** = सम्मुख + ख ''यथामुखसम्मुखस्य दर्शन: ख:'' से ''ख'' के स्थान पर ''ईन'' आदेश तत्पश्चात् टाप् होकर। **वनपालपाणिना** = वन + पाल् + णिच् + अच्। **निवेद्यमानम्** = नि + विद् + णिच् + शानच् (कर्मवाच्य)। **रामणीयकम्** = रमणीय + वुञ् ''योपधाद्गुरुपोत्तमाद्वुञ्''से।

समास—**जनाधिप:** = जनानां अधिप: (षष्ठीतत्पु०)। **सम्मुखीनाङ्गुलिना** = सम्मुखे स्थिता सम्मुखीना, सम्मुखीना अङ्गुली यस्य स सम्मुखीनाङ्गुलि (बहुव्रीहि) तेन। **वनपालपाणिना** = वनपालयतीति वनपाल:, तस्य पाणि: (षष्ठी तत्पुरुष), तेन। **काननरामणीयकम्** = रमणीयस्य भाव: रामणीयकम्, काननस्य रामणीयकम्, (षष्ठी तत्पुरुष) इति।

टिप्पणियाँ—**हिन्दी अनुवाद**—**तत:** = उस वन में प्रवेश कर लेने के बाद। **जनाधिप:** = राजा (नल)। **मञ्जुले** = सुन्दर, मनोहर, मनोज्ञ। **प्रसूने** = फूल। ''प्रसूने'' तथा ''फले'' पदों में जातिगत बहुवचन की विवक्षा की दृष्टि के एकवचन का प्रयोग किया गया है। अतएव इन दोनों पदों का अर्थ क्रमश: ''फूलों'' और ''फलों'' ही समझना उचित है। **सम्मुखीनाङ्गुलिना** = सामने की ओर किये गये संकेत से युक्त अंगुलि वाले। **वनपालपाणिना** = उद्यान-रक्षक (माली) के हाथ द्वारा। **काननरामणीयकम्** = वन के सौन्दर्य को अथवा उद्यान की शोभा को। **व्यलोकयत्** = देखा।

प्रसङ्ग— वन के वृक्षों ने वनवासी ऋषियों से उस राजा नल का अतिथिसत्कार करना सीखा—

फलानिपुष्पाणि च पल्लवे करे
वयोऽपिपातोद्गतवातवेपिते।
स्थितै: समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने
तदातिथ्यमशिक्षि शास्त्रिभि:॥७७॥

मल्लिनाथकृत-टीका—फलानीति। वयोऽतिपातेन पक्षिपातेन बाल्याद्यपगमेन चोद्गतेनोत्थितेन वातेन वायुना वातदोषेण च वेपिते कम्पिते

'खगवाल्यादिनोर्वय' इत्यमरः। पल्लव एवकर इति व्यस्तरूपकं फलानि पुष्पाणि च समाधाय निधाय स्थितैस्तिष्ठद्भिः वने शाखिभिर्वृक्षैः वेदशाखाध्यायिभिश्च, 'शाखाभेदे द्रुमे शाखा वेदेऽपि'ति वैजयन्ती। तदातिथ्यं तस्य नलस्यातिथ्यर्थ कर्म, 'अतिथेर्ञ्य' इति ञ्यप्रत्ययः। महर्षीणां वार्द्धकाद् वृद्धसमूहात तत्रत्यवृद्धमहर्षिसङ्घादित्यर्थः। शिव भागवतवत्समासः। 'वृद्धसंघे तु वार्द्धकमि'त्यमरः। 'वृद्धाच्चेति वक्तव्यमि'ति समूहार्थे वुञ्प्रत्ययः। अशिक्षि शिक्षितमभ्यस्तम्, अन्यथा कथमिद्याचारितमिति भावः। कर्मणि लुङ् उत्प्रेक्षेयं सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या पूर्वोक्तरूपश्लेषा-भ्यामुत्थापिता चेति सङ्करः॥७७॥

अन्वय— वयोऽपिपातोद्गतवातवेपिते पल्लवे करे फलानि पुष्पाणि च समाधाय वने स्थितैः शाखिभिः महर्षिवार्द्धकात् तदातिथ्यं अशिक्षि।

संस्कृत-व्याख्या—वयोऽपिपातोद्गतवातवेपिते = वयोऽतिपातेन पक्षिपतनेन उद्गतः उच्छ्रितः यः वातः वायुः तेन वेपिते कम्पिते [महर्षिपक्षे वयसः बालाद्यवस्थायाः अतिपातेन अपगमेन उद्गतः उत्पन्नः यः वातः वायुरोगः तेन वेपिते कम्पिते], पल्लवे = शाखाग्रलक्षणे (एव), करे = हस्ते, फलानि पुष्पाणि च, समाधाय= गृहीत्वा, वने, स्थितैः = तिष्ठद्भिः, शाखिभिः = वृक्षैः [महर्षिपक्षे—वेदशाखाध्यायिभिः], महर्षिवार्द्धकात्= महर्षीणां वार्द्धकात् वृद्धसमूहात्, तदातिथ्यम् = तस्य नलस्य आतिथ्यं आतिथ्यर्थ कर्म—पूजा वा, अशिक्षि = शिक्षितम् — अभ्यस्तम् वा।

हिन्दी अनुवाद—वयोऽपिपातोद्गतवातवेपिते = पक्षियों के उड़ने से उत्पन्न वायु द्वारा हिलते हुए [महर्षिपक्ष में— अधिक अवस्था के कारण उत्पन्न हुए वातरोग के कारण काँपते हुए], पल्लवे करे = पल्लवरूपी हाथ में, फलानि पुष्पाणि च = फल और फूलों को, समाधाय = लेकर, वने = वन में, स्थितैः = खड़े हुए, शाखिभिः = वृक्षों ने, महर्षिवार्द्धकात् = वृद्ध महर्षियों के समूह से [मानों], तदातिथ्यम् = उस राजा नल का अतिथि-सत्कार करना, अशिक्षि = सीखा।

भावार्थ– [पहले से वृक्षों के ऊपर बैठे हुए] पक्षियों के एक साथ उड़ने के कारण उत्पन्न हुई वायु से हिलते हुए पल्लवरूपी हाथ में फल-फूलों को लेकर स्थित वन के वृक्षों ने मानो अधिक अवस्था हो जाने के कारण उत्पन्न हुए वातदोष के कारण काँपते हुए हाथों से युक्त वृद्ध महर्षियों के समूह से उस राजा नल का अतिथि-सत्कार करना सीखा। अर्थात् अवस्था के अधिक हो जाने के कारण जिनको वात दोष या रोग हो गया था और इसके कारण जिनका हाथ भी कंपन करने लगा था ऐसे वनवासी वृद्धमहर्षियों के पास जाकर उस उद्यान के वृक्षों ने राजा नल का अतिथि सत्कार करने का प्रकार सीखा। कवि ने यहाँ ऐसी उत्प्रेक्षा की है।

इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस वन में महर्षि लोग भी निवास करते थे और उस वन के वृक्ष फल-फूल आदि की समृद्धि से परिपूर्ण थे।

अलङ्कार– उक्त श्लोक में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है। श्लोक के द्वितीय चरण में "श्लेष" भी है।

व्याकरण–**शाखिभिः** = शाखा + इनि। (तृतीयाबहुवचन का रूप)। **वार्द्धकम्** = वृद्धानां समूहः वार्द्धकम् –वृध + वुञ्–"वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्" से। **आतिथ्यम्** = अथितेर्भावः आतिथ्यम् –अतिथि + ञ्य– "अतिथेर्ञ्य" से। **अशिक्षि** = शिक्ष् + लुङ् (कर्मवाच्य)।

समास–**वयोऽपिपातोद्गतवातवेपिते** = वयसां अतिपाताः (षष्ठी तत्पुरुष), तेन उद्गतः (तृतीया तत्पुरुष), तादृशः वातः (कर्मधारय), तेन वेपितः (तृतीया तत्पुरुष), तस्मिन्। महर्षि पक्ष में– वयसः अवस्थायाः अतिपातेन अपगमेन उद्गतेन वातेन वायुदोषेण वायुरोगेण वा वेपिते। **शाखिभिः** = शाखाः सन्ति एषां– इति शाखिनः तैः। **महर्षिवार्द्धकात्** = वृद्धानां समूहः वार्द्धकम्, महर्षीणां वार्द्धकम् इति महर्षिवार्द्धकम् (षष्ठी तत्पु०), तस्मात्। **तदातिथ्यम्** = तस्य (नलस्य) आतिथ्यम् (षष्ठी तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ–**वयोऽपिपातोद्गतवातवेपिते** = (वृक्ष पक्ष में)– पक्षियों के उड़ने के कारण उत्पन्न हुए वायु से हिलने डुलने वाले। (महर्षिपक्ष में)–

अवस्था के ढल जाने के कारण उत्पन्न हुए वात-दोष तथा वातरोग के कारण कम्पन युक्त (हाथों वाले)। **समाधाय** = लेकर तथा रखकर। **स्थितैः** = स्थित अथवा खड़े हुए। **शाखिभिः** = वृक्षों ने। (महर्षि पक्ष में) वेद की शाखाओं का अध्ययन करने वाले। "शाखाभेदे द्रुमे शाखा वेदेऽपि" इति वैजयन्ती। **महर्षिवार्द्धकात्** = वृद्धावस्था को प्राप्त हुए महर्षियों के समूह। **तदातिथ्यम्** = उस राजा नल का अतिथि-सत्कार अथवा स्वागत। **अशिक्षि** = सीखा।

प्रसङ्ग— उस उपवन में राजा नल ने भ्रमरों से युक्त केतकी के पुष्प को देखा—

विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुको तत्र ददर्श कैतकम्॥७८॥

मल्लिनाथकृत-टीका— विनिद्रेति। विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् विकचदलावलिस्थितभृङ्गमिषात् मृगाङ्कचूडामणेश्वरस्य कर्तुर्वर्ज्जनेन परिहारेणार्जितं सम्पादितं 'न केतक्या सदाशिवमि'ति निषेधादिति भावः। आशासु चरिष्णु सञ्चरणशीलं 'अलंङ्कृञि' त्यादिना चरेरिष्णुच्प्रत्ययः। दुर्यशोऽपकीर्तिं दधानं कैतकं केतकीकुसुमं तत्र वने स नलः कौतुकी सन् ददर्श। अर्हस्य महापुरुषस्य बहिष्कारो दुष्कीर्तिकर इति भावः अत्रालिकैतवादित्यलित्वापह्नवेन तेषु दुर्यशस्त्वारोपादप-ह्नुत्यलङ्कारः। 'निषेध्यविषये साम्यादन्यारोपेऽह्नुतिः' इति लक्षणात्॥७८॥

अन्वय— तत्र कौतुकी सः मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितं आशासु चरिष्णु दुर्यशः विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् दधानं कैतकं ददर्श।

संस्कृत-व्याख्या—तत्र = वने, कौतुकी = कुतूहलपूर्णः, सः = नलः, मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम् = मृगाङ्कः चन्द्रः चूडामणौ यस्य तेन शिवेन वर्जनं परिहारं (त्यागः) तेन अर्जितम् सम्पादितम्, आशाषु= दिशासु, चरिष्णुः = संचरणशीलम्, दुर्यशः = अपकीर्तिम्, विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् = विनिद्रा विकसिता पत्रालिः दलपंक्तिः तत्र तां वा गताः प्राप्ताः ये अलयः भृङ्गाः तेषां

कैतवात् मिषात्, कैतकम् = केतकीपुष्पम्, ददर्श = अवलोकितवान्। "समर्थस्य महापुरुषस्य बहिष्कार: दुष्कीर्तिकर: " इतिभाव:।

हिन्दी अनुवाद—तत्र = [उस] वन में, कौतुकी = उत्सुकतापूर्ण, स: = उस [राजा नल] ने, मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम् = शिव जी द्वारा त्याग दिये जाने से उत्पन्न, आशासु = सम्पूर्ण दिशाओं में, चरिष्णु: = व्याप्त-फैलने वाली, दुर्यश: = अपकीर्ति को, विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् = खिली हुई पंखुड़ियों के बीच में स्थित भ्रमरों की पंक्ति के बहाने (रूप में), दधानम् = धारण किये हुए, कैतकम् = केतकी के पुष्प को, ददर्श = देखा। किसी समर्थ महापुरुष द्वारा किया गया किसी वस्तु का बहिष्कार अपकीर्ति का ही जनक हुआ करता है।

भावार्थ— वन (को देखने के विषय) में उत्सुकतापूर्ण राजा नल ने, शिवजी द्वारा त्याग दिये जाने के कारण उत्पन्न तथा सम्पूर्ण दिशाओं में फैलने वाले अपयश को धारण करने वाली, खिली हुई पंखुड़ियों के बीच में बैठे हुए भ्रमरों की पंक्ति के रूप में (अपकीर्ति से युक्त उस) केतकी के फूल को देखा।

जब राजा नल ने उस उपवन में भ्रमरों से युक्त केतकी के फूल को देखा तब उनके मन में बड़ी उत्सुकता उत्पन्न हुई। ऐसा प्रतीत होता था कि उस फूल के अन्दर भौंरे नहीं थे अपितु वह केतुकी के फूल की अपकीर्ति ही थी जो शिवजी द्वारा (उसका) त्याग कर दिये जाने के कारण उत्पन्न हुई थी और वह उसकी अपकीर्ति फूल में से निकलकर उड़ते हुए भ्रमरों के रूप में सभी दिशाओं में व्याप्त हो रही थी। केतकी का फूल शिव-पूजा में वर्जित है और इसी कारण उसकी यह अपकीर्ति हुई है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कथानक शिवपुराण में उपलब्ध होता है—

एक बार भगवान् राम लक्ष्मण तथा सीता के साथ गया में पितरों के श्राद्ध हेतु गये। वहाँ पहुँचकर राम ने लक्ष्मण को श्राद्ध सामग्री लाने के लिये नगर में भेजा और स्वयं फल्गु नदी के किनारे बैठकर पितरों का आवाहन करने लगे। लक्ष्मण के आने में अधिक विलम्ब हो जाने के कारण राम भी श्राद्धसामग्री

लाने हेतु नगर को चले गये। उन दोनों में से कोई भी उक्त सामग्री को लेकर लौट नहीं पाया था कि इसी बीच राम के पितरों के साथ श्राद्धपिण्ड लेने के निमित्त बाहर निकले। यह देखकर सीता जी घबराने लगीं। उसे घबराया हुआ देखकर आकाशवाणी द्वारा पितरों ने कहा "हे वत्से! श्राद्धसामग्री के विद्यमान न होने पर तुमको घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम बालू का ही पिण्ड बनाकर हम लोगों का श्राद्ध करो।" सीता ने ऐसा ही किया तथा अपने इस कार्य में वहाँ उपस्थित गौ, अग्नि, फल्गु नदी और केतकी पुष्प को साक्षी बनाया। विधिवत् बालू के श्राद्धपिण्ड लेकर पितरों के हाथ जब अन्तर्निहित हो गये तब राम व लक्ष्मण उक्त सामग्री लेकर वापिस आये। उस समय सीता ने पूर्वोक्त चारों साक्षियों ने कहा "हमको कुछ भी ज्ञान नहीं है"। तब पितरों ने आकाशवाणी द्वारा श्राद्ध-पिण्ड की स्वीकृति को बतलाया और पुनः श्राद्ध करने का निषेध किया। तब सीता जी ने उपर्युक्त चारों को क्रमशः यह शाप दिया– "(गौ को) तुम आगे (मुख) भाग से अपवित्र होओ। (अग्नि को) तुम सर्वभक्षी होओ। (फल्गु नदी को) तुम निर्जल (अन्तर्जल) होओ। (केतकी पुष्प को) तुम शिवजी के प्रिय न रहो।"

उसी समय से शिव-पूजा में केतकी-पुष्प का उपयोग किये जाने का निषेध है।

अलङ्कार– इस श्लोक में "अलिकैतवात्" पद में अलित्व के अपह्नव द्वारा दुर्यशत्व का आरोप किये जाने से "अपह्नुति" नामक अलङ्कार है। लक्षण–"निषेध्यविषये साम्यादन्यारोपेऽपह्नुतिः"।

व्याकरण–कौतुकी = कौतुक + इनि। **चरिष्णु** = चर् + इष्णुच्। **कैतकम्** = केतक्याः इदम्, केतकी + अण्।

समास–मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितं = मृगाङ्कः चन्द्रः चूडायाः शिरसः मणिः यस्य तस्य शिवस्य वर्जनेन परित्यागेन अर्जितम् इति। **विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात्** = विनिद्रा पत्रालिः इति विनिद्रपत्रालिः, तां गताः इति विनिद्रपत्रालिगताः, ये अलयः तेषां कैतवात्– इति।

टिप्पणियाँ— **कौतुकी** = उत्सुकता से भरे हुए। **मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्** = शिवजी द्वारा परित्याग होने के कारण जो (अयश) प्राप्त हुआ हो। **आशासु** = दिशाओं में। **चरिष्णुः** = संचरणशील— फैलने वाली। **दुर्यशः** = अयश, अपयश, अपकीर्ति। **विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात्** = खिली हुई पंखुड़ियों में स्थित भ्रमरों के बहाने से। **दधानम्** = धारण करते हुए। **कैतकम्** = केतकी के फूल को। **ददर्श** = देखा।

प्रसङ्ग— [केतकी पुष्प को देखने के पश्चात्] राजा नल ने केतकी के फूल की निन्दा की। इस का वर्णन ७९ से ८१ वें श्लोक तक किया गया है।

वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुर्निधीयसे कर्णिशरः स्मरेण यत्।
ततो दुराकर्षतया तदन्तकृद्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना॥७९॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अथ त्रिभिः कैतकोपालम्भमाह— वियोगेत्यादि। कैतक! यद्यस्मात्त्वं स्मरेण वियोगभाजां हृदिकण्टकैः निजतीक्ष्णावयवैः कटुस्तीक्ष्णः केतकविशेषणस्यापि कर्णिशरत्वम्। विशेषणविवक्षया पुंल्लिङ्गनिर्देशः, किन्तूद्देश्यविशेषणस्य विधेयविशेषणत्वं क्लिष्टम्। कर्णवत् कर्णि प्रतिलोमशल्यं तद्वान् शरः कर्णिशरः सन्निधीयसे कण्टककटोः केतकस्य कर्णिशरत्वरूपाणद्रूपकालङ्कारः। तत कर्णिशरत्वादिवद् दुराकर्षतया दुरुद्धारतया तदन्तकृत्तेषां वियोगिनां मारकं मन्मथदेहदाहिना स्मरहरेण विगीयते विगर्ह्यसे। द्वेष्यत् द्वेष्योपकरणमप्यसह्यमेव, तदपि हिंस्रं चेत् किमु वक्तव्यमिति भावः। अत्रेक्षकर्तृकस्य केतकीविगर्हणस्य तद्गतवियोगिहिंस्कताहेतुकत्वोत् प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या, सा चोक्तरूपकोत्थापितेति सङ्करः॥७९॥

अन्वय— यत् (त्वम्) स्मरेण वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुः कर्णिशरः निधीयसे ततः दुराकर्षतया तदन्तकृत् मन्मथदेहदाहिना विगीयसे।

संस्कृत-व्याख्या—[हे कैतक!] यत् = यस्मात् (त्वम्), स्मरेण = कामेन, वियोगभाजाम् = वियोगिनां, हृदि= हृदये, कण्टकैः = निजतीक्ष्णावयवैः, कटुः = तीक्ष्णः, कर्णिशरः= कर्णसहितः बाणः, विधीयसे =

निक्षिप्यसे; ततः= तस्मात् कारणात्, दुराकर्षतया= उद्धर्तुमशक्यतया, तदन्तकृत् = तेषां वियोगिनां मारकम्, मन्मथदेहदाहिना = स्मरहरेण, विगीयसे = विगर्ह्यसे।

हिन्दी अनुवाद—हे केतकी के फूल। यत् = जिस कारण, (त्वम् = तुम), स्मरेण = कामदेव के द्वारा, वियोगभाजाम् = वियोगियों के, हृदि = हृदय में, कण्टकैः = काटों से, कटुः = तीक्ष्ण, कर्णिशरः = बाण के रूप में, निधीयसे = रखे जाते हो, ततः = इसलिये, दुराकर्षतया = कठिनता के साथ बाहर खींचे जा सकने के कारण, तदन्तकृत् = उन वियोगियों का अन्त करने वाले (तुम), मन्मथदेहदाहिना = कामदेव के शरीर को जलाने (भस्म कर देने)वाले (शिव जी) द्वारा, विगीयसे = निन्दित किये जाते हो।

भावार्थ— हे केतकी पुष्प! कामदेव, काटों से युक्त होने के कारण बाणरूप में विद्यमान तुमको वियोगियों के हृदय में चुभाता है, इस कारण (अथवा-कर्णियुक्तबाण के रूप में होने से अथवा उस वियोगि-हृदय से) कष्ट से निकाले जाने योग्य होने के कारण, उन विरहियों को मारने वाले, कामदेव के शरीर को भस्म कर देने वाले शिव जी तुमको निन्दित (अथवा त्याग देने योग्य) करते हैं।

[हे केतकी पुष्प! तुम कामदेव के सहायक हो। अतः तुम्हारा त्याग करना कामदेव को भस्म कर देने वाले शिवजी के लिये पूर्णतया उपर्युक्त ही है।]

अलङ्कार— उपर्युक्त श्लोक में रूपक से उत्थापित ''उत्प्रेक्षा'' अलङ्कार है।

व्याकरण—**निधीयसे** = नि + धा + लट् (कर्मवाच्य)। **दुराकर्षतया** = दुर + आं + कृष् + खल् = दुराकर्ष। [तस्यभावः] + तल् + टाप् = दुराकर्षता (तृतीया एकवचन में)। **तदन्तकृत्** = तदन्त + कृ + क्विप्—नुक्। **दाहिना** = दह + णिनि (कर्त्ता में)। **विगीयसे** = वि + गै + लट् (कर्मवाच्य)।

समास—**वियोगभाजाम्** = वियोगं भजन्ते इति वियोगभाजः तेषाम्। **कर्णिशरः** = कर्णः अस्ति अस्मिन् इति कर्णी (कर्ण + इनि), कर्णी चासौ शरः

कर्णिशरः (कर्मधारय)। **दुराकर्षतया** = दुःखेन आक्रष्टुं योग्यः दुराकर्षः तस्य भावः दुराकर्षता तया। **तदन्तकृत्** = तेषां अन्तः तदन्तः (षष्ठी तत्पु०), तदन्तं करोतीति तदन्तकृत्। **मन्मथदेहदाहिना** = मन्मथस्य देहमन्मथदेहः तं दग्धुं शीलमस्य इति मन्मथदेहदाहिना।

टिप्पणियाँ—स्मरेण = कामदेव के द्वारा, **वियोगभाजाम्** = वियोगियों अथवा विरहियों के, **हृदि** = हृदय में– हृदय के अन्तर। **कटुः** = तीक्ष्ण तेज। **कर्णिशरः** = नोंकदार काँटों वाला। केतकी के फूल में काँटे हुआ करते हैं– इसी कारण उसे नोंकदार बाण के रूप में कहा गया है। **निधीयसे** = रखे जाते हो। **दुराकर्षतया** = कठिनता के साथ खींचे जाने योग्य होने के कारण। **तदन्तकृत्** = उन विरहियों का अन्त कर देने में समर्थ। **मन्मथदेहदाहिना** = कामदेव के शरीर को भस्म कर देने वाले (शिव जी) के द्वारा। **विगीयसे** = निन्दित किये जाते हो।

प्रसङ्ग— यथा पूर्व।

त्वदग्रसूचीसचिवः स कामिनोर्मनोभवः सीव्यति दुर्यशःपटौ।
स्फुटञ्च पत्रैः करपत्रमूर्तिभिर्वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते॥८०॥

मल्लिनाथकृत-टीका— त्वदिति। तवाग्राण्येव सूच्यः सचिवाः सहकारिणो यस्य स तथोक्तः स प्रसिद्धो मनोभावः कामिनी च कामी च कामिनौ तयोः, 'पुमान् स्त्रिये त्येकशेषः'। दुर्यशांसि अपकीर्तयस्ताः पटाविति रूपकं तानि सीव्यति कण्टकस्तूयतं करोतीत्यर्थः। किञ्चेति चार्थः करपत्रमूर्त्तिभिः क्रकचाकारैः, 'क्रकचोऽस्त्री करपत्रमि' त्यमरः। पत्रैस्तैर्वियोगिनां हृद्येव दारुणि दारयतीति दारुणो विदारको भेत्ता स इवाचरतीति दारुणायते, 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति क्यङन्तात् लट्। दारुणायत इत्युपमा, सा च हृद्दारुणीति रूपकानुप्राणितेति सङ्करः॥८०॥

अन्वय—त्वदग्रसूचीसचिवः स मनोभवः कामिनोः दुर्यशःपटौ सीव्यति। च स्फुटं करपत्रमूर्तिभिः पत्रैः वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते।

संस्कृत-व्याख्या—त्वदग्रसूचीसचिवः= त्वत् अग्रमेव अग्रभागमेव (सूक्ष्म त्वात् तीक्ष्णत्वाच्च) सूची (तद्रूपः) सचिवः सहायः यस्य सः एतादृशः, सः= प्रसिद्धः, मनोभवः= कामदेवः, कामिनोः = कमिनी च कामी च कामिनौ तयोः स्त्रीपुंसयो, दुर्यशःपटौ= दुर्यशासि अपकीर्त्तयः ताः पटौ वस्त्रे, सीव्यति = कण्टस्यूतं करोतीत्यर्थः। च= किञ्च इति चार्थः, स्फुटम् = स्पष्टम्, करपत्रमूर्तिभिः = करपत्रवत् क्रकचवत् मूर्तिस्वरूपं येषां तैः, पत्रैः = पर्णैः, वियोगिहृद्दारुणि = वियोगिनां विरहिणां हृद् एव दारु काष्ठं तस्मिन्, दारुणायते = दारुणः विदारकः भेत्ता स इवाचरतीति दारुणायते।

हिन्दी अनुवाद—त्वदग्रसूचीसचिवः = तुम्हारे अग्रभागरूपी सुई को [अपना] सहायक बनाकर, स मनोभवः = वह प्रसिद्ध कामदेव, कामिनोः = कामी और कामिनी के, दुर्यशःपटौ = अपयशरूपी दो वस्त्रों को, सीव्यति = सीता है। च = और, स्फुटम् = स्पष्ट ही (वह कामदेव तुम्हारे), करपत्रमूर्तिभिः = आरे के सदृश आकार वाले, पत्रैः= पत्तों से (पंखुड़ियों से), वियोगिहृद्दारुणि = वियोगियों के हृदयरूपी लकड़ी को, दारुणायते = चीरता सा है।

भावार्थ— हे केतकपुष्प! तुम्हारे अग्रभाग (नोंक) रूपी सुई की सहायता से वह कामदेव कामी स्त्री-पुरुषों के अपकीर्तिरूप वस्त्रों को सीता है। और आरे के समान आकार वाले तुम्हारे पत्तों (पंखुड़ियों) से वियोगियों के हृदय रूपी लकड़ी पर आरे के सदृश ही दारुण व्यवहार भी करता है।

केतकी के फूल को देखकर कामी पुरुषों एवं स्त्रियों का धैर्यभङ्ग हो जाया करता है जिसके परिणामस्वरूप वे अपयश के भागी भी हुआ करते हैं। आरे के सदृश आकार वाले केतकी-पुष्प की पंखडी को देखकर उनका हृदय आरे से चीरे जाते हुए के समा विदीर्ण हो जाया करता है।

अलङ्कार— ''हृद्दारुणि'' में विद्यमान रूपक से अनुप्राणित ''दारुणायते'' पद में ''उपमा'' अलङ्कार है।

व्याकरण— दारुणायते = दारुण + क्यङ् (''कर्तुः क्यङ्सलोपश्च'' से) [नाम धातु] तदनन्तर लट्लकार होकर।

समास—**कामिनो:** = कामी च कामिनी च इति कामिनौ [पुमानस्त्रिया सूत्र से एक शेष हो जाने के पश्चात्] तयो:। **दुर्यश:पटौ** = दुर्यशो रूपौ पटौ इति दुर्यश:पटौ:। **करपत्रमूर्तिभि:** = करपत्रं इव मूर्ति: येषां तानि (बहुव्रीहि), तै:। **पत्रै: वियोगिहृद्दारुणि** = वियोगिनां हृत (षष्ठी तत्पु०) इति वियोगिहृत, तदेव दारु इति वियोगहृद्दारु तस्मिन्। **दारुणायते** = दारुण इव आचरतीति दारुणायते।

टिप्पणियाँ—**त्वदग्रसूचीसचिव:** = तुम्हारे अग्रभाग (नोंक) रूपी सुई ही है सहायक अथवा सचिव जिसका (ऐसा कामदेव)। **मनोभव:** = कामदेव। **कामिनो:** = कामी स्त्रियों और पुरुषों के। **दुर्यश:पटौ** = अपयश रूपी वस्त्रों को। **सीव्यति** = सीता है अथवा सिलता है। **स्फुटम्** = स्पष्टरूप में। **करपत्रमूर्तिभि:** = आरे के सदृश आकार वाले। यह "पत्रै:" का विशेषण है। **पत्रै:** = पत्तों अथवा पंखुड़ियों से। **वियोगिहृद्दारुणि** = वियोगियों के हृदयरूपी लकड़ी पर। **दारुणायते** = दारुण (विदारक) के सदृश आचरण करता है अथवा विदीर्ण करता है।

प्रसङ्ग— पूर्ववत्।

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजा
परं परागैस्तव धूलिहस्तयन्।
प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति
क्रुधाऽऽक्रुश्यत तेन कैतकम्॥८१॥

मल्लिनाथकृत-टीका— धनुरिति। कैतक! प्रसूनं धन्वा धनुर्यस्येति प्रसूनधन्वा पुष्पचाप:। 'वा संज्ञायामि'त्यनङादेश:। अत एव धनुषो मधुना मकरन्देन स्विन्नकर: आर्द्रपाणि: सन् अत एव परागै: रजोभि: धूलिहस्तयन् पुन: पुन: धूल्युद्धावितहस्तमात्मानं कुर्वन् अन्यथा धनु:स्रंसनादिति भाव: तत्करोतेर्ण्यन्ताल्लट: शत्रादेश:। अतिभीमजापरमर्तिमात्रं दमयन्त्यासक्तं मां शरसात् शराधीनङ्करोति, 'तदधीने च' इति सातिप्रत्यय:, अन्यथा स्रस्तचाप: स

मां किं कुर्यादिति भावः। इतीत्थं श्लोकत्रयोक्तिरिति तेन राजा क्रुधा कैतकमाक्रुश्यत अपराधोद्घाटने अघोष्यत्तेत्यर्थः॥८१॥

अन्वय—प्रसूनधन्वा धनुर्मधुस्विन्नकरः अपि तव परागैः धूलिहस्तयन् भीमजापरं शरसात्करोति इति तेन क्रुधा कैतकं आक्रुश्यत।

संस्कृत-व्याख्या—प्रसूनधन्वा= पुष्पचापः कामः, धनुर्मधुस्विन्नकरः = धनुः पुष्पं तस्य मधुना रसेन स्विन्नः आर्द्रः करः हस्तः यस्य तादृशः, अपि [सन्], तव= ते, परागैः= रजोभिः, धूलिहस्तयन् = धूलियुक्तं आत्मानं हस्तं कुर्वन्, भीमजापरम् = दमयन्त्यासक्तम्, माम् = नलम्, शरसात् करोति = शराधीनं करोति; इति=इत्थम्, तेन = राज्ञा नलेन, क्रुधा = क्रोधेन, कैतकम् = केतकी पुष्पम्, आक्रुश्यत = अनिन्द्यत।

हिन्दी अनुवाद—प्रसूनधन्वा = पुष्पनिर्मित धनुष वाला (कामदेव), धनुर्मधुस्विन्नकरः = पुष्पों के मधु से गीले हाथों वाला होकर, अपि = भी, तव = तुम्हारे, परागैः = परागों की धूलि से, धूलिहस्तयन् = हाथ को धूलियुक्त करके, भीमजापरम् = भीम की पुत्री दमयन्ती के प्रति आसक्त, माम् = मुझ नल को, शरसात्करोति = बाणों का लक्ष्य बनाता है। इति = इस प्रकार, तेन = उस राजा नल के द्वारा, क्रुधा = क्रोध के साथ, कैतकम् = केतकी के फूल की, आक्रुश्यत = निन्दा की गयी।

भावार्थ—कामदेव धनुष (पुष्पों) के मधु से गीले हाथ वाला होकर तुम्हारे परागों से हाथ को धूलियुक्त करता हुआ दमयन्ती की ओर लगे हुए मेरे मन को अपने बाणों के अधीन कर रहा है, इस प्रकार के क्रोध के साथ उस नल ने केतकी के फूल की निन्दा की।

हे केतकी पुष्प! फूलों से निर्मित धनुषवाला कामदेव पुष्पों के मधु से (कामदेव का धनुष पुष्पों से ही निर्मित हुआ करता है अतएव पुष्पों से निर्मित धनुष के मधु से) गीले हाथों वाला होकर तुम्हारे परागों की धूलि से यदि अपने हाथ को न सुखा पाता तो लक्ष्यभ्रष्ट होकर वह मुझे अपने बाणों से पीड़ित नहीं

कर सकता था। अतएव मेरे कामदेव के बाण से पीड़ित होने में तुम्हीं मुख्य कारण हो। इस भाँति क्रोध के साथ कहते हुए राजा नल ने केतकी के फूल की निन्दा की।

धनुष का धारण करने वाला व्यक्ति जब अधिक देर तक अपने हाथ में धनुष धारण किये रहा करता है तब उसका हाथ पसीजने लगा करता है। अतः वह अपने हाथ में धूलि लगाकर उसे सूखा कर लिया करता है। ऐसा करने पर ही वह लक्ष्य को ठीक रूप में वेध पाया करता है।

व्याकरण—धूलिहस्तयन् = धूलिहस्त + णिच् + शतृ (नामधातु)। **शरसात्करोति** = शराधीनं करोति— इत्यर्थे-शर + साति ("तदधीनवचने" से) +कृ। आक्रुश्यत = आ + क्रुश + लङ् (कर्म में)।

समास—प्रसूनधन्वा = प्रसूनं धनुः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **धनुर्मधुस्विन्नकरः** = धनुषः मधु (तत्पुरुष) धनुर्मधुः, तेन स्विन्नः करः यस्य सः (बहुव्रीहि)। धूलिहस्तयन् = धूलिना युक्तः हस्तः धूलिहस्तः तम् कुर्वन्।

टिप्पणियाँ—प्रसूनधन्वा = फूलों का (बना हुआ) धनुष है जिसका। **धनुर्मधुस्विन्नकरः** = धनुष के मकरन्द (पराग) से जिसका हाथ गीला है। ऐसा कामदेव का धनुष फूलों से निर्मित कहा जाता है। **धूलिहस्तयन्** = हाथ को धूलि से युक्त करते हुए अर्थात् फूलों के पराग से अपने हाथ को मलकर। गीले हाथ से धनुष फिसल अथवा गिर न जाय इस दृष्टि से हाथ में धूलि लगाते हुए। **भीमजापरम्** = राजा भीम की पुत्री में आसक्त— अर्थात् दमयन्ती की ओर लगा हुआ। **शरसात्करोति** = बाण के आधीन करता है अर्थात् बाण का लक्ष्य बनाता है। **क्रुधा** = क्रोध के साथ। **आक्रुश्यत** = निन्दा की।

प्रसङ्ग— राजा नल ने तपस्या-रत अनार के वृक्ष को देखा—

विदर्भसुभ्रस्तनतुङ्गताप्तये घटानिवापश्यदलं तपस्यतः।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे॥८२॥

मल्लिनाथकृत-टीका— विदर्भेति। 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम्। पुष्पादुत्पादितं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया॥' इति शब्दार्णवे। दोहदश्चासौ धूपश्च तदुक्तं 'मेषामिषाम्बुसंसेकस्तत्केशामिषधूपनम् श्रेयानयं प्रयोगः स्याद् दाडिमीफल वृद्धये॥ मत्स्याज्यत्रिफलालेपैर्मासैराजाविकोद्भवैः। लेपिता धूपिता सूते फलन्तालीव दीडिमी॥ अविक्वाथेन संसिक्ता धूपिता तप्तरोमभिः। फलानि दाडिमी सूते सुबहूनि पृथूनि त॥' इति। तद्वति दाडिमीद्रुमे फलानि विदर्भसुभ्रुवो दमयन्त्याः स्तनयोर्या तुङ्गता तदाप्तये तादृगौन्नत्यलाभायेत्यर्थः। अलमत्यर्थन्तपस्यतस्तपश्चरतः, 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोति'ति क्यङ्प्रत्यये तपसः परस्मैपदञ्च वक्तव्यं, धूमस्य दोहदधूमस्य धयन्तीति धयान्, पातॄन्, धेट्-पाने अत्र 'आतश्चोपसर्ग' इति उपसर्गग्रहणान्नानुवर्त्ति-पक्षत्वात् 'पाघ्रे'त्यादिनाऽनुपसृष्टादपि धेटः शप्रत्यय इति गतिः। अत एव काशिकायां केचिदुपसर्ग इति नानुवर्त्तयन्तीति अधोमुखान् घटानिव अपश्यदित्युत्प्रेक्षा। महाफलार्थिन इत्थमुग्रं भावः॥८२॥

अन्वय— सः दोहदधूपिनि दाडिमे द्रुमे विदर्भसुभ्रस्तनतुङ्गताप्तये अलं तपस्यतः धूमस्य धयान् अधोमुखान् घटान् इव फलानि अपश्यत्।

संस्कृत-व्याख्या—सः = राजा नल, दोहदधूपिनि = अत्यधिकफलादिसमृद्धिः येन भवति तद् दोहदम्, –तदेव धूपः सः अस्य अस्तीति तस्मिन् अथवा दोहदश्चासौ धूपश्च— तद्वति, दाडिमे , द्रुमे = वृक्षे, विदर्भसुभ्रस्तनतुङ्गताप्तये = विदर्भसुभ्रुवोः दमयन्त्याः स्तनयोः या तुङ्गता औन्नत्यं तदाप्तये तल्लाभाय— तादृगौन्नत्यलाभायेत्यर्थः, अलम् = अत्यर्थम्, तपश्चरतः, धूमस्य= दोहद्धूमस्य, धयान् = धयन्तीति धयान्, पातॄन्, अधोमुखान् = नीचैर्मुखान्, घटान् इव = कुम्भान् इव अपश्यत्।

हिन्दी अनुवाद—सः = उस राजा नल ने, दोहदधूपिनि = दोहद के रूप में दिये जाने वाले धूप से युक्त अथवा दोहद तथा धूप से युक्त, दाडिमे द्रुमे = अनार के वृक्ष पर, विदर्भसुभ्रस्तनतुङ्गताप्तये = विदर्भ-देश की सुन्दरी दमयन्ती

के स्तनों की ऊँचाई को प्राप्त करने के लिये, अलं तपस्यतः = अतिशय तप करते हुए, धूमस्य धयान् = धुयें का पान करने वाले, अधोमुखान् = नीचे की ओर मुखों वाले, घटान् इव = घटों के सदृश, फलानि = फलों को, अपश्यत् = देखा।

भावार्थ— उस राजा नल ने दोहद् धूप से युक्त अनार के वृक्ष पर दमयन्ती के स्तनों की ऊँचाई के सदृश ऊँचाई को प्राप्त करने के लिये अधोमुख हो धूम का पान करने वाले, तप करते हुए घड़ों के सदृश फलों को भलीभाँति देखा।

दमयन्ती के स्तन उन्नत तथा विशाल थे। घटाकार अनार के फल भी उसी प्रकार की ऊँचाई और विशालता प्राप्त कर लेना चाहते थे। अतएव वे दोहद्धूपयुक्त अनार के वृक्ष पर अधोमुक हो लटकते हुए ऐसे प्रतीत होते थे मानों वे दमयन्ती के स्तनों सदृश बड़े होने के लिये अधोमुख हो अत्यन्त कठिन तपस्या कर रहे हों— ऐसे उन अनार के फलों को राजा नल ने देखा।

कवि ने यहाँ यह कल्पना की है कि मानों अनार के फल ही घट थे। फलों की वृद्धि के निमित्त, अनार के वृक्षों को दोहद् क्रिया द्वारा सींचा गया था और धूप दी गयी थी [वृक्ष में अच्छे फल लगने के लिये नाना प्रकार के द्रव्यों द्वारा पेड़ के नीचे दिये गये धूम को ''दोहद्'' कहते हैं और सुगन्धित पदार्थों को जलाकर उनका धुँआ देना ''धूप'' कहलाता है।]। इसी आधार पर कवि द्वारा यह उत्प्रेक्षा की गयी है कि मानो वे अनार के फल दमयन्ती के स्तनों के समान विशाल होने के लिये नीचे की ओर मुख करके धूमपान जैसी कठोर तपस्या कर रहे थे।

अलङ्कार— इस श्लोक में ''उत्प्रेक्षा'' नामक अलङ्कार है।

व्याकरण—तपस्यतः = तपस् + क्यङ् (नामधातु)— तपस्य +शतृ— तपस्यन् (षष्ठी एकवचन में)। **धयान्** = धे + श (''घ्राघ्राध्माधेड्दृशः शः'' सूत्र से)।

समास—विदर्भसुभ्रस्तनतुङ्गताप्तये = विदर्भस्य सुभ्रूः, तस्याः स्तनौ,

तयोः तुङ्गता, तस्याः आप्तिः तस्यै। **दोहदधूपिनि** = दोहदश्चासौधूपश्च इति–तस्मिन्। अथवा। दोहदमेव धूपः स अस्यास्तीति-तस्मिन्।

टिप्पणियाँ—दोहदधूपिनि = दोहद और धूप से युक्त अथवा दोहद के धूप से युक्त। असमय में वृक्षों में फल-फूल लगने के निमित्त जो क्रिया की जाती है अथवा द्रव्य दिया जाता है उसी का नाम "दोहद"है– "तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम्। पुष्पादुत्पादितं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया॥ इति शब्दार्णवः॥" दोहद सम्बन्धी द्रव्यों के अन्तर्गत धूप का धुँआ भी है जिसे अनार के पेड़ के लिये उपर्युक्त कहा गया है– मेषामिषाम्बुसंसेकस्तत्के शामिषभूपनम्। श्रेयानयं प्रयोगः स्याद् दाडिमीफलवृद्धये॥ मत्स्याज्यत्रिफलालेमैर्मांसैराजाविकोद्भवैः। लेपिता धूपिता सूते शलन्तालीव दाडिमी॥ आविक्वाथेन संसिक्ता धूपिता तप्तरोमभिः। फलानि दाडिमी सूते सुबहूनि पृथूनि च। **दाडिमे द्रुमे** = अनार के वृक्ष पर। **विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये** = विदर्भ-देश की सुन्दरी "दमयन्ती" के स्तनों की जैसी ऊँचाई (अथवा विशालता) को प्राप्त करने के लिये। **अलम्** = अत्यधिकं "अलंभूषणपर्याप्तिशितिबारणवाचक्रम्"– इत्यमरः। **तपस्यतः** = तप करते हुए। **धूमस्य** = पान करने वाले। कहने का अभिप्राय यह है कि जो महान् फल के इच्छुक हुआ करते हैं वे धूम आदि का पान करके उग्र तप किया करते हैं। इसी आधार पर यहाँ कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है कि मानों अनार के फल दमयन्ती के स्तनों की ऊँचाई पाने के निमित्त अपने दोहदसम्बन्धी धुँये का पानकर तप कर रहे हैं।

प्रसङ्ग— राजा नल ने उस दाडिमी-वृक्ष को वियोगिनी के रूप में देखा--

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृतेः स्पष्टदीतकण्टकाम्।
फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम्॥८३॥

मल्लिनाथकृत-टीका—वियोगिनीमिति। असौ नलः प्रियास्मृतेर्दमयन्तीस्मरणादिव स्पष्टं व्यक्तमुदीतेति ई गताविति धातोः कर्त्तरि क्तः। उदीता उद्गताः

कण्टका: स्वावयवसूचय एव कण्टका रोमाञ्चा यस्यास्तामिति श्लिष्टरूपकम्। 'वेणौ द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टके' इति वैजयन्ती। फलान्येव स्तनौ तावेव स्थानं तत्र विदीर्णो रागो यस्यास्तीति रागि रक्तवर्णमनुरक्तञ्च यत्तस्मिन् हृदि विशत् बीज-भक्षणान्त:प्रविशच्छुकास्यरूपं शुकतुण्डमेव स्मरस्य किंशुकं पलाशकुड्ममेवाशुगो बाणो यस्यास्तां दाडिमीमेत्र वियोगिनीं विरहिणीमैक्षत अपश्यत्। रूपकालङ्कार:। वि: पक्षी तद्योगिनीमिति च गम्यते॥८३॥

अन्वय— असौ प्रियस्मृते: स्पष्टं उदीतकण्टकां फलस्तनस्थानविदीर्णरागि-हृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगां दाडिमीं वियोगिनीं ऐक्षत।

संस्कृत-व्याख्या—असौ = नल:, प्रियस्मृते: = दोहदादिस्मरणात् (लक्षणया) हेतो: [नायिकापक्षे-प्रियतमस्मरणात्], स्पष्टम् = व्यक्तम्, उदीतकण्टकाम् = उदीता: उद्गता: कण्टका: स्वावयवसूचय एव कण्टका रोमाच्चा यस्या स्ताम् [नायिकापक्षे-रोमाञ्चिताङ्गीम्], फलस्तनस्थानविदीर्ण-रागिहृद्विशच्छुका-स्यस्मरकिंशुकाशुगाम् = फलानि एव स्तनौ तत्र स्थाने विदीर्णं उद्घटितं [नायिकापक्षे-भग्नं] च तद् रागि (रागो यस्यास्तीति) रक्तवर्णं [नायिकापक्षे— अनुरागवत्] यद् हृद् आभ्यन्तर भाग: [नायिकापक्षे—हृदयम्] तस्मिन् विशत् वीजभक्षणान्त: प्रविशत् यत् शुक्रस्य आस्यं शुक्रतुण्डं तदेव स्मरस्य कामस्य किंशुकं पलाशकुड्मलमेव आशुग: बाण: यस्या: ताम्, दाडिमीम्= वियोगिनीम् = विभि: पक्षिभि: शुकादिभि: योगोऽस्या: अस्तीति तादृशीम् [नायिकापक्षे विरहिणीम्], ऐक्षत= अपश्यत्।

हिन्दी अनुवाद—असौ = उस (राजा नल) ने, प्रियस्मृते: = प्रिय (दोहद) के (लक्षणा द्वारा—प्राप्ति के) कारण, (नायिका पक्ष में—प्रियतम के स्मरण के कारण), स्पष्टम् = स्पष्ट रूप से, उदीतकण्टकाम् = निकले हुए काँटों से युक्त (नायिका पक्ष में— रोमाञ्चों से युक्त), और फलस्तनस्थान-विदीर्णरागिहृद्विशच्छु-कास्यस्मर किंशुकाशुगाम् = स्तनों के समान फलों के मध्य में फटे हुए तथा अन्दर के लाल-लाल भाग में प्रवेश करते हुए शुक-मुख रूप कामदेव के पलाश पुष्प रूपी बाणों से युक्त (नायिका पक्ष में— अनार के

सदृश स्तनों के मध्य भाग में [विरह के कारण] विदीर्ण तथा अनुराग पूर्ण हृदय में प्रविष्ट होते हुए शुक-मुख सदृश कामदेव के पलाश पुष्प रूप बाणों से युक्त, दाडिमीम् = दाडिमी [अनार के वृक्ष में] को, वियोगिनीम् = पक्षियों से युक्त [नायिका पक्ष में विरहिणी के रूप में], ऐक्षत = देखा।

भावार्थ— राजा नल ने दाडिमी [अनार] के उस वृक्ष को, जिसे प्रिय की स्मृति के कारण स्पष्ट रूप के काँटें रूपी रोमाञ्च हो रहे थे, और जिसके फलरूपी स्तनों के स्थान पर फटे हुए तथा रक्तवर्ण के आन्तरिक भागरूपी अनुरागी हृदय में तोते के मुखरूपी कामदेव का पलाश (ढाक) पुष्प रूपी बाण प्रवेश किये हुए था, विरहिणी के रूप में देखा।

अलङ्कार— इस श्लोक में ''श्लेष'' की सहायता से पक्षियों से युक्त दाडिमी (अनार-वृक्ष) का वियोगिनी के रूप में वर्णन किया गया है, अतः ''श्लेष'' अलङ्कार है। इसके अतिरिक्त अनार वृक्ष के काँटों में रोमाञ्च का आरोप किया गया है। फलस्तनस्थान.... इत्यादि में इसी प्रकार की स्थिति है। अतः ''रूपक'' अलङ्कार है।

व्याकरण—**उदीत** = उत् + ई + क्त। वियोगिनीम् = वि+ युज् + घिनुण और तदनन्तर ''ङीप्'' होकर। **ऐक्षत** = ईक्ष् + लङ्— लकार [प्रथमपुरुष-एकवचन]।

समास—**उदीतकण्टकाम्** = उदीताः उद्गताः कण्टकाः यस्यास्ताम्। **फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम्** = फलानि एव स्तनौ तत्र स्थाने विदीर्ण [(१) उदघटितम् (२) भग्नम्] तस्मिन् विशत् यत् शुकस्य आस्यं तदेव स्मरस्य [कामस्य] किंशुकं [पलाश पुष्पम्] एव आशुगः (बाणः) यस्याः ताम्। **वियोगिनीम्** = वीनां पक्षिणां योगिनीम्।

टिप्पणियाँ—**प्रियस्मृतेः** = प्रिय (दोहद) के स्मरण [प्राप्ति] के कारण अथवा प्रियतम के स्मरण के कारण। **उदीतकण्टकाम्** = उग आये (उत्पन्न हुए) काँटों से युक्त, पक्षान्तर में रोमाञ्चयुक्त— ''वेणौ द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टके'' इति वैजयन्ती। **दाडिमीम्** = अनार [दाडिमी का ही स्त्रीलिङ्ग में

दाडिमी बना है]। जातिवाचक शब्द होने के कारण यहाँ स्त्रीलिङ्ग में ''ङीप्'' हुआ है। **वियोगिनीम्** विरहिणी को। **ऐक्षत** = देखा।

प्रसङ्ग— राजा नल ने अर्द्धचन्द्रकार बाण के सदृश पलाश के पुष्प पर लगे डंठल को यकृत के खण्ड के रूप में देखा—

स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां
स्फुटे पलाशेऽध्वजुषाम्पलाशनात्।
स वृन्तामालोकत खण्डमन्वितं
वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम्॥८४॥

मल्लिनाथकृत-टीका— स्मरार्द्धेति। नलः स्मरस्य योऽर्द्धचन्द्रः अर्द्धचन्द्राकार इषुस्तन्निभे तत्सदृशे नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः, अत आहामरः 'स्युरुत्तरपदे स्वामी। निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इति। वियोगिनां हृत्खण्डिनि हृदयवेधिनि क्रशीयसांकृशतराणामध्वजुषामध्वगामिनाम् पलाशनात् मांसभक्षणात् पलाशे पलमश्नातीति व्युत्पत्त्या पलाशसंज्ञाभाजि किंशुक-कलिकायामित्यर्थः। अन्वितं सम्बद्धं वृन्तं प्रसवबन्धनं तदेव कालखण्डजं खण्डं यकृत्खण्डमिति व्यस्तरूपकम्। आलोकत आलोकितवान्। 'कालखण्डजं यकृत्समे' इत्यमरः। तच्च दक्षिणपार्श्वस्थः कृष्णवर्णो मांसपिण्डविशेषः॥८४॥

अन्वय— सः स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे वियोगिहृत्खण्डिनि क्रशीयसां अध्वजुषां पलाशनात् स्फुटं पलाशे अन्वितं वृन्तं कालखण्डजं खण्डं आलोकत।

संस्कृत-व्याख्या—सः = नलः स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे= स्मरस्य कामस्य यः अर्धचन्द्र अर्धचन्द्रकारः इषुः बाणः तन्निभे तत्सदृशे, वियोगिहृत्खण्डिनि =वियोगिनां हृदयवेधिनि, क्रशीयसाम् = कृशतराणाम्, अध्वजुषाम् = पथिकानाम्, पलाशनात् = मांसभक्षणात्, स्फुटम् = प्रकटमेव, पलाशे = पलं अश्नातीति अन्वर्थसंज्ञके किंशुके किशुककलिकायामित्यर्थः, अन्वितम्= सम्बद्धम्, वृन्तम् =प्रसवबन्धनम्, कालखण्डलम् = कालखण्डादुत्पन्नम्, खण्डम् = यकृत्खण्डम्, इव, आलोकत = आलोकितवान्।

हिन्दी अनुवाद—सः = उस राजा नल ने, स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे = कामदेव के अर्धचन्द्राकार बाण के सदृश, वियोगिहृत्खण्डिनि = वियोगियों के हृदय को खण्ड-खण्ड कर देने वाले, क्रशीयसाम् = अत्यन्त निर्बल, अध्वजुषाम् = पथिकों का, पलाशनात् = मांस खाने के कारण, स्फुटम् = स्पष्ट ही, पलाशे = पलाश (पल = मांस, अश = भक्षण— इस प्रकार के अर्थ से सार्थक) पुष्प में, अन्वितम् = संलग्न (युक्त), वृन्तम् = डंठल को, कालखण्डजम् = यकृत (जिगर) के, खण्डम् = खण्ड अथवा टुकड़े के रूप में, आलोकत = देखा।

भावार्थ— पलाश (ढाक) के फूल की पंखुड़ियाँ रक्तवर्ण के सदृश हुआ करती हैं और उसका पिछला भाग डंठल काला २ होता है। अतः कवि द्वारा इस स्थल पर यह कल्पना की गयी है कि वियोगी पथिकों का मांस खाने से उसका ("पलम् मांसम् अश्नीति" इस व्युत्पत्ति से) 'पलाश' नाम सार्थक है और कृष्णरंग के वृन्त (डंठल) के रूप में पथिकों के जिगर का टुकड़ा (यकृत्-भाग) उससे संलग्न हो गया है। इस प्रकार के अर्द्धचन्द्राकार बाण के समान पलाश के पुष्प के साथ संलग्न वृन्त (डंठल) को राजा नल ने यकृत-खण्ड के रूप में देखा।

अलङ्कार— इस श्लोक में "व्यस्तरूपक" अलङ्कार है।

व्याकरण—**क्रशीयसाम्** = कृश् + ईयसुन्—यहाँ "र ऋतो हलादेर्लघोः" सूत्र से कृश के "ऋ" के स्थान पर "र" हो जाने पर उक्त शब्द बनता है। **अध्वजुषाम्** = अध्वन् + जुष् + क्विप्। **अन्वितम्** = अनु + इ + क्त। **आलोकत** = आ + लोक् +लङ्।

समास—**स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे** = अर्द्धचन्द्रः इषुः (कर्मधारय), स्मरस्य अर्धचन्द्रेषुः (तत्पुरुष), तेन निभः, तस्मिन। **वियोगिहृत्खण्डिनि** = वियोगिनाहृत् (षष्ठी तत्पु०), तत् खण्डयितुं शीलमस्य इति। **अध्वजुषाम्** = अध्वानं जुषन्ते इति अध्वजुषः तेषाम्। **पलाशनात्** = पलस्य (मांसस्य) अशनात् (भक्षणात्)।

टिप्पणियाँ—स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे = कामदेव के अर्धचन्द्राकार बाण के सदृश। ''निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादय:'' इत्यमर:। **वियोगिहृत्खण्डिनि** = वियोगियों के हृदय को विदीर्ण कर देने वाले। **क्रशीयसाम्** = अत्यन्त क्षीण (दुर्बल)। **अध्वजुषाम्** = राहगीरों (पथिकों) के। **पलाशनात्** = मांस के खाने से। **पलाशे** = पलाश (ढाक) के फूल में। **अन्वितम्** = युक्त (संलग्न)। **वृन्तम्** = फल अथवा फूल के डंठल को वृन्त कहा जाता है। ''वृन्तं प्रसवबन्धनम्'' इत्यमर:। **कालखण्डलम्** = यकृत के— 'कालखण्डजं यकृत्समे' इत्यमर:। **आलोकत** = देखा।

प्रसङ्ग— राजा नल ने लता को भय तथा आदर भरी दृष्टि से देखा—

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरै:।

दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे॥८५॥

मल्लिनाथकृत-टीका— नवेति। गन्धवहेन वायुना चुम्बिता स्पृष्टा अन्यत्रानुलिप्तेन पुंसा वीक्षिता मकरन्दशीकरै: पुष्परसकणै: करम्बिताङ्गी व्यामिश्रितरूपा। अन्यत्र स्विन्नाङ्गीति च गम्यते। स्मितशोभिन: विकासरम्या: कुड्मला मुकुला रदनाश्च यस्यास्तां मन्दहासमधुरदन्तमुकुला च गम्यते। दरकम्पिनी वायुस्पर्शादीषत्कम्पिनी सात्त्विकवेपथुमती च नला लता वल्ली तत्सदृशी कान्ता च गम्यते। नृपेण कर्त्रा दृशा करणेन दरादराभ्यां भयतृष्णाभ्यामुपलक्षितेन सता एषे अवेक्षिता गाढं दृष्टा इत्यर्थ: उद्दीपकत्वात् दर: प्रियासदृश्यादादरश्च 'दरोऽस्त्री शङ्खभीगर्त्तेष्वल्पार्थे त्वव्ययम्' इति वैजयन्ती। अअत्रप्रस्तुतविशेषणसाभ्यादप्रस्तुत-नायिकाप्रतीते: समासोक्तिरलङ्कार:। 'विशेषणस्य तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्णनात्। अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे सा समासोक्तिरिष्यत्' इति लक्षणात्॥

अन्वय— गन्धवहेन चुम्बिता मकरन्दशीकरै: करम्बिताङ्गी स्मितशोभिकुड्मला दरकम्पिनी नवा लता नृपेण दरादराभ्यां दृशा पपे।

संस्कृत-व्याख्या—गन्धवहेन=वायुना, चुम्बिता =स्पृष्टा, मकरन्दशीकरै:=

पुष्परसकणैः करम्बिताङ्गी = व्यामिश्रितरूपा, स्मितशोभिकुड्मला= स्मितशोभिनः विकासरम्याः कुड्मलाः मुकुलाः यस्याः, सा, दरकम्पिनी = वायुस्पर्शात् ईषत्कम्पिनी, नवा=नूतना, लता = बल्ली, नृपेण= राजा नलेन, दरादराभ्याम् = भयतृष्णाभ्याम् [युक्तेन], दृशा = नेत्रेण, पपे= पीता गातृं दृष्टा इत्यर्थः। [नायिकापक्षे– गन्धवहने= कस्तूर्यादिगन्धयुक्तेन नायकेन], चुम्बिता = आश्लिष्टा, मकरन्दशीकरैः, करम्बिताङ्गी = स्विन्नाङ्गी, स्मितशोभिकुड्मला = मन्दहासमुधरदन्तमुकुला, दरकम्पिनी = सात्विकवेपथुमती, नवा= नूतना, लता= लतासदृशी, दरादराभ्याम् = दरः [परस्त्रीत्वात्] भयं आदरः (सौन्दर्यात्) सम्मानः ताभ्यां युक्तेन केनचित् दृश्यते।

हिन्दी अनुवाद–गन्धवहेन = वायु द्वारा, चुम्बिता = स्पर्श की गयी हुई, मकरन्दशीकरैः = पुष्प रस के कणों (बूँदों) से, करम्बिताङ्गी = मिश्रित अथवा शवलित अङ्गों वाली, स्मितशोभिकुड्मला = विकसित होने के कारण शोभायमान कलियों से युक्त, दरकम्पिनी = [वायु के स्पर्श के कारण] मन्दगति से हिलने डुलने वाली, नवालता = नयी लया को, नृपेण = राजा नल ने, दरादराभ्याम् = भय तथा आदर पूर्ण, दृशा = नेत्रों से, पपे = पान किया। [नायिका पक्ष] में– गन्धवहेन = कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्यों की गन्ध से युक्त, [नायक द्वारा] चुम्बिता= चुम्बन की गयी हुई, मकरन्दशीकरैः = पुष्प रस की बूँदों से, करम्बिताङ्गी = मिश्रित अङ्गों वाली अथवा रोमाञ्चयुक्त शरीर वाली, स्मितशोभिकुड्मला = मुस्कराहट की शोभा से युक्त दाँतों वाली, देरकम्पिनी = [सात्विक भाव से उत्पन्न] होने वाले कम्पन से युक्त, नवालता = नवीन लता के समान सुन्दरी नायिका को [किसी अन्य की स्त्री होने के कारण] भय तथा [सौन्दर्य युक्त होने के कारण] आदर से परिपूर्ण, दृशा = नेत्रों से किसी नायक ने पान किया अर्थात् देखा।

भावार्थ– वायु के द्वारा स्पर्श की गयी हुई, पुष्प रस की बूँदों से युक्त अङ्गों वाली, विकसित होने के कारण शोभायुक्त पुष्प से युक्त, मन्दगति से हिलती-डुलती हुई नवीन लता को राजा ने भय एवं आदर भरी दृष्टि के साथ

देखा। उस लता को देखा जाना राजा के लिये उद्दीपक था अत: वह उसे भय के साथ देख रहे थे। और वह लता सुन्दर थी अत: आदर भरी दृष्टि से भी राजा उसका अवलोकन कर रहे थे।

अलङ्कार— उपर्युक्त श्लोक में प्रस्तुत लता-सम्बन्धी विशेषणों की समानता के आधार पर अप्रस्तुत नायिका की प्रतीति हो रही है। अत: इसमें "समासोक्ति" अलङ्कार है। लक्षण— "विशेषणस्य तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्णनात्। अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे सा समासोक्तिरिष्यते॥"

व्याकरण—स्मितशोभि = स्मित + शोभ् + णिनि। **कम्पिनी** = कम्प + णिनि + ङीप्।

समास—गन्धवहेन = वह:, गन्धस्य वह: (षष्ठी तत्पु०), तेन। **करम्बिताङ्गी** = करम्बितानि अङ्गानि यस्या: सा (बहुव्रीहि) यहाँ "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यस्त्विष्यते" से ङीप्। **स्मितशोभिकुड्मला** = स्मितेन शोभन्ते इति स्मितशोभिन:, तादृशा: कुड्मला: यस्या: सा (बहुव्रीहि)। **दरकम्पिनी** = दरम्, ईषत् यथा स्यात् तथा कम्पते इति। **दरादराभ्याम्** = दरश्च आदरश्च इति दरादरौ (द्वन्द्व), ताभ्याम्।

टिप्पणियाँ—गन्धवहेन = (१) वायु से (२) सुगन्धित द्रव्यों से युक्त व्यक्ति से। **चुम्बिता** = स्पर्श की गयी हुई (२) आलिङ्गित। **मकरन्दशीकरै:** = (१) पुष्प रस की बूँदों से (२) पुष्परस के सदृश (पसीने की) बूँदों से। **करम्बिताङ्गी** = (१) मिश्रित अङ्गों वाली (२) रोमाञ्चित शरीर वाली। **स्मितशोभिकुड्मला** = (१) मुस्कराहट की शोभा से युक्त (२) मुस्कराहट पूर्ण शोभाशाली दाँतों से युक्त। **दरकम्पिनी** = (१) वायु के स्पर्श के कारण कंपन से युक्त। **दरादराभ्याम्** = भय और आदर से युक्त। **दृशा** = नेत्रों से (दृष्टि से)। **पपे** = पान किया, भली भाँति देखा।

प्रसङ्ग— उस राजा ने चम्पा की कलियों की पंक्तियों को देखा—

विचिन्वती: पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात्।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावली: स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव॥८६

मल्लिनाथकृत-टीका— विचिन्वतीरिति। पन्थानं गच्छन्ति नित्यमिति पान्था: नित्यपथिका:, 'पथोऽण् नित्यमि'त्यणप्रत्यय: पन्थादेशश्च। स एव पतङ्गा पक्षिण: 'पतङ्ग पक्षिसूर्ययो:' इत्यमर:। तेषां हिंसनै: वधै: अपुण्यकर्माण्येव अलय: कज्जलानीवेत्युपमितसमास:। तेषां छलादित्यपह्नवालङ्कार:। विचिन्वती: संगृह्णती: हिंसापापकारिणीरित्यर्थ:। चम्पककोरकावली: शम्बरारेर्मनसिजस्य बलिदीपिका इवेत्युत्प्रेक्षा, स नलो व्यलोकयत्॥८६॥

अन्वय—स पान्थपतङ्गहिंसनै: अलिकज्जलच्छलात् अपुण्यकर्माणि विक्षिन्वती: शम्बरारे: बलिदीपिका इव चम्पककोरकावली: व्यलोकयत्।

संस्कृत-व्याख्या—स:= नल:, पान्थपतङ्गहिंसनै:= पान्था: पथिका: एवपतङ्गा: शलभा: तेषां हिंसनै: वधै:, अलिकज्जलच्छलात् = अलय: भ्रमरा: एव कज्जलं तस्य छलात् व्याजात्, अपुण्यकर्माणि=पापकर्माणि, विक्षिन्वती: = संगृह्णती: हिसापापकारिणीरित्यर्थ:, शम्बरारे:= कामदेवस्य, बलिदीपिका इव= पूजादीपिका इव, चम्पककोरकावली: = चम्पककुड्मलपंक्ती:, व्यलोकयत= ददर्श।

हिन्दी अनुवाद—स: = उस राजा नल न, पान्थपतङ्गहिंसनै: = पथिक रूपी पतङ्गों की हिंसा करने के कारण, अलिकज्जलच्छलात् = कज्जल सदृश कृष्णवर्ण के भ्रमरों के बहाने से, अपुण्यकर्माणि = पाप कर्मों का, विक्षिन्वती: = संचय करने वाली, शम्बरारे: = कामदेव के, बलिदीपिका इव = पूजा दीपों के समान, चम्पककोरकावली: = चम्पा की कलियों की पंक्तियों का, व्यलोकयत् = देखा।

भावार्थ— चम्पा की कलियाँ कामोद्दीपक हुआ करती हैं उन्हें देखकर विरही पथिक उसी प्रकार मर जाते थे जिस प्रकार दीपक की लौ पर पतङ्गे मर जाया करते हैं। पथिकों के मरने से जो पाप अथवा अयश उन चम्पा की कलियों को प्राप्त हो रहा था, वही पाप अथवा अयश ही चम्पक पुष्पों के ऊपर बैठे हुए भ्रमरों के रूप में काला-२ दृष्टिगोचर हो रहा था [पाप अथवा अयश का रंग काला माना गया है।] ऐसे चम्पकपुष्पों को राजा नल ने कामदेव के

लिये की गयी पूजा के दीपकों की [पीतवर्ण की] लौ के मसान देखा। दीपक की पीतवर्ण की लौ के सदृश ही चम्पा की कलियाँ भी पीली पीली होती हैं।

अलङ्कार— "अलिकज्जलच्छलात्" में "रूपक" अलङ्कार है। "शाम्बरारेः बलिदीपिका इव" में उपमा अलङ्कार है। इसमें "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार की संभावना भी की जा सकती है।

व्याकरण—पान्थः = पन्थानं गच्छन्ति नित्यम् इति पान्थाः = पक्षिन् + ण—" पन्थो ण नित्यम्" से। **विचिन्वतीः** = वि +चि+ लिट्— शतृ+ ङीप् = विचिन्वत्यः, ताः।

समास—पान्थपतङ्गहिंसनैः = पान्थाः एवपतङ्गाः (कर्मधारय) तेषां हिंसनानि तैः (षष्ठी तत्पुरुष)। **अलिकज्जलच्छलात्** = अलयः एव कज्जलम् तेषां छलम् तस्मात्। **बलिदीपिका** = बल्यै दीपिकाः (चतुर्थी तत्पु०) ताः। **चम्पककोरकावलीः** = चम्पकानां कोरकाणि इति चम्पककरोरकाणि तेषां अवलयः, (षष्ठी तत्पु०) ताः।

टिप्पणियाँ—पान्थपतङ्गहिंसनैः = पथिक (राहगीर) रूपी पतङ्गों को हत्या से। **अलिकज्जलच्छलात्** = भ्रमर रूपी काजल के बहाने से। **अपुण्यकर्माणि** = पाप कर्मों को। **विक्षिन्वतीः** = संग्रह करती हुई। **शम्बरारेः** = शम्बर नामक असुर के शत्रु अर्थात् कामदेव की। **बलिदीपिकाः** = बलि (पूजा) के निमित्त रखे गये दीपकों की। **चम्पककोरकावलीः** = चम्पा की कलियों की पंक्तियों को। **व्यलोकयत्** = देखा।

प्रसङ्ग— राजा नल ने पुष्पों के पराग को शिव जी के शरीर पर लगी हुई भस्म समझा—

अमन्यतासौ कुसुमेषुगर्भजं परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम्।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम्॥८७॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अमन्यतेति। असौ नलः कुसुमान्येव इषवः कामबाणास्तेषां गर्भजं गर्भजातं वियोगिनामिति कर्मणि षष्ठी। अन्धाः क्रियन्ते-

ऽनेनेत्यन्धङ्करणं 'आढ्यसुभगे' त्यादिना च्व्यर्थे ख्युन्प्रत्ययः, 'अरुर्द्विषदि'-त्यादिना मुमागमः। तं परागं पुरा पूर्वं पुरास्ये पुरहराय स्मरेण मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं संसक्तं तस्य पुरारेरङ्गे यद्भस्म तदिवामन्यत इति उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः। पुरा पुरारये ये मुक्तास्त एवैते पुरोवर्त्तिनः कुसुमेषव इत्यभिमानः, अन्यथैषां तदङ्गभस्मसङ्गात् प्रेक्षानुत्थानादिति॥८७॥

अन्वय– असौ कुसुमेषु गर्भजं वियोगिनां अन्धङ्करणं पुरा स्मरेण मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं तदङ्गभस्म इव अमन्यत।

संस्कृत-व्याख्या– असौ = नलः, कुसुमेषु = पुष्पेषु, गर्भजम् = आन्तरप्रदेश गतम्, वियोगिनाम् =विरहिणाम्, अन्धङ्करणम् = नेत्रोपघातकम्, परागम् = कुसुमधूलिः, पुरा=पूर्वम्, स्मरेण = कामेन, पुरारये = पुरहराय, मुक्तेषु = क्षिप्तेषु, शरेषु = बाणेषु, सङ्गतम् = लग्नम्, तदङ्गभस्म = तस्य शिवस्य अङ्गे यद् भस्म तत्, इव, अमन्यत = अतर्कयत्।

हिन्दी अनुवाद– असौ = इस (राजा) नल ने, कुसुमेषु = पुष्पों में, गर्भजम् = अन्दर स्थित, वियोगिनाम् = विरहियों को, अन्धङ्करणम् = अन्धा बनाने वाले, परागम् = पराग को, पुरा = पूर्वकाल में, स्मरेण = कामदेव द्वारा, पुरारये = पुरारये = शिव जी पर, मुक्तेषु = छोड़े गये, शरेषु = बाणों में, सङ्गतम् = लगी हुई, तदङ्गभस्म इव = शिव जी के शरीर की भस्म, अमन्यत = माना।

भावार्थ– इस राजा नल ने पुष्पों के मध्य विद्यमान, वियोगियों को अन्धा कर देने वाले पराग को पूर्वकाल में कामदेव द्वारा शिव जी पर छोड़े गये पुष्पनिर्मित बाणों में लगी हुई शिवजी के शरीर की भस्म ही समझा। भस्म अथवा धूलि जब आँख में गिर जाती है तब वह प्राणियों को अन्धा बना देती है। पुष्प परागों का दर्शन कर विरही व्यक्ति काम पीड़ित होकर अन्धे (विवेकशून्य) हो जाया करते हैं।

अलङ्कार— " तदङ्गभस्म इव" में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है। फूलों के पराग में शिवजी के शरीर पर लगी हुई भस्म की संभावना की गयी है।

व्याकरण—**वियोगिनाम्** = यहाँ पर " कर्तृकर्मणोः कृति" सूत्र से कर्म में षष्ठी विभक्ति हुई है। **अन्धङ्करणम्** = अन्ध + कृ +ख्युन। **पुरा** = यह अव्यय है—"स्यात्प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा"— इत्यमरः।

समास—**अन्धङ्करणम्** = अनन्धाः अन्धाः क्रियन्तेऽनेन इति अन्धङ्करणम्।

टिप्पणियाँ—**गर्भजम्** = (पुष्पों के) अन्दर उत्पन्न, **वियोगिनाम्** = वियोगियों अथवा विरहियों के। **अन्धङ्करणम्** = अन्धा बना देने वाला। **पुरा** = पहले, पूर्वकाल में। **परारये** = शिवजी पर। **सङ्गतम्** = लगी हुई, संलग्न। **तदङ्गभस्म** = उन शिवजी के शरीर पर लगी हुई भस्म।

प्रसङ्ग— उद्यान में कोयल मधुर शब्द कर रही है। भ्रमर भी पुष्पों पर बैठकर गुञ्जन कर रहे हैं। पुष्प विकसित हो रहे हैं। स्थल कमलिनी पृथक् ही खिल रही है। इन सभी को देखकर राजा नल की विरह-व्यथा और भी अधिक उनको सन्तप्त कर रही थी—

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करूणं वियोगिनाम्।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः॥८८॥

मल्लिनाथकृत-टीका—पिकादिति। वने उपवने श्रोतरि पिकाद्वक्तुः सकाशात् भृङ्गहुङ्कृतैर्वियोगिनां दशामलिहुङ्कारकृतां दुःखावस्थामित्यर्थः उदञ्चत्करुणं विकसद् वृक्षविशेषमुद्यत्कृपञ्च यथा तथा शृण्वति सति, 'करुणस्तु रसे वृक्षे कृपायां करुणा मते'ति विश्वः। अनास्थया श्रोतुमनिच्छया सूनं प्रसूनमेव करं प्रसारयतीति प्रसारिणीं पुष्परूपहस्तविस्तारिणीं तथोक्तामनिष्टकथां करेण वारयन्तीमिव स्थितामित्यर्थः। सूनकरेति प्रसारिणीतिरूपकानुप्राणिता गम्योत्प्रेक्षेयम्। स्थलपद्मीनीं नलो दूनः परितप्तः सन् दूङः कर्त्तरि क्तः, 'ल्वादिभ्यश्चे'ति निष्ठानत्वम्। ददर्श॥८८॥

अन्वय– वने पिकाद् भृङ्गहुङ् कृतैः वियोगिनां दशां उदञ्चत् करुणं [यथास्यात्तथा] शृण्वति अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं स्थलपद्मिनीं नलः दूनः [सन] ददर्श।

संस्कृत-व्याख्या–वने = उपवने, पिकाद् = कोकिलात्, भृङ्गहुङ्कृतैः= भ्रमराणां हुंकारैः वियोगिनाम् = विरहिणाम्, दशाम् = दुःखावस्थाम्, उदञ्चत् करुणम् = विकसद्‌वृक्षविशेषमुद्यत्कृपञ्च, यथास्यात्तथा, शृण्वति= आकर्णयति, सति, अनास्थया= श्रोतुमनिच्छया, सूनकरप्रसारिणीम् = पुष्परूपहस्तविस्तारिणीम् तथोक्तामनिष्टकथां करेण वारयन्तीमिव स्थितामित्यर्थः, स्थलपद्मिनीम् = भूकमलिनीम्, नलः, दूनः = संतप्तः, सन्, ददर्श = अवलोकितवान्।

हिन्दी अनुवाद– वने = उस उपवन में, पिकाद् = कोयल से, भृङ्गहुङ् कृतैः = भ्रमरों के हुंकारों से, वियोगिनाम् = विरहीपुरुषों की, दशाम् = दुःखावस्था को, उदञ्चत् करुणम् = विकसित करुणनामक वृक्षों से, शृण्वति = सुनने पर, अनास्थया = सुनने की अनिच्छा से, सूनकरप्रसारिणीम् = [रोकने की दृष्टि से] पुष्परूपी [अपने] हाथों को फैलाये हुए, स्थलपद्मिनीम् = स्थलकमलिनी का, नलः = राजा नल ने, दूनः =सन्तप्त होते हुए, ददर्श = देखा।

भावार्थ– उस उपवन में जब कोयल भ्रमरों के हुंकाररूपी माध्यम के द्वारा विरहियों की करुणाजनक अवस्था को कह रही थी तो स्थलकमलिनी उसे सुनना नहीं चाहती थी। अतएव वह अपने पुष्परूपी हाथों को फैलाकर मानों कोयल को वैसा करने से रोक रही थी। इस प्रकार की स्थलकमलिनी को संतप्तावस्था से विद्यमान राजा नल ने देखा।

जहाँ करुणनामक वृक्ष विकसित हो रहे थे, कोयल वियोगियों की दशा का वर्णन अपने शब्दों में कर रही थी और जहाँ गुञ्जन कते हुए भ्रमर हूँ, हूँ कह कह कर हुँकारें भर रहे थे, ऐसे उस उपवन में स्थलकमलिनी अपने पुष्प रूपी

हाथों को फैलाकर कोयल को वैसा करने से रोक रही थी। ऐसी स्थल कमलिनी को राजा नल ने संतप्त होते हुए देखा।

इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोयल का कूजना, वृक्षों का विकसित होना, भ्रमरों का गुंजन शब्द करना तथा कमलिनी का खिलना आदि सभी पदार्थ कामपीड़ित व्यक्ति के हृदय में और भी अधिक कामोत्तेजना उद्दीप्त करने वाले हुआ करते हैं। राजा नल तो कामपीड़ित थे ही और साथ ही विरहावस्था में भी विद्यमान थे। उसी अपनी कामसंतप्तावस्था में उन्होंने उपर्युक्त सभी पदार्थों को देखा।

अलङ्कार– ''सूनकरप्रसारिणीम्'' में रूपक अलङ्कार से अनुप्राणित ''गम्योत्प्रेक्षा'' अलङ्कार है।

व्याकरण–अनास्थया = अन + आ + स्था + अङ् (''आतश्चोपसर्गे'' इस सूत्र से) + टाप् = अनास्था– तृतीयाविभक्ति के एकवचन में–अनास्थया। **दून:** = दू + [कर्त्ता में] क्त। तत्पशात् ''ल्वादिभ्यश्च'' सूत्र से 'त' के स्थान पर 'न' होकर।

समास–उदञ्चत्करुणं = उदञ्चन्त: करुणा: तन्नामका: वृक्षा: यस्मिन् तत्तथा अथवा श्लेष की दृष्टि से– उदञ्चन्ती करुण दया यस्मिन् तत्तथा। **भृङ्गहुङ्कृतै:** = भृङ्गाणां हुङ्कृतै: (षष्ठी तत्पु०) **अनास्थया** = न आस्था अनास्था तया (नञ् तत्पु०)। **सूनकरप्रसारिणीम्** = सूनं प्रसूनमेव करं प्रसारयतीति।

टिप्पणियाँ–पिकात् = कोयल स। **भृङ्गहुङ्कृतै:** = भ्रमरों द्वारा किये गये हूँ, हूँ,– इस प्रकार के हुंकारों के मध्यम से। कहने का तात्पर्य है कि कोयल तो अपने शब्द द्वारा वियोगी पुरुषों की दु:खावस्था का करुण चित्रण कर रही है और भ्रमर अपनी हुंकारों द्वारा उसका समर्थन कर रहे हैं। **उदञ्चत् करुणम्** = [जिस वन में] करुण नामक वृक्ष मिल रहे थे अथवा [श्लेष द्वारा] जिनमें करुण (दया) उत्पन्न हो रही थी। ''करुणस्तु रसेवृक्षे कृपायां करुणा

मता।'' उति विश्वः। **शृण्वति** = यह 'वने' का विशेषण है। लक्षणावृत्ति द्वारा यहाँ ''वने'' का अर्थ ''वनवासी'' होगा। इसी कारण यहाँ पर भाव में ''यस्य च भावेन भावलक्षणम्'' से सप्तमी हुई है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब वन में रहने वाले प्राणी कोयल के द्वारा कही जाने वाली वियोगियों की करुण दशा का वर्णन सुन रहे थे ऐसे समय पर। **अनास्थया** = बिना आस्था अथवा श्रद्धा के—अनिच्छा से। **सूनकरप्रसारिणीम्** = [अपने] पुष्परूपी हाथों को फैलाये हुए। कहने का भाव है कि स्थलकमलिनी वियोगियों की उस करुण दशा को सुनना नहीं चाहती थी। इसी कारण वह मानो अपने पुष्परूपी हाथों को फैलाकर मना कर रही थी। **दून:** = सन्तप्त, [काम] पीड़ित अथवा व्यथित।

प्रसङ्ग— उस उपवन में राजा नल ने देखा कि आम्रवृक्ष अपनी मञ्जरियों को हिला हिलाकर वियोगियों को डरा रहा है—

रसालसाल: समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृति:।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्ज्जनाभियम्॥८९

मल्लिनाथकृत-टीका— रसालेति। अमुना नलेन स्फुरन्तो द्विरेफास्तेषामारवो भ्रमरझङ्कार एव रोषेण या हुङ्कृतिर्हुङ्कारो यस्य स: समीरलोलैर्वा-युचलैर्मुकुलैरङ्गुलिभिरिति भाव:। वियोगिने जनाय तर्जनाभियं दित्सन् दातुमिच्छन्निव स्थित:, ददाते: सन् प्रत्यय: 'सनिमीमे'त्यादिना इसादेस:, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यभ्यासलोप:, 'सस्यार्धधातुक' इति सकारस्य तकार:। रसालसालश्चूतवृक्ष: समदृश्यत सम्यग्दृष्ट। द्विरेफेत्यादिरूपकोत्थापितेयं तर्जनाभय-जननोत्प्रेक्षेति सङ्कर:॥८९॥

अन्वय— अमुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृति: रसालसाल: समीरलोलै: मुकुलै: वियोगिने जनाय तर्ज्जनाभियं (पाठान्तरे तर्जनाभयं) दित्सन् इव समदृश्यत।

संस्कृत व्याख्या—अमुना= नलेन, स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृति: = स्फुरन्त: भ्रमन्त: द्विरेफा: भ्रमरा: तेषां आरव एव झङ्कार एव रोषहुङ्कृति

क्रोधहुङ्कारः यस्य तादृशः, रसालसालः = आम्रवृक्षः, समीरलोलैः = समीरेण वायुना लोलैः चञ्चलैः, मुकुलैः = कुड्मलैः अङ्गुलिभिरिति भावः, वियोगिने = विरहिणे, जनाय = लोकाय, तर्ज्जनाभियम् = तर्जनाथाः भर्त्सनायाः भियम्, (भयमपि पाठो लभ्यते), दित्सन् इव = दातुमिच्छन् इव स्थितः, समदृश्यत् = सम्यग्दृष्टः।

हिन्दी अनुवाद—अमुना = इस राजा नल के द्वारा, स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः = उड़ते हुए भ्रमरों की गुञ्जाररूपी हुङ्कार से युक्त, रसालसालः = आम का वृक्ष, समीरलोलैः = वायु के कारण चंचल, मुकुलैः = मंजरियों रूपी अंगुलियों के द्वारा, वियोगिने जनाय = विरही लोगों को, तर्ज्जनाभियम् = तर्जना का भय, दित्सन् इव = दिखलाने की इच्छा सी करता हुआ, समदृश्यत् = देखा गया।

भावार्थ— आम्र वृक्ष पर मंजरियाँ लगी हुई थीं। वायु के कारण वे हिल-डुल रही थीं, गुंजार करते हुए भ्रमर उनके ऊपर इतस्ततः उड़ रहे थे। इस दृश्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानों आम का वृक्ष भ्रमरों के गुञ्जनरूपी हुंकारों के साथ [क्रोध के साथ] अपनी मंजरियों रूपी हाथों को हिला हिलाकर वियोगी पुरुषों को तर्जना (डर) दे रहा हो।

अलङ्कार— "तर्जनाभियं दित्सन्निव" की दृष्टि से उक्त श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। इसके अतिरिक्त इसमें "अनुप्रास" अलङ्कार भी है जो कि स्पष्ट ही है।

व्याकरण—दित्सन् = दा + सन् + द्वित्व, "सनि-सीमा" इत्यादि के द्वारा "इस्" आदेश तथा "अत्र लोपोऽभ्यासस्य" से अभ्यासलोप और "सः स्यार्धधातुके" से 'स' के स्थान 'त' होने के पश्चात् लट्-शतृ। **समदृश्यत्** = सम् + दृश् + लङ् (कर्म में)।

समास—स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः = द्वौ रेफौ यस्मिन् स द्विरेफः, स्फुरन्तः द्विरेफाः (कर्मधारय) इति स्फुरद्द्विरेफाः— तेषां आरवः (षष्ठी तत्पु०), स एव रोषहुंकृतिः यस्य सः (बहु स०)। **समीरलोलैः** = समीरेण लोलाः इति समीरलोलाः तैः।

टिप्पणियाँ— **स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृति:** = [आम्र मंजरियों के ऊपर] मँड़राते हुए भ्रमरों का गुञ्जार ही जिसका [जिस आम्रवृक्ष का] क्रोध हुँकार था [ऐसा आम्र वृक्ष]। **रसालसाल:** = आम का वृक्ष। **समीरलोलै:** = वायु के कारण चंचल। **मुकुलै:** = कलियों द्वारा [कलियाँ रूपी अपने हाथों के माध्यम से]। **तर्ज्जनाभियम्** = तर्जन करने अथवा फटकारने सम्बन्धी भय को। **दित्सन्** = देना चाहता हुआ [दिखलाता हुआ]। **समदृश्यत्**= देखा गया।

प्रसङ्ग— '' हे पथिक! तुम प्रतिदिन दुर्बलता को प्राप्त करते जाओ, बार बार मूर्च्छना को प्राप्त करते रहो तथा सन्ताप को प्राप्त करते रहो'' इस रूप में शाप देते हुए कोयलों को राजा नल ने बड़े खेद के साथ देखा—

दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं
पुन: पुनर्मूर्च्छ च मृत्युमृच्छ च।
इतीव पान्थं शपत: पिकान् द्विजान्
सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान्॥९०॥

मल्लिनाथकृत-टीका— दिने दिने इति। रे इति हीनसम्बोधने। त्वं दिने दिने अधिकं तनु एधि अधिकं कृशो भव, अस्तेर्लोट् सिप् 'हुझल्भ्यो हेर्धिरि'ति धित्वम्, 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति एत्वम्, पुन: पुन: मूर्च्छ च मृत्युं मरणमृच्छ च इति पान्थं नित्यपथिकं शपत: शपमानानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा, लोहितेक्षणान् रक्तदृष्टीन् एकत्र स्वभावतोऽन्यत्र रोषाच्चेति द्रष्टव्यम्, पिकान् कोकिलान् द्विजान् पक्षिणो ब्राह्मणांश्च स नल: सखेदमैक्षिष्ट। स्वस्यापि उक्तशङ्कयेति भाव:॥९०॥

अन्वय— 'रे! त्वं दिने दिने अधिकं तनु: एधि, पुन: पुन: मूर्च्छ, मृत्युं (पाठान्तरे ताप) च ऋच्छ।' इति पान्थं (पान्थानपि पाठो लभ्यते) शपत: इव लोहितेक्षणान् पिकान् द्विजान् स सखेदमैक्षिष्ट।

संस्कृत-व्याख्या—'रे! = इति नीच सम्बोधने (पान्थ!), त्वम्, दिने दिने = दिवसे दिवसे, अधिकम् = भृशम्, तनु: = कृश:, एधि =भव, पुन: पुन: च

= भूयोभूयः च, मूर्च्छ = मूर्च्छां प्राप्नुहि, मृत्युं च = मरणं च [पाठभेदे--तापं च= सर्वाङ्गतापं च], ऋच्छ= लभस्व।' इति= एवम्, पान्थं =पथिकं [पाठभेदे--पान्थान्=पथिकान्], शपतः = शापं ददतः, इव, लोहितेक्षणान् = रक्तदृष्टीन् [पिकपक्षे स्वभावतः द्विजपक्षे च क्रोधात्], पिकान्= कोकिलान्, द्विजान् = पक्षिणः ब्राह्मणांश्च, सः = नलः, सखेदम् =खेदसहितं यथास्यात्तथा, ऐक्षिष्ट= ददर्श।

हिन्दी अनुवाद—'रे! = हे पथिक!, त्वम् = तुम, दिने दिने = प्रतिदिन अथवा दिन पर दिन, अधिकं तनुः एधि = अधिक दुर्बल होते जाओ,, पुनः पुनः मूर्च्छ = बार बार मूर्च्छित होओ, मृत्युं च ऋच्छ = मृत्यु प्राप्त करो [पाठभेदे = तां च ऋच्छ = और सन्ताप को प्राप्त करो]'', इति = इस भाँति, पान्थं = पथिक को [पाठभेदे-पान्थान् = पथिकों को], शपतः इव = शाप देते हुए के सदृश, लोहितेक्षणान् = लाल नेत्रों वाले, पिकान् = कोयलों को, द्विजान् = पक्षियों अथवा ब्राह्मणों को, स = उस राजा नल ने, सखेद = बड़े खेद के साथ, ऐक्षिष्ट = देखा।

भावार्थ—'' हे पथिक! तुम दिन पर दिन दुबले होते जाओ, बार-बार मूर्च्छना का अनुभव करो तथा मृत्यु [पाठान्तर में सन्ताप] को प्राप्त करो इस भाँति पथिकों को मानो शाप देते हुए लाल नेत्रों वाले कोयलों, पक्षियों अथवा ब्राह्मणों को राजा नल ने बड़े खेद तथा दुःख के साथ देखा।''

अलङ्कार— '' पान्थं शपतः इव'' में उत्प्रेक्षा अलंकार स्पष्ट है।

व्याकरण--एधि = अस् +लोट् (मध्यम पुरुष एकवचन का रूप)। **शपतः** = इस स्थल पर उपालम्भ अर्थ में प्रयुक्त न होने के कारण ''शप् उपालम्भे'' वार्तिक से आत्मने पद नहीं हुआ। अन्यथा ''शपमानान्'' प्रयोग बनता है। **ऐक्षिष्ट** = ईक्ष् + लुङ्।

समास--**लोहितेक्षणान्** = लोहितानि ईक्षणानि येषां ते लोहितेक्षणाः (बहुव्रीहि), तान्। पिकान् द्विजान् स सखेदमैक्षिष्ट।

टिप्पणियाँ—रे = यह अनादर सूचक अव्यय है। नीच को सम्बोधित करने में इसका प्रयोग किया जाता है। **तनुः** = क्षीण, दुर्बल। **एधि** = होओ। **ऋच्छ** = गच्छ-प्राप्त करो। **लोहितेक्षणान्** = रक्त नेत्रों वाले। कोयल की आँखे स्वभावतः रक्तवर्ण की हुआ करती हैं। क्रोध के कारण क्रोधावस्था में भी आँखें लाल हो जाया करती हैं। अतः रक्तवर्ण की आँखें होने के कारण ही कोयल में शाप देने सम्बन्धी उत्प्रेक्षा की गयी है। **द्विजान्** = पक्षियों अथवा ब्राह्मणों को। **ऐक्षिष्ट** = देखा।

प्रसङ्ग— धूमकेतु नामक तारे को विपत्ति का कारण माना जाता है। भ्रमर जिस पर बैठे हुए थे अथवा जिस पर मँडरा रहे थे ऐसे चम्पक-पुष्प भी विरही जनों के लिये उद्दीपक होने के कारण विपत्तिजनक थे। अतः राजा नल ने चम्पक-पुष्प को साक्षात् धूमकेतु ही समझा—

अलिस्रजा कुड्मलभुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा।
स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमाङ्कितवानशङ्कत॥९१॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अलिस्रजेति। अलिस्रजा भ्रमरपंक्त्या उच्चशेखर-मुन्नतशिरोभूषणम् अलिमलिनाङ्गमित्यर्थः। 'शिखास्वापीड-शेखरावि'त्यमरः। चाम्पेयं चम्पकविकारं कुड्मलम् 'अथ चाम्पेयः चम्पको हेमपुष्क' इत्यमरः। नन्वयुक्तमिदं 'न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रदि त्यादावलीनां चम्पकस्पर्शाभावप्रसिद्धेरिति चेत् नैवं किन्तु स्पृष्टेयन्तावतैवास्पर्शोक्तिः क्वचित् तेषाञ्चित् उपपरिहारः अथवा चाम्पेयं नागकेसरं 'चाम्पेय केसरो नागकेसरः काञ्चनाह्वय' इत्यमरः। अधीरया दृशा निपीय विक्लवदृष्ट्या गाढं दृष्ट्वा आशङ्कितवान् किञ्चिदनिष्टमुत्प्रेक्षितवान्। स नलः 'अनिष्टा-भ्यागमोत्प्रेक्षा शङ्कामाचक्षते बुधाः' इति लक्षणात्। वियोगिनां विपदे उदीतमुत्थितं धूमकेतुमशङ्कत अतर्कयदित्युत्प्रेक्षालङ्कारः॥९१॥

अन्वय—अलिस्रजा उच्चशेखरं चाम्पेयं कुड्मलं अधीरया दृशा निपीय आशङ्कितवान् स वियोगिनो विपदे उदीतं धूमकेतुं अशङ्कत।

संस्कृत-व्याख्या—अलिस्रजा= भ्रमरपङ्क्त्या, उच्चशेखरम् = उन्नतशिरोभूषणम्— अलिमलिनाङ्गमित्यर्थ:, चाम्पेयम् = चम्पकविकारम्, कुड्मलम् = कोरकम्, अधीरया = विक्लवया, दृशा, निपीय= गाढं दृष्ट्वा आशङ्कितवान्= किञ्चिदनिष्ठमुत्प्रेक्षितवान्, स= नल:, वियोगिनो = विरहिणाम्, विपदे = विनाशाय, उदीतम् = उत्थितम्, धूमकेतुम् = धूमकेतुम्, अशङ्कत = अतर्कयत्।

हिन्दी अनुवाद—अलिस्रजा = भ्रमरोहं की पंक्ति से युक्त होने के कारण, उच्चशेखरम् = उन्नतशिखरभाग वाली, चाम्पेयम् = चम्पा की, कुड्मलम् = कली को, अधीरया = अधीर, दृशा = दृष्टि से, निपीय = भलीभाँति देखकर, आशङ्कितवान् = आशङ्कायुक्त, स = राजा नल ने, [उस चम्पक पुष्क को], वियोगिनाम् = वियोगियों की, विपदे = विपत्ति अथवा विनाश के लिये, उदीतम् = उदित हुआ, धूमकेतुं अशङ्कत = धूमकेतु समझा।

भावार्थ— आकाश में धूमकेतु तारे का उदय होना अत्यन्त अनिष्ठकारक माना जाता है। चम्पा की कली भी कामोद्दीपक होने के कारण विरही जनों के लिये अनिष्टकारक ही हुआ करती है। इसी आधार को ध्यान में रखते हुए महाकवि ने यहाँ यह कल्पना की है कि विरहावस्था में विद्यमान राजा नल के लिये चम्पक पुष्प अथवा चम्पा की कलियाँ साक्षात् धूमकेतु के सदृश ही थीं।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

व्याकरण—**चाम्पेयम्** = चम्पा + अण्। **कुड्मलम्** = कुड् (बाल्ये) + कल, मुट् का आगम। **उदीतम्** = उद् + ई + क्त।

समास—**अलिस्रजां** = अलीनां स्रक् इति अलिस्रक् (षष्ठी तत्पु०) तया। **उच्चशेखरम्** = उच्च: शेखरो यस्य स: (बहुव्रीहि), तम्,। **चाम्पेयम्** = चम्पाया: अयं चाम्पेय: तम्।

टिप्पणियाँ—**अलिस्रजा** = भ्रमरोहं की माला अथवा पंक्ति से। **उच्चशेखरम्** = उन्नतशिखर भाग से युक्त। ऊँची ऊठी हुई। **चाम्पेयम्** =

चम्पा की— "अथ चाम्पेयः चम्पको हेमपुष्पक" इत्यमरः'अथ चाम्पेयः चम्पको हेमपुष्पकः' इत्यमरः। चम्पा के सम्बन्ध में लोक में प्रसिद्धि है कि उसके पास भ्रमर नहीं जाया करते हैं किन्तु फिर भी कवि ने उस का वर्णन क्यों किया है ("न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रत")। इससे प्रतीत होता है कि महाकवि श्रीहर्ष को उस कथन में विश्वास नहीं था। अथवा— हो सकता है कि इस स्थल पर 'चाम्पेय' शब्द से 'नागकेसर का फूल' ही कवि को अभिप्रेत रहा हो क्योंकि नागकेसर के फूल को भी ' चाम्पेय' कहा जाता है— "चाम्पेयः केसरो नागकेसरः काञ्चनाह्वयः" इत्यमरः। **कुड्मलम्** = कली को। "कुड्मलो मुकुले पुंसि न द्वयोर्नरकान्तरेः" इति मेदिनोकाप:। **निपीय** = पान करके अर्थात् भलीभाँति नेत्रों से देख करके। **विपदे** = विपत्ति अथवा विनाश के लिये।

प्रसङ्ग— राजा नल ने नागकेसर के फूल को देखा जिस पर भ्रमर बैठे हुए थे और उनके बैठने के कारण वह काला काला दिखलाई पड़ रहा था और उससे पीले पराग के कण झड़ रहे थे।

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम्।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत्॥९२॥

मल्लिनाथकृत-टीका— गलदिति। स नलो गलत्परागं निर्यद्रजस्कं भ्रमिभङ्गिभिः भ्रमणप्रकारैरुपलक्षितं पतद् भ्रश्यत् प्रसक्तभृङ्गावलि सक्तालिकुलं नागकेसरं कुसुमविशेष मारनाराचनिघर्षणैः स्मरशककर्षणैः स्खलन्तः लुठन्तः ज्वलन्तश्च कणाः स्फुलिङ्गा यस्य तं शाणं निकपोत्पलमिवेत्युत्प्रेक्षा व्यलोकयत्, 'शाणस्तु निकषकष' इत्यमरः॥९२॥

अन्वय— स गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरं। मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणं इव व्यलोकयत्।

संस्कृत-व्याख्या—स = नलः, गलत्परागम् = निर्यद्रजस्कम्, भ्रमिभङ्गिभिः = भ्रमणप्रकारैः उपलक्षितम्, पतत् = भ्रश्यत्, प्रसक्तभृङ्गावलि =

सक्तालिकुलम्, नागकेसरम् = नागकेसर पुष्पम्। मारनाराचनिघर्षणस्ख-लज्ज्वलत्कणम् = मारस्य कामदेवस्य नाराचः शराः तेषां निघर्षणैः कर्षणैः स्खलन्तः लुठन्तः ज्वलन्तः देदीप्यमानाः कणाः स्फुलिङ्गः यस्मात् तादृशम्, शाणमिव = निकपोत्पलमिव, व्यलोकयत् = दृष्टवान्।

हिन्दी अनुवाद—स = राजा नल ने, गलत्परागम् = झरते हुए परा से युक्त, भ्रमिभङ्गिभिः = चक्कर खाकर एक विशेष प्रकार से, पतत् = गिरते हुए, प्रसक्तभृङ्गावलि = [एवं] संलग्न भ्रमरों की पंक्तियों से युक्त, नागकेसरम् = नागकेसर के फूल को, मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणम् = कामदेव के बाणों की रगड़ से गिरते तथा जलते हुए कणों (चिनगारियों) से युक्त, शाणमिव =शाण (सान रखे जाने वाले प्रस्तत विशेष) के सदृश, व्यलोकयत् = देखा।

भावार्थ— उस उपवन में नागकेसर का फूल भ्रमरों के बैठ जाने के कारण कृष्ण वर्ण का दिखलाई पड़ रहा था तथा उसमें से पीतवर्ण का पराग नीचे की ओर झड़ रहा था। अतएव नागकेसर पुष्प के सम्बन्ध में यह उत्प्रेक्षा की गयी है कि वह मानो काला शाण (सान रखने का पत्थर) था जिसपर कामदेव के बाणों की रगड़ लग रही थी और उस रगड़ के कारण जलते हुए पीले पीले कण निकल निकल कर नीचे की ओर गिर रहे थे। इस प्रकार के नागकेसर के फूल को राजा नल ने देखा।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

व्याकरण—**नागकेसरम्** = विकार अर्थ में— (अर्थात् नागकेसर का विकार) नागकेसर + अण्।

समास—**गलत्परागम्** = गलन् परागो यस्य तत् (बहुव्रीहि)। **प्रसक्तभृङ्गावलि** = प्रसक्ता भृङ्गावलिः यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि)। **मारनाराचनिघर्षणस्ख-लज्ज्वलत्कणम्** = मारस्य नाराचः इति मारनाराचाः तेषां निघर्षणैः स्खलन्तः ज्वलन्तश्च कणाः यस्मात् तादृशम्।

टिप्पणियाँ—**गलत्परागम्** = जिसके पराग के कण गिर अथवा झड़ रहे थे ऐसे नागकेसर के फूल को। **भ्रमिभङ्गिभिः** = चक्कर काटने सम्बन्धी विशिष्ट प्रकार के साथ। **पतत्** = गिरते हुए। दूसरे वृक्षों से उड़कर उस ओर आते हुए। **प्रसक्तभृङ्गावलि** = भ्रमर समूह से युक्त अर्थात् जिस पुष्प पर भ्रमरों की पंक्तियां बैठी हुई थीं। **नागकेसरम्** = नागकेसर के फूल। **मारनाराचनिघर्षणस्खल-ज्ज्वलत्कणम्** = (जिस) शाण पर कामदेव के बाणों की रगड़ लग रही थी और उस रगड़ के कारण उससे चिनगारियाँ भी निकल निकलकर इधर-उधर गिर रही थी, ऐसे, **शाणम्** = सान रखने वाले पत्थर-''शाणस्तु निकषः कषः'' इत्यमरः। **व्यलोकयत्** = देखा।

प्रसङ्ग— नल का शरीर पुष्पों की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर था। अतएव भ्रमरों की पंक्तियाँ शब्द करती हुई उनके शरीर के चारों ओर उड़ रही थीं। कामदेव, यह समझकर कि मेरे बाणों की पंक्तियाँ लक्ष्य भ्रष्ट होकर शब्द कर रही हैं, लज्जित हुआ—

तदङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि पातुकाः
शिलीमुखालीः कुसुमाद्गुणस्पृशः।
स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् स्मरः
स्वनन्तीरवलोक्य लज्जितः॥९३॥

मल्लिनाथकृत-टीका— तदङ्गमिति। सुगन्धि शोभनगन्धं 'गन्धस्ये'त्यादिना समासान्त इकारः। तदङ्गं तस्य नलस्याङ्गमुद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य गुणो गन्धादिः मौर्वीच, 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुष्वि'ति वैजयन्ती। तत्स्पृशस्तद्युक्ताः 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' कुसुमादपादानात् पातुका धावन्तीः, 'लषपते'त्यादिना उकञ्प्रत्ययः। स्वनन्तीर्ध्वनन्तीः शिलीमुखालीः अलिपक्तीः बाणपंक्तीश्चावलोक्य स्मरः स्वचापात् पौष्पाद् दुर्निर्गताः विषमनिर्गता ये मार्गणाः बाणास्तद-भ्रमाद्धेतो-र्लज्जितोऽभवत् नूनमिति शेषः। दुर्निर्गतेषवो ह्यधिकं स्वनन्तीति प्रसिद्धेः। अत्र स्वनिच्छलिमुखेषु दुर्निर्गतमार्गणभ्रमाद

भ्रान्तिमदलङ्कारः, स च शिलीमुखेति श्लेषा-नुप्राणितादुत्थापिता चेयं स्मरस्य लज्जितत्वोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥९३॥

अन्वय—सुगन्धि तदङ्गमुद्दिश्य गुणस्पृशः कुसुमात् पातुकाः स्वनन्तीः शिलीमुखालीः अवलोक्य स्मरः स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् लज्जितः।

संस्कृत-व्याख्या—सुगन्धि= शोभनगन्धम्, तदङ्गमुद्दिश्य= तस्य नलस्य अङ्गं शरीरं उद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य, गुणस्पृशः= गुणाभिलाषिणीः [बाणपंक्ति-पक्षे= मौर्वीस्पृशः], कुसुमात्= पुष्पात्, पातुकाः = धावन्तीः, स्वनन्तीः = ध्वनन्तीः, शिलीमुखालीः =भ्रमरपंक्तीः [बाणपंक्तीश्च], अवलोक्य= दृष्ट्वा, स्मरः= कामः, स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् = स्वचापात् स्वधनुषः दुर्निर्गताः दुखेन निर्गताः मार्गणाः बाणाः तेषां भ्रमात्, लज्जितः = अभवत् नूनमिति शेष।

हिन्दी अनुवाद—सुगन्धि = शोभनगन्धयुक्त, तदङ्गम् = नल के शरीर को, उद्दिश्य = लक्ष्य करके, गुणस्पृशः = गुण अर्थात् सुगन्ध की अभिलाषिणी [बाणपंक्ति-पक्ष में-प्रत्यञ्चा का स्पर्श करने वाली], कुसुमात् = पुष्प से निकलकर, पातुकाः = दौड़ने वाली तथा, स्वनन्तीः = शब्द करती हुई, शिलीमुखालीः = भ्रमरों की पंक्तियों [पक्षान्तर में— बाण-पंक्तियों] को, अवलोक्य = देखकर, स्मरः = कामदेव, स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् = अपने धनुष से बुरी तरह निकले हुए [अर्थात् लक्ष्यभ्रष्ट] बाणों के भ्रम से, लज्जितः = लज्जित हो गया।

भावार्थ— राजा नल का शरीर पुष्पों की अपेक्षा कहीं अधिक सुगन्धित था। अतएव भ्रमर समूह पुष्पों को छोड़-छोड़कर नल के शरीर के चारों ओर मँडरा रहा था। यह दृश्य देखकर कामदेव को यह भ्रम हो गया कि उनकी अपनी धनुष की डोरी का स्पर्श करने वाले बाणों की पंक्तियाँ लक्ष्यभ्रष्ट होकर भ्रमरों की पंक्तियों के रूप में गुञ्जन कर रही हैं [क्योंकि ऐसी प्रसिद्धि है कि लक्ष्यभ्रष्ट बाण अधिक ध्वनि करते है] अतः कामदेव लज्जित हो गया। [लक्ष्य भ्रष्ट बाणों को देखकर धनुषधारी का लज्जित होना स्वाभाविक ही है।]

अलङ्कार— यहाँ पर शब्द करते हुए भ्रमरों की पंक्ति में कामदेव द्वारा अपने लक्ष्यभ्रष्ट बाणों का भ्रम किये जाने से भ्रान्तिमान् अलङ्कार है। और श्लेष से अनुप्राणित उत्प्रेक्षा अलङ्कार का अंगागिभाव से संकर भी है।

व्याकरण—**सुगन्धि** = यहाँ पर "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः" सूत्र से "इत्व" हो जाता है। **गुणस्पृशः** = गुण + स्पृश + क्विन् ("स्पृशोऽनुदके" से) = गुणस्पृक्। **पातुकाः** = पत् + उकञ् + टाप्। **स्वनन्तीः** = स्वन् + लट् – शतृ + ङीप्– (बहुवचन में)।

समास—**सुगन्धि** = सुष्ठु गन्धो यस्मिन् तत् सुगन्धि (बहुव्रीहि)। **गुणस्पृशः** = गुणं स्पृशतीति गुणस्पृक् ताः गुणस्पृशः। **पातुकाः** = पतितुं शीलं यासां ताः। **शिलीमुखालीः** = शिलीमुखानां आलयः (षष्ठी तत्पु०) ताः। **स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात्** = स्वचापात् दुखेन निर्गताः मार्गणा इति स्वचापदुर्निर्गतमार्गणाः तेषां भ्रमात्।

टिप्पणियाँ—**सुगन्धि** = शोभन (उत्तम) गन्ध से युक्त। तदङ्गम् = शरीर को। उद्दिश्य = लक्ष्य करके। गुणस्पृशः = गुण (सुगन्ध) को ग्रहण करने वाली। (बाणों की पंक्ति के पक्ष में—गुण अर्थात् प्रत्यञ्चा का स्पर्श करने वाली)। 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुष्वि' इति वैजयन्ती। **पातुकाः** =गिरने वाली या दौड़ने वाली। **स्वनन्तीः** = शब्द करती हुई। **शिलीमुखालीः** = भ्रमरों की पंक्तियों को। **स्मरः** = कामदेव। **स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात्** = अपने धनुष से बुरी तरह निकले हुए बाणों के भ्रम से। जब बाण ठीक रूप से नहीं छूटता है तब वह शब्द करता हुआ लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाया करता है जिसके कारण बाण-चालक को लज्जित भी होना पड़ा करता है। **लज्जितः** = लज्जा को प्राप्त हुआ अथवा लज्जित हुआ।

प्रसङ्ग— उस राजा नल ने वायु से कम्पायमान पल्लवों के काँटों से क्षत-विक्षत पके हुए बेल के फल को देखा—

मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम्।
स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम्॥९४॥

मल्लिनाथकृत-टीका— मरुदिति। मरुता वायुना ललत्पल्लवाना-ञ्चलत्किसलयानां कण्टकैस्तीक्ष्णाग्रैरवयवैः क्षतमन्यत्र विलसद्विटनखैः क्षतमिति गम्यते, समुच्चरत् परितः प्रसर्पत् चन्दनसारस्येव सौरभं यस्य तत् अतएव वारनारीकुचेन वेश्यास्तनेन सञ्चितोपमं सम्पादितसादृश्यमित्युपमालङ्कार। 'वास्त्री गणिका वेश्ये'त्यमरः। कुलाङ्गनानखक्षताद्यनौचित्याद्वारविशेषणं, पचेलिमं स्वतः पक्वं कर्मकर्त्तरि 'केलिमर उपसंख्यानमि'ति पचेः केलिमर्प्रत्ययः। मालूरफलं विल्वफलं 'बिल्वे शाण्डिलशैलूषौमग्लूरः श्रीफलावपी'त्यमरः। स नलो ददर्श॥९४॥

अन्वय—स मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभं वारनारीकुचसञ्चितोपमं पचेलिमं मालूरफलं ददर्श।

संस्कृत-व्याख्या—सः=नलः मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः = मरुता वायुना ललन्तः विलसन्तः ये पल्लवाः तेषां कण्ठकैः [अन्यत्र मरुत् देवः तद्वत् ललन् विलासं कुर्वन् यः पल्लवः विटः तस्य कण्टकाः कण्टवत्तीक्ष्णाः नखाः तैः।], क्षतम् = आहतम्, समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम् = समुच्चरत् परितः प्रसर्पत् चन्दन सारस्य इव सौरभं गन्धं यस्मात् तादृशम्, (अन्यत्र-चन्दनस्य सारसौरभं यस्मात् तादृशम्) वारनारीकुचसञ्चितोपमम्= वारनारीकुचेन वेश्यास्तनेन सञ्चितोपमम् सम्पादितसादृश्यम् — वेश्यास्तनतुल्यशोभम् — इत्यर्थः, पचेलिमम् = स्वतः फक्वम्, मालूरफलम् = बिल्वफलम्, ददर्श = अवलोकयामास।

हिन्दी अनुवाद—स = उस राजा नल ने, मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः = वायु के द्वारा हिलते हुए पल्लवों के काटों से, [कुच-पक्ष में— देवता के सदृश विलास करने वाले विट के तीक्ष्ण नखों से] क्षतम् = क्षत-विक्षत, समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम् = (तथा) फैलती हुई तथा लिप्त हुई चन्दन की गन्ध के सदृश उत्तम गन्ध से युक्त [कुच पक्ष में —फैलती हुई तथा लिप्त हुई चन्दन की गन्ध से युक्त], वारनारीकुचसञ्चितोपमम् = वेश्या के स्तनों की

समानता को धारण किये हुए, पचेलिमम् = पके हुए, मालूरफलम् = बेल के फल को, ददर्श = देखा।

भावार्थ– राजा नल ने वायु द्वारा कम्पित पल्लवों के काटों से [अन्य पक्ष में– वायु नामक देवता के सदृश विलासी विट (धूर्यनायक) के कण्टक सदृश नखों से] क्षत (घायल), निकलते हुए चन्दन सदृश शोभन गन्ध से युक्त [अन्य पक्ष में– लिप्त हुए चन्दन सदृश श्रेष्ठ गन्ध से युक्त] वेश्या के स्तनों के सादृश्य को प्राप्त किये हुए एवं भलीभाँति पके हुए बेल के फल को देखा।

अलङ्कार– उक्त श्लोक में ''उपमा'' अलङ्कार है।

व्याकरण–**पचेलिमम्** = पच् + केलिमर् [''केलिमर् उपसंख्यानम्'' वार्तिक से]।

समास–**मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः** = मरुता ललन्तः मरुल्ललन्तः मरुल्ललन्तः पल्लवाः इति मरुल्ललत्पल्लवाः (कर्मधारय), तेषां कण्टकाः इति (षष्ठी तत्पु०) तैः। **समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम्** = समुच्चलत् चन्दनसारसौरभं यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि)। **वारनारीकुचसञ्चितोपमम्** = वारनार्याः कुचौ इति वारनारीकुचौ ताभ्यां संचिता उपमा यस्य तादृशम्।

टिप्पणियाँ–**मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः** = वायु द्वारा हिलाये डुलाये जाते हुए पल्लवों के काटों से। **क्षतम्** = क्षत-विक्षत, घायल। **समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम्** = जिसमें से चन्दन सदृश उत्तम गन्ध निकलकर चारों ओर व्याप्त हो रही थी। **वारनारीकुचसञ्चितोपमम्** = वेश्या के स्तनों के समान। ''वारस्त्री गणिका वेश्या-इत्यमरः''। अच्छे कुल की स्त्रियों के स्तनों का नखक्षत आदि का प्रकट होना अनुचित माना गया है इसलिए 'वार' विशेषण का प्रयोग हुआ है।**पचेलिमम्** = पके हुए। **मालूरफलम्** = बेल के फल को। **ददर्श** = देखा।

प्रसङ्ग– राजा नल पाटल के फूल के गुच्छे को कामदेव के बाणों का तूणीर समझकर भयभीत हो गये–

युवद्वयीचित्तनिमज्जनो-

चितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम्।

स्मरेषुधीकृत्य धिया भियाऽन्धया स

पाटलायाः स्तबकं प्रकम्पितः॥९५॥

मल्लिनाथकृत-टीका— युवेति। युवा च युवती च तयोर्यूनोर्द्वयी मिथुनं तस्याश्चित्तयोः कर्मणोर्निमज्जनेण्यन्ताल्लुट् उचितैः क्षमैः प्रसूनैः पुष्पबाणैः शून्येतरदशून्यं पूर्णं गर्भगह्वरं गर्भकुहरं यस्य तत् पाटलायाः पाटलवृक्षस्य स्तबकं कुसुमगुच्छम्भियान्धया भयमूढया धिया भयजन्यभ्रान्त्येत्यर्थः। स्मरेषुधीकृत्य कामतूणीकृत्य तथा विभ्रम्यइत्यर्थः. अत एवभयात् प्रकम्पितश्चकम्पे। अत्र पाटलस्तबके मदनतूणीरभ्रमात् भ्रान्तिमदलङ्कारः। 'कविसंमतसादृशाद्विषये विहितात्मनि आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान्मतः॥' इति लक्षणात्॥९५॥

अन्वय—सः युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरं पाटलायाः स्तबकं भियाऽन्धया धिया स्मरेषुधीकृत्य प्रकम्पितः।

संस्कृत-व्याख्या—सः = नलः, युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भ-गह्वरम् = युवा च युवति च तयोः यूनोः द्वयी मिथुनं तस्यः चित्तयोः अन्तः करणयोः निमज्जने उचितैः क्षमैः प्रसूनैः पुष्पवाणैः शून्येतरदशून्यं पूर्णं गर्भगह्वरं गर्भकुहरं यस्य तादृशम्, पाटलायाः = पाटलवृक्षस्य, स्तबकम् = कुसुमगुच्छम्, भियाऽन्धया = भयमूढया, धिया = बुद्ध्या [भयजन्यभ्रान्त्या इत्यर्थः], स्मरेषुधीकृत्य = कामतूणीरीकृत्य, प्रकम्पितः = चकम्पे।

हिन्दी अनुवाद— सः = वह राजा नल, युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचित-प्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम् = युवक और युवतियों (दोनों के) चित्तों को डुबाने में समर्थ पुष्पों से पूर्ण मध्यभागों वाले, पाटलायाः = पाटलवृक्ष के, स्तबकम् = फूल के गुच्छे को, भियाऽन्धया = भय के कारण विमूढ, धिया = बुद्धि से, स्मरेषुधीकृत्य = कामदेव का तरकस, प्रकम्पितः = काँप गये।

भावार्थ— राजा नल ने पाटववृक्ष के पुष्पों के गुच्छे को पुष्पों से परिपूर्ण देखकर यह समझा कि यह विरही युवक और युवतियों के हृदयों को वेधने वाले कामदेव के बाणों से भरा हुआ तरकस ही है। राजा नल स्वयं भी विरहावस्था में विद्यमान थे अतः उस पाटल पुष्प के गुच्छे को देखकर उनका भयभीत हो जाना स्वाभाविक ही था। भय के कारण उनकी विचारशक्ति नष्ट हो गयी थी। इस कारण उन्होंने उस गुच्छे को बाणों से भरा हुआ कामदेव का तूणीर ही समझ लिया।

अलङ्कार— पाटलवृक्ष के पुष्पों के गुच्छे में कामदेव के बाणों से परिपूर्ण तूणीर का भ्रम होने से उक्त श्लोक में भ्रान्तिमान् अलङ्कार है।

व्याकरण—**स्मरेषुधीकृत्य** = स्मरेषुधी +च्वि, ईत्व + कृ + ल्यप्। **प्रकम्पितः** = प्र + कम्प् + क्त (कर्त्ता में)।

समास—**युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम्** = युवा च युवती च इति युवानी ("पुमान स्त्रिया"— से एकशेष) तयोः द्वयी, तस्याः चित्ते (षष्ठी तत्पु०), तयोः निमज्जनम्, तस्मिन् उचितानि प्रसूनानि (कर्मधारय), तैः शून्येतरं गर्भगह्वरं यस्य सः (बहुव्रीहि), तम्। **स्मरेषुधीकृत्य** = स्मरस्य इषुधिः (षष्ठी तत्पु०), न स्मरेषुधिः अस्मरेषुधिः अस्मरेषुधिं स्मरेषुधिं कृत्वा इति स्मरेषुधीकृत्य।

टिप्पणियाँ—**युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचित-प्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम्** = युवा और युवती दोनों के चित्तों को डुबा लेने में समर्थ पुष्पों से परिपूर्ण मध्य-भाग वाले। **पाटलायाः** = पाटल (पाढर) के। **स्तबकम्** = गुच्छे को। **भियाऽन्धया** = भय के कारण अंधी (अज्ञानपूर्ण)। **धिया** = बुद्धि से। **स्मरेषुधीकृत्य** = कामदेव के बाणों से भरी हुआ तरकस समझकर। **प्रकम्पितः** = काँप गये।

प्रसङ्ग— राजा नल ने कृष्णवर्ण के पत्रों वाले अगस्त्य वृक्ष को राहु तथा उसके बीत दिखाई देने वाली कली को भक्षण के बाद पुनः राहु द्वारा उद्वमित चन्द्रकला समझा।

मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेऽमुनाऽमन्यत सिंहिकासुतः।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन्॥९६॥

मल्लिनाथकृत-टीका— मुनीति। अमुना नलेव वने कोरकितः सञ्जातकोरकः पत्रेषु कृष्णच्छविः मुनिद्रुमोऽगस्त्यवृक्षः तमिस्त्रपक्षे त्रुटिकूटेन क्षयव्याजेन भक्षितम् भक्षितत्वे कृतः क्षय? इति भावः. अत्र कूटशब्देन क्षयोपह्नवेन भक्षणारोपाद-पह्नवभेदः। वैधवं चन्द्रसम्बन्धि 'विधु शुभ्रांशुरि'त्यमरः। कलाकलापङ्क्लासमूहं वमन्नुद्गिरन् सिंहिकासुतो राहुरमन्यत किल खलु? अत्र कोरकितशितद्युतित्त्वाभ्यां मुनिदुमत्येन्दुसकलापवमन-विशिष्टराहुहुत्वोत्प्रेक्षा, सा चोक्तापह्नवोत्थापितेति सङ्करः॥९६॥

अन्वय— अमुना वने कोरकितः शितिद्युतिः मुनिदुमः तमिस्त्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं वैधवं कलाकलापं वमन् सिंहिकासुतः अमन्यत किल।

संस्कृत-व्याख्या—अमुना= नलेन, वने= विपिने, कोरकितः= मुकुलितः, शितिद्युतिः= शितिः कृष्णः द्युतिः छविः तादृशः, मुनिद्रुमः= अगस्त्यवृक्षः, तमिस्त्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितम् = भक्षितम्, वैधवम् = चन्द्रसम्बन्धिनम्, कलाकलापम् = कलासमूहम्, वमन् = उद्गिरन्, सिंहिकासुतः = राहुः, अमन्यत = मेने, किल = खलु।

हिन्दी अनुवाद—अमुना = इस (राजा नल) ने, वने = वन में, कोरकितः = कलियों से युक्त, शितिद्युतिः = कृष्णवर्ण की कीन्ति से युक्त, मुनिद्रुमः = अगस्त्य नामक वृक्ष को, तमिस्त्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितम् = कृष्ण पक्ष में कलाओं के क्रमशः घटने के बहाने निकले गये हुए, वैधवम् = चन्द्रमा के, कलाकलापम् = कला समूह को, वमन् = उगलता हुआ, सिंहिकासुतः = राहु ही, अमन्यत किल = समझा अथवा माना।

भावार्थ— राजा नल ने वन में कलिकाओं से युक्त, कृष्ण वर्ण वाले अगस्त्य के वृक्ष को कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा की कलाओं के क्रमित घटाव के बहाने से निगले हुए और तदनन्तर उसकी कलाओं को पुनः उगलते हुए राहु

सदृश ही समझा। [अथवा– अन्धकार में छलपूर्वक खाये गये हुए पशु आदि को पुनः उगलते हुए सिंह के बच्चे के समान उस अगस्त्य के वृक्ष को राजा नल ने देखा]।

राजा नल ने पहले यह सोचा की यह राहु चन्द्रमा को निगल गया था अतएव इससे मुझे कोई सन्ताप नहीं होता है। किन्तु अब यह पुनः चन्द्रमा को उगल रहा है और यह चन्द्रमा मुझे अब संतप्त करेगा– ऐसा सोचकर उन्होंने उस अगस्त्य के वृक्ष को राहु के सदृश ही माना।

अलङ्कार– उक्त श्लोक में उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति तथा श्लेष अलङ्कारों का संकर है।

व्याकरण–**कोरकितः** = कोरक + इचत्। **वैधवम्** = विधु + अण्।

समास–**कोरकितः** = कोरकः संजातः अस्मिन् इति कोरकितः। **शितिद्युतिः** = शितिः द्युतिः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितम्** = तमिस्रः पक्षः इति तमिस्रपक्षः (कर्मधारय) तस्मिन् त्रुटिः इति तमिस्रपक्षत्रुटिः, सैव कूटम्, तेन भक्षितः इति तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितः तम्। **वैधवम्** = विधोः अयं वैधवः तम्।

टिप्पणियाँ–**कोरकितः** = जिसमें कलियाँ लगी हुई थी अर्थात् कलियों से युक्त। **शितिद्युतिः** = कृष्णवर्ण की कान्ति से युक्त। ''शितीधवलमेचकौ''–इत्यमरः। **मुनिद्रुमः** = अगस्त्य नामक वृक्ष को। **तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितम्** = कृष्ण पक्ष में कलाओं के क्रमशः घटने के बहाने से खाये हुए अथवा निगल लिये गये हुए। कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा की कलाओं का एक एक करके क्रमिक ह्रास होता चला जाया करता है। अतएव ऐसी कल्पना की जाती कि मानो चन्द्रमा की एक एक कला को राहु क्रम से ग्रस रहा हो और अमावस्या का एक दिन ऐसा आ जाता है कि जिस दिन पूर्ण रूप से राहु द्वारा चन्द्रमा ग्रस लिया जाता है अर्थात् राहु चन्द्रमा को निगल लेता है। **वैधवम्** = विधु अर्थात् चन्द्रमा के सम्बन्धी अथवा चन्द्रमा भी। **कलाकलापम्** = कला समूह को। **वमन्** = उगलता हुआ। **सिंहिकासुतः** = राहु। राजा नल ने काले रंग की

पत्तियों से युक्त अगस्त्य के वृक्ष को राहु समझा जिसमें श्वेत वर्ण की अर्द्धचन्द्राकार कलियाँ खिली हुई थीं। वह वृक्ष उस समय राहु के सदृश प्रतीत हो रहा था तथा उसमें संलग्न श्वेत वर्ण की कलियाँ चन्द्रमा की श्वेत वर्ण की कलाओं के सदृश प्रतीत हो रही थीं। **अमन्यत** = समझा, माना।

प्रसङ्ग— राजा नल ने वायु द्वारा लता के साथ किया गया विलास एवं कुसुम के साथ की गयी क्रीड़ा को देखकर अपनी आँखें बन्द कर लीं—

पुरोहठाक्षिप्ततुषारपाण्डर-
च्छदावृतेर्वीरुधि बद्धविभ्रमाः।
मिलन्निमीलं विदधुर्विलोकिता
नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः॥९७॥

मल्लिनाथकृत-टीका— पुर इति। पुरोऽग्रेहठात् झटित्याक्षिप्ता आकृष्टातुषारेण हिमेन पाण्डराणां छदानां पत्राणां तुषारवत् पाण्डस्य च्छदस्याच्छादकस्य वस्त्रस्य चावृतिरावरणं येन तस्य नभस्वतो वायोः वीरुधि लतायां बद्धाः अनुबद्धा विभ्रमा भ्रमणानि विलासाश्च यासान्तः कुसुमेषु विषय केलयः क्रीड़ाः कुसुमेषु केलयः कामकोड़ाश्च विलोकिताः सत्यस्ते नृपं नलं मिलन्निमीला मिलनं यस्य तं विदधुः निमीलिताक्षञ्चक्रुरित्यर्थः। विरहिणासुद्दीपक-दर्शनस्य दुःसहदुखहेतुत्वात् अन्यत्र ('नेक्षेवार्कं न नग्ना स्त्रीं न च संस्पृष्टमैथुनामि'ति निषेधादिति भावः।) अत्र प्रस्तुतनभस्वद्विशेषण-सामर्थ्यादप्रस्तुतकासुकविरहप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः॥९७॥

अन्वय—पुरो हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतः नभस्वतः वीरुधि बद्धविभ्रमाः कुसुमेषु केलयः विलोकिताः तं मिलन्निमीलं विदधु।

संस्कृत-व्याख्या—पुरः =अग्रे [पाठान्तरे पुरा= पूर्वम्], हठाक्षिप्ततुषार-पाण्डरच्छदावृतः = हठात् झटिति आक्षिप्ता तुषारेण हिमेन पाण्डराणां धवलानां छदानां पत्राणां। पक्षे- तुषारवत् पाण्डरस्य धवलस्य छन्दस्य वस्त्रस्य] आवृतिः आवरणं येन तथाविधस्य, नभस्वतः = वायोः, वीरुधि = लतायाम्,. बद्धविभ्रमाः = बद्धाः नद्धाः विभ्रमाः भ्रमणानि। पक्षे— कुसुमेषु केलयः=

कामक्रीड़ा:], विलोकिता = दृष्टा: [सत्य:], तम् = नलम्, मिलन्निमीलम् = कृतनेत्रसंकोचम्, विदधु = चक्रु:।

हिन्दी अनुवाद—पुर:= सामने [पाठान्तर में पुरा = पहले], हठाक्षिप्ततुषार-पाण्डरच्छदावृते: = हठपूर्वक बर्फ के सदृश श्वेत वर्ण के पत्तों रूपी आवरण को हटाने वाली [नायक पक्ष में— तुषार के सदृश श्वेत वर्ण के वस्त्र के आवरण को हटाने वाले], नभस्वत: = वायु की, वीरुधि = लता में, बद्धविभ्रमा: = भ्रमणों [नायक पक्ष में—विलासों] से युक्त, कुसुमेषु = पुष्पों के साथ की गयी, केलय: = क्रीड़ाओं [नायक पक्ष में— कामक्रीड़ाओं] ने, विलोकिता: = देखी जाने पर, तम् = उस नल की, मिलन्निमीलम् विदधु = आँखों को बन्द कर दिया।

भावार्थ—पहले हठपूर्वक बर्फ के सदृश श्वेत पत्रों रूपी आवरण (वस्त्र) को हटाने वाली वायु की लताओं में विलास [अथवा विशिष्ट भ्रम अथवा पक्षियों का भ्रम] उत्पन्न करने वाली पुष्प विषयक क्रीड़ाओं [अथवा काम क्रीड़ाओं] ने राजा नल के नेत्रों को बन्द कर दिया अर्थात् उसे देखकर राजा नल ने अपने नेत्रों को बन्द कर लिया।

अथवा अपने समक्ष बलपूर्वक हटाये गये तुषारसदृश श्वेत पत्रों वाली, वेरे की लताओं में विशिष्ट भ्रम [अथवा— पक्षियों का भ्रम] उत्पन्न करने वाली, वायु की पुष्पों के साथ की गयी क्रीड़ा [अथवा वायु द्वारा की गयी कामक्रीड़ा] ने राजा नल के नेत्रों को बन्द कर दिया।

राजा नल ने वायु द्वारा लता के साथ किये गये विलास तथा पुष्पों के साथ की गयी क्रीड़ा को देखकर अपनी आँखें बन्द कर लीं क्योंकि विरही व्यक्ति [राजा नल] के लिये ये उद्दीपक थीं। दूसरी बात यह है कि धर्मशास्त्र [''नेक्षेतार्क न नग्नां स्त्रीं न च संस्पृष्टमैथुनाम्''— इति याज्ञवल्क्य:] के अनुसार किसी की भी कामक्रीड़ा को देखना मना है। अत: स्त्रीरूपिणी लता के कारण पुरुष रूपी वायु की कामक्रीड़ा को देखकर मानों राजा नल ने अपने नेत्रों को बन्द कर लिया।

अलङ्कार– उक्त श्लोक में प्रस्तुत वायु के विशेषणों की सामर्थ्य से अप्रस्तुत कामुक-विरह की प्रतीति होने के कारण "समासोक्ति" अलङ्कार है।

समास–हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः = तुषारेण पाण्डरम् (तृतीया तत्पु०) इति तुषारपाण्डरम्, तुषारपाण्डरं छदम् (कर्मधारय) इति तुषार पाण्डरच्छदम्, तस्य आवृतिः [षष्ठी तत्पु०] इति तुषारपाण्डरच्छदावृत्तिः। हठेन आक्षिप्ता तुषारपाण्डरच्छदावृत्तिः येन सः [बहुव्रीहि], तस्य। **बद्धविभ्रमाः** = बद्धाः विभ्रमाः भ्रमणानि [विलासाश्च] यासां ताः।

टिप्पणियाँ–पुरः = आगे-समक्ष। [पाठान्तर में पुरा = पहले]। **हठाक्षिप्ततुषार-पाण्डरच्छदावृतेः** = जिस [वायु ने] तुषार के कारण श्वेत वर्ण के पत्तों के आवरण को बलपूर्वक हटा दिया था [नायक पक्ष में– जिसने तुषार के समान श्वेतवर्ण के वस्त्र के आवरण को जबरदस्ती हटा दिया था।], **नभस्वतः** = वायु की। **वीरुधि** = लता में। **बद्धविभ्रमाः** = वायु द्वारा की गयी क्रीड़ा के पक्ष में– जिनमें विशिष्ट भ्रमण किये गये हों। नायक द्वारा की गयी क्रीड़ा के पक्ष में– जिनमें विलास [अर्थात् विशिष्ट हाव-भाव, नखरे आदि] किये गये हों। **कुसुमेषुकेलयः** = वायुपक्ष में– फूलों के साथ की गयी क्रीड़ाओं। नायक पक्ष में– [एक शब्द मानकर]काम सम्बन्धी क्रीड़ाओं। **विलोकिताः** = देखकर। **मिलन्निमीलम्** = जिसने अपने नेत्रों को बन्द कर लिया हो। **विदधु** = किया अथवा कर लिया। पाठान्तर में– **ससृजुः** = कर लिया, किया।

प्रसङ्ग– फलों के भार से झुके हुए वृक्षों को देखकर राजा नल अत्यधिक प्रसन्न हुए।

गता यदुत्सङ्गतले विशालतां
द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेण ताम्।
कथ न धात्रीमतिमात्रनामितैः स
वन्दमानानभिनन्दतिस्म तान् ?॥९८॥

मल्लिनाथकृत-टीका— गता इति। द्रुमा यस्या धात्र्या उत्सङ्गतले उपरि देशे च विशालतां विवृद्धिं गताः तां धात्रीम्भुवञ्च उपमातरं वा 'धात्री जनन्यामलकी वसुमत्युप मातृष्वि'तिविश्व। 'धा कर्मणि ट्रच्चि'ति दधातेः ट्रन् प्रत्ययः। फलगौरवेण फलभरेण सुकृतातिशयेन च हेतुना अतिमात्रं नामितैः, प्रह्वीकृतैः नमेर्मित्त्व-विकल्पादध्रस्वाभावः। शिरोभिरग्रैः उत्तमाङ्गैश्च वन्दमानान् स्पृशतोऽभिवादयमानांश्च तान् प्रकृतान् द्रुमान् अत एव यच्छब्धानपेक्षी स नलः कथं नाभिनन्दति स्म अभिननन्दैवेत्यर्थः। वृक्षाणां क्षेत्रानुरूपफलस्य सम्पत्तिमपत्यानां च मातृभक्तिंच को ना नाभिनन्दतीति भावः। अत्रापि विशेषणसामर्थ्यात् पुत्रप्रतीतेः समासोक्तिरलंकारः॥९८॥

अन्वय—दुमाः यदुत्सङ्गतले विशालतां गताः तां धात्रीं फलगौरवेण अतिमात्रनामितैः शिरोभिः वन्दमानान् तान् स कथं न अभिनन्दति स्म।

संस्कृत-व्याख्या—द्रुमाः = वृक्षाः,, यदुत्सङ्गतले = यस्याः धात्र्याः उत्सङ्गतले= उपरिप्रदेशे अङ्के वा,, विशालताम् = विवृद्धिम्, गताः =प्राप्ताः, ताम्, धात्रीम् = भुवम् उपमातरं वा, फलगौरवेण= फलभरेण फलाधिक्येन वा, अतिमात्रनामितैः = अतिमात्रं अतिशयेन नामितैः नम्रितैः , शिरोभिः= अग्रभागैः उत्तमाङ्गैश्च, वन्दमानान् = स्पृशतः, तान्= प्रकृतान् द्रुमान् पुत्रांश्च, स= नलः कथम् न, अभिनन्दति स्म=अस्तौषीत्—अभिननन्दैवेत्यर्थः। वृक्षाणां क्षेत्रानुरूप-फलस्य सम्पत्तिम्, अपत्यानां च मातृभक्तिं च को नाभिनन्दतीति भावः।

हिन्दी अनुवाद—दुमाः = वृक्ष, यदुत्सङ्गतले = जिस (पृथ्वी) की, गोद में विशालताम् = विशालता को, गताः = प्राप्त हुए; ताम् = उस, धात्रीम् = पृथ्वी की [अथवा पुत्र पक्ष में— पालनकर्त्री धाय की], फलगौरवेण = फलों के भार से [पुत्रपक्ष में—अतिशय पुण्य से.] अतिमात्रनामितैः = अत्यधिक झुकाये हुए, शिरोभिः= अग्रभागों [पक्षान्तर में— मस्तकों] से, वन्दमानान् = वन्दना करते हुए, तान् = उन वृक्षों [अथवा-पुत्रों] का, स = वह नल, कथं न अभिनन्दति स्म = अभिनन्दन क्यों नहीं करते अर्थात् अवश्य करते।

भावार्थ— जिनका पालन पोषण पृथ्वी की गोद में हुआ था ऐसी अपनी माँ पृथ्वी को अपने फलों के आधिक्य से झुके हुए अग्रभागों से युक्त उन वृक्षों का राजा नल अभिनन्दन क्यों नहीं करते अर्थात् अवश्य ही अभिनन्दन करते।

संसार में भी—माता की गोद में पालपोषकर युवावस्था को प्राप्त हुए, विद्याध्ययन आदि के गौरव से अत्यन्त नतमस्तक हो अपनी माँ की वन्दना करने वाले पुत्र को देखर सज्जनपुरुष जिस भाँति उनका अभिनन्दन किया करते हैं उसी भाँति इस पृथ्वी तल पर वृद्धि को प्राप्त कर फलों के भार से अत्यन्त झुकी हुई डालियों से युक्त वृक्षों का राजा नल ने अभिनन्दन किया।

अलङ्कार— इस श्लोक में भी विशेषण की सामर्थ्य से पुत्र की प्रतीति होने के कारण ''समासोक्ति'' अलङ्का है।

व्याकरण—धात्रीम् = धा + ष्ट्रन् [''धा कर्मणि ष्ट्रन्'' से] + ङीष्। **नामितैः** = नम् + णिच् + क्त = नामित (तृतीया बहुवचन में)।

समास—यदुत्सङ्गतले = यस्याः उत्सङ्गतले—इति। **धात्रीम्** = दधति याम् अथवा धयन्ति याम्—इति। **अतिमात्रनामितैः** = अतिमात्रं नामितानि अतिमात्रनामितानि तैः।

टिप्पणियाँ—यदुत्सङ्गतले = [पृथ्वी पक्ष में—] जिसके ऊपर के भाग में। [माता-पक्ष में— गोद में।] **विशालताम्** = विशालता को, वृद्धि को। पक्षान्तर में— युवावस्था को। **धात्रीम्** = पृथ्वी को, धाय को— उपमाता को। ''धात्री स्यादुपमातापि क्षितिरप्यामलक्यपि''— इत्यमरः। **अतिमात्रनामितैः** = अत्यधिक झुके हुए— विनम्र हुए। **शिरोभिः** = अग्रभागों से (डालियों से), मस्तकों से। **वन्दमानान्** = वन्दना करते हुए-प्रणाम करते हुए।

प्रसङ्ग— वायु के कारण शीतलता आदि गुणों से युक्त दिन की धूप चाँदनी सदृश होकर भी राजा नल को आनन्द नहीं दे सकी—

नृपाय तस्मै हिमितं वनानिलैः सुधीकृतं पुष्परसैरहर्महः।
विनिर्मितं केतकरेणुभिः सितं वियोगिनेऽधत्त न कौमुदी मुदः॥९९॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अत्रातपस्य चन्द्रिकात्वनिरूपणाय तद्धर्मान् सम्पादयति-नृपायेति। वनानिलैः उद्यानवातैः हिमं शीतलं कृतं हिमितं, तत्करोतेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। पुष्परसैर्वनवातानीतैः मकरन्दैः सुधीकृतममृतीकृतं तथा केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितं शुभ्रीकृतम् अहो महरतेजः अहर्मह आतपः 'रो सुपी'ति रेफादेशः। तदेव कौमुदीति व्यस्तरूपकं वियोगिने तस्मै नृपाय मदुः प्रमोदान् नाधत्त न कृतवती, प्रत्युतोद्दीपिकैवाभृदिति भावः॥९९॥

अन्वय— वनानिलैः हिमितं पुष्परसैः सुधीकृतं केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितं अहर्महः तस्मै वियोगिने नृपाय कौमुदी मुदः न अदत्त।

संस्कृत-व्याख्या—वनानिलैः=उद्यानवातैः, हिमितम् = शीतलीकृतम् पुष्परसैः = वनवातानीतैः, सुधीकृतम् = अमृतीकृतम्, केतकरेणुभिः = केतकीपुष्पपरागैः, सितम् =श्वेतम्, विनिर्मितम् = कृतम् [शुभ्रीकृतमित्यर्थः], अहर्महः = अह्नः दिवसस्य महः तेज—आतपः—इत्यर्थः, तस्मै वियोगिने = विरहिणे, नृपाय—राज्ञे लाय, कौमुदीमुदः= चन्द्रिकाजनितान् प्रमोदान्, न अदत्त= न अददात्। प्रत्युत उद्दीपकमेवाभूदितं भावः।

हिन्दी अनुवाद—वनानिलैः = उद्यान की वायु से, हिमितम् = शीतल, पुष्परसैः = पुष्पों के रस से, सुधीकृतम् = अमृत सदृश किया हुआ, केतकरेणुभिः = केतकी के पुष्पों के पराग में, सितम् = धवल, अहर्महः = दिन का तेज, तस्मै वियोगिने नृपाय = उस विरही राजा के लिये, कौमुदी मुदः = चन्द्रमा की चाँदनी के सदृश आनन्द को, न अदत्त = प्रदान न कर सका।

भावार्थ— वायु द्वारा शीतलता को प्राप्त कराया गया हुआ, पुष्पों के मधु से अमृत के सदृश बनाया गया हुआ तथा केतकी के पुष्पों के परागों से शुभ्रता को प्राप्त कराया गया हुआ भी दिन का तेज (धूप) उस विरही राजा नल के लिये चाँदनी सदृश आनन्द को नहीं दे सका।

यद्यपि उपर्युक्त तीनों कारणों से शीतल अमृत युक्त एवं शुभ्रवर्ण होने के कारण दिन की धूप चन्द्रमा की चाँदनी के समान सुखद हो रही थी किन्तु फिर

भी वह धूप उस विरही राजा नल के लिये सुखद न बन सकी क्योंकि विरही व्यक्तियों के लिये चाँदनी भी दु:खद तथा उद्दीपक ही हुआ करती है।

अलङ्कार— टीकाकार मल्लिनाथ ने ''अहर्महः एवं कौमुदी तस्मै वियोगिने नृपाय मुत: न अदत्त'' रूप में टीकाकार यह स्पष्ट किया है कि दिन की धूप रूपी चन्द्रिका ने उस वियोगी राजा को आनन्दित नहीं किया। अत: इस दृष्टि: से यहाँ ''व्यस्तरूपक'' अलङ्कार बनता है। किन्तु हमारे द्वारा की गयी उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर सभी सुखद कारणों से युक्त होने पर भी दिन की धूप राजा नल को सुख प्रदान रूपी कार्य की उत्पत्ति नहीं कर सकी— अतएव यहाँ ''विशेषोक्ति'' नामक अलङ्कार की मान्यता हो जाती है।

व्याकरण—हिमितम् = हिम कृतं इति हिमितम् – हिम + णिच्– '' तत्करोति तदाचष्टे'' नामक वार्तिक से। तत्पश्चात् 'क्त' प्रत्यय होकर ''हिमितम्'' बनता है। **सुधीकृतम्** = सुधा + च्वि, ईत्व– कृ+ क्त। **अहर्महः** = अह्नः ह इति अहर्महः– यहाँ '' रो:सुपि'' सूत्र से अहन् के नकार के स्थान पर रेफादेश हो जाता है।

समास—हिमितम् = हिमं (शीतलं) कृतम् इति हिमितम्। **अहर्महः** = अह्नः महः इति अहर्महः (षष्ठी तत्पु०)।

टिप्पणियाँ—वनानिलैः = उद्यान वायु के द्वारा। **हिमितम्** = शीतलता को प्राप्त कराया गया हुआ। **पुष्परसैः** = पुष्पों के मधु के द्वारा। **सुधीकृतम्** = अमृततुल्य बना दिया गया हुआ। **अहर्महः** = दिन का तेज (धूप)। **कौमुदीमुदः** = चाँदनी से प्राप्त होने वाले आह्लादक आनन्द को। **न अदत्त** = न दे सका।

प्रसङ्ग— विरहावस्था में विद्यमान होने पर भी राजा नल का मुख चन्द्रमा की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर प्रतीत हो रहा था—

वियोगभाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव साक्षादमृतांशुमाननम्।
पिकेन रोषारुणचक्षुषा मुहुः कुहूरुताहूय चन्द्रवैरिणी॥१००॥

मल्लिनाथकृत-टीका— वियोगेति। वियोगभाजोऽपि वियोगिनोऽपि नृपस्य तदाननमेव साक्षादमृतांशुं प्रत्यक्षचन्द्रं पश्यता अत एव रोषादद्यापि चन्द्रतां न जहातीति क्रोधादिवारुणचक्षुषा पिकेन चन्द्रवैरिणी कुहूर्निजालाप एव कुहूर्नष्टचन्द्रकला अमावास्येति श्लिष्टरूपक, 'कुहूः स्यात् कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपी'ति विश्वः। मुहुराहूयत आहूता किमित्युत्प्रेक्षा पूर्वोक्तरूपकसापक्षेति संकरः। अस्य चन्द्रस्येयमेव कुहूराह्वानीया स्यात् तत्कान्तिराहित्यसम्भवादिति भावः॥१००॥

अन्वय—वियोगभाजः अपि नृपस्य तत् आननं साक्षात् अमृतांशुं एव पश्यता रोषारुणचक्षुषा पिकेन मुहुः कुहूरुता चन्द्रवैरिणी आहूयत।

संस्कृत-व्याख्या—वियोगभाजः= वियोगिनः, अपि, नृपस्य= राज्ञः नलस्य, तत्=प्रसिद्धम्, आननम् = मुखम्, साक्षात् =, अमृतांशुम =प्रत्यक्षचन्द्रम्, एव, पश्यता=अवलोकयता, रोषारुणचक्षुषा= रोषेण क्रोधेन अरुणे रक्ते चक्षुषी नेत्रे यस्य तथाविधेन, पिकेन= कोकिलेन, मुहुः=वारंवारम्, कुहूरुता= कुहुः इति रुत् शब्दो यस्य तेन अथवा कुहुः इति रुत् शब्दः तया, चन्द्रवैरिणी= चन्द्रस्य वैरिणी विरोधिनी—अमावस्या [अथवा— + उत्-निश्चयेन चन्द्रवैरिणी चन्द्रस्य हिमांशोः वैरिणी, कुहूः = अमावस्या], आहूयत = आहूता किम् ?।

हिन्दी अनुवाद—वियोगभाजः = विरहातुर होने पर, अपि = भी, नृपस्य = राजा नल का, तद् आननम् = उस मुख को, साक्षाद् अमृतांशुम् एव = प्रत्यक्ष रूप से चन्द्रमा ही, पश्यता = [देखने वाली] समझने वाली, रोषारुणचक्षुषा = क्रोध के कारण रक्तवर्ण की आँखों वाली, पिकेन = कोयल ने मुहुः = बार- बार, कुहूरुता = ''कुहू कुहु'' शब्द करके, चन्द्रवैरिणी = चन्द्रमा की शत्रु अमावस्या को, आहूयत = बुला लिया।

भावार्थ—विरहावस्था में विद्यमान होने पर भी राजा नल के मुख को प्रत्यक्षरूप से चन्द्रमा ही समझते हुए। राजा नल का मुख विरही होने पर भी

मलिन नहीं हुआ अपितु चन्द्रमा के समान ही सुन्दर है ऐसा सोचकर] क्रोध के कारण लाल नेत्रों वाली तथा "कुहू" शब्द करने वाली कोयल ने चन्द्रमा को विरोधिनी ["कुहू" अर्थात् अदृष्ट चन्द्रकलावाली अमावस्या की तिथि] अमावस्या को ही बुला लिया [अथवा-निश्चित ही चन्द्रमा की] विरोधिनी कुहू (अमावस्या) को बुला लिया।

अलङ्कार– कोयल की बोली का शब्द 'कुहू' है। "कुहू" नाम अमावस्या की भी है 'कुहूः स्यात् कोकिलालापनष्टेन्दुक्लयोरपि' इति विश्वः"॥ अतः यहाँ यह सम्भावना की गयी है कि मानों कोयल अपने "कुहू-कुहू" शब्द के द्वारा अमावस्या का आह्वान कर रही हो। अतएव उक्त श्लोक में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है॥ "कुहूरुताहूयत" में 'सभङ्ग श्लेष' अलङ्कार भी है– (१) कुहूरुता आहूयत-- (२) कुहूः (अमावस्या) उत् आहूयत।

व्याकरण—वियोगभाक् = वियोग+ भज् + ण्वि।

समास—वियोगभाजः = वियोगं भजते इति वियोगभाक् तस्य। अमृतांशुम् = अमृतमया अंशवो यस्य स अमृतांशुः, (बहुव्रीहि) तम्। रोषारुणचक्षुषा = रोषेण अरुणी चक्षुषी यस्य स रोषारुणचक्षुः (बहुव्रीहि) तेन। कुहूरुता = कुहूः इति रुत् यस्य स (बहुव्रीहि), तेन अथवा—कुहूः एव रुत् (कर्मधारय)।

टिप्पणियाँ--वियोगभाजः = विरही होने पर अथवा वियोगी। **साक्षात्** = प्रत्यक्षरूप से। **अमृतांशुम्** = चन्द्रमा को। **रोषारुणचक्षुषा** = क्रोध के कारण रक्तवर्ण (लाल) के नेत्रों से युक्त। कुहूरुता = "कुहू कुहू" शब्द करने वाली कोयल ने। अथवा-- " कुहूः" इस शब्द के द्वारा। अथवा– " उत चन्द्रवैरिणी कुहूः आहूयत" इस प्रकार का अन्वय किये जाने पर– अर्थ होगा–" निश्चय ही चन्द्रमा की विरोधिनी अमावस्या को"। कोयल के नेत्र स्वाभाविकरूप से ही लाल हुआ करते हैं तथा वह "कुहू-कुहूः" शब्द भी किया करती है। **आहूयत** = बुला लिया अथवा बुलाया।

प्रसङ्ग– राजा नल ने अशोक वृक्ष को रक्षा करते हुए के सदृश माना–

अशोकमर्थान्वितनामताशया गतान् शरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान्।
अमन्यतावन्तमिवैष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम्॥१०१॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अशोकमिति। एष नलः पल्लवैः प्रतीष्टानि प्रतिगृहीतानि संच्छन्नानि कामस्य ज्वलदस्त्राणि तद्रूपकाणि जालकानि छादकानि बालमुकुलगुच्छा येन तं पल्लवसंच्छन्नकुसुमरूपकामास्त्रमित्यर्थः। अन्यथा तद्दर्शनादेव ते म्रियेरन्निति भावः। अशोकमतः एवार्थान्वितनामता नास्ति शोकोऽस्मिन्नित्यन्वर्थसंज्ञा तत्कृतया आशया अश्मानप्यशोकान् करिष्यतीत्यभिलाषेण शरणे रक्षणे साधु समर्थं शरण्यं मत्वेति शेषः। 'शरणं रक्षणे गृह' इति विश्वः, 'तत्र साधुरि'ति यत्प्रत्ययः। आगतान् शरणागतानित्यर्थः। गृहान् दारान् शोच्तीति गृहशोचिनः गृहानुद्दिश्य शोचन्त इत्यर्थः। गृहः पत्न्यां गृहे स्मत' इति विश्वः। अध्वगान् प्रोषितान् अवन्तमिव शरणागतरक्षणे महाफलस्मरणादन्यथा महादोषस्मरणाच्च रक्षन्तमिवेत्यर्थः। अमन्यत ज्ञातवान्। अस्त्रभीरूणां तद्गोपनमेव रक्षणाय इति भावः॥१०१॥

अन्वय—एषः पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकं अशोकं अर्थान्वितनामता-शया शरण्यं गतान् गृहशोचिनः अध्वगान् अवन्तमिव अमन्यत।

संस्कृत-व्याख्या—एषः= नलः, पल्लवैः, प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम्= प्रतीष्टं स्वीकृतं कामस्यकन्दर्पस्य ज्वलत् आरक्तं अस्राजालकं अस्त्रसमूहः येन तथाविधम्, अशोकम् = अशोकवृक्षम्, अर्थान्वितनामताशया = अर्थेन 'यत्सेवया शोको न ' भवति' इत्येवं रूपेण अन्वितं अन्वर्थं नाम यस्य तस्य भावः अर्थान्वितनामता तस्यां आशया 'अस्मानपि अशोकान् करिष्यति' उतियभिलोषण, शरण्यम् = शरणे रक्षणे साधुं समर्थम्, गतान् = प्राप्तान् [अथवा = आगतान् शरणागतानित्यर्थः], गृहशोचिनः= गृहान् दारान् शोचन्तीति गृहशोचिनः गृहानुद्दिश्य शोचन्त इत्यर्थः, अध्वगान्= प्रोषितान् पथिकान्, अवन्तमिव = रक्षन्तमिव, अमन्यत = ज्ञातवान्। अस्त्रभीरूणां तद्गोपनमेव रक्षणाय— इति भावः।

हिन्दी अनुवाद—एषः = इस (राजा) नल ने, पल्लवैः = नूतन पत्रों के रूप में, प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् = कामदेव के जलते हुए (दीप्तिमान्) अस्त्रसमूह को धारण किये हुए, अशोकम् = अशोकनामक वृक्ष को, अर्थान्वितनामताशया = यथार्थ नाम [शोक-रहित] से युक्त होने को आशा से, शरण्यम् = शरणागत रक्षक तथा, गतान् = पास में प्राप्त हुए अथवा आये हुए, गृहशोचिनः = [विरह के कारण] पत्नी की चिन्ता करने वाले, अध्वगान् = पथिकों की, अवन्तमिव = रक्षा करते हुए के समान, अमन्यत = माना अथवा समझा।

भावार्थ— ''शोकरहित'' को 'अशोक' कहा जाता है। ऐसे सार्थक नाम की आशा से पास में गये हुए, अपनी अपनी स्त्रियों के बारे में चिन्ता मग्न परदेश जाते हुए पथिकों की, पल्लवों के द्वारा कामदेव के जलते अस्त्र सदृश कलियों के गुच्छों को छिपाये हुए [अथवा— लाल-लाल नवीन कोपलों से कामदेव के जलते हुए अस्त्र को अपने शरीर पर ग्रहण किये हुए, अतएव] शरण में आये हुए लोगों के लिये साधु (श्रेष्ठ) अशोक को राजा नल ने अपने रक्षक के रूप में माना [अथवा— कामदेव के जलते हुए अस्त्र को स्वीकार कर परदेश गये हुए पथिकों को पल्लवों से मारते हुए अशोक के वृक्ष को राजा नल ने वध करने वालों में श्रेष्ठ माना।]।

संसार में भी देखने को मिलता है, कि सज्जन पुरुष शरण में आये हुए व्यक्ति की रक्षा अवश्य किया करते हैं, चाहे उन्हें उसके शत्रुओं के अस्त्रों के प्रहारों को क्यों न सहन करना पड़े। ऐसे ही अशोक का वृक्ष भी अपने सार्थक नाम से युक्त था। वह अपनी शरण में आये हुए काम-बाणों से आहत पथिकों को शोक रहित करने में समर्थ था। अतः राजा नल ने अशोक वृक्ष को सार्थक नाम से युक्त समझा।

अथवा— जो पथिक अशोक वृक्ष की शरण में रक्षार्थ गये थे उनको अशोक वृक्ष ने अपने कलियों के गुच्छों के रूप में विद्यमान कामास्त्रों द्वारा मारा [अर्थात् अशोक वृक्ष के नवीन रक्तवर्ण के पत्तों से अच्छादित कलियों के

गुच्छों को देखकर राजा नल की काम-पीड़ा और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त हुई। अतएव राजा नल ने उस अशोक वृक्ष को वध करने वालों में श्रेष्ठ माना।

अलङ्कार– उक्त श्लोक में सापह्नव उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

व्याकरण–अर्थान्वितनामता = अर्थान्वितनामन् + तल् + टाप्। **शरण्यम्** = शरण + यत्। **गृहशोचिनः** = गृह = शुच् + णिनि (कर्त्ता अर्थ में)। **अवन्तम्** = अव + लट्–शतृ।

समास–प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् = ज्वलन्ति अस्त्राणि ज्वलम्स्त्राणि (कर्मधारय) तेषां जालकम् इति ज्वलदस्त्रजालकम्, कामस्य ज्वलदस्त्रजालकम्, (षष्ठी तत्पु०), प्रतीष्टं कामज्वलदस्त्रजालकम् येन सः (बहुव्रीहि), तम्। **अर्थान्वितनामताशया** = अर्थेन अन्वितम् – अर्थान्वितम् (तृतीया तत्पु०), अर्थान्वितं नाम यस्य स अर्थान्वितनामा (बहुव्रीहि), तस्य भावः अर्थान्वितनामता, तस्याः आशा (षष्ठी तत्पु०) इति अर्थान्वितनामताशा तया। **शरण्यम्** = शरणे साधुः शरण्यः। **गृहशोचिनः** = गृहान् शोचन्तीति गृहशोचिनः।

टिप्पणियाँ–पल्लवैः = नवीन पत्तों (कोपलों) के द्वारा। **प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम्** = (विशेषण) इस पद के कई अर्थ हो सकते हैं (१) पल्लवों द्वारा आच्छादित कर लिया है कामदेव के जलते हुए अस्त्र समूह को जिसने। अर्थात् अशोक वृक्ष ने कामदेव के अस्त्रों के प्रहार को पथिकों पर नहीं होने दिया प्रत्युत अपने पल्लवों द्वारा उनको छिपा लिया अथवा ढक लिया। इसी कारण उसके पल्लव रक्तवर्ण के हो गये। (२) मल्लिनाथ ने "प्रतीष्ट" का अर्थ "ढका हुआ" किया है और "अस्त्र जालकं" में रूपक की कल्पना की है। उनके अनुसार अर्थ होगा– अपने पल्लवों द्वारा ढक लिये हैं कामदेव के जलते हुए अस्त्र रूपी जाल को (पुष्पगुच्छक) जिसने। अर्थात् पुष्पों के गुच्छ ही कामदेव के जलते हुए अस्त्र थे। उनको छिपाने मात्र से अशोक वृक्ष पथिकों की रक्षा करने में समर्थ हो रहा था। "क्षारको जालकं क्लीबे कलिका कोरकः समान्" इत्यमरः।

अर्थान्वितनामताशया = सार्थक नाम से युक्त होने की आशा से। कहने का तात्पर्य यह है कि "अशोक" शब्द का अर्थ ही है जिससे शोक न हो अथवा जो शोक से रहित हो। उसी अर्थ को ध्यान में रखते हुए पथिक लोग अशोक वृक्ष की शरण में इसी आशा से जाया करते हैं कि वह हमारे "शोक" को दूर कर देगा। **शरण्यम्** = शरणागतों का रक्षक अथवा शरणागतवत्सल। "शरणं वधरक्षित्रोः शरणं रक्षणे गृहे" इति विश्वः। **गृहशोचिनः** = अपनी अपनी पत्नियों की चिन्ता करने वाले। "गृहः पत्न्यां गृहे स्मृतः" इति विश्वः। **अध्वगान्** = पथिकों को, राहगीरों को। **अवन्तम्** = रक्षा करते हुए। **अमन्यत** = माना अथवा समझा।

प्रसङ्ग— उस उद्यान में नृत्य, गीत एवं वाद्य रूप संगीत के द्वारा राजा नल की सेवा की गयी—

विलासवापीतटवीचिवादनात्
पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात्।
वनेऽपि तौर्य्यत्रिकमारराध तं क्व
भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः॥१०२॥

मल्लिनाथकृत-टीका—विलासेति। विलासवापी विहारदीर्धिका तस्यास्तटे वीचीनां वादनात्पिकानामलीनाञ्च गीतेर्नानात् शिखिनां मयूराणां लास्यलाघवात् नृत्यनैपुण्यात् च वनेऽपि तं नलं तौर्य्यत्रिकं नृत्य गीत वाद्य त्रयं कर्त्तृ, आरराध आराधयामास। तथा हि- भाग्यभाक् भाग्यवान् जनः क्व भुज्यत इति भोगः तं सुखं नाप्नोति सर्वत्रैकप्नोतीत्यर्यः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥१०२॥

अन्वय—विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात् तौर्य्यत्रिकं वने अपि तं आरराध। भाग्यभाक् जनः क्व भोगं न आप्नोति।

संस्कृत-व्याख्या—विलासवापीतटवीचिवादनात्= विलासवापी विहारदीर्घिका तस्याः तटे तीरे वीचीनां तरङ्गाणां वादनात् नादात्,

पिकालिगीतेः= पिकानां कोकिलानां अलीनां च भ्रमराणां च गीतेः गानात्, शिखिलास्यलाघवात् = शिखिनां मयूराणां लास्यलाघवात्, नृत्यनैपुण्यात्, तौर्य्यत्रिकम् = नृत्यगीतवाद्यत्रयम्, वने अपि= उद्यानेऽपि, तम्= नलम्, आरराध = आराधयामास। भाग्यभाक्= भाग्यवान्, जनः=पुरुषः, क्व = कुत्र, भोगम् = सुखं सुखसाधनं वा, न आप्नोति = न प्राप्नोति ? सर्वत्रैवाप्नोतीत्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद—विलासवापीतटवीचिवादनात् = क्रीड़ा करने सम्बन्धी वावली के किनारे तरंगों के वादन द्वारा, पिकालिगीतेः = कोयलों तथा भ्रमरों के गीत द्वारा, शिखिलास्यलाघवात् = मयूरों द्वारा किये गये विशिष्ट नृत्य द्वारा, तौर्य्यत्रिकम् = नृत्य, गीत और वाद्य— तीनों प्रकार के संगीत द्वारा, वने अपि = उस उद्यानरूपी वन में भी, तम् = उस राजा नल की, आरराध = आराधना (सेवा) की गयी। [क्योंकि] भाग्यभाक् = भाग्यशाली, जनः = पुरुष, क्व = कहाँ, भोगम् = सुख अथवा सुख सम्बन्धी साधनों से प्राप्त किये जाने वाले भोग को, न आप्नोति = नहीं प्राप्त कर लिया करता है ? अर्थात् भाग्यशाली पुरुष सभी स्थानों पर आवश्यक भोगों की प्राप्ति कर ही लिया करते हैं।

भावार्थ— क्रीड़ा सम्बन्धी बावड़ी के किनारे पर तरङ्गों के बजने (शब्द करने) से, कोयलों और भ्रमरों के गान से तथा मयूरों द्वारा प्रस्तुत किये गये नृत्य-चातुर्य से वन में भी उस राजा नल की वादन, गायन तथा नर्तन रूप संगीत ने सेवा की। भाग्यशाली पुरुष कहाँ पर भोग की प्राप्ति नहीं कर पाता है ? अर्थात् भाग्यशाली व्यक्ति भोग-विलास सम्बन्धी साधनों को सर्वत्र ही प्राप्त कर लिया करता है।

यद्यपि विरही राजा नल के लिये वे सभी भोग-साधन (वादन आदि) कामोद्दीपक ही थे तथापि वन की बावली, वृक्ष एवं प्राणियों द्वारा राजा को सुख पहुँचाना उनका कर्तव्य था। इस कारण वे सभी अपने अपने कर्तव्य में संलग्न थे। राजा नल अपने महल में काम-पीड़ा से संतप्त थे और वे उस उद्यान में विनोदार्थ आये थे। अतएव उद्यान में विद्यमान सभी चर, अचर पदार्थों और प्राणियों का कर्तव्य था कि वे उनक विनोद करें।

इस भाँति यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि काम-पीड़ा की शान्ति हेतु राजा नल उस उद्यान में पधारे थे किन्तु फिर भी वे वहाँ पर अपनी काम-पीड़ा से छुटकारा न प्राप्त कर सके।

अलङ्कार— इस श्लोक में सामान्य द्वारा विशेष का समर्थन किये जाने के कारण '' अर्थान्तरन्यास'' नामक अलङ्कार है।

व्याकरण—**तौर्य्यत्रिकम्** = तूर्य + अण् = तौर्य। **आरराध** = आ + रा + लिट्। **भाग्यभाक्** = भाग्य + भज् + ण्वि।

समास—**विलासवापीतटवीचिवादनात्** = विलासार्थ वापी विलास वापी (चतुर्थी तत्पु०), तस्या: तटम् (षष्ठी तत्पु०) इति विलासवापीतटम्, तस्मिन्, वीचिवादनम् [वीचीनां वादनम् (षष्ठी तत्पु०) वीचीवादनम्], तस्मात्। **पिकालिगीते:** = पिकाश्च अलयश्च इति पिकालय: (द्वन्द्व), तेषां गीति: इति, तस्या। **शिस्त्रिलास्यलाघवात्** = शिखिनां लास्यं—शिखिलास्यम्, तस्य लाघवम्, (षष्ठी तत्पु०), तस्मात्। **तौर्य्यत्रिकम्** = तौर्य्याणां त्रिकम् (षष्ठी तत्पु०) इति तौर्य्यत्रिकम्। **भाग्यभाक्** = भाग्यं भजते इति भाग्यभाक्।

टिप्पणियाँ—**विलासवापीतटवीचिवादनात्** = विहार अथवा क्रीड़ा के निमित्त बनायी गयी वावली के किनारे तरङ्गों (लहरों) के वादन (शब्द) से। **पिकालिगीते:** = कोयलों तथा भ्रमरों के गान से। **शिस्त्रिलास्यलाघवात्** = मोरों के द्वारा किये गये नृत्य-चातुर्य्य से। **तौर्य्यत्रिकम्** = वाद्य, गीत और नृत्य- इन तीनों के समुदाय का ही नाम तौर्य्यत्रिक है। **आरराध** = आराधना अथवा सेवा की। **भाग्यभाक्** = भाग्यशाली अथवा भाग्यवान्। **आप्नोति** = प्राप्त करता है।

प्रसङ्ग— अभ्यस्त तोतों (शुकों) के द्वारा नल की स्तुति की गयी तथा शिक्षित सारिकाओं ने उसके पौरुष का गान किया—

तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ता: पटवस्तमस्तुवन्।
स्वरामृतेनोपजगुश्च शारिकास्तथैव तत्पौरुषगायनीकृता:॥१०३॥

मल्लिनाथकृत-टीका—तदर्थमिति। जनेन सेवकजनेन तदर्थं नलप्रीत्यर्थमध्याप्य स्तुतिं पाठयित्वा तस्मिन् वने विमुक्ता विसृष्टाः पटवः स्फुटगिरः शुकास्तं नलमस्तुवन्। तथैव शुकवदेव तदर्थमध्याप्य मुक्ताः तत्पौरुषस्य नलपराक्रमस्य गायिन्यो गायकाः कृता गायनीकृताः शारिकाः शुकवध्वः स्वरामृतेन मधुरस्वरेणेत्यर्थः उपजगुश्च॥१०३॥

अन्वय— जनेन तदर्थं अध्याप्य तद् वने विमुक्ताः पटवः शुकाः तं अस्तुवन्। च तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः शारिकाः स्वरामृतेन उपजगुः।

संस्कृत-व्याख्या— जनेन= सेवकजनेन, तदर्थम् = नलप्रीत्यर्थं, अध्याप्य = स्तुतिं पाठयित्वा, तद्वने= तस्मिन् उद्याने, विमुक्ताः= विसृष्टाः पटवः = स्फुटगिरः, शुकाः = कीराः, तम्= नलम्, स्तुवन् = तुष्टुवः। च तथैव= तेनैव प्रकारेण (शुकवदेव-इत्यर्थः), तत्पौरुषगायनीकृताः = तत्पौरुषस्य नलपराक्रमस्य गायिन्यः गायकाः कृता गायनीकृताः, शारिकाः = शुकबध्वः स्वरामृतेन = मधुरस्वरेण-इत्यर्थः, उपजगुः = अगायन्।

हिन्दी अनुवाद—जनेन = सेवक जनों के द्वारा, तदर्थम् = नल को प्रसन्न करने के लिये, अध्याप्य = सिखा पढ़ाकर, तद्वने = उस उद्यान में, विमुक्ताः = छोड़े गये हुए, पटवः =स्पष्ट वाणी से युक्त अथवा चतुर, शुकाः = शुकों (तोतों) ने, तम् = उस राजा नल की, अस्तुवन् = स्तुति की। च = और, तथैव = उसी प्रकार से [शुकों के ही समान], तत्पौरुषगायनीकृताः = उस राजा नल के पराक्रम का गायन करने वाली, शारिकाः = मैनाओं ने, स्वरामृतेन = अमृत सदृश मधुर स्वर द्वारा, उपजगुः = [उस राजा नल के पराक्रम का] गान किया।

भावार्थ— उस राजा नल को प्रसन्नता प्रदान करने के लिये भली-भाँति शिक्षित किये गये हुए चतुर स्पष्ट उच्चारण करने में दक्ष अथवा अभ्यस्त [स्तुति का उचित रूप में उच्चारण करने में समर्थ] शुकों (तोतों) द्वारा उस राजा नल की स्तुति की गयी। और उसी भाँति राजा नल के पराक्रम संबन्धी गानों का गान करने में अभ्यस्त एवं शिक्षित सारिकाओं (मैनाओं) ने भी अमृत तुल्य मधुर स्वर से राजा नल के पुरुषार्थ एवं पराक्रम का गान किया।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में जाति अलङ्कार है।

व्याकरण—अध्याप्य = अधि + इ + णिच्, पुक् + क्त्वा— ल्यप्। तत्पश्चात् ''क्रीड्जीनां णौ'' सूत्र से आत्व। **गायनी** = गै + ण्युट्— अन् + ङीप्। **गायनीकृता:** = गायनी + च्वि + कृ + क्त +टाप्। **उपजगु:** = उप + गै + लिट्—झि—उस् दित्व—आदि होकर।

समास—तत्पौरुषगायनीकृता: = तस्य पौरुषं इति तत्पौरुषम्, तस्य गायनमीकृता: (षष्ठी तत्पु०)। **स्वरामृतेन** = स्वर: अमृतमिव इति स्वरामृतम् (उपमित समास) तेन।

टिप्पणियाँ—जनेन = सेवक लोगों द्वारा अथवा लोक के द्वारा। **तदर्थम्** = उस राजा नल को प्रसन्नता प्रदान करने के निर्मित्त। **अध्याप्य** = शिक्षित अथवा अभ्यस्त—सिखा पढ़ाकर। **विमुक्ता:** = छोड़े गये हुए। **पटव:** = चतुर, स्पष्ट वाणी से युक्त **अस्तुवन्** = स्तुति की। **तथैव** = उसी प्रकार से कि जैसे शुकों को शिक्षित किया गया था उसी प्रकार से भली भाँति सिखायी पढ़ायी गयी हुई। **तत्पौरुषगायनीकृता:** = उस राजा नल के पुरुषार्थ अथवा पराक्रम सम्बन्धी गानों को गाने में शिक्षित की गयी हुई। **स्वरामृतेन** = अमृत सदृश मधुर स्वर के साथ। **उपजगु:** = गान किया।

प्रसङ्ग— इस भाँति वन में भ्रमण करते हुए शुकों एवं सारिकाओं से स्तुत होने पर भी राजा नल ने केवल बाहरी आनन्द की तो अनुभूति की किन्तु दमयन्ती-विरह के कारण आन्तरिक आनन्द की अनुभूति वे न कर सके—

इतीष्टगन्धाढ्यमटन्नसौ वनं पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च।
अविन्दतामोदमरं बहिश्चरं विदर्भसुभ्रूविरहेण नान्तरम्॥१०४॥

मल्लिनाथकृत-टीका— इतीति। इतीत्थमिष्टगन्धाढ्यमिष्टसौगन्ध्यसम्पन्नं वनमटन्, 'देशवालाध्वग-तव्या कर्मसंज्ञा ह्यकर्म्मणामि'ति वनस्य देशत्वात् कर्म्मत्वम्। असौ नल: पिकै: कोकिलैरुपगीतोऽपि शुकै: स्तुतोऽपि च परं केवलं 'परं स्यादुत्तमानाप्तवैरिदूरेषु केवल' इति विश्व:. बहिरामोदभरं सौरभ्यातिरेक-

मेवाविन्दत विदर्भसुभ्रूविरहेण हेतुना आन्तरमामोदभर-मानन्दातिरेकरूपन्नाविन्दत न लब्धवान्, प्रत्युत दुःखमेवान्वभूदिति भावः 'आमोदो गन्धहर्षयोरि'ति विश्वः॥१०४॥

अन्वय— इतिष्टगन्धाढ्यं वनं अटन् पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च बहिश्चरं आमोदमरं अविन्दत विदर्भसुभ्रूविरहेण आन्तरं [आमोदभरं न अविदन्त]।

संस्कृत-व्याख्या—इति = इत्थम्, इष्टगन्धाढ्यम् = इष्टेन अभीष्टेन गन्धेन आढ्यम् समृद्धम्, वनम् = उद्यानम्, अटन्= भ्रमन् [सन्], पिकोपगीतोऽपि= पिकैः कोकिलैः उपगीतः स्तुतः अति, शुकस्तुतः अपि= शुकैः कीरैः स्तुतः अपि, च असौ= नलः, बहिश्चरम्= बाह्यम्, आमोदमरम् = हर्षातिशयम्, अविन्दत= लब्धवान्। विदर्भसुभ्रूविरहेण= विदर्भसुभ्रूः दमयन्ती तस्याः विरहेण वियोगेन, आन्तरम् = आन्तरिकम्, [आमोदभरम्], न=नहि, अविन्दत= लब्धवान्।

हिन्दी अनुवाद—इति = इस प्रकार, इष्टगन्धाढ्यम् = अभीष्ट गन्ध से समृद्ध, वनं अटन् = वन में भ्रमण करते हुए, पिकोपगीतोऽपि = कोयलों द्वारा गान किये जाने पर भी, शुकस्तुतः अपि = शुकों द्वारा स्तुति किये जाने पर भी, असौ = इस राजा नल ने, बहिश्चरम् = बाह्य, आमोदमरम् = आनन्दातिशय को, अविन्दत = प्राप्त किया, किन्तु विदर्भसुभ्रूविरहेण = विदर्भसुन्दरी (दमयन्ती) के विरह के कारण, आन्तरम् = आन्तरिक, आमोदभरम् = आनन्द को, न अविदन्त = नहीं प्राप्त किया।

भावार्थ— इस प्रकार अभीष्ट सुगन्ध आदि से परिपूर्ण उद्यान में भ्रमण करते हुए तथा कोयलों एवं शुकों द्वारा अपने गान तथा स्तुति द्वारा प्रसन्न कर दिये जाने पर भी उस राजा नल ने बाहरी आनन्द की तो अनुभूति की किन्तु दमयन्ती के विरह के कारण आन्तरिक (हार्दिक) आनन्द की अनुभूति उनको न हो सकी।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में आनन्द प्राप्ति की सम्पूर्ण सामग्री के विद्यमान होने पर भी राजा को आन्तरिक आनन्द की अनुभूति हो सकने रूपी कार्य के न होने के कारण '' विशेषोक्ति'' अलङ्कार है।

व्याकरण—बहिश्चरम् = बहिस् + चर् +ट। **आन्तरम्** + अन्तर् + अण्।

समास—इतिष्टगन्धाढ्यम् = इष्टोगन्धः (कर्मधारय) इति इष्टगन्धः तेन धाढ्यम् (तृतीया तत्पु) **बहिश्चरम्** = बहिः चरतीति वहिश्चरम्।

टिप्पणियाँ—इतिष्टगन्धाढ्यम् = अपने को प्रिय सुगन्ध आदि से परिपूर्ण। **अटन्** = घूमते हुए। **बहिश्चरम्** = बाह्य, बाहरी। **आमोदमरम्** = हर्षातिशय को, आनन्द को। **अविन्दत** = प्राप्त किया। **विदर्भसुभ्रूविरहेण** = विदर्भ देश की सुन्दर भौंहों वाली ''दमयन्ती'' के विरह के कारण। **आन्तरम्** = आन्तरिक, भीतरी, हार्दिक।

प्रसङ्ग— उस उद्यान में भ्रमण करते हुए राजा नल कामदेव के तुल्य ही समझे गये—

करेण मीनं निजकेतनं दधद् दुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया।
व्यतर्कि सर्वर्तुघने वने मधुं स मित्रमत्रानुसरन्निव स्मरः॥१०५॥

मल्लिनाथकृत-टीका— करेणेति। स नलः निजकेतनं निजलाञ्छनं मीनं दुमालवालाम्बु निवेशशङ्कया प्रवेशभिया करेण दधत् तादृक् शुभरेखाव्याजेन दधान इत्यर्थः, सर्वर्तुधने सर्वर्तुसङ्कुले अत्र अस्मिन् वने मित्रं सखायं मधुं वसन्तमनुसरन् अन्विष्यन् स्मर इव व्यतर्कि इत्युत्प्रेक्षा॥१०५॥

अन्वय— स निजकेतनं मीनं दुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया करेण दधत् सर्वर्तुघने अत्र वने मित्रं मधुं अनुसरन् स्मर इव व्यतर्कि।

संस्कृत-व्याख्या—स= नलः, निजकेतनम् = निज (चक्रवर्ति—) चिह्नम्, मीनम्, लक्षणभूतरेखारूपमत्स्यम्, दुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया = दुमाणां वृक्षाणां आलवालेषु आवाषेशु यत् अम्बु जलं तस्मिन् निवेशः प्रवेशः तस्य शङ्कया भिया, करेण=हस्तेन, दधत् = धारयन्, सर्वर्तुघने =सर्वर्तुसङ्कुले,

अत्र= अस्मिन्, वने= विपिने, मित्रम् = सखायम्, मधुम्= वसन्तम्, अनुसरन् = अन्विष्यन्, स्मर इव, काम इव, व्यतर्कि = अमन्यत तत्रस्थजनैरिति शेषः।

हिन्दी अनुवाद—सः = वे राजा नल, निजकेतनं मीनम् = अपने (चक्रवर्ती होने सम्बन्धी) चिह्न स्वरूप मत्स्य (मछली की रेखा) को, द्रुमालवालाम्बु-निवेशशङ्कया = वृक्षों के आलवाल (थावलों के) के जल में प्रविष्ट हो जाने की शंका से, करेण दधत् = हाथ में धारण किये हुए, सर्वर्तुघने = सम्पूर्ण ऋतुओं से व्याप्त, अत्र वने = इस वन में, मित्र मधुम् = [अपने] मित्र वसन्त को, अनुसरन् = खोजते हुए, स्मर इव = कामदेव के सदृश, व्यतर्कि = समझे गये।

भावार्थ— उस उद्यान में विद्यमान सभी लोगों ने राजा नल को साक्षात् कामदेव की समझा उस वन में सभी ऋतुयें विद्यमान थीं। राजा नल द्वारा ऋतुराज वसन्त का अनुगमन किया जा रहा हो, ऐसा प्रतीत हो रहा था। चक्रवर्ती होने की दृष्टि से उनके हाथ में मत्स्य का चिह्न भी था। अतः मकरः केतन तथा वसन्त का मित्र होने के नाते वहाँ स्थित लोगों ने राजा को कामदेव ही समझा। उस वन में सभी ऋतुयें विद्यमान थीं। राजा नल द्वारा ऋतुराज वसन्त का अनुगमन किया जा रहा हो, ऐसा प्रतीत हो रहा था। चक्रवर्ती होने की दृष्टि से उनके हाथ में मत्स्य का चिह्न भी था। अतः मकरकेतन तथा वसन्त का मित्र होने के नाते वहाँ स्थित लोगों ने राजा को कामदेव ही समझा।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में अनुप्रास तथा उत्प्रेक्षा दोनों ही अलङ्कार प्रयुक्त हुए हैं।

व्याकरण—दधत् = धा + शतृ। **व्यतर्कि** = वि + तर्क् + लुङ् [कर्म में]।

समास—**द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया** = आल्यते खन्यते इति आलवालम्, द्रुमाणां आलवालनि (षष्ठी तत्पु०) इति द्रुमालवालानि, तेषु अम्बु, तस्मिन् निवेशः इति द्रुमालवालाम्बुनिवेशः, तस्य शङ्का (षष्ठी तत्पु०), तया। **सर्वर्तुघने** = सर्वे च ते ऋतवः (कर्मधारय) सर्वर्तवः, तैः घनम् इति सर्वर्तुघनम् तस्मिन्।

टिप्पणियाँ—निजकेतनम् = अपना चिह्न। **मीनम्** = मछली-राजा नल के हाथ में मछली (मत्स्य) की रेखा थी जो कि चक्रवर्ती राजा होने की सूचक कही गयी है। कामदेव का ध्वज भी मत्स्य के चिह्न से युक्त हुआ करता है। **द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया** = वृक्षों के आलवाल (थालों) के पानी में प्रविष्ट हो जाने के भय से। "स्यादालवालमावालमावापः" इत्यमरः। **करेण** = हाथ से। **दधत्** = धारण किये हुए—पकड़े हुए। **सर्वर्तुघने** = सभी ऋतुओं से युक्त। **अनुसरन्** = अनुसरण करते हुए—खोजते हुए। **व्यतर्कि** = संभावित किये गये अथवा समझे गये अथवा समझा।

विशेष— राजा नल के हाथ में मकर रेखा का चिह्न विद्यमान था जिसे चक्रवर्ती होने का लक्षण माना जाता है। दैवत-कथा के अनुसार कामदेव का ध्वजचिह्न भी 'मकर' माना गया है। अतः यहीं पर यह उत्प्रेक्षा की गयी है कि मानों नल साक्षात् कामदेव ही था जिसने अपने ध्वजचिह्न मकर को इस भय से कि कहीं वह वृक्षों के आलवाल (थावलों) के जल में प्रविष्ट न हो जाय, हाथ में ही पकड़ रखा था और जो एक साथ ही सभी ऋतुओं से संयुक्त उस वन में, अपने मित्र वसन्त को खोजने के निमित्त आया हुआ था।

प्रसङ्ग— वन (अथवा उद्यान) की वायु ने भी राजा नल की सेवा की—

लताऽबलालास्यकलागुरुस्त-
रुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः।
असेवतामुं मधुगन्धवारिणि
प्रणीतलीलाप्लवनो वनामिलः॥१०६॥

मल्लिनाथकृत-टीका— लतेति। लता एवाबलास्तासां लास्यकलासु मधुरनृत्तविद्यासु गुरुरुपदेष्टेति मान्द्योक्तिः, तरुप्रसूनगन्धोत्कारणां द्रुमकुसुमसौरभ-सम्पदां पश्य तोहरः पश्यन्तमनादृत्य हरः प्रसह्यापहर्त्तेत्यर्थः। 'पश्यतो हो हरत्यर्थं स चौरः पश्यतोहरः' इतिहलायुधः पचाद्यच् 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी। 'वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेष्वि'ति वक्तव्यादलुक्।

सौरभ्ययुक्तं मधमकरन्द एव गन्धवारि गन्धोदकं तत्र प्रणीतलीलाप्लवनः। एतेन कृतलीलावगाहन इति शैत्योक्तिः, ईदृग्वनानिलोऽमुं नलमसेवत गुणवान् सेवकः सेव्यप्रियो भवतीति भावः॥१०६॥

अन्वय— लताबलालास्यकलागुरुः तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः मधुगन्धवारिणि वारिणि प्रणीतलीलाप्लवनः वनामिलः अमुं असेवत्।

संस्कृत-व्याख्या— लताबलालास्यकलागुरुः= लतारूपः अबलाः स्त्रियः तासां लास्यकला नृत्यविद्या तस्याः गुरुः शिक्षकः, तरुप्रसूनगन्धोत् करपश्यतोहरः= तरूणा प्रसूनानि पुष्पाणि तेषां गन्धोत्करस्य गन्धसमूहस्य पश्यतोहरः चौरः— [प्रसह्य अपहर्त्ता-इत्यर्थः], मधुगन्धवारिणि = मधुमकरन्द एव गन्धवारि गन्धोदकं तस्मिन्, प्रणीतलीलाप्लवनः = प्रणीतं कृतं लीला प्लुवनं जलक्रीड़ा येन तादृशः, वनामिलः = उद्यानवातः, अमुम्= नलम्, असेवत् = सेवितवान्। गुणी सेवकः सेव्यप्रियो भवतीत्यभिप्रायः।

हिन्दी अनुवाद—लताबलालास्यकलागुरुः = लतारूपी स्त्रियों को नृत्यकला सिखाने वाले, तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः = वृक्षों के पुष्पों से गन्ध-समूह का अपहरण करने वाले, मधुगन्धवारिणि = मकरन्द रूपी गन्धयुक्त जल में, प्रणीतलीलाप्लवनः = जलक्रीड़ा करने वाले [अथवा पराग से सुगन्धित जल में क्रीड़ा करने वाले], वनामिलः = वन या उद्यान की वायु ने, अमुम् = राजा नल की, असेवत् = सेवा की।

भावार्थ— लतारूपिणी नायिका को नृत्यकला सिखलाने वाले, वृक्षों के फूलों से गन्धसमूह को हरण करने वाले तथा पुष्परस रूपी सुगन्धित जल में [अथवा— राजा नल के 'मधुगन्ध' नामक सरोवर के जल में] क्रीड़ा करने वाले वायु ने राजा नल की सेवा की। उपर्युक्त तीनों विशेषणों द्वारा वायु का मन्द, सुगन्ध तथा शीतल होना सूचित होता है। राजा नल के लिये यह शुभशकुन का सूचक है।

अलङ्कार— इस श्लोक में रूपक तथा अनुप्रास अलङ्कार है जो कि स्पष्ट ही है।

व्याकरण—पश्यतोहर: = पश्यत: + हृ + अच्। इस स्थल पर ''षष्ठी चानादरे'' **सूत्र** से षष्ठी विभक्ति हुई तथा ''वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु'' से षष्ठी का 'अलुक' हो गया है।

समास—लताबलालास्यकलागुरु: = लतारुपा: अबला:—इति लताबला: तास्रां लास्यकला, तस्या: गुरु [षष्ठी तत्पु०]। **तरुप्रसूनगन्धोत्कर-पश्यतोहर:** = पश्यन्तमनादृत्य हरति य: स पश्यतोहर:। तरूणां प्रसूनानि इति तरुप्रसूनानि तेषां गन्धोत्करस्य पश्यतोहर:— इति। **मधुगन्धवारिणि** = मधु एव गन्धवारि तस्मिन्। अथवा मधुन: गन्ध: मधुगन्ध: तेन युक्तं वारि, तस्मिन्। **प्रणीतलीलाप्लवन:** = प्रणीतं लीलाप्लवनं येन स: (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—लताबलालास्यकलागुरु: = लतारूपी स्त्रियों को लास्य नृत्य सिखलाने वाले। **तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहर:** = वृक्षों के पुष्पों की सुगन्धिसमूह का अपहरण-कर्त्ता (अथवा-चोर) ''पश्यतो हरत्यर्थं स चौर: पश्यतोहर:'' इति हलायुध:। **मधुगन्धवारिणि** = मधुररस रूपी सुगंधित जल में अथवा पराग से सुगन्धित जल में। कुछ विद्वानों का कथन है कि ''मधुगन्ध'' नामक कोई सरोवर नल के उद्यान में विद्यमान था। **प्रणीतलीलाप्लवन:** = जलक्रीड़ा करने वाला अथवा क्रीड़ा के साथ तैरने वाला।

प्रसङ्ग— राजा नल ने अपने उस उद्यान में स्थित क्रीड़ा सरोवर को समुद्र के समान देखा—

अथ स्वमादाय भयेन मन्थनाच्चिररत्नाधिकमुच्चितं चिरात्।
निलीय तस्मिन्निवसन्नपान्निधिर्वने तडागो ददृशेऽवनीभुजा॥१०७॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अथेति। अथ वनावलोकनानन्तरं मन्थनाद्भयेन धनार्थं पुनर्मथिष्यतीति भयादित्यर्थ: चिरादुच्चितं सञ्चितं चिरत्नं चिरन्तनं 'चिरपरुत्परादिभ्यस्त्नो वक्तव्य' इति त्न प्रत्यय:। तच्च तद्ररत्नाधिकं श्रेष्ठस्तु भूयिष्ठं चेति चिरत्नरत्नाधिकं 'रत्नं क्षवजातौ श्रेष्ठेऽपी'त्यमर:। स्वं धनमादाय

तस्मिन् वने निलीयान्तर्धाय निंवसन् वर्त्तमानोऽपान्निधिरिवेत्प्रयुत्प्रेक्षा। तेन नलेन तडागः सरोविशेषोऽवनीभुजा राज्ञा ददृशे दृष्टः॥१०७॥

अन्वय– अथ अवनीभुजा मन्थनात् भयेन चिरात् उच्चितं चिरत्नरत्नाधिकं स्व आदाय तस्मिन् वने निलीय निवसन् अपान्निधिः [इव] तडागः ददृशे।

संस्कृत-व्याख्या–अथ= वनावलोकनानन्तरम्, अवनीभुजा = राज्ञा, भयेन= धनार्थं पुनः मथिष्यति-इति भयादित्यर्थः, चिरात्= बहुकालेन, उच्चितम् = संचितम्, चिरत्नरत्नाधिकम् = चिरत्नं चिरातनं पुरातनं वा रत्नाधिकं श्रेष्ठवस्तुभूयिष्ठम्, स्वम् =धनम्, आदाय= गृहीत्वा, तस्मिन्, वने= विपिने, निलीय= अन्तर्धाय, निवसन्=वर्तमानः, अपान्निधिः = समुद्रः, इव, तडागः= सरोविशेषः, ददृशे = दृष्टः।

हिन्दी अनुवाद–अथ = वन का अवलोकन करने के पश्चात् अवनीभुजा = उस राजा नल ने, मानो, मन्थनात् भयेन = मन्थन किये जाने के भय से, चिरात् उच्चितम् = चिरकाल से संचित, चिरत्नरत्नाधिकम् = पुरातनकाल से ही एकत्रित किये गये हुए रत्नों से युक्त, स्वम् = सम्पत्तिकों, आदाय = लेकर तस्मिन् = उस, वने = वन में, निलीय = छिपकर, निवसन् = निवास करता हुआ, अपान्निधिः = समुद्र ही हो इस रूप में उस, तडागः = विशिष्ट सरोवर को, ददृशे = देखा।

भावार्थ– उस राजा (नल) ने बहुत समय से वृद्धि को प्राप्त हुए, मन्थन के भय से (कहीं मेरा मंथन न किया जाय– इस भय के कारण) अपने, प्राचीनकाल में विद्यमान रत्नों रूपी सम्पत्ति को लेकर राजा के उस उद्यान में आकर छिपे हुए रूप में विद्यमान समुद्र को ही क्रीड़ासार के रूप में देखा।

समुद्र को भय था की कहीं मेरा मंथन पुनः न किया जाय। अतः वह अपने अन्दर विद्यमान रत्न आदि लेकर राजा नल के उस उद्यान में आकर विशिष्ट सरोवर के रूप में स्थित हो गया था। ऐसे उस सरोवर को राजा नल ने देखा।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में उत्प्रेक्षा (जो कि स्पष्ट ही है) तथा अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

व्याकरण—अवनीभुजा = अवनी + भुज् + क्विप्, [तृतीया विभक्ति एकवचन]। **मन्थनात्** = मे "भीत्रार्थानां भयहेतुः" सूत्र द्वारा पंचमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। **चिरत्न** = चिर + त्न—"चिरपरुत्परादिभ्यस्त्नो वाच्यः" वार्तिक से 'त्न'। **निलीय** = नि + ली + ल्यम्। **ददृशे** = दृश् + लिट् (कर्मवाच्य)।

समास—अवनीभुजा = अवनीं (पृथ्वीं) भुनक्ति इति अवनीभुक् तेन। **चिरत्नरत्नाधिकम्** = चिररत्नानि रत्नानि (कर्मधारय) इति चिरत्नरत्नानि तैः अधिकम्।

टिप्पणियाँ—अवनीभुजा = राजा (नल) ने। **उच्चितम्** = संचित, समृद्ध अथवा वृद्धि को प्राप्त हुए। **चिरत्नरत्नाधिकम्** = पुरातनकाल से ही विद्यमान रत्नों के आधिक्य से युक्त। "रत्नं स्वजातौ श्रेष्ठेऽपि" इत्यमरः। **निलीय** = छिपकर। **अपान्निधिः** = जलनिधि, समुद्र। तडागः = विशिष्ट सरोवर अथवा तालाब। **ददृशे** = देखा।

प्रसङ्ग—आगामी नौ श्लोकों में इसी विशिष्ट सरोवर की विभिन्न विशेषताओं तथा शोभाओं का वर्णन महाकवि द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है—

पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदानन्तोरगपुच्छसच्छवीन्।
जलार्द्धरुद्धस्य तटान्तभूभिदो मृणालजालस्य निभाद्बभार यः॥१०८॥

मल्लिनाथकृत-टीका— यदुक्तं धनमादायेति, तदेवात्र सम्पादयति नवभिः श्लोकैः पय इत्यादिभिः। यस्तडागः जलेनार्द्धरुद्धस्य अर्द्धच्छन्नस्य तटान्तभूभिदस्तटप्रान्तनिर्गतस्येत्यर्थः। मृणालजालस्य विसवृन्दस्य निभाद्व्याजादित्यपह्नवालङ्कारः, 'निभोव्याजसदृशयोरि'ति विश्वः। अनन्तोरगस्य शेषाहेः पुच्छेन सच्छवीन् सवर्णान् तद्वद्धवलानित्यर्थः, पयोनिलीनानामभ्रमु-

काक्लीनामैरावतश्रेणीनां रदान् दन्तन् बभार। तत्रैक एवैरावतः, अत्रत्वसंख्या इति व्यतिरेकः। अभ्रमुकामुका इति द्वितीयासमासो मधुपिपासुवत, 'न लोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् 'लषपते'त्यादिना कमेरुकञ्प्रत्ययः॥१०८॥

अन्वय– यः जलार्द्धरुद्धस्य तटान्तभूभिदो मृणालजालस्य निभात् अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदान् बभार।

संस्कृत-व्याख्या–यः= तडागः, जलार्द्धरुद्धस्य= जलेन अर्द्धरुद्धस्य अर्द्धछन्नस्य, तटान्तभूभिदः = तटान्ते तटसमीपे या भूः तां भिनत्तीति तटान्तभूभित् तस्य– तटप्रान्तनिर्गतस्येत्यर्थः, मृणालजालस्य= विसवृन्दस्य, निभात्= व्याजात् अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन्= अनन्तोरगः शेषाहेः पुच्छेन सच्छवीन् सवर्णान्– तद्वत् धवलानित्यर्थः, पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदान्= पचसि जले निलीन मग्ना, अभ्रमुकामुकाः ऐरावताः तेषां अवलीनां, श्रेणीनाम्, रदान् = दन्तान्, बभार = धारयामास।

हिन्दी अनुवाद–यः = जो तालाब, जलार्द्धरुद्धस्य = जल के कारण आधे ढके हुए, तटान्तभूभिदः = किनारे की जमीन को फोड़कर निकले हुए, मृणालजालस्य = कमल-नालों के समूह के, निभात् = बहाने से, अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् = शेषनाग की पूँछ के सदृशकान्ति से युक्त, पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदान् = जल में छिपे हुए ऐरावत नामक हाथियों के दाँतों क्रो, बभार = धारण किये हुए था।

भावार्थ– जो तालाब जल से आधे ढके हुए, किनारे की भूमि से बहिर्गत, मृणालदण्डो के बहाने से शेषनाग की पूँछ के सदृश सुन्दर शोभा से युक्त जल में डूबे हुए ऐरावत नामक हाथियों के दाँतों को धारण किये हुए था।

जल में आधे डूबे तथा किनारे की जमीन पर आधे बाहर निकले हुए मृणाल (कमल-नाल) ऐसे प्रतीत होते थे कि मानों वे शेषनाग की पूँछ के समान ही हों अथवा पानी में डूबे हुए ऐरावत नामक हाथियों के दन्त-समूह ही हों।

राजा नल का यह उद्यान-सरोवर कमल-नालों के रूप में अनेक ऐरावत हाथियों के दाँतों को धारण किये हुए था। समुद्र में तो केवल एक ही ऐरावत नामक हाथी के दाँत विद्यमान कहे जाते हैं किन्तु इस सरोवर (या तालाब) में मृणाल दण्डों के रूप में सैकड़ों ऐरावत हाथियों के दाँत विद्यमान थे। अतः यह तालाब समुद्र से भी कहीं अधिक बढ़कर और श्रेष्ठ था।

अलङ्कार— समुद्र में तो एक ही ऐरावत है और इस सरोवर में असंख्य ऐरावत हैं— इस दृष्टि से यहाँ "व्यतिरेक" नामक अलङ्कार है।

व्याकरण—तटान्तभूभिद् = तटान्तभू + भिद् + क्विप्। **कामुकाः** = कम्+ उकञ् लषपतपदस्थाभू... इत्यादि से।

समास—जलार्द्धरुद्धस्य = जलेन अर्द्धरुद्धस्य। **तटान्तभूभिदः** = जटस्य अन्तः इति तटान्तः तस्य भूः (षष्ठी तत्पु०) इति तटान्तभूः— तां भिनन्लि इति— तटान्तभूभिद् तस्य। **अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन्** = अनन्ताख्यः उरगः (कर्मधारय) इति अनन्तोरगः तस्य पुच्छम् (षष्ठी तत्पु०), तस्य सच्छविरिव छविर्येषा ते (बहुव्रीहि), तान्। **पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदान्** = अभ्रमूणा कामुकाः इति अभ्रमुकामुकाः (षष्ठी तत्पु०), पयसि निलीनाः इति पयोनिलीनाः (सप्तमी तत्पु०), पयोनिलीनाः अभ्रमुकामुकाः इति पयोनिलीनाभ्रमुकामुकाः (कर्मधारय), तेषां अवली, तस्याः रदाः तान्।

टिप्पणियाँ—जलार्द्धरुद्धस्य = जल से आधे ढके हुए अथवा जिनका आधा भाग जल के अन्दर विद्यमान था ऐसे। **तटान्तभूभिदः** = किनारे की भूमि को फोड़कर बाहर निकले हुए। **मृणालजालस्य** = कमल नालों अथवा मृणालों के समूह के। **अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन्** = शेष की पूँछ के सदृश सुन्दर शोभा को धारण करने वाले। "रदान्" का विशेषण है। **पयोनिलीना-भ्रमुकामुकावलीरदान्** = जल में छिपे हुए अभ्रमुओं (हथिनियों) के कामुकों (ऐरावत नामक हाथियों) के दाँतों को। ऐरावत नाम के हाथी की पत्नी का नाम अभ्रमु है। ऐसी अभ्रमु नामक हथिनियों के कामुकों (चाहने वालों)

अर्थात् ऐरावत नामक हाथियों के दाँतों को। **बभार** = धारण किय हुए था अथवा धारण करता था।

प्रसङ्ग— पूर्ववत्।

तटान्तविश्रान्त तुरङ्गमच्छटा-
स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन यः।
बभौचलद्वीचिकशान्तशातनैः
सहस्रमुच्चैःश्रवसामिव श्रयन्॥१०९॥

मल्लिनाथकृत-टीका— तटान्तेति। यस्तडागरतटान्ते तीरप्रान्ते विश्रान्ता या तुरङ्गमच्छटा नलानीताश्वश्रेणी तस्याः स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन प्रकटप्रतिबिम्बा-बिर्भावप्रतीख्या निमित्तेन च एकैकशस्तासां वीचीनां क्शानामन्तैः शातनैः प्रतीडनैः, अश्वादेस्ताडनी कशे'त्यमरः चलदुल्लल-दुच्चैःश्रवसां सहस्रं श्रयन् प्राप्नुवन्निव बभावित्युत्प्रेक्षा, व्यक्तिरेकश्च पूर्ववत्। एतेन नलाश्वानामुच्चैःश्रवः साम्यं इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः॥१०९॥

अन्वय—यः तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन वीचिक-शान्तशातनैः चलत् उच्चैःश्रवसां सहस्रं श्रयन् इव बभौ।

संस्कृत-व्याख्या—यः= तडागः, तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानु-बिम्बोदयचुम्बनेन = तटान्ते तीरप्रान्ते विश्रान्ता स्थिता या तुरङ्गमच्छटा नलानीताश्वश्रेणी तस्याः स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बतेन प्रकटप्रतिबिम्बाबिर्भ्रावव्याप्त्या निमित्तेन, वीचिकशान्तशातनैः = वीचयः एव तरङ्गाः एव कशा अश्वाताडन्यः तासां अन्ताः अग्रभागाः तैः शातनैः ताडनैः, चलत्= उल्ललत्, उच्चैःश्रवसां सहस्रम्, श्रयन् =प्राप्नुवन्, इव बभौ = शुशुभे।

हिन्दी अनुवाद— यः = तो तड़ाग, तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटा-स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन = तट के समीप में ठहरे हुए घोड़ों के समूह के स्पष्ट प्रतिबिम्ब के आविर्भाव के चुम्बन सम्पर्क से, वीचिकशान्तशातनैः = तरङ्गरूपी कोड़े (चाबुक) के अग्रभाग के ताड़नों (आघातों) से, चलत् = चंचल,

उच्चै:श्रवसां सहस्रम् = हजारों उच्चै:श्रवस नामक घोड़ों को, श्रयन् इव = मानो धारण करता हुआ, बभौ = शुशोभित हो रहा था।

भावार्थ— जो तड़ाग तीर पर स्थित (नील-श्वेत-कृष्ण आदि विभक्ति प्रकार के) घोड़ों की कान्ति (शोभा) के प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध से चञ्चल तरङ्गरूपी कोड़ों के प्रहारों से मानों हजारों उच्चै:श्रवस् नामक घोड़ों को धारण किये हुए था।

कोड़ों के आघातों के कारण घोड़े चञ्चल होकर चला करते हैं। पानी में प्रतिबिम्बित वस्तु के तरङ्गों द्वारा चंचल होने के कारण किनारे पर स्थित नल के घोड़ों उच्चै: श्रवस नामक घोड़ों के सदृश ज्ञात हो रहे थे।

इस स्थल पर यह भी स्पष्ट रूप से ध्वनित हो रहा है कि समुद्र में तो उच्चै:श्रवा: नामक एक ही घोड़ा है। तथा इस तालाब में अनेक उच्चै:श्रवस् नामक घोड़ों की विद्यमानता है। अत: यह तालाब समुद्र की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है इसके अतिरिक्त राजा नल के घोड़ों का उच्चै:श्रवा के समान होना ही सूचित हो रहा है।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में ''उत्प्रेक्षा'' अलङ्कार स्पष्ट ही है।

व्याकरण—उच्चै:श्रवस: = उच्चै: + श्रु + असुन्।

समास—तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन = तटान्ते विश्रान्ता (सप्तमी तत्पु०) इति तटान्तविश्रान्ता, तुरङ्गमाणां छटा (षष्ठी तत्पु०) इति तुरङ्गमच्छटा, तटान्तविश्रान्ता तुरङ्गमच्छटा (कर्मधारय) इति तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटा—तस्या: अनुबिम्ब:, तस्य उदय: तस्य चुम्बनम् (षष्ठी तत्पु०) तेन। **वीचिकशान्तशातनै:** = वीचय: एव कशा: (कर्मधारय) इति वीचीकशा: तासां अन्ता: (षष्ठी तत्पु०) इति वीचीकशान्ता: तै: शातनानि, तै। **उच्चै:श्रवसाम्** = उच्चै: श्रवो यशो यस्य अथवा उच्चै: श्रवसी कर्णौ यस्य स: (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटा- स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन

= तट पर स्थित घोड़ों के स्पष्ट प्रतिबिम्बों की प्रतीति के निमित्त से। **वीचिकशान्तशातनैः** = लहरों रूपी कोड़ों (चाबुकों) के अग्रभागों के प्रहारों से— "अश्वादेः ताडनी कशा:" इत्यमरः। **चलत्** = चंचल-हिलते डुलते हुए। **उच्चैःश्रवसाम्** = उच्चैःश्रवस् नामक घोड़ों के। इन्द्र के घोड़े का नाम "उच्चैःश्रवाः" है। यह भी समुद्र मंथन के समय समुद्र से ही निकला था। यह पूर्णतया उज्ज्वल वर्ण का है। **श्रयन् इव** = धारण करता हुआ सा। **बभौ** = सुशोभित हो रहा था।

प्रसङ्ग— पूर्ववत्।

सिताम्बुजानां निवहस्य यश्छलाद्
बभावलिश्यामलितोदरश्रियाम्।
तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं
कुलं सुधांशोर्बहलं वहन् बहु॥११०॥

मल्लिनाथकृत-टीका— सितेति। यस्तडागः अलिभिः श्यामलितोदरश्रियां श्यालीकृतमध्यशोभानां सिताम्बुजानां पुण्डरीकाणां निवहस्य च्छलात् तमःसमच्छायः तिमिरवर्णः यः कलङ्कः तेन सङ्कुलं बहलं सम्पूर्णम्बह्वनेकं सुधांशोश्चन्द्रस्य कुलं वंशं वहन् सन् बभौ। अत्र च्छलशब्देन पुण्डरीकेषु विषयापह्नवेन चन्द्रत्वाभेदादपह्नवभेदः, व्यतिरेकस्तु पूर्ववत्॥११०॥

अन्वय— यः अलिश्यामलितोदरश्रियां सिताम्बुजानां निवहस्य छलात् तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं बहलं बहु सुधांशोः कुलं बहन् बभौ।

संस्कृत-व्याख्या—यः= तडागः, अलिश्यामलितोदरश्रियाम् = अलिभिः भ्रमरैः श्यामलिता श्यामलीकृता उदरश्रीः मध्यभागीयशोभा येषां तादृशानाम्, सिताम्बुजानाम्= श्वेतपङ्कजानाम्, पुण्डरीकाणां वा, निवहस्य=समूहस्य, छलात्= व्याजात्, तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलम्= तमःसमच्छायः तिमिरवर्णः यः कलङ्कः तेन सङ्कुलं व्याप्तम्, बहलम् = सम्पूर्णम्, बहु= अनेकम्, सुधांशोः=चन्द्रमसः, कुलम् = वंशम्, बहन् = धारयन् (सन्) बभौ = शुशुभे।

हिन्दी अनुवाद—यः = जो तालाब, अलिश्यामलितोदरश्रियाम् = भौरों के बैठने के कारण श्यामवर्ण की मध्य भाग की कान्ति से युक्त, सिताम्बुजानाम् = श्वेतकमलों के, बहलम् = (अतएव) सम्पूर्ण, बहु = अनेक, सुधांशोः = चन्द्रमा के, कुलम् = समूह को, बहन् = धारण करता हुआ, बभौ = सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ— जो तालाब में भ्रमरों के बैठने के कारण श्यामवर्ण के मध्यभाग से युक्त श्वेत कमलों के समूह के बहाने से अन्धकार सदृश (कृष्णवर्ण के) कलङ्क से युक्त सम्पूर्ण एवं अनेक चन्द्रमा के समूह को धारण करता हुआ सुशोभित हो रहा था।

इस वर्णन में भी यह स्पष्ट किया गया है कि वह तालाब अनेक चन्द्रमाओं के सदृश अनेक विकसित श्वेत कमलों से युक्त था। चन्द्रमा में कृष्णवर्ण का कलङ्क विद्यमान रहा करता है। श्वेतकमलों के मध्यभाग में भी कृष्णवर्ण के भ्रमर बैठे हुए हैं। अतएव उनका बैठना ही कलङ्क सदृश है।

चन्द्रमा की उत्पत्ति भी समुद्र से ही हुई थी। अतः समुद्र चन्द्रमा का धारण करने वाला है किन्तु इसकी संख्या केवल एक ही है किन्तु इस तालाब में अनेक चन्द्रमा श्वेत कमलों के रूप में विद्यमान है। अत: यह तालाब समुद्र की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ हुआ।

अलङ्कार— इस श्लोक में अनुप्रास तथा अपह्नुति अलङ्कार है। साथ ही व्यतिरेक अलङ्कार की भी विद्यमानता पूर्वश्लोक की ही भाँति है।

व्याकरण— श्यामलिता = श्यामल+ णिच् +क्त+टाप्।

समास—अलिश्यामलितोदरश्रियाम् = श्यामली कृता इति श्यामलिता, अलिभिः श्यामलिता उदरश्रीः येषां तादृशानाम्। **तमःसमच्छायकलङ्क-सङ्कुलम्** = तमः समच्छाय यः कलङ्कः तेन सङ्कुलम्।

टिप्पणियाँ—अलिश्यामलितोदरश्रियाम् = जिनके मध्य भाग (बीच की) की शोभा काले काले भ्रमरों के बैठने के कारण श्यामल हो गयी थी

ऐसे— **सिताम्बुजानाम्** = सफेद कमलों के। **निवहस्य** = समूर के। **तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलम्** = अन्धकार की कृष्णवर्ण की कान्ति के सदृश कृष्णवर्ण की कान्ति से युक्त कलङ्क से व्याप्त। **बहलम्** = सम्पूर्ण। **बहु** = अनेक। **हिमांशोः** = चन्द्रमा के। **कुलम्** = वंश, समूह को।

प्रसङ्ग— पूर्ववत्। क्षीरसागर में भगवान् विष्णु निवास करते हैं। यह तालाब भी कमलिनी-स्तम्बसमूह रूप विष्णु से युक्त था—

रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा
शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा।
सरोजिनीस्तम्बकदस्वकैतवान्-
मृणालशेषाहिभुवाऽन्वयायि यः॥१११॥

मल्लिनाथकृत-टीका— रथाङ्गेति। यस्यडागो रथाङ्गः चक्रायुधश्च यद्यपि चक्रवाके रथाङ्गनामेति च प्रयोगो रूढः तथापि प्रायेणास्य चक्रशब्दपर्य्यायत्वप्रयोगदर्शनात् (रथाङ्ग) पदस्याप्युभयत्र प्रयोगम्मन्यते कविः, तद्भाजा 'भजो ण्विः कमलैः कमलया चानुषङ्गिणा संसर्गवता शिलीमुखस्तोमसखेन अलिकुलसहचरेण अन्यत्र सखिशब्दः सादृश्यवचनः तत्सवर्णेनेत्यर्थः मृणालं शेषाहिरिवेत्युपमितसमासः तद्भुवां तदाकरेण अन्यत्र मृणालमिव शेषाहिः तद्भुवा तदाधारेण शार्ङ्गिणा विष्णुना सरोजिनीनां स्तम्बा गुल्माः, 'अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्ममि' त्यमरः, तेषां कदम्बस्य कैतवान्मिषात् अन्वयायि अनुयातोऽनुसृतोऽधिष्ठित इति यावत्। अत्रापि कैतवशब्देन स्तम्बत्वमपह्नुत्य शार्ङ्गित्वारोपादपह्नवभेदः॥१११॥

अन्वय— यः सरोजिनीस्तम्बकदस्वकैतवात् रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन मृणालशेषाहिभुवा शार्ङ्गिणा अन्वयायि।

संस्कृत-व्याख्या—यः= तडागः, सरोजिनीस्तम्बकैतवात्= सरोजिनीनां कमलिनीनां स्तम्बाः गुल्माः तेषां कदम्बस्य समूहस्य कैतवात् मिषात् रथाङ्गभाजा= रथाङ्गं चक्रवाकः चक्रायुधं च तद्भाजा, कमलानुषङ्गिणा=

कमलैः कमलया लक्ष्म्या च अनुषङ्गिणा संसर्गवता, शिलीमुखस्तोमसखेन = शिलीमुखस्तोमः भ्रमरसमूहः तत्सखेन तत्सहचरेण तत्सदृशेन च-तत्सवर्णेनेत्यर्थः, मृणालशेषाहिभुवा= मृणालं शेषाहिरिव तदभुवा तदाकरेण—अन्यत्र=मृणालमिव शेषाहिः तद्भुवा तदाधारेण, शार्ङ्गिणा= विष्णुना, अन्वयायि = अनुयातः अनुसृतः—अधिष्ठितः इति यावत्।

हिन्दी अनुवाद—यः = जो तालाब, सरोजिनीस्तम्बककैतवात् = कमलिनी के गुच्छों के समूह के बहाने से, रथाङ्गभाजा = [तालाब पक्ष में—] चक्रवाक् पक्षी से युक्त [विष्णु पक्ष में—] चक्र (सुदर्शनचक्र) नामक अस्त्र से युक्त, कमलानुषङ्गिणा = [तालाब पक्ष में—] कमलों से युक्त [विष्णु पक्ष में—] कमला अर्थात् लक्ष्मी से युक्त, शिलीमुखस्तोमसखेन = [तालाब पक्ष में—] भ्रमरों के समूह से युक्त [विष्णु पक्ष में—] भ्रमरों के सदृश वर्ण अर्थात् श्यामवर्ण से युक्त, मृणालशेषाहिभुवा = [तालाब पक्ष में]— शेषनाग सदृश मृणाल के उत्पत्ति स्थान [विष्णु पक्ष में—] मृणाल सदृश शेषनाग की शय्या से युक्त, शार्ङ्गिणा = भगवान् विष्णु से, अन्वयायि = अनुगत हो रहा था।

भावार्थ— जो तालाब चकवा चकवी से युक्त, कमलों से युक्त, भ्रमरसमूह से युक्त, मृणालरूप जो शेषनाग का शरीर तत्सदृश भूमि पर उत्पन्न कमलिनयों को गुच्छों के समूह के ब्याज से, सुदर्शन चक्रधारी, लक्ष्मी के साथ निवास करने वाले, भ्रमर समूह के सदृश श्यामवर्ण की कान्ति वाले तथा मृणाल सदृश शुभवर्ण की कान्ति से युक्त शेषनाग की शय्या से युक्त भगवान् विष्णु से अनुगत होता था।

कहने का तात्पर्य है कि क्षीरसागर में भगवान् विष्णु शयन करते हैं। यह तालाब भी उक्त प्रकार से कमलिनी-गुल्म-समूह के रूप में विष्णु से युक्त था।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में श्लेष अलंकार स्पष्ट ही है। अपह्नुति अलङ्कार भी है।

व्याकरण—रथाङ्गभाजा = रथाङ्ग + भज् + ण्वि (भजोण्विः सूत्र से)। **शार्ङ्गिणा** = शार्ङ्ग + इनि(तृतीया एकवचन का रूप)। **अन्वयायि** = अनु +

या +लुङ् (कर्मवाच्य) प्रथम पुरुष, एकवचन।

समास—सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् = सरोजिन्याः स्तम्बाः सरोजिनीस्तम्बाः तेषां कदम्बः इति सरोजिनी स्तम्बकदम्बः तस्य कैतवम्—इति। सरोजिनीस्तम्बकैतवम् (षष्ठी तत्पु०) तस्मात्। **रथाङ्गभाजा** = रथाङ्गं भजते इति रथाङ्गभाक् तेन। **कमलानुषङ्गिणा** = कमलानां कमलायाः वा अनुषङ्गः (षष्ठी तत्पु०), सः अस्ति अस्य इति कमलानुषङ्गी तेन। **शिलीमुखस्तोमसखेन** = शिलीमुखानां स्तोमः (षष्ठी त०) शिलीमुखस्तोमः स एव सखा यस्य सः (बहुव्रीहि), तेन। **मृणालशेषाहिभुवा** = मृणाल शेषाहिरिव अथवा शेषाहिः मृणालमिव, तस्य भूः (षष्ठी त०) अथवा स एव भूः यस्य सः (बहुव्रीहि), तेन। **शार्ङ्गिणा** = शार्ङ्गं धनुः अस्ति अस्य इति शार्ङ्गी तेन।

टिप्पणियाँ—सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् = कमलिनियों के गुच्छों के बहाने से। **रथाङ्गभाजा** = [तालाब पक्ष में—] चकवा-चकवी (चक्रवाक) नामक पक्षियों से युक्त। [विष्णु पक्ष में—] (सुदर्शन) चक्र को धारण करने वाले। **कमलानुषङ्गिणा** = [तालाब पक्ष में—] कमलों से युक्त। [विष्णुपक्ष में—] कमला (लक्ष्मी) के सहचर। **शिलीमुखस्तोमसखेन** = [तालाब पक्ष में—] भ्रमर समूह के सखा। [विष्णु पक्ष में—] भ्रमर समूह के समान कृष्ण वर्ण की कान्ति से युक्त। **मृणालशेषाहिभुवा** [तालाब पक्ष में—]शेषनाग के सामने मृणाल के उत्पत्ति-स्थान। [विष्णु पक्ष में—] मृणाल सदृश शेषनाग की शय्या वाले। **शार्ङ्गिणा** = विष्णु से। **अन्वयायि** = अनुगत हो रहा था अथवा अनुसरण किया गया था।

प्रसङ्ग— नदियों के मिलन से युक्त समुद्र की तरह यह तालाब भी लहरों से युक्त था—

तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्वचल्लभास्तरङ्गरेखा बिभराम्बभूव यः।
दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रबालाङ्कुरसञ्चयश्च यः॥११२॥

मल्लिनाथकृत-टीका— तरङ्गिणीरिति। यस्तडागोऽङ्कजुपोऽन्तिकभाजः उत्सङ्गसङ्गिन्यश्च वा तरङ्गरेखास्तरङ्गराजिरेव स्ववल्लभास्तरङ्गिणीरितिव्यरत-रूपकम्बिभराम्बभूव बभार, 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्चेति भृञो विकल्पादाम्प्रत्ययः। किञ्च यस्तडागो दरोद्गतैरीपदुद्बुद्धैः कोकनदौघकोरकैः रक्तोत्पलखण्ड-कलिकाभिः धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च धृतविद्रुमाङ्कुरनिकरश्चेति अत्रापि कोकनदकोरकाणां विद्रुमत्वे रूपणाद्रूपकालङ्कारः॥११२॥

अन्वय—यः अङ्कजुषः स्ववल्लभाः तरङ्गरेखा तरङ्गिणीः बिभराम्बभूव। च यः दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैः धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयः (आसीत्)।

संस्कृत-व्याख्या—यः= तडागः, अङ्कजुषः= अन्तिकभाजः उत्संङ्ग-संगिन्यश्च, स्ववल्लभाः= स्वप्रिया प्राणेश्वरीश्च, तरङ्गरेखा= तरङ्गराजीः एव, तरङ्गिणीः= नद्यः, बिभराम्बभूव= बभार। च= किञ्च, यः = तडागः, दरोद्गतैः = इषदुद्बुद्धैः, कोकनदौघकोरकैः= कोकनदौघाः रक्तोत्पलसमूहाः तेषां कोरकैः कलिकाभिः धृतप्रबालाङ्कुरसञ्चयः= धृतः विद्रुमाङ्कुरनिकरः [आसीत्]।

हिन्दी अनुवाद—यः = जो तालाब, अङ्कजुषः = [अपनी] गोद अथवा मध्य भाग में स्थित, स्ववल्लभाः = अपनी प्रिया, तरङ्गरेखा = तरङ्ग मालाओं रूपी, तरङ्गिणीः = नदियों को, बिभराम्बभूव = धारण किये हुए था। च = और, यः = जो तालाब, दरोद्गतैः = कुछ कुछ खिली हुई, कोकनदौघकोरकैः = लाल कमलों की कलियों के रूप में, धृतप्रबालाङ्कुरसञ्चयः = प्रवालों (मूँगों) के अङ्कुर समूह को धारण किये हुए था।

भावार्थ— जो तालाब अपने मध्य में स्थित अपनी प्रिया सदृश तरङ्गों की रेखाओं के रूप में नदियों को धारण किये हुए था तथा जो कुछ बाहर की ओर निकले हुए लाल कमलों के समूह के अङ्कुरों के रूप में प्रवालों (मूँगों) के अंकुरों को भी धारण किये हुए था।

समुद्र में जैसे उसकी प्यारी नदियाँ आकर मिला करती हैं तथा मूँगों के अंकुर समूह भी रहा करते हैं उसी भाँति इस तालाब के मध्य में भी अपने में ही उत्पन्न होने से प्रिय तरङ्ग रूपी नदियाँ विद्यमान थीं तथा थोड़ा बाहर की

ओर दिखलायी पड़ते हुए लाल कमलों के अंकुर समूह मूँगों के अंकुरों के रूप में विद्यमान थे। अतः यह तालाब समुद्र के सदृश ही था।

अलङ्कार— इस श्लोक में तरङ्गों में नदियों तथा रक्त कमल की कलियों में मूँगों के अंकुरों का आरोप किये जाने से ''रूपक'' अलङ्कार है।

व्याकरण—**अङ्कजुषः** = अङ्क + जुष्+क्विप्, **तरङ्गिणीः** = तरङ्ग + इनि + ङीप् (बहुवचन)।

समास—**अङ्कजुषः** = अङ्कं जुषन्ते इति अङ्कजुषः। **तरङ्गिणीः** = तरङ्गा सन्ति आसु इति तरङ्गिण्यः, ताः। **कोकनदौघकोरकैः** = कोकनदानां ओघाः इति कोकनदौघाः तेषां कोरकाः (षष्ठी तत्पु०), तैः। **धृतप्रबालाङ्कुरसञ्चयः** = प्रवालानां अुंकरा इति प्रवालाङ्कुराः तेषां सञ्चयः (षष्ठी तत्पु०) इति प्रवालाङ्करसञ्चयः, धृतः प्रवालाङ् कुरसञ्चयः येन सः (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**अङ्कजुषः** = मध्य भाग अथवा गोद में स्थित। **तरङ्गिणीः** = नदियों को। **तरङ्गरेखा** = तरङ्गों (लहरों) की रेखाओं के रूप में विद्यमान। **बिभराम्बभूव** = धारण किये था। **दरोद्गतैः** = कुछ कुछ विकसित (खिली हुई)। **कोकनदौघकोरकैः** = मूँगों के अंकुरों के समूहों की कलियों से। **धृतप्रबाला-ङ्कुरसञ्चयः** = मूँगों के अंकुरों के समूहों को जिसने दारण किया था। तात्पर्य यह है कि समुद्र में अनेक नदियाँ आकर मिला करती हैं और उसके अन्दर मूँगे भी हुआ करते हैं। उसी प्रकार से हम तालाब में भी लहरें ही नदियों के रूप में तथा रक्त कमल के अंकुर मूँगों के रू७प में विद्यमान हैं।

प्रसङ्ग— यह तालाब चन्द्रमा (श्वेत कमल रूप में) एवं कालकूट नामक विष (नील कमलों के रूप में) से युक्त होने के कारण समुद्र के सदृश था—

महीयसः पङ्कजमण्डलस्य यश्
छलेन गौरस्य च मेचकस्य च।
नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्विषं
विमुञ्चन् विधुकालकूटयोः॥११३॥

मल्लिनाथकृत-टीका— महीयस इति। यस्तडागः महीयसो महत्तरस्य गौरस्य चमेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य सितासितसरोजयोश्छलेन सलिले निलीनयोः विधुकालकूटयोः सितासितयोरितिभावः। त्विषं विमुञ्चन् विसृजन्निव नलेन मेने। अत्र छलेन विमुञ्चन्निवेति सापह्नवोत्प्रेक्षा॥११३॥

अन्वय— यः नलेन महीयसः गौरस्य च मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य छलेन सलिले निलीनयोः विधुकालकूटयोः त्विषं विमुच्चन् मेने।

संस्कृत-व्याख्या—यः = तडागः, नलेन= राजा नलेन, महीयसः = महत्तरस्य, गौरस्य= श्वेतस्य, मेचकस्य= नलीस्य च, पङ्कजमण्डलस्य= कमलसमूहस्य, [सितासितसरोजयोः], छलेन = व्याजेन, सलिले= जले, निलीनयोः= निमग्नयोः, विधुकालकूटयोः = सितासितयोः चन्द्रविषयोः, त्विषम् = कान्तिम्, विमुच्चन् = विसृजन्निव, मेने।

हिन्दी अनुवाद—यः = जिस तालाब को, नलेन = राजा नल ने, महीयसः = बड़े, गौरस्य = श्वेत, मेचकस्य च = और नील, पङ्कजमण्डलस्य = कमलों के, छलेन = बहाने से, सलिले = जल में, निलीनयोः = छिपे हुए, विधुकालकूटयोः = चन्द्रमा और कालकूट नामक विष की, त्विषम् = शोभा को, विमुच्चन् = फैलाता हुआ सा, मेने = समझा अथवा माना।

भावार्थ— जिस प्रकार समुद्र श्वेतवर्ण के चन्द्रमा और कृष्ण वर्ण के कालकूट नामक विष से युक्त है उसी प्रकार तालाब भी श्वेत तथा नील वर्ण के कमल समूह के विद्यमान होने से चन्द्रमा तथा कालकूट नामक विष से युक्त था।

चन्द्रमा तथा कालकूट विष दोनों ही पदार्थ समुद्रमंथन के समय समुद्र से निकले थे कहने का तात्पर्य यह है कि इन दोनों की उत्पत्ति का स्थान समुद्र ही है। अर्थात् दोनों ही पदार्थों से युक्त समुद्र है। उसी प्रकार श्वेत कमल रूपी चन्द्रमा से तथा नीलकमल रूपी कालकूट नामक विष से यह तालाब भी युक्त है।

अलङ्कार— इस श्लोक में श्वेत और नील कमलों का ''छल'' शब्द द्वारा अपह्नव करके उसमें चन्द्रमा और कालकूट विष की संभावना की गयी है। अतः यहाँ सापह्नवोत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

व्याकरण—**महीयसः** = महत् + ईयसुन् = महीयस् (षष्ठी विभक्ति) के एकवचन का रूप।

टिप्पणियाँ—**महीयसः** = बहुत बड़े। यह "पङ्कजमण्डलस्य" का विशेषण है। **गौरस्य** = गोरे-श्वेतवर्ण के। **मेचकस्य** = नीले अथवा नील वर्ण के। **पङ्कजमण्डलस्य** = कमल समूह के अथवा कमलों के। **छलेन** = ब्याज से बहाने से। **विषकालकूटयोः** = चन्द्रमा और विष दोनों की। **त्विषम्** = कान्ति को—शोभा को। चन्द्रमा की कान्ति श्वेत (उजली) है। कालकूट नामक विष की कान्ति नीली है। **विमुच्चन्** = छोड़ता हुआ—प्रकट करता हुआ अथवा फैलता हुआ। **मेने** = माना-समझा।

प्रसङ्ग— समुद्र में वडवानल रहा करता है। उस तालाब में शैवाल नामक घास की पंक्तियाँ ही वडवानल थीं। अतः यह तालाब समुद्र-सदृश था।

चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणैरवाशैवाललतापरम्पराः।
ध्रुवन्दधुर्वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम्॥११४॥

मल्लिनाथकृत-टीका— चलीकृता इति। यत्र यस्मिन् तडागे तरङ्गरिङ्गणैस्तर्ङ्गकम्पनाश्चलीकृताः चञ्चली कृताः अवालानां कठोराणां शैवाललतानां परम्पराः पंक्तयः हव्यं वहतीति हव्यवाट्वाडवाग्निः 'वहश्चे'ति ण्वित्प्रत्ययः। तस्यच्छन्दोमात्राविषयत्वाद् अनादरेण भाषायां प्रयोगः। वाडवहव्यवाहा वाडवाग्नेरेव स्थित्याऽन्तरवस्थानेन प्ररोहत्तमो बहिः प्रादुर्भवत्तमो भूमा येषान्ते च धूमाश्च तेषां भावस्तत्ता तां दधुः बहिरुत्थितधूमपटलबद्धभुरित्यर्थः। ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम्॥११४॥

अन्वय— यत्र तरङ्गरिङ्गणैः चलीकृता अबालशैवाललतापरम्पराः वाडवहव्यवाडवस्थिति प्ररोहत्तमभूमधूमतां दधुः ध्रुवम्।

संस्कृत-व्याख्या—यत्र= तडागे, तरङ्गरिङ्गणैः = तरङ्गकम्पनैः, चलीकृतः = चञ्चलीकृताः, अबालशैवाललतापरम्पराः = अबालानां कठोराणां शैवाललतानां परम्पराः पङ्क्तयः, वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम्

= हव्यं वहतीति हव्यवाट् अग्नि: वाडवहव्यबाह: वाडवाग्ने: अवस्थिति: अवस्थानं तेन प्ररोहत्तम: वहि: प्रादुर्भवत्तम: येषां च ते धूमाश्च तेषां भाव: तत्ता ताम्, दधु: = वह्ने: उत्थितधूमपटलवत् बभ्रुरित्यर्थ:, ध्रुवम् = इत्युत्प्रेक्षायाम्।

हिन्दी अनुवाद—यत्र = जिस तालाब में, तरङ्गरिङ्गणै: = लहरों के कंपन से, चलीकृता = चंचलता को प्राप्त कराई गयी, अबालशैवाललतापरम्परा: = वृद्धि को प्राप्त हुई शैवाल (सिवार नामक घास) लताओं की पंक्तियों, वाडवहव्यवाडव-स्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् = बडवानल के निवास से अत्यधिक रूप में निकलती हुई धूम-राशि के स्वरूप को, ध्रुवं दधु: = मानो धारण कर रही थीं।

भावार्थ— जिस तालाब में लहरों के कंपन से शैवाल लता की पंक्तियों ने अभ्यन्तर विद्यमान वडवानल से ऊपर उठे हुए धुयें के अतिशय को धारण कर लिया हो, ऐसा प्रतीत होता था।

तालाब की लहरों के कारण चंचलता को प्राप्त हुई बड़ी बड़ी शैवाल नामक घास (जो तालाब के अभ्यन्तर विद्यमान थी)। अन्त:स्थित बडवानल से ऊपर की ओर उठती हुई धूमज्वाला के समान प्रतीत हो रही थी।

समुद्र के अन्दर वडवानल निवास किया करती हैं और इस तालाब में शैवाल नामक घास उसी रूप में विद्यमान है। अत: उक्त सरोवर समुद्र के समान है।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में शैवालपंक्तियों में वडवाग्नि की संभावना की गयी है। अत: उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

व्याकरण— **हव्यवाट्** = हव्य + वह् + ण्वि। **धूमताम्** = धूम + तल् + टाप्। **दधु:** = धा + लिट् (प्रथम पुरुष बहुवचन का रूप)।

समास—**अबालशैवाललतापरम्परा** = अबालां शैवाललतानां परम्परा: इति। **वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम्** = वाडव: हव्यवाट् (कर्मधारय) इति वाड्वहव्यवाट्, तस्य अवस्थिति: (षष्ठी तत्पु०)

वाडवहव्यवाडवस्थितिः तेन प्रोहत्तमः भूमा यस्य (बहुव्रीहि) सः, तादृशः धूमः (कर्मधारय), तस्य भावः, ताम्।

टिप्पणियाँ—तरङ्गरिङ्गणैः = लहरों के हिलने डुलने से। **चलीकृताः** = चंचलता को प्राप्त हुई-हिलती डुलती हुई। **अबालशैवाललतापरम्पराः** = वृद्धि को प्राप्त हुई अर्थात् बड़ी हुई सिवार नामक घास की पंक्तियाँ। **वाडवहव्यवाडव-स्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम्** = वडवाग्नि की विद्यमानता के कारण अतिशयरूप में निकलते हुए धुँये के रूप को। **दधुः** =धारण किया। **ध्रुवम्** = मैं ऐसा मानता हूँ। यह उत्प्रेक्षा को अभिव्यक्त करने वाला शब्द है। महाकवि दण्डी ने उत्प्रेक्षा-व्यंजक शब्दों का एकत्रीकवण निम्नलिखित रूप में किया है— मन्ये शङ्के ध्रुवम् प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः। काव्यदर्श-२।३३४॥

प्रसङ्ग— समुद्र से उत्पन्न हुई (अथवा समुद्र के अन्दर निवास करने वाली) अप्सराओं के रूप में कमलिनियाँ भी इस तालाब में विद्यमान थीं। अतएव यह तालाब समुद्र के सदृश था—

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः
करम्बिताऽऽमोदभरं विवृण्वती।
घृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा
सरोजिनी यत्प्रभवाऽप्सरायिता॥११५॥

मल्लिनाथकृत-टीका— प्रकाममिति। आदित्यं सूर्यमवाप्य प्रकामं कण्टकैः नालगतैः तीक्ष्णाग्रैरवयवैः करम्बिता दन्तुरिता, अन्यत्रादित्यमदितिपुत्र-मिन्द्रमवाप्य कण्टकैः पुलकैः करम्बिता अतएवामोदभरं परिमलसम्पदमानन्द-सम्पदम् च विवृण्वती प्रकटयन्ती दिवा दिवसे धृतानि स्फुटश्रीगृहाणि पद्मानि यस्य स विग्रहः स्वरूपं यस्याः सा, अन्यत्र दिवा स्वर्गेण स्फुटश्रीगृहमुज्वलशोभास्पदं विग्रहो देहो यस्याः सा स्वर्गलोकवासिनीत्यर्थः। यस्यडागः प्रभवः कारणं यस्याः सा तज्जन्या सरोजिनी पद्मिनी अप्सरायिता

अप्सर इवाचरिता। 'उपमानाद् कर्तुः क्यङ् सलोपश्चेति कर्त्तरि क्तः 'ओजसोऽप्सरसो नित्यमि'त्यप्सरसः सकारलोपः। श्लिष्टविशेषणेयमुपमा॥११५॥

अन्वय—आदित्य अवाप्य कण्टकैः प्रकामं आमोदभरं विवृण्वती दिवा धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा यत्प्रभवा सरोजिनी अप्सरायिता।

संस्कृत-व्याख्या—आदित्य= सूर्यम्, अवाप्य= प्राप्य, कण्टकैः = नाल गतैः तीक्ष्णाग्रैः अतएवैः, प्रकामम् = अतिशयेन करम्बिता=दन्तुरिता [अप्सरापक्षे-आदित्य अदितिपुत्रम्, अवाप्य प्राप्य कण्टकैः पुलकैः प्रकामं करम्बिता], आमोदभरम् = परिमलसम्पदम्, विवृण्वती = प्रकटयन्ती, दिवा = दिवसे. धृतस्फुट-श्रीगृहविग्रहा= धृतानि स्फुटश्रीगृहाणि यस्य स विग्रहः स्वरूपं यस्याः सा [अप्सरापक्षे-दिवा=स्वर्गेण, धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा = धृतःस्फुटायाः प्रकाशमानायाः श्रियः शोभायाः गृहं स्थानम्, विग्रहः शरीरम्, यासां ताः— स्वर्गलोकवासिन्यः= इत्यभिप्रायः]. यत्प्रभवा= यः तडागः प्रभवः कारणं यस्याः सा तज्जनया, सरोजिनी= पद्मिनी, अप्सरायिता =अप्सरा इव आचरिता।

हिन्दी अनुवाद—आदित्य = सूर्य को, अवाप्य = प्राप्त करके, कण्टकैः = काटों से, प्रकामम् = अत्यधिक, करम्बिता = व्याप्त [अप्सरापक्ष में— आदित्यम् = अदिति-पुत्र इन्द्र को, अवाप्य = पाकर कण्टकैः रोमाञ्चों से, प्रकामम् = अत्यधिक रूप से, करम्बिता = रोमाञ्चित] आमोदभरम् = गन्धराशि को, विवृण्वती = प्रकट करती हुई, [अप्सरापक्ष में— आमोदभरम् = हर्षाधिक्य को विवृण्वती = प्रकट करती हुई] दिवा = दिन में, धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा = विकसित कमलों को शरीर पर धारण किये हुए [अप्सरा पक्ष में— दिवा = स्वर्ग में धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहाः = स्पष्ट रूप से शोभा के आस्पद शरीर को धारण करती हुई] यत्प्रभवा = जिस तालाब में उत्पन्न हुई, सरोजिनी = कमलिनी, अप्सरायिता = अप्सरा के सदृश आचरण करती थी अथवा अप्सरा के समान प्रतीत होती थी।

भावार्थ— जिस तालाब में उत्पन्न हुई, दिन से समय सूर्य को प्राप्त क भली भाँति काँटों से व्याप्त, अपने सुगन्धि-समूह को फैलाती हुई, विकसि शरीर वाली कमलिनी, अदिति-पुत्र-इन्द्रदेव को प्राप्तकर रोमाञ्चों से परिपू हर्षाधिक्य को प्रकट करती हुई, स्वर्ग में स्पष्ट रूप से शोभा-स्थान रूप शरी को धारण करने वाली अप्सरा के समान प्रतीत हो रही थी।

तात्पर्य यह है कि तालाब में विद्यमान विकसित कमलिनी साक्षात् रूप से स्वर्ग में विद्यमान अप्सरा के सदृश प्रतीत होती थी।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में ''उपमा तथा श्लेष'' अलङ्कार है। जो सुस्पष्ट है।

व्याकरण—अप्सरायिता = अप्सरस:—अप + सृ + असुन्। अप्सरस: इव आचिरता इति अप्सरायिता = अप्सरस् + क्यङ् ''कर्तुः क्यङ् सलोपश्च'' से क्यङ् तथा 'स' का लोप— दीर्घ—अप्सराय (नाम धातु) + क्त + टाप्। **आदित्यम्** = अदिति + ण्य— ''दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्य:'' से।

समास—आदित्यं = आदितेः अपत्यं पुमान् आदित्य: तम्। **प्रकामम्** = अप्सरा पक्ष में इसे ''आदित्यम्'' का विशेषण भी बनाया जा सकता है। इस स्थिति में समास होगा— प्रकृष्टः कामो यस्य स:— तम्। **अप्सरायिता** = अद्भ्यः समुद्रजलात् सरन्ति उद्यान्ति इति अप्सरस:। अप्सरस इव आचरिता इति अप्सरायिता।

टिप्पणियाँ—आदित्यम् = सूर्य को। अप्सरा पक्ष में— इन्द्र को (अदिति के पुत्र इन्द्र)। **अवाप्य** = प्राप्त कर। **कण्टकैः** = काटों से। **अप्सरापक्ष में**— रोमाञ्चों से। **करम्बिता** = व्याप्त। **आमोदभरम्** = अत्यधिक सुगन्धि से युक्त। अप्सरापक्ष में = अत्यधिक आनन्द से परिपूर्ण। **धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा** = विकसित कमल पुष्परूप शरीर वाली। अप्सरापक्ष में— प्रकाशमान शोभा के स्थानरूप शरीर को धारण करने वाली। **यत्प्रभवा** = जिस तालाब से अथवा जिस तालाब में उत्पन्न। **अप्सरायिता**— अप्सरा के सदृश आचरण किया। अप्सरायें समुद्र में तो थी हीं— समुद्रमन्थन के समय रत्नों के साथ ही अप्सरायें

भी उत्पन्न हुई थीं। उस तालाब से भी सरोजिनियों के रूप में अप्सरायें उत्पन्न हुई थीं। अत: उक्त तालाब को भी समुद्र ही कहा जा सकता था।

प्रसङ्ग— दैवतकथा के अनुसार प्राचीन काल में पर्वतों को पंखयुक्त माना गया है। एक बार क्रोधित होकर इन्द्र ने अपने व्रज से उनके पंखों को काट डाला। मैनाक पर्वत भागकर समुद्र में जाकर छिप गया। अत: उसके पंख कटने से बच गये। किन्तु वह समुद्र में ही रहा। इस तालाब में वृक्ष का प्रतिबिम्ब ही मैनाक पर्वत के सदृश छिपा हुआ है। अत: यह तालाब भी समुद्र के समान है—

यदम्बुपुरप्रतिबिम्बितायतिर्-
मरुत्तरङ्गैस्तरलस्तटद्रुमः।
निमज्य मैनाकमहीभूतः सतस्ततान
पक्षान् धुवतः सपक्षताम्॥११६॥

मल्लिनाथकृत-टीका— यदिति। यस्य तडागस्याम्बुपूरे प्रतिबिम्बतायतिः प्रतिफलितायामः मरुत्तरङ्गैः वातवीजनैस्तरलश्चञ्चलः तटद्रुमः निमज्य सतो वर्त्तमानस्य पक्षान् धुवतः कम्पयतो मैनाकमहीभृतास्तदाख्यस्य पर्वतस्य साम्यं ततानेत्युपमा॥११६॥

अन्वय—यदम्बुपुरप्रतिबिम्बितायतिः मरुत्तरङ्गैः तरलः तटद्रुमः निमज्य सतः पक्षान् धुवतः मैनाकमहीभूतः सपक्षतां ततान।

संस्कृत-व्याख्या—यदम्बुपुरप्रतिबिम्बितायतिः= यस्य तडागस्य अम्बुनः जलस्य पूरे प्रवाहे प्रतिबिम्बिता प्रतिफलिता आयतिः आयामः यस्य एवम्भूतः, मरुत्तरङ्गैः= वातवीजनैः, तरलः = चञ्चलः, तटद्रुमः= तीरवृक्षः, निमज्य= अन्तर्निलीय, सतः= विद्यमानस्य, पक्षान्, धुवतः कम्पयतः, मैनाकमहीभूतः = मैनाकनाम्नः पर्वतस्य, सपक्षताम् = समानताम्, ततान = विस्तारयामास।

हिन्दी अनुवाद—यदम्बुपुरप्रतिबिम्बितायतिः = जिस (तालाब) के जलप्रवाह में प्रतिबिम्बित लम्बाई वाला, मरुत्तरङ्गैः तरलः = वायु द्वारा चालित लहरों से चंचल, तटद्रुमः = तटवर्त्ती वृक्ष, निमज्य = (समुद्र के) भीतर

डूबकर, सतः = अवस्थित, पक्षान् धुवतः = (अपने पंखों) को हिलाते हुए, मैनाकमहीभूतः = मैनाक पर्वत की, सपक्षताम् = समानता को, ततान = फैला रहा था अथवा समता कर रहा था।

भावार्थ—जिस (तालाब) के जल प्रवाह में प्रतिबिम्बित एवं विस्तार युक्त, वायु द्वारा चालित लहरों के कारण चंचलता को प्राप्त हुआ किनारे पर स्थित वृक्ष, जल के अन्दर डूबकर स्थित तथा अपने पंखों को कंपित करने वाले मैनाक पर्वत की समानता प्राप्त कर रहा था।

जिस तालाब के जल में प्रतिबिम्बित, वायुप्रेरित लहरों के कारण चंचलता को प्राप्त हुआ किनारे पर स्थित वृक्ष जल के भीतर डूबकर स्थित अपने पंखों को कम्पित करने वाले मैनाक पर्वत की समानता कर रहा था।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में "उपमा" अलङ्कार है।

व्याकरण—**निमज्य** = नि + मज्ज् + ल्यम्। **धुवतः** = धु + लट्—शतृ = धुवन् (षष्ठी विभक्ति के एकवचन में) **ततान** = तन् + लिट्।

समास—**यदम्बुपुरप्रतिबिम्बितायतिः** = यस्य, यदम्बु तस्य पूरः (षष्ठी तत्पु०) यदम्बुपूरः तस्मिन् प्रतिबिम्बिता आयतिः यस्य सः(बहुव्रीहि)। **सपक्षताम्** = समानः पक्षः यस्य सः सपक्षः (बहुव्रीहि), सपक्षस्य भावः सपक्षता ताम्।

टिप्पणियाँ—**यदम्बुपुरप्रतिबिम्बितायतिः** = जिस (तालाब) के जल में जिस (वृक्ष) की लम्बाई प्रतिबिम्बित हो रही थी ऐसा (वृक्ष)। **निमज्य** = डूबकर। **धुवतः** = कँपाते हुए। **मैनाकमहीभूतः** = मैनाक नामक पर्वत के। **सपक्षताम्** = समानता को। **ततान** = फैला रहा था—विस्तृत कर रहा था। समुद्र में मैनाक नामक पर्वत निवास किये हुए है। इस तालाब में उसी के सदृश वृक्ष का प्रतिबिम्ब सुशोभित हो रहा है। अतएव यह तालाब समुद्र के सदृश है।

प्रसङ्ग— इसके अनन्तर राजा नल ने उस क्रीड़ा-तडाग के समीप में विचरण करते हुए एक सुवर्णमय हंस देखा—

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्लवे रिरंसुहंसीकलनादसादरम्।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः॥११७॥
प्रियासु बालासु रतिक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितञ्च बिभ्रतम्।
स्मरार्जित रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च॥११८॥

मल्लिनाथकृत-टीका— पयोधीति। अथ च नैषधो निषधानां राजा नलः, 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञि 'त्यञ् पयोधिलक्ष्मीमुपि तत्सदृश इत्यर्थः। अत्र केलिपल्लवे क्रीड़ासरसि रिरंसूनां रन्तुमिच्छूनां हंसीनां कलनादेषु सादरं सस्पृहं तत्रान्तिके तत्समीपे विचरन्तं चित्रमद्भुतं हिरण्मयं सुवर्णमयं 'दाण्डिनायना' दिना निपातनात् साधुः। हंसमबोधि ददर्शेत्यर्थः। 'दीपजने 'त्यादिना कर्त्तरि चिण्। पुनस्तमेव विशिनष्टि—प्रियास्विति। बालाषु अरतिक्षमासु किन्त्वासन्नयौवना-स्वित्यर्थः। अन्यथा रागाङ्कुरासम्भवात्। रतिक्षमासु युवतीषु द्विविधाषु प्रियासु विषये क्रमाच्चञ्चच्वोस्त्रोट्योः 'चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियामि' त्यमरः। चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं सञ्जातद्विपत्रं पल्लवितं सञ्जात पल्लवञ्च चञ्च्वोर्द्वयोः सम्पुटितत्वे साम्याद् द्विपत्रेतं चरणयोस्तु विभ्रमरागमयत्वेन पल्लवसाम्यात् पल्लवत्वं राजहंसानां लोहितचञ्चुचरणत्वात् तस्मिन् मिषेणेत्युक्तं स्मरार्जितं स्मरेणैव वृक्षरोपणेनोत्पादित-मित्यर्थः। राग एव महीरुहस्तस्याङ्कुरं रागमहीरुहाङ्कुरः बिभ्रतं चञ्चुपुटमिषेण द्विपत्रितं बालिकागोचररागं चरणमिषेण पल्लवितं युवतीविषये रागञ्च बिभ्रतमित्यर्थः। ईदृशं हंसमबोधीति पूर्वेणान्वयः। 'नाभ्यस्ताच्छतुरिति नुम्प्रतिषेधः, वृक्षाङ्कुरो हि प्रथमं द्विपत्रितो भवति, पश्चात् पल्लवित इति प्रसिद्धम्। तत्र रागं बिभ्रतम् इति हंसविशेषणात्, तद्रागस्य हंसाधिकरणत्वोक्तिः, प्रियास्वधिकरणभूतास्वित्युपाध्यायविश्वेश्वर-व्याख्यानं प्रत्याख्येयम्, अन्यनिष्ठस्य रागस्यान्याधिकरणत्वायोगात्, न चायमेक एवोभयनिष्ठ इति भ्रमितव्यम्, तस्येच्छापरपतरपर्य्यायस्य तथात्वायोगात्, बुद्ध्यदीनामपि तथात्वापत्तौ सर्वसिद्धान्तविरोधात्, विषयानुरागाभावप्रसङ्गाच्च उभयोरपि रागत्वसाम्यादुभयनिष्ठभ्रमः केषाञ्चित्कतस्मात्का मिनोरन्योन्या-धिकरणरागयोरन्योन्यविषयत्वमेव नाधिकरणत्वमेवमिति सिद्धान्तः, प्रियास्विति

विषयसप्तमी, न त्वाधारसप्तमीति सर्वं रमणीयम्। अत्र रागमहीरुहाङ्कुरमिति रूपकं चञ्चुचरणमिषेणेत्यपह्नवानुप्राणितमिति सङ्करः। तेन स बाह्याभ्यन्तररागयोर्भेदे अभेदलक्षणातिशयोत्थापित चञ्चुरणभ्याजेनान्तरस्येव बहिरङ्कुरितत्वोत्प्रेक्षा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः॥११७-११८॥

अन्वय— स नैषधः पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्लवे रिरंसुहंसीकलनादसादरम् बालासु रतिक्षमासु च प्रियासु चञ्च्वोः चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं पल्लवितं च स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं बिभ्रतं तत्र अन्तिके विचरन्तं चित्रं हिरण्मयं हंसं अबोधि।

संस्कृत-व्याख्या—स, नैषधः= निषधानां राजा नलः पयोधिलक्ष्मीमुषि= पयोधिः समुद्रः तस्य लक्ष्मीं शोभां मुष्णातीति तादृशे, केलिपल्लवे= क्रीड़ासरसि, रिरंसुहंसीकलनादसादरम् = रिरंसूनां रन्तुमिच्छूनां हंसीनां कलनादेषु अव्यक्तमधुरशब्देषु सादरं साभिलाषम्, बालासु= अल्पवयस्कासु, रतिक्षमासु= रतियोग्यासु— आसन्नयौवनासु—इत्यर्थः (अन्यथा रागाङ्कुरासम्भवात्), च, (द्विविधासु), प्रियासु= बल्लभासु विषये, चञ्च्वोः= त्रोट्योः, चरणद्वयस्य च= पादद्वयस्य च, मिषेण= व्याजेन, द्विपत्रितम् = द्विपत्रयुक्तम्, पल्लवितम्= किसलययुक्तम्, च [चञ्चोः द्वयोः सम्पुटितत्वे सामात् द्विपत्रित्वं चरणयोस्तु विभ्रमरागमयत्वेन पल्लवसाम्यात्पल्लवत्वं राजहंसानां लोहितचञ्चुचरणात्वात् तस्मिन् मिषेणेत्युक्तम्], स्मरार्जितम्= स्मरेण कामेन एव वृक्षरोपणेनोत्पादितमित्यर्थः—कामोत्पन्नं वा, रागमहीरुहाङ्कुरम् = रागः अनुरागः तल्लक्षणः, महीरुहः वृक्षः तस्य अङ्कुरं, [राग एव महीरुहः वृक्षः तस्य अङ्कुरम्], बिभ्रतम् = [यथाक्रमं— चञ्चुपुटमिषेण द्विपत्रितं बालिकागोचररागं चरणमिषेण पल्लवितं युवतीविषये रागं च बिभ्रतमित्यर्थः] धारयन्तम्, तत्र अन्तिके= क्रीड़ासरनिकटे, विचरन्तम्= विहरन्तम्, चित्रम् = अद्भुतम्, हिरण्मयम् = सुवर्णमयम्, हंसम्, अबोधि = ददर्श-इत्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद—**सः, नैषधः** = उस राजा नल ने, पयोधिलक्ष्मीमुषि = समुद्र की शोभा चुराने वाले, **केलिपल्लवे** = क्रीड़ा सरोवर में,

रिरंसुहंसीकलनादसादरम् = रमणाभिलाषिणी हँसिनियों के अव्यक्त मधुर शब्द (कलनाद) के प्रति अभिलाषायुक्त (अथवा आदर रखने वाला), **बालासु** = किशोरावस्था में विद्यमान (मुग्धा), **च** = और रतिक्षमासु = रति के योग्य अथवा रमणयोग्य अथवा युवावस्था में विद्यमान (युवती), **प्रियासु** =प्रियाओं अथवा वल्लभावों के विषय में, **चञ्च्वोः चरणद्वयस्य च मिषेण** = दो चोचों (चञ्चुपुट) और दो चरणों के बहाने, **द्विपत्रितं पल्लवितं च** = दो पक्तियों और पल्लव से युक्त **स्मरार्जितम्** = कामदेव द्वारा उत्पादित (अथवा उत्पन्न किये गये हुए), **रागमहीरुहाङ्कुरम्** = अनुरागरूपी वृक्ष के अंकुर को, **विभ्रतम्** = धारण किये हुए, **अत्र अन्तिके** = उस सरोवर के समीप में ही, **विचरन्तम्** = विचरण करते हुए, **चित्रम्** = अद्‌भुत, **हिरण्मयम्** = सुनहले, **हंसम्** = हंस को, **अबोधि** = देखा।

भावार्थ— उस राजा नल ने [उक्त प्रकार से— १०८ वें श्लोक तक वर्णित] समुद्र की शोभा को चुराने वाले अर्थात् समुद्र के सदृश शोभाधारी उस क्रीड़ा-तडाग में रमणाभिलाषिणी हंसिनियों के अव्यक्त एवं मधुर शब्द के प्रति अभिलाषा युक्त, किशोरावस्था में विद्यमान वाला प्रियाओं तथा युवावस्था में विद्यमान सुरत-समर्था युवती प्रियाओं में दोनों चोचों तथा दोनों चरणों के बहाने से (क्रमशः) दो पत्रयुक्त तता पल्लवयुक्त, कामदेव द्वारा उत्पादित अनुराग रूपी वृक्ष के अंकुर को धारण किये हुए, विचित्र प्रकार के [अथवा सुवर्णमय होने के कारण अद्‌भुत], समीप में [क्रीड़ा सरोवर के पास में— अथवा- राजा नल के ही समीप में] विचरण करते हुए अथवा मन्दगति से चलते हुए सुनहले हंस को देखा।

अलङ्कार— उपर्युक्त युग्म में अनुप्रास, यथासंख्य [" बालासु.... पल्लवितं च " में], रूपक ["रागमहीरुहांकुरम्" में] तथा अपह्नुति अलङ्कारों की संसृष्टि विद्यमान है।

व्याकरण--**पयोधिलक्ष्मीमुषि** = पयोधिलक्ष्मी + मुष् + क्विप् (सप्तमी एकवचन में)। **हिरण्मयम्** = हिरण्य + मयट। **अबोधि** = बुध + लुङ्

(कर्त्ता अर्थ में)। **द्विपत्रितम्** = द्विपत्र + इतच्। **पल्लवितम्** = पल्लव + इतच्। **विभ्रतम्** = भृ + शतृ।

समास—पयोधिलक्ष्मीमुषि = पयोधेः लक्ष्मी (षष्ठीतत्पु०) पयोधिलक्ष्मी, तां मुष्णातीति पयोधिलक्ष्मीमुट्—तस्मिन्। **रिरंसुहंसीकलनादसादरम्** = रन्तुमिच्छः रिरंसु हंसी, (कर्मधारय) रिरंसुहंसी, तस्याः कलनादः (षष्ठीतत्पु०) इति रिरंसुहंसीकलनादः, तस्मिन् सादरः (सुप्सुपा समास), तम्। **हिरण्मयम्** = हिरण्यस्य विकार— इस अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय होकर— हिरण्मयः, तम्।

टिप्पणियाँ— युग्मम् = का अर्थ है दो-अर्थात् जहाँ दो को मिलाकर ही अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सके उसे 'युग्म' कहा जाता है। " वा युग्ममिता प्रोक्त"। **पयोधिलक्ष्मीमुषि** = समुद्र की शोभा को चुराने वाले अर्थात् समुद्र की शोभा के समान ही शोभा को धारण करने वाले। **रिरंसुहंसीकलनादसादरम्** = रमण करने की इच्छुक हंसिनियों के अस्पष्ट एवं मधुर आलाप को सुनने के लिये अभिलाषायुक्त अथवा लालायित। **केलिपल्वले** = क्रीड़ा सरोवर में। **बालासु** = बाला हंसिनियों के प्रति-अथवा अल्पवयस्का अथवा किशोरावस्था में विद्यमान (मुग्धाओं) हंसिनियों के प्रति। **रतिक्षमासु** = रति अथवा सुरत कार्य हेतु समर्थ युवा हंसिनियों के प्रति। इसका अभिप्राय यह है कि बाला (मुग्धा) हंसिनियों के प्रति उस हंस का अनुराग स्वल्प था और प्रौढ़ा हंसिनियों के प्रति हंस का अत्यधिक अनुराग था। अतएव वह हंस वाला हंसिनियों के साथ केवल चुम्बनादि व्यापार ही करता था तथा प्रौढ़ा हंसिनियों के साथ सभी प्रकार की रति। **चञ्च्वोः चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं पल्लवितं च** = इसका तात्पर्य यह है कि हंस की चोंच और चरण रक्तवर्ण (लाल) के हुआ करते हैं: महाकवि ने चञ्चुपुट और चरणद्वय का "मिष" शब्द से अपह्नव करके उसमें क्रमशः द्विपत्रित और पल्लवित राग रूपी वृक्ष के अङ्कुर की उत्प्रेक्षा की है। अङ्कुर निकलते समय सर्वप्रथम दो पत्ते ही निकला करते हैं जो प्रारम्भ में आपस में जुड़े भी रहा

करते हैं। तत्पश्चात् उसमें से पल्लवों का सृजन हुआ करता है। हंस का चञ्चुपुट द्विपत्रित अंकुर के सदृश प्रतीत होता था और उसके अनेक अंगुलियों से युक्त दोनों चरण पल्लवित अङ्कुर के सदृश। हंस के द्विपत्रित रागाङ्कुर का विषय बाल प्रिया थी और पल्लवित रागाङ्कुर का विषय युवती-प्रिया। **अन्तिके** = समीप में (तालाब के समीप में अथवा राजा नल के समीप में)। **चित्रम्** = विचित्र, अद्भुत। **हिरण्मयम्** = सुनहला। **अबोधि** = जाना, समझा, देखा।

प्रसङ्ग— उस पक्षी (हंस) को देखकर राजा नल का मन कौतूहल से पूर्ण हो गया—

महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं
शकुन्तमेकान्तमनोविनोदिनम्।
प्रियावियागाद्विधुरोऽपि निर्भरं
कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत्॥११९॥

मल्लिनाथकृत-टीका— महीति। महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्रः स नलः एकान्तं नितान्तं मनो विनोदयतीति तथोक्तं तं शकुन्तं पक्षिणं क्षणमवेक्षय प्रियावियोगान्निर्भरमतिमात्रं विधुरो दुःस्थोऽपि मनागीषत्कुतूहलाक्रान्तमनाः कौतुकितचित्तोऽभूत्, गृहीतकामोऽभूदित्यर्थः॥११९॥

अन्वय—महीमहेन्द्रः स एकान्तमनोविनोदिनं तं शकुन्तं क्षणं अवेक्ष्य प्रियावियोगात् निर्भरं विधुरः अपि मनाक् कुतूहलाक्रान्तमना अभूत्।

संस्कृत-व्याख्या—महीमहेन्द्रः = भूदेवेन्द्रः, सः = नलः, एकान्तमनोविनोदिनम् = एकान्तं नितान्तं मनो विनोदयति रञ्जयतीति तथोक्तम्, तम्= पूर्वोक्तम्, शकुन्तम् = पक्ष्णिम्, क्षणम् = मुहूर्त्तम्, अवेक्ष्य = दृष्ट्वा, प्रियावियोगात् = दमयन्तीविरहात् निर्भरम् = अतिमात्रम्, विधुरः अपि = दुःस्थोऽपि, मनाक् = ईषत्, कुतूहलाक्रान्तमना= कुतूहलेन कौतुकेन आक्रान्तं अभिभूतम्, मनः चित्तं यस्य तादृशः, अभूत् = जातः गृहीतुकामः अभूदित्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद—महीमहेन्द्रः = पृथ्वी के इन्द्र अर्थात् महान् शासक, सः = वह (राजा नल), एकान्तमनोविनोदिनम् = अत्यधिक रूप से मनोरञ्जन करने वाले, तं शकुन्तम् = उस पक्षी (हंस को), क्षणं अवेक्ष्य = क्षणभर देखकर, प्रियावियोगात् = प्रिया (दमयन्ती) के वियोग के कारण, निर्भरं विधुरः अपि = अत्यन्त व्याकुल होने पर भी, मनाक् = कुछ, कुतूहलाक्रान्तमना = उत्सुकता पूर्ण चित्तवाले, अभूत् = हो गये।

भावार्थ— प्रिया (दमयन्ती) के विरह के कारण अत्यन्त दुःखी वे पृथ्वीपति नल अत्यन्त सुन्दर उस पक्षी (हंस) को क्षण भर के लिये देख कर (उसको पकड़ने की दृष्टि से) कुछ कुतूहलपूर्ण (उत्सुकतापूर्ण) हो गये अर्थात् उन्होंने उसे पकड़ लेने की इच्छा की।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में अनुप्रास अलङ्कार की छटा दृष्टिगोचर हो रही है।

व्याकरण—**मनोविनोदिनम्** = मनस् + वि+ नुद् + णिच् + णिनि (कर्त्ता में)— मनोविनोदी (द्वितीया एकवचन में)।

समास—**महीमहेन्द्रः** = मह्यां वा मह्याः महेन्द्रः इति महीमहेन्द्रः। **महेन्द्रः** = महांश्चासै इन्द्रः महेन्द्रः (कर्मधारय)। **एकान्तमनोविनोदिनम्** = मनोविनोदयितुं शीलमस्य इति मनोविनोदी। एकान्तेन मनो विनोदी इति एकान्तमनोविनोदी, तम्। **कुतूहलाक्रान्तमना** = कुतूहलेन आक्रान्तं मनो यस्य सः (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**महीमहेन्द्रः** = पृथ्वी का इन्द्र- स्वामी अथवा महान् शासक, **एकान्तमनोविनोदिनम्** = अत्यधिक रूप से मन विनोद करने वाले— पूर्णरूप से मनोरंजनकारी, **शकुन्तम्** = पक्षी को। **अवेक्ष्य** = देखकर। **निर्भरम्** = अत्यन्त = अधिक। **विधुरः** = दुखी। **मनाक्** = थोड़ा कुछ कुछ। **कुतूहलाक्रान्तमना** = जिसके मन में कुतूहल अथवा उत्सुकता उत्पन्न हो गयी हो। **अभूत्** = हो गया।

प्रसङ्ग— अत्यधिक कामपीड़ित एवं विरही राजा नल के मन में उस हंस को पकड़ने की उत्सुकता क्यों उत्पन्न हो गयी ? यह बतलाते हैं—

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया
दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते
जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना॥१२०॥

मल्लिनाथकृत-टीका— कथमीदृशे चापल्ये प्रवृत्तिरस्य धीरोदात्तस्येत्याशङ्क्य नात्र जन्तोः स्वातन्त्र्यं किन्तु भाव्यर्थानुसारिणी विधातुरिच्छैर तथा प्रेरयतीत्याह- अवश्येति। अवश्यभव्येष्ववश्यं भाव्यर्थेषु विषये 'भव्यगेया'दिने कर्त्तरि यत्प्रत्ययान्तो निपातः, 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये' इत्यवश्यमो मकारलोपः अनवग्रहग्रहा अप्रतिबन्धनिर्बन्धा निरङ्कुशाभिनिवेशेति यावत्, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धग्रहणेषु गणोद्यम' इति विश्वः। वेधसः स्पृहा विधातुरिच्छा यया दिशा धावति येनाधाना प्रवर्त्तते तयैव दिशा भृशावशात्मनाऽत्यन्तपरतन्त्रस्वभावेन जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या वातसमूह इव, 'पाशादिभ्यो यः' अनुगम्येत, वेधसः स्पृहा कर्म्म॥१२०॥

अन्वय— अवश्यभव्येषु अनवग्रहग्रहा वेधसः स्पृहा यया दिशा धावति तया भृशावशात्मना जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या इव (वेधसः स्पृहा) अनुगम्यते।

संस्कृत-व्याख्या— अवश्यभव्येषु = अवश्यं भाव्यर्थेषु विषये, अनवग्रहग्रहाः = अनवग्रहः अबाध्यमानः निरर्गलः ग्रहः अभिनिवेशः प्रसरो यस्याः— एतादृशीः, वेधसः= विधातुः, स्पृहा = इच्छा, यया दिशा= येन मार्गेण, धावति= प्रवर्त्तते, तया= एव दिशा, भृशावशात्मना= अत्यन्तपरतन्त्रस्वभावेन, जनस्य= लोकस्य, चित्तेन = मनसा, तृणेन, वात्या इव = वातसमूह इव [वेधसः स्पृहा], अनुगम्यते= अनुस्रियते।

हिन्दी अनुवाद—अवश्यभव्येषु = अवश्य होने वाले विषयों के सम्बन्ध में, अनवग्रहग्रहाः = बिना किसी प्रकार की बाधा के (निरङ् कुश) चलने

वाली अथवा अबाधगति से चलने वाली, वेधसः = विधाता की, स्पृहा = इच्छा, यया दिशा = दिशा की ओर, धावति = दौड़ती है, तया = उसी दिशा की ओर, भृशावशात्मना = अत्यन्त परतन्त्र स्वभाव वाला, जनस्य चित्तेन = लोगों का मन, तृणेन वात्या इव = आँधी के पीछे तिनके के समान (ब्रह्मा की इच्छा), अनुगम्यते = चला करता है— अनुगमन किया करता है।

भावार्थ— अवश्यम्भावी ब्रह्मा की इच्छा निर्बाधगति से जिस ओर गमन किया करती है उसी ओर मनुष्य का मन भी वायुसमूह (अथवा आँधी) से तिनके के समान अनुगमन किया करता है। जैसे तिनके तीव्र वायु के झोंकों के साथ उसी ओर गमन किया करते हैं जिस ओर को वायु बहा करती है। इसी प्रकार मनुष्यों का पराधीन मन भी उसी ओर चला जाया करता है जिस ओर ब्रह्मा की इच्छा (होनहार) का गमन हुआ करता है।

राजा नल तो धीर-प्रकृति थे। फिर उनका मन हंस को पकड़ने के लिये चञ्चल क्यों हो उठा? एतद्विषयक प्रश्न का समाधान महाकवि ने यह किया है कि ब्रह्मा की इच्छा अथवा होनहार अत्यन्त प्रबल हुआ करती है। उसे रोक नहीं सकता। ब्रह्मा की इच्छा के अनुरूप ही मनुष्य भी परवश होकर उसी प्रकार के कार्य में प्रवृत्त हो जाया करता है। अतः राजा नल भी विधाता (ब्रह्मा) की इच्छा के आधार पर ही हंस को पकड़ने हेतु प्रवृत्त हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि अवश्यम्भावी दमयन्ती के विवाह की अनुकूलता के विधि-प्रेरित हंस के विषय में राजा के मन में (उसको पकड़ने की) उत्सुकता उत्पन्न हुई।

अलङ्कार— ''वात्या इव'' की दृष्टि से उक्त श्लोक में ''उपमा'' अलङ्कार है।

व्याकरण— वात्या = वात +य (''पाशादिभ्यो यः'' से)— तदनन्तर 'टाप्' होकर।

समास—**अनवग्रहग्रहा** = अनवग्रहः ग्रहः यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **भृशावशात्मना** = भृशं अवशः आत्मा स्वभावो यस्य तत् (बहुव्रीहि), तेन।

टिप्पणियाँ—अवश्यभव्येषु = अवश्य होने वाले विषयों में-अथवा होनहार सम्बन्धी विषयों में, **अनवग्रहग्रहा:** = निर्बाधरूप से विचरण करने वाली **वेधसः** = ब्रह्मा की, **स्पृहा** = इच्छा। **भृशावशात्मना** = अत्यधिक रूप से परतन्त्र स्वभाव वाले। **तृणेन वात्या इव** = आँधी के समान जिस जिस ओर आँधी गमन करती है उसी उसी ओर तिनका भी गमन किया करता है। इसी प्रकार ब्रह्मा की इच्छा के अनुरूप ही लोगों के मन भी हो जाया करते हैं। **अनुगम्यते** = पीछे-पीछे चला करता है, अनुगमन किया करता है।

प्रसङ्ग— इसके अनन्तर रति-क्रीड़ा के परिश्रम से थका वह हंस उसी क्रीड़ा-सरोवर के पास ही सो गया—

अथावलम्ब्य क्षणमेकपादिकां
तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः।
सतिर्य्यगावर्जितकन्धरः शिरः
पिधाय पक्षेण रतिक्लमालसः॥१२१॥

मल्लिनाथकृत-टीका— चिकीर्षितार्थे दैवानुकूल्यं कार्यत्तो दर्शयति- अथेति। अथ नलदृष्टिप्राप्त्यनन्तरं रतिक्लमालसः स खगो हंसः तदा नलकुतूहलकाले क्षणमेकः पादो यस्यां क्रियायामित्येकपादिका एकपादेनारस्थानं मत्वर्थीयष्ठन् प्रत्ययः, 'यद्धितार्थे'त्यादिना सङ्ख्यासमासः, 'यस्येति' लोपस्य स्थानिवद्भोन तादृप्याभावान्न पादः पदादेशः, तामेकपादिकामवलम्ब्य तिर्यगावर्जितकन्धरः आवर्त्तितग्रीवः सन् पक्षेण शिरः पिधाय उपपल्लवं पल्वले निदद्रौ सुष्वाप। स्व-भावोक्तिरलङ्कारः 'स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात्॥१२१॥

अन्वय—अथ तदा रतिक्लमालसः स खगःएपादिकां अवलम्ब्य तिर्य्यगावर्जितकन्धरः पक्षेण शिरः पिधाय क्षणं उपपल्वलं निदद्रौ।

संस्कृत-व्याख्या—अथ = अनन्तरम्, तदा= तस्मिन् समये, रतिक्लमालसः= रतिक्लमेन सुरतखेदेन अलसः आलस्ययुक्तः, स, खगः=

हंस:, एपादिकाम् = एकपादेन अवस्थानम्, अवलम्ब्य= आश्रित्य, तिर्य्यगावर्जितकन्धर: =तिर्यक् यथा स्यात्तथा आवर्तितग्रीव: (सन्) पक्षेण, शिर:= मस्तकम्, पिधाय= आच्छाद्य, क्षणम्, उपपल्वलम् = सरोवरसमीपे, निदद्रौ = सुष्वाप।

हिन्दी अनुवाद—अथ = इसके पश्चात्, तदा = उस समय, रतिक्लमालस: = रतिजन्य परिश्रम के कारण आलस्युक्त, स खग: = वह पक्षी (हंस), एपादिकाम् = एक पैर का, अवलम्ब्य = सहारा लेकर, तिर्य्यगावर्जितकन्धर: = गर्दन को तिरछी करके, पक्षेण शिर: पिधाय = (अपने) पंख से सिर को ढककर, क्षणम् = क्षण भर के लिये, उपपल्वलम् = उस तालाब के समीप में, निदद्रौ = सो गया।

भावार्थ— इसके पश्चात् रतिक्रीड़ा के परिश्रम से खिन्न मन वाला वह हंस अपनी गर्दन को तिरछा कर अपने सिर को पंख से ढक कर एक पैर पर स्थित होकर उस क्रीड़ा सरोवर के पास में ही सो गया।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में ''स्वभावोक्ति'' अलङ्कार है। ''स्वभावोत्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्''।

व्याकरण— एकपादिकाम् = ''एक पाद जिस क्रिया में है'' ऐसी क्रिया का सहारा लेकर ''एक: पाद: यस्यां क्रियायाम्'' इस अर्थ में ''तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च'' सूत्र से 'एक' शब्द का ''पाद'' के साथ संख्या-समास होकर ''अति इनिठनै'' से मत्वर्थीय ''ठन्'' (इक्) प्रत्यय होने के पश्चात् ''एकपादिका'' शब्द बनता है। **पिधाय** = अपि + धान + ल्यप्। विकल्प से 'अ' का लोप होकर 'पिधाय' तथा '' अपिधाय'' दोनों ही रूप बनते हैं। **निदद्रौ** = नि + द्रा + लिट्।

समास—रतिक्लमालस: = रतिजन्य: क्लम: इति रतिक्लम:, तेन अलस: (तृतीया तत्पु०) इति। **एपादिकाम्** = एकश्चासौ पाद: इति एकपाद: (कर्मधारय), स: अस्यां स्थितौ अस्ति इति एकपादिका, ताम्। **उपपल्वलम्** = पल्वस्य समीपे इति उपपल्वलम् (अव्ययीभाव स०)।

टिप्पणियाँ—**रतिक्लमालसः** = रतिक्रीड़जन्य परिश्रम के कारण आलस्युक्त। **एपादिकाम्** = एक पैर पर खड़े होकर। वह स्थिति कि जिसमें एक पैर का सहारा लेकर खड़ा हुआ जाता है। **अवलम्ब्य** = आश्रय अथवा सहारा लेकर। **तिर्य्यगावर्जितकन्धरः** = तिरछी कर ली गयी है गर्दन जिसमें—अर्थात् गर्दन को तिरछा करके। **पिधाय** = ढँककर। **क्षणम्** = क्षणभर (अर्थात् थोड़ी देर अथवा कुछ समय) के लिये। **उपपल्वलम्** = (उस) क्रीड़ा-सरोवर के पास में ही। **निदद्रौ** = सो गया।

प्रसङ्ग— हंस को उपर्युक्त स्थिति में देखकर राजा नल ने समझा कि यह या तो सुनहरा कमल है अथवा यह सुनहरे वर्ण का वरुण का चामर है—

सनालमात्माननिर्जितप्रभं
ह्रिया नतं काञ्चनमम्बुजन्म किम्।
अबुद्धं तं विद्रुमदण्डमण्डितं स
पीतमम्भःप्रभुचामरञ्च किम् ?॥१२२॥

मल्लिनाथकृत-टीका— सनालमिति। स नलः तं निद्राणं हंसम् आत्माननेग निर्जितप्रभं निजमुखनिराकृतशोभस् अत एव ह्रिया नतं सनालं नालसहितं काञ्चनं सौवर्णमम्बुजन्मांबुजं किम्? तथा विद्रुमदण्डेन मण्डितं भूषितं पीतवर्णमम्भः प्रभोरपाम्पत्युः वरुणस्य चामरं किम्? इति शब्दोऽत्राहार्य्यं इति अबुद्ध बुद्धंवानुत्प्रेक्षितवानित्यर्थः। बुध्यतेर्लुङि तङ 'झषस्तथोर्धो ध' इति तकारस्य धकारः॥१२२॥

अन्वय— सः तं आत्माननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं सनालं काञ्चनं अम्बुजन्म किम् ? विद्रुमदण्डमण्डितं पीतं तं स अम्भःप्रभुचामरं च किम् (इति) अबुद्ध।

संस्कृत-व्याख्या—सः = नलः, तम् = निद्राणं हंसम्, आत्माननिर्जितप्रभम् = आत्मनः स्वकीयस्य आननेन मुखेन निर्जिता विजिता प्रभा कान्तिः यस्य तादृशम् निजमुखनिराकृतशोभम्—इत्यर्थः, (अतएव), ह्रिया = लज्जया, नतम् = नम्रम्, सनालम् = नालसहितम्, काञ्चनम् = सौवर्णम्, अम्बुजन्म = पद्मम्, (एतत्), किम्? विद्रुमदण्डमण्डितम् = विद्रुमदण्डेन

प्रवालदण्डेन मण्डितं सुशोभितम्, पीतम् = पीतवर्णम्, अम्भःप्रभुचामरम् = अम्भः प्रभोः वरुणस्य चामरम्, च किम्? (इति) अबुद्ध = बुद्धवान्-उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद—सः = उस राजा नल ने, तम् = उस (सोये हुए) हंस को, आत्मानननिर्जितप्रभम् = मेरे मुख के द्वारा जीत ली गई है शोभा जिसकी (ऐसा), (अतएव), ह्रिया = लज्जा से, नतम् = झुका हुआ, सनालम् = नालदण्डसहित, काञ्चनम् = सुवर्णमय, अम्बुजन्म = कमल है, किम् = क्या? (अथवा) विद्रुमदण्डमण्डितम् = मूँगों से निर्मित दण्ड से अलंकृत, पीतम् = पीले रंस का, अम्भःप्रभुचामरम् = जल के स्वामी वरुण का चँवर है, किम् = क्या? (ऐसा) अबुद्ध = जाना।

भावार्थ– उस राजा नल ने उस सोये हुए हंस को एक चरण पर बैठा हुआ होने के कारण अपने मुख से पराजित कान्ति से युक्त, अतएव लज्जा के कारण नीचे की ओर किये हुए मुख से युक्त कमलदण्ड से युक्त था तो यह सुवर्णमय कमल है अथवा मूँगों से निर्मित दण्ड से सुशोभित पीले रंग का वरुण का चँवर है, ऐसा समझा।

चूँकि वह हंस एक पैर पर स्थित था। अतः नालसहित सुवर्णकाल जैसा प्रतीत हो रहा था। और चूँकि उसका चरण रक्तवर्ण का था– इस कारण वह मूँगों से निर्मित दण्ड से युक्त चँवर सा प्रतीत हो रहा था।

अलङ्कार– उक्त श्लोक में 'सन्देह' अलङ्कार है। स्पष्ट ही है।

व्याकरण–**काञ्चनम्** = "काञ्चनस्य विकारः" इस विग्रह में "अनुदात्तादेश्च" से "अञ्" होकर काञ्चन् + अञ्। **अबुद्ध** + बुध (दिवादिगणी) + लुङ् (कर्तृवाच्य, आत्मनेपद, प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप)।

समास–**आत्मानननिर्जितप्रभम्** = आत्मनः आननम् (षष्ठी तत्पु०) इति आत्माननम्– तेन निर्जिता प्रभा यस्य तत् (बहुव्रीहि)। **अम्बुजन्म** = अम्बुनि जन्म यस्य तत् (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ— **आत्माननिर्जितप्रभम्** = अपने (राजा नल के अपने) मुख की कान्ति द्वारा जीत ली गयी थी कान्ति जिसकी ऐसा (कमल)। **काञ्चनम्** = सुवर्णनिर्मित अथवा सोने का अथवा सुन्हरी कान्ति से युक्त। **अम्बुजन्म** = कमल। **विद्रुमदण्डमण्डितम्** = मूँगों से निर्मित दण्ड से सुशोभित। उस चँवर का दण्ड मूँगों से निर्मित होने के कारण लाल था। **अम्भःप्रभुचामरम्** = जल के स्वामी-वरुण का चँवर। **अबुद्ध** = जाना, समझा।

प्रसङ्ग— वन के वृक्षों के नवपल्लवों तथा जलीय कमलों के साथ युद्ध की इच्छा रखने वाले राजा नल के चरणों ने मानों जूतों के रूप में कवच ही बाँध रखा था—

कृतोवरोहस्य हयादुपानहौ
ततः पदे रेजतुरस्य बिभ्रती।
तयोः प्रवालैर्वनयोस्तथाऽम्ब-
ुजैर्नियोदधुकामे किमु बद्धवर्मणी ?॥१२३॥

मल्लिनाथकृत-टीका— कृतेति। ततस्तन्निदर्शनानन्तरं हयादश्वास्कृतावरोहस्य कृतावतरणस्यास्य नलस्योपानहौ वर्मणी पादत्राणे। 'पादत्राणे उपानहौ इत्यमरः। पदे चरणे तयोर्वनयोः सलिलकाननयोः 'वने सलिलकानने' इत्यमरः। प्रवालैः पल्लवैः तथाम्बुजैः पद्मैश्चेत्यर्थः, 'सहार्थे तृतीया' नियोद्धुं कामोऽभिलाषो ययोस्तेनियोद्धुकामे युद्धकामे इत्यर्थः। 'तुं काममनसोरपी' ति तुमुनो मकारलोपः, अतो बद्धवर्म्मणी किमु बद्धकवचे इव ते रेजतुः किमित्युत्प्रेक्षा॥१२३॥

अन्वय— ततः हयात् कृतोवरोहस्य अस्य उपानहौ बिभ्रती पदे तयोः प्रवालैः अम्बुजैः नियोदधुकामे बद्धवर्मणी किमु रेजतुः।

संस्कृत-व्याख्या—ततः = तदनन्तरम्, हयात् = अश्वात्, कृतावरोहस्य= कृतावतरस्य अस्य=नलस्य, उपानहौ= पादत्राणैः, बिभ्रती= धारयन्त्यौः, पदे = चरणौ, तयोः, विनयोः= सलिलकाननयोः, प्रवालैः= पल्लवैः, तथा=च,

अम्बुजैः= पद्मैश्च, नियोदधुकामे = युद्धकामे-इत्यर्थः, बद्धवर्मणी = बद्धकवचे, किमु= इव, रेजतुः = शुशुभाते।

हिन्दी अनुवाद—ततः = तदनन्तर, हयात् कृतोवरोहस्य = घोड़े से उतरे हुए, अस्य = उस राजा नल के, उपानहौ = जूतों को, बिभ्रती = धारण किये हुए, पदे = दोनों पैर, तयोः वनयोः = उन दोनों वनों (उपवन तथा सरोवर) के (क्रमशः), प्रवालैः = नूतनपल्लवों, तथा = और, अम्बुजैः = कमलों के साथ, नियोद्धुकामे = युद्ध करने की इच्छा से, बद्धवर्मणी = कवच बाँधे हुए थे, किमु = सदृश, रेजतुः = सुशोभित हुए।

भावार्थ— जूतों को धारण किये हुए राजा नल के चरण ऐसे प्रतीत होते कि मानों वन में उत्पन्न हुए नूतन पल्लवों तथा कमलों के साथ युद्ध करने के निमित्त (उन पैरों ने) कवच (जूता रूपी कवचों को) धारण कर रखा है।

अलङ्कार— इस श्लोक में ''उत्प्रेक्षा'' अलङ्कार है।

व्याकरण—**उपानहः** = उप + नह् + क्विप्— ''नहिवृत्ति...'' इत्यादि सूत्र से दीर्घ होकर। **नियोद्धुकामे** = नियोद्धुम् + कम् + णिङ् + अच्— यहाँ '' 'तुङ्काममनसोरपि' से तुतुम् के 'म्' का लोप हो जाता है। **रेजतुः** = राज + लिट् — (प्रथमपुरुष द्विवचन का रूप)।

समास—**कृतोवरोहस्य** = कृतः अवरोहः येन सः (बहुव्रीहि)— कृतौवरोहः तस्य। **वनयोः** = वनं च वनं च इति वने— तयोः। **नियोद्धुकामे** = नियोद्धुं कामयेते इति नियोद्धुकामे।

टिप्पणियाँ—**हयात्** = घोड़े से, **कृतोवरोहस्य** = उतरे हुए— (कर लिया है उतरना जिसने)। **उपानहौ** = (दोनों चरणों में धारण किये गये) जूते। **बिभ्रती** = धारण किये हुए अथवा पहने हुए। **वनयोः** = यहाँ पर वन श्लिष्ट पद है। इसके दो अर्थ हैं (१) वन (कानन) (२) जल— ''वने सलिलकानने'' इत्यमरः। वन में उत्पन्न वृक्षों अथवा पौधों के नूतन किसलयों (पल्लवों) तथा जल में उत्पन्न कमलों के साथ युद्ध करने की इच्छा से राजा

नल के दोनों चरणों ने, मानो जूतों के रूप में कवच ही बाँध रखे थे। **नियोद्धुकामे** = युद्ध करने की इच्छा से। **बद्धवर्मणी** = कवचों को बाँधे हुए अथवा धारण किये हुए। **रेजतुः** = सुशोभित हुए।

प्रसङ्ग— राजा नल ने चुपके से पास जाकर उस हंस को अपने हाथ से पकड़ लिया—

विधाय मूर्तिं कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम्।
उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना॥१२४॥

मल्लिनाथकृत-टीका— विधायेति। अयं नृपः स्वयमेव कपटेन छद्मना वामनीं गौरीदित्वात् डीप्, वलिध्वंसिविडम्बिनीं कपटवामनविष्णुमूर्त्यनुकारिणीमित्यर्थः, मूर्ति विधाय कायं सङ्कुत्येत्यर्थः। मौनिना निःशब्देन चरणेनोपेतपार्श्वः प्राप्तहंसान्तिकः पाणिना पतङ्गं पक्षिणं समधत्त, संधृतवान् जग्राहेत्यर्थः। स्वभावोक्तिरलङ्कारः॥१२४॥

अन्वय— अयं नृपः स्वयं कपटेन बलिध्वंसिविडम्बिनीं वामनीं मूर्तिं विधाय मौनिना चरणेन उपेतपार्श्वः पाणिना पतङ्गं समधत्त।

संस्कृत-व्याख्या—अयम् नृपः = नलः, स्वयम् = आत्मनैव, कटपेन=छलेन बलिध्वंसिविडम्बिनीम् = बलिध्वंसी नारायणः तस्य विडम्बिनीं अनुकारिणीम्, वामनीम् = ह्रस्वाम्, मूर्तिम् = स्वरूपम्, विधाय= कृत्वा-स्वशरीरं संकोच्येत्यर्थः, मौनिना= निःशब्देन, चरणेन= पादेन, उपेतपार्श्वः = उपेतः पार्श्वः हंससमीप्यं येन तादृशः, पाणिना=हस्तेन, पतङ्गम् = पक्षिणं हंसम्, समधत्त = संधृतवान् —''जग्राह'' इत्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद—अयं नृपः = इस राजा नल ने, स्वयम् = अपने आप ही, कपटेन = छल से, बलिध्वंसिविडम्बिनीम् = राजा बलि के दर्प को नाश करने वाले अथवा राजा बलि का ध्वंस करने वाले वामनावतार विष्णु की मूर्ति का अनुकरण करने वाले, वामनीम् = छोटे से, मूर्तिम् = स्वरूप को, विधाय = बनाकर, मौनिना = शब्द रहित— चुपचाप, चरणेन = (दबे) पैर से,

उपेतपार्श्वः = पास जाकर, पाणिना = (अपने) हाथ से, पतङ्गम् = पक्षी (हंस) को, समधत्त = पकड़ लिया।

भावार्थ— इस राजा (नल) ने बलिध्वंसी (नारायण) के सदृश कपट से अपने शरीर को छोटा बनाकर शब्दरहित चरण से (हंस के) पास जाकर (अपने ही) हाथ से उस पक्षी अर्थात् हंस को स्वयं पकड़ लिया।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में ''स्वभावोक्ति'' अलङ्कार है।

व्याकरण—विडम्बिनीम् = वि + डम्ब् + णिच् + णिनि + ङीप् (द्वितीया एकवचन में)। **वामनीम्** = वामन + अण् + ङीप् अथवा गौरादित्वात् ङीष्। **समधत्त** = सम् + धा + लङ् (आत्मनेपद, प्रथम एकवचन)।

समास—बलिध्वंसिविडम्बिनीम् = बलिं ध्वंसयितुं शीलमस्य इति बलिध्वंसी, बलिध्वंसिनं विडम्बयतीति बलिध्वंसिविडम्बिनी ताम्। **उपेतपार्श्वः** = उपेतः पार्श्वः येन सः (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—कपटेन = कपट, छल या बहाने से। **बलिध्वंसिविडम्बिनीम्** = बलि का ध्वंस अथवा विनाश करने वाले (वामनावतार विष्णु) का अनुसरण करने वाली। अथवा पाताल के राजा बलि के अभिमान का नाश करने वाले वामनावतार भगवान् विष्णु की मूर्ति का अनुकरण करने वाली। **वामनीं मूर्तिं विधाय** = छोटा या बौना सा स्वरूप धारण कर। इस विषय में एक पौराणिक कथा है कि पाताल के राजा बलि को अपनी दानवीरता का बड़ा अभिमान था। अतः विष्णु ने वामनावतार के स्वरूप को धारण कर राजा बलि के समक्ष पहुँचकर उनसे तीन पग (चरण) भूमि माँगी। और स्वीकृति प्राप्त होने पर उन्होंने २ (ढाई) चरण में ही तीनों लोकों को नाप लिया और तदन्तर शेष आधे चरण में राजा बलि के शरीर पर भी अपना अधिकार कर लिया था। **मौनिना चरणेन** = दबे पैर से-शब्द रहित पैर से— अथवा चुपके से। **उपेतपार्श्वः** = प्राप्त कर ली है समीपता जिसने—अर्थात् समीप में जाकर उस हंस के पास पहुँचकर। **पतङ्गम्** = पक्षी (हंस) को।

समधत्त = पकड़ लिया। वामनावतार में विद्यमान वामन की ही तरह राजा नल ने भी चुपके से (शब्द रहित पैरों से) हंस के पास जाकर उसे पकड़ लिया।

प्रसङ्ग— अपने को पकड़ा हुआ समझकर उस हंस ने बार-बार उड़ने का प्रयास किया और पकड़ने वाले के हाथों को काटने लगा—

तदात्तमात्मानमवेत्य संभ्रमात् पुनः पुनः प्रायसदुत्प्लवाय सः।

गतो विरुत्योड्डयने निराशतां करौ निरोद्धुर्दशति स्म केवलम्॥

मल्लिनाथकृत-टीका— तदिति। स हंसः आत्मानं तदा तु तेन नलेनात्तं गृहीतमवेत्य ज्ञात्वा सम्भ्रमादुत्प्लवायोत्पतनाय पुनः पुनः प्रायसदायस्तवान्। यमु प्रयत्न इति धातोर्लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेशः। उड्डयने उत्पतने निराशतां गतो विरुत्य विक्रुश्य निरोद्धुः ग्रहीतुः करौ केवलं करावेव दशति स्म दष्टवान्। अत्रापि स्वभावोक्तिरेव॥१२५॥

अन्वय—तदा सः आत्मानं आत्तं अवेत्य संभ्रमात् पुनः पुनः उत्प्लवाय प्रायसत् उड्डयने निराशतां गतः विरुत्य निरोद्धुः करौ केवलं दशति स्म।

संस्कृत-व्याख्या— तदा = तस्मिन् समये, सः =हंसः, आत्मानम् = स्वम्, आत्तम् =[तेन नलेन] गृहीतम्, अवेत्य = ज्ञात्वा, संभ्रमात्= भयस्य कारणात्, पुनः पुनः=भूयो भूयः उत्प्लवाय = उत्पतनाय, प्रायसत्=प्रयत्न मकरोत्, उड्डयने = उत्पतने, निराशताम् = आशाराहित्यम्, गतः = प्राप्तः, विरुत्य= विक्रुश्य, निरोद्धुः = गृहीतुः, करौ-हस्तौ, केवलम् = मात्रम्, दशति स्म = दष्टवान्।

हिन्दी अनुवाद— तदा = तब, सः = वह हंस, आत्मानम् = अपने आपको, आत्तम् = (राजा नल के द्वारा) पकड़ा हुआ; अवेत्य = जानकर, ससंभ्रमात् = घबराहट के कारण, पुनः पुनः = बार बार, उत्प्लवाय = उड़ने के लिये, प्रायसत् = प्रयत्न करने लगा। उड्डयने = उड़ने में, निराशतांगतः = निराशा को प्राप्त हुआ [वह], विरुत्य = रो रोकर, निरोद्धुः = पकड़ने वाले के, करौ = दोनों हाथों को ही, केवलम् = केवल, दशति स्म = काटने लगा।

भावार्थ— तब उस हंस ने अपने को (राजा नल द्वारा) पकड़ा हुआ जानकर घबराहट के साथ बार-बार उड़ने का प्रयत्न किया [किन्तु उड़ न सका]। फिर उड़ने में निराश होकर वह रो रोकर पकड़ने वाले (राजा नल) के दोनों हाथों को ही काटने लगा।

अलङ्कार— इस श्लोक में ''स्वभावोक्ति'' अलङ्कार है।

व्याकरण—प्रायसत् = प्र + यस् + लुङ् (प्रथमपुरुष, एकवचन का रूप) **आत्तम्** = आ + दा + क्त—स्वरान्त उपसर्ग से परे 'दा' धातु को 'त्' हो जाता है। **निरोद्धुः** = नि + रुध्, तृच् — षष्ठी विभक्ति के एकवचन का रूप।

टिप्पणियाँ—आत्मानम् = स्वयं अपने आपको। **आत्तम्** = पकड़ा हुआ। **अवेत्य** = समझकर-जानकर। **ससंभ्रमात्** = घबराहट अथवा हड़बड़ी के कारण। **उत्प्लवाय** = उड़ने के लिये। **प्रायसत्** = प्रयत्न अथवा प्रयास किया। **विरुत्य** = रोने का विशेष शब्द करके। **निरोद्धुः** = पकड़ने वाले व्यक्ति के-राजा नल के। **दशति स्म** = काटने लगा। यहाँ 'स्म' के योग में ''लट् स्मे'' सूत्र के नियमानुसार भूत अर्थ में ही लट् का प्रयोग हुआ है।

प्रसङ्ग— वह तालाब अपने कमलरूप हाथों द्वारा उस हंस को पकड़ने से राजा नल को मना सा रहा था—

ससम्भ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः प्रपद्योत्कतयाऽनुकम्पिताम्।
तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव॥१२६॥

मल्लिनाथकृत-टीका— स इति। ससम्भ्रमं सत्वरमुत्पातिना उड्डीयमानेन पतत्कुलेन पक्षिसङ्घेनाकुलं सङ् कुलं सरः उत्कतया उन्मनस्तया 'उत्क उन्मना' इति निपातनादिविधानाच्च साधुः। अनुकम्पितांप्रपद्य कृपालुतां प्राप्य तं नृपमूर्मिलोलैश्चलैर्वारिरुहैः करैरिति व्यस्तरूपकम् पतगग्रहात्पक्षिग्रहात् न्यवारयदिवेत्युत्प्रेक्षा वास्तवनिवारणासम्भवादुत्प्रेक्षा, निवारणस्य करसाध्यत्वात् तत्र रूपकाश्रयणम्, अतएवेवशब्दस्य उपमाबाधेनार्थानुसाराद्व्य-वहितान् वयेनाप्युत्-प्रेक्षाव्यञ्जकत्वमिति, रूपकोत्प्रेक्षायोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥१२६॥

अन्वय—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः उत्कतया अनुकम्पितां प्रपद्य ऊर्मिलोलैः वारिरुहैः करैः, तं नृपं पतगग्रहात् न्यवारयत् इव।

संस्कृत-व्याख्या—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलम् = ससंभ्रमं सत्वं उत्पातिना उड्डीयमानेन पतत्कुलेन पक्षिसमूहेन आकुलं व्याप्तम्, सरः, उत्कतया = उन्मनस्तया, अनुकम्पिताम् = सकम्पतां दयालुतं वा, प्रपद्य = प्राप्य, ऊर्मिलोलैः =तरङ्गचञ्चलैः, वारिरुहैः = कमलैः (एव), करैः = हस्तैः, तं नृपम् = राजानं नलम्, पतगग्रहात् = पक्षिग्रहात्, न्यवारयत् इव = न्यषेधयत् इव।

हिन्दी अनुवाद—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलम् = घबराकर उड़ने वाले पक्षिसमूह से व्याप्त, सरः = सरोवर, उत्कतया = ऊपर उठते हुए जल के कारण अथवा उदासीन मन होने के कारण, अनुकम्पिताम् = दयालुता अथवा कम्पनशीलता को, प्रपद्य = प्राप्त करके, ऊर्मिलोलैः = तरंगों से चंचल, वारिरुहैः करैः = (अपने) कमलरूप हाथों के द्वारा, तं नृपम् = उस राजा नल की, पतगग्रहात् = पक्षियों के पकड़ने से, न्यवारयत् इव = मना सा कर रहा था।

भावार्थ—[अपने सजातीय हंस के पकड़ जाने के कारण] भय से उड़ जाने वाले पक्षिसमूह से व्याप्त [अथवा– हंस विषय उत्कण्ठा के कारण दयालुता को प्राप्त] वह सरोवर तरङ्गों से चंचल कमलरूप हाथों के द्वारा उस राजा नल को पक्षियों के पकड़ने से रोक सा रहा था।

राजा नल ने जब उस हंस को पकड़ लिया तब उस तड़ाग में विहार करने वाले अन्य सभी पक्षी भय के कारण (कहीं हमको भी न पकड़ लिया जाय– इस भय से) एक साथ उड़ गये। उड़ते समय उनके पंखों की हवा से उस तालाब का जल चंचल हो गया और तालाब में उत्पन्न हुई लहरों से कमल हिलने, डुलने लगे। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो कमल रूपी हाथों के हिलने डुलने रूप माध्यम द्वारा वह तालाब ही राजा को पक्षियों के पकड़ने से रोक रहा है।

अलङ्कार— यहाँ कमलों में हाथों का आरोप किया गया है। जड़ तालाब वस्तुत: मना नहीं कर सकता है। अत: उसमें मना करने रूप क्रिया की उत्प्रेक्षा की गयी है। अत: उक्त श्लोक में रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। इसके अतिरिक्त श्लोक में अनुप्रास एवं स्वभावोक्ति अलङ्कारों की छटा भी स्पष्ट रूप से दर्शनीय है।

व्याकरण—**ससंभ्रमोत्पाति** = ससंभ्रम + उद् + पत् + णिनि।

समास—**ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलम्** = पततां कुलम पतत्कुलम् (षष्ठीतत्पु०), संभ्रमेण सहितं ससंभ्रमम्, ससंभ्रमं उत्पतितुं शीलमस्य इति ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलम्, तेन आकुलम् (तृतीया तत्पु०)। **उत्कतया** =उत् उच्छलत्कं उदकं यस्य तस्य भाव: तत्ता तया। **पतगग्रहात्** = पतगस्य ग्रह: (षष्ठीतत्पु०) इतिपतगग्रह: तस्मात्।

टिप्पणियाँ—**ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलम्** = घबराहट के कारण उड़ने वाले पक्षियों के समूह से व्याप्त, **उत्कतया** = जल में उत्पन्न हुए कंपन के कारण अथवा उन्मन होने के कारण, **अनुकम्पिताम्** = दयालुता, कृपालुता को। **प्रपद्य** = प्राप्त करके। ऊर्मिलोलै: = लहरों के कारण चंचल। **वारिरुहै:** = कमलों से — (कमलरूपी हाथों से)। पतगग्रहात् = पक्षियों (हंसों आदि) के पकड़ने से। **न्यवारयत् इव** = निषेध सा कर रहा था, रोक रहा था।

प्रसङ्ग— राजा नल द्वारा उस हंस को पकड़ लिये जाने के कारण उसके साथी अन्य हंसों ने विवाद किया—

पतत्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रिय: प्रयान्त्या: प्रविहाय पल्वलम्।
चलत्पदाम्भोरुहजनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली॥१२७॥

मल्लिनाथकृत-टीका— पतत्रिणेति। रुचिरेण हंसेन वञ्चितं विरहितं तत्पल्वलं सर: विहाय प्रयान्त्या: गच्छन्त्या: श्रियो लक्ष्म्याश्चलद्भ्यां पदाम्भोरुहनूपुराभ्याम् उपमा साम्यं यस्या: सा कलहंसमण्डली कूले चूकूज। यूथभ्रंशे कूजनमेषां स्वभावस्तत्र हंसेनैव सह गच्छन्त्या: सर: शोभाया: श्रीदेव्या

सहाभेदाध्यवसायेन कूजत्कलहंसमण्डल्यां तन्नूपुरत्वमुत्प्रेक्ष्यते। उपमाशब्दोऽपि मुख्यार्थानुपपत्तेः सम्भावनालक्षक इत्यवधेयम्॥१२७॥

अन्वय—रुचिरेण पतत्रिण वञ्चितं तत् पल्वलं प्रविहाय प्रयान्त्याः श्रियः चलत्पदाम्भोरुहजनूपुरोपमा कलहंसमण्डली कूले चुकूज।

संस्कृत-व्याख्या—रुचिरेण = मनोज्ञेन, पतत्रिण = हंसेन, वञ्चितम् = विरहितम्, तत् पल्वलम् = सरः, प्रविहाय = त्यक्त्वा, प्रयान्त्याः = गच्छन्त्याः, श्रियः = लक्ष्म्याः— शोभायाः, चलत्पदाम्भोरुहजनूपुरोपमा= चलद्भ्यां चरण-कमलनूपुराभ्यां उपमा साम्यं यस्याः सा, कलहंसमण्डली = राजहंससंहतिः, कूले = तीरे, चुकूज = निनादं चकार।

हिन्दी अनुवाद—रुचिरेण पतत्रिण = सुन्दर पक्षी (हंस) से, वञ्चितम् = विरहितम्, तत् पल्वलम् = उस तालाब को, प्रविहाय = छोड़कर, प्रयान्त्याः = जाती हुई, श्रियः = लक्ष्मी (शोभा) के, चलत्पदाम्भोरुहजनूपुरोपमा = शब्द करते हुए कमल-सदृश चरणों के नूपुरों के समान, कलहंसमण्डली = राजहंससमूह ने, कूले = किनारे पर, चुकूज = कूजन किया।

भावार्थ— उस सुन्दर पक्षी (हंस) से रहित तालाब को छोड़कर गमन करती हुई लक्ष्मी (तालाब की शोभा) के चञ्चल चरणकमल के नूपुरों के सदृश राजहंससमूह (उस तालाब के) किनारे पर शब्द करने लगा।

अलङ्कार— महाकवि द्वारा यहाँ यह उत्प्रेक्षा की गयी है कि वह कलहंसनिनाद, मानो, हंस के पकड़े जाने से रुष्ट होकर उस तालाब को छोड़कर जाती हुई लक्ष्मी (तालाब की शोभा) के चरणों के नूपुरों की झङ्कार थी। इसके अतिरिक्त उक्त श्लोक में अनुप्रास तथा स्वभावोक्ति अलङ्कारों की भी छटा दर्शनीय है।

समास—**चलत्पदाम्भोरुहजनू पुरोपमा** = चलन्ती पदाम्भोरुहे (कर्मधारय) इति चलत्पदाम्भोरुहे, तयोः स्थितौ नूपुरौ— इति चलत्पदाम्भोरुह नूपुरौ— ताभ्यां उपमा यस्याः सा (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**रुचिरेण** = सुन्दर, मनोहर। **पतत्रिण** = पक्षी से हंस से। **वञ्चितम्** = विरहित विहीन। **प्रविहाय** = छोड़कर। **प्रयान्त्या:** = जाती हुई—गमन करती हुई। **श्रिय:** = लक्ष्मी (शोभा) की। **चलत्पदाम्भोरुहजनूपुरोपमा** = चञ्चल चरणरूपी कमलों में धारण किये गये हुए नूपुरों के समान। **कलहंसमण्डली** = सुन्दर हंसों का समूह— राजहंसों के झुण्ड ने। **चुकूज** = शब्द किया—निनाद किया।

प्रसङ्ग— उस तालाब को छोड़कर आकाश में गमन करते हुए पक्षियों ने अपने तीव्र शब्दों के द्वारा राजा नल की निन्दा की—

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग! यस्या: पतिरुज्झितस्थिति:।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभ: खगास्तमाचुक्रशुरारवै: खलु॥१२८॥

मल्लिनाथकृत-टीका— नेति। इयं वसुधा वासयोग्या निवासार्हा न, कुत: अङ्ग भो:! यस्या वसुधाया उज्झितस्थिति: त्यक्तमर्य्याद: ईदृश: अनपराध-पाक्षिधारक: त्व पति: पालक:, इत्थं खद्या: क्षितिं प्रहाय नभ आश्रितास्तं नलमारवैरुच्चध्वनिभिराचुक्रुशु: खलु। उक्तरीत्या सनिन्दोपालम्भनं चक्रुरिवेत्युत्प्रेक्षा गम्या॥१२८॥

अन्वय—'इयं वसुधा वासयोग्या न, यस्या: अङ्ग!, उज्झितस्थिति: ईदृश: त्वं पति:' इति क्षितिं प्रहाय नभ: आश्रिता खगा: तं आरवै: आचुक्रुशु खलु।

संस्कृत व्याख्या—'इयम् = दृश्यमाना, वसुधा= पृथ्वी, वासयोग्या = निवासयोग्या, न = नहि, यस्या: = वसुधाया: अङ्ग! = भो:!, उज्झितस्थिति: = त्यक्तमर्यादः ईदृश: = अनपराधपक्षिधारकं, त्वम् = भवान्, पति:= पालक:! इतिम्= इत्थम्, क्षितिम् = पृथ्वीम्, प्रहाय= त्यक्त्वा, नभ: = आकाशम्, आश्रिता:= प्राप्ता:, खगा: = पक्षिण:, तम् = नलम्, आरवै: = उच्चध्वनिभि:, आचुक्रुशु: खलु = उक्त रीत्या सनिन्दोपालम्भनं चक्रु: इव।

हिन्दी अनुवाद—'इयम् = यह, वसुधा = पृथ्वी, वासयोग्या = निवास करने योग्य, न = नहीं है, यस्या: = जिस पृथ्वी का, अङ्ग! = ओह, उज्झितस्थिति: = मर्यादा का त्याग करने वाले, ईदृश: = इस प्रकार के, त्वम्

= तुम जैसे, पतिः = स्वामी अथवा रक्षक हों, इति = ऐसा कहकर, क्षितिम् = पृथ्वी को, प्रहाय = छोड़कर, नभः = आकाश का, आश्रिताः = आश्रय प्राप्त करने वाले, खगाः = पक्षियों ने, तम् = उस राजा नल की, आरवैः = उच्च स्वरों से, आचुक्रुशु खलु = मानो निन्दी की।

भावार्थ— हे अङ्ग! (हे राजन् नल!) यह पृथ्वी निवास के योग्य नहीं है, जिस पृथ्वी के मर्यादा का भंग करने वाले तुम जैसे (निरपराध हंस को पकड़ने वाले) पालक अथवा रक्षक हों। इस प्रकार पृथ्वी का त्यागकर आकाश का आश्रय प्राप्त करने वाले पक्षियों ने जोरदार शब्दों में मानो उस राजा नल की निन्दा की।

अलङ्कार— इसमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

व्याकरण—**उज्झित** = उज्झ् (तुदादिगणी) + क्त्य। **आरवैः** = आ + रु अप् ("ऋदोरप" सूत्र से)।

समास—**उज्झितस्थितिः** = उज्झिता त्यक्ता स्थितिः मर्यादा येन सः। (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**वासयोग्या** = निवास करे योग्य-रहने योग्य। **उज्झितस्थितिः** = मर्यादा का त्याग कर दिया है जिसने। राजा का कर्तव्य था कि वह सभी प्राणियों की रक्षा करे— न कि हंस को पकड़ कर उसे और अधिक कष्ट प्रदान करे। **ईदृशः** = इस प्रकार का—निरपराध पक्षी (हंस) को पकड़ लेने वाला। **आरवैः** = उच्च स्वरों से युक्त ध्वनि अथवा शब्दों द्वारा। **आचुक्रुशु खलु** = चिल्लाये—अर्थात् उपालम्भरूप में उस राजा की निन्दा की।

प्रसङ्ग— हंस की प्रशंसा करने वाले राजा नल से उस हंस ने कहा—

न जातरूपपच्छदजातरूपता
द्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन् मुहुः।
अवादि तेनाथ स मानसौकसा
जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा॥१२९॥

मल्लिनाथकृत-टीका— नेति। इयमीदृग्जातरूपच्छदैः सुवर्णपक्षैः जातरूपता उत्पन्नसौन्दर्यत्वं द्विजस्य पक्षिणो न दृष्टा हिरण्मयः पक्षी न कुत्रापि दृष्ट इत्यर्थः। इति मुहुः स्तुवन् स जनाधिनाथः अथास्मिनन्तरे करपञ्जरस्पृशा तद्गतेन मानसं सरः ओकः स्थानं यस्येति सः तेन मानसौकसा हंसेन 'हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकस' इत्यमरः। अवादि उक्तः। वदेः कर्मणि लुङ्॥१२१॥

अन्वय— इयं जातरूपपच्छदजातरूपता द्विजस्य न दृष्टा इति मुहुः स्तुवन् स जनाधिनाथः अथ करपञ्जरस्पृशा तेन मानसौकसा अवादि।

संस्कृत-व्याख्या—इयम् = ईदृक्, जातरूपपच्छदजातरूपता= जातरूपस्य सुवर्णस्य छदौ पक्षौ— ताभ्यां जातं रूपं सौन्दर्यं यस्य तस्य भावः, तत्ता, द्विजस्य= पक्षिणः, न दृष्टा— हिरण्यमयः पक्षी न कुत्रापि दृष्टः-इत्यर्थः- इति= इत्थम्, मुहुः= वारंवारम्—, स्तुवन् = प्रशंसन्, स जनाधिनाथः = सः राजा नलः, अथ = अस्मिन्नन्तरे, करपञ्जरस्पृशा = करतलगतेन, तेन मानसौकसा = हंसेन, अवादि = उक्तः।

हिन्दी अनुवाद—इयम् = यह (ऐसी), जातरूपपच्छदजातरूपता = सोने के पंखों से उत्पन्न सुन्दरता, द्विजस्य = पक्षी (हंस) की, न दृष्टा = (कभी कहीं) नहीं देखी, इति = इस प्रकार, मुहुः स्तुवन् = बार बार प्रशंसा करते हुए, स जनाधिनाथः = उस राजा नल से, अथ = उस समय, करपञ्जरस्पृशा = हाथ रूपी पिंजड़े में स्थित, तेन मानसौकसा = उस मानसरोवर में निवास करने वाले हंस ने, अवादि = कहा।

भावार्थ— ऐसा सोने के पंखों से उत्पन्न सौन्दर्य किसी भी पक्षी का पहले कभी भी नहीं देखा गया है, इस भाँति हंस की बार-बार प्रशंसा करते हुए राजा नल से वह मानसरोवर निवासी हंस बोला।

अलङ्कार— इस श्लोक में अनुप्रास तथा रूपक अलङ्कार है।

व्याकरण—**जातरूपपच्छदजातरूपता** = जातरूपच्छदजातरूप + तल् + टाप्। **करपञ्जरस्पृशा** = करपञ्जर + स्पृश् + क्विन्— (तृतीया विभक्ति—एकवचन का रूप।

समास—**जातरूपपच्छदजातरूपता** = जातरूपस्य छदौ (षष्ठीतत्पु०) इति जातरूपच्छदौ ताभ्यां जातं रूपं यस्य (बहुव्रीहि) तस्य भाव:। **करपञ्जरस्पृशा** = करौ एव पञ्जरं अथवा कर: एव पञ्जरं— इति करपञ्जरम्, तत् स्पृशतीति करपञ्जरस्पृक् तेन। **मानसौकसा** = मानसं सर: ओक: स्थानं यस्य स मानसौकस: (बहुव्रीहि), तेन।

टिप्पणियाँ— **जातरूपपच्छदजातरूपता** = स्वर्णनिमित्त पंखों से उत्पन्न सौन्दर्य से। **द्विजस्य** = पक्षी (हंस) का। **जनाधिनाथ:** = लोकनाथ राजा। **करपञ्जरस्पृशा** = हाथ रूपी पिजड़े का स्पर्श करने वाला अथवा हाथों रूपी पिंजड़े में बन्द। **मानसौकसा** = मानसरोवर ही निवास स्थान हो जिसका— मानसरोवरनिवासी— हंस। **अवादि** = बोला, कहा।

प्रसङ्ग— सुवर्ण के पंखों के प्रति लोभी हे राजन्! तुमको धिक्कार है—

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मन:

समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मन:।

तवार्णवस्येव तुषारशीकरैर्भवेदमीभि:

कमलोदय: कियान्॥१३०॥

मल्लिनाथकृत-टीका— तदेव चतुर्भिराह— धिगित्यादि। हेम्नो जन्म येषां तान् हेमजन्मनो हैमान् मम पक्षान् पतत्राणि समीक्ष्य तृष्णातरलम् आशावशगं भवन्मनो धिगस्त्विति निन्दा 'धिङ्निर्भत्सननिन्दयोरि'त्यमर:। 'धिगुपर्य्यादिषु त्रिष्वि'ति धिग्योगात् मन इति द्वितीया। तुषारशीकरै: हिमकर्णरर्णवस्येव तव एभि: पक्षै: कियान् कमलाया लक्ष्म्या: कमलस्य जलजस्य चोदयो वृद्धिर्भवेत्, न कियानित्यर्थ:॥१३०॥

अन्वय— मम हेमजन्मन: पक्षान् समीक्ष्य तृष्णातरलं भवन्मन: धिक् अस्तु। तुषारशीकरै: अर्णवस्य इव तव अमीभि: कियान् कमलोदय: भवेत्।

संस्कृत-व्याख्या—मम= मे, हेमजन्मन: = सुवर्णप्रभवान्, पक्षान् = छदान, समीक्ष्य= अवलोक्य, तृष्णातरलम् = आशावशगम्, भवन्मन: = तव

मानसम्, धिक् अस्तु = निन्दनीयमस्तु। तुषारशीकरैः = हिमकरणैः अर्णवस्य इव, तव = भवतः, अमीभिः = एभिः पक्षैः, कियान् = कियत् परिमाणः, कमलोदयः = कमलायाः लक्ष्म्याः कमलस्य जलस्य च उदयः वृद्धिः आधिक्यं वा, भवेत् = स्यात्— न कियानपीत्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद—मम = मेरे, हेमजन्मनः = स्वर्ण से उत्पन्न, पक्षान् = पंखों को, समीक्ष्य = देखकर, तृष्णातरलम् = लोभ में चंचल, भवन्मनः = आपके मन को, धिक् अस्तु = धिक्कार है। तुषारशीकरैः = हिम (तुषार) की बूँदों से, समुद्रस्य इव = समुद्र के समान, तव = आपकी, अमीभिः = उन पंखों से, कियान् = कितनी, कमलोदयः = लक्ष्मी की वृद्धि (आधिक्य) [समुद्र पक्ष में— जल की वृद्धि], भवेत् = हो सकती है ? अर्थात् कुछ नहीं।

भावार्थ— जिस भाँति अथाह जल से परिपूर्ण समुद्र के जल में ओस की बूँदों से कुछ भी वृद्धि होना सम्भव नहीं है। उसी प्रकार समस्त ऐश्वर्यों से युक्त आपका धन मेरे इन स्वर्ण निर्मित पंखों से कुछ भी वृद्धि को प्राप्त न हो सकेगा। अतएव हे राजन् इन मेरे स्वर्ण पंखों के लिये उत्पन्न हुए लोभ से आपके चंचल मन को धिक्कार है।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में '' उपमा '' अलङ्कार है।

समास—**हेमजन्मनः** = हेम्नः जन्म येषां ते हेमजन्मानः तान् हेमजन्मनः। **कमलोदयः** = कमलायाः कमलस्य वा उदयः इति कमलोदयः।

टिप्पणियाँ—**हेमजन्मनः** = सोने से हुआ है जन्म जिनका ऐसे मेरे (हंस के) पंख। अर्थात् सोने के। **समीक्ष्य** = देखकर। **तृष्णातरलम्** = तृष्णा अर्थात् लोभ के कारण चंचल। **भवन्मनः** = आपके मन को। यहाँ ''मन'' में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग '' उभसर्वतसोः कार्या कार्या धिगुप्पर्यादिषुत्रिषु। द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते॥ '' इस नियम के आधार पर हुआ है। **तुषारशीकरैः** = हिम कणों से—ओस की बूँदों से अथवा पाले की बूँदों से। '' सीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः''— इत्यमरः। **कमलोदयः** = लक्ष्मी की

वृद्धि–(समुद्र पक्ष में – जल की वृद्धि) ''कमला श्रीहरिप्रिया, सलिल कमलं जलम्''– इत्यमरः। **भवेत्** = होगा।

प्रसङ्ग– तुम्हारे द्वारा मेरी हिंसा किया जाना अत्यन्त निन्दनीय होगा–

न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मनः।

विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि॥१३१॥

मल्लिनाथकृत-टीका– नेति। हे नृप! त्वदीक्षणात् त्वन्मूर्तिदर्शनादेव विश्वसितान्तरात्मनो विस्रब्धचित्तस्य विश्वस्तस्येत्यर्थः मम वधः केवलं प्राणिमात्रवधो न किन्तु विश्वासघातपातकमित्यर्थः। ततः किमत आह– विश्वासजुषां विस्रम्भभाजां द्विषामपि निबर्हणं हिसनं धर्म्मधनैर्धर्मपरैः मन्वादिभिः विशिष्यातिरिच्य विगर्हित-मत्यन्तनिन्दितमित्यर्थः॥१३१॥

अन्वय– त्वदीक्षणाद् विश्वसितान्तरात्मनः मम वधः केवलं प्राणिवधः न, विश्वासजुषां द्विषामपि निबर्हणं धर्मधनैः विशिष्य विगर्हितम्।

संस्कृत-व्याख्या–[हे नृप], त्वदीक्षणाद् = त्वन्मूर्त्तिदर्शनादेव, विश्वसितान्तरात्मनः= विश्वसितः विश्वासं प्राप्तः अन्तरात्मा मनो यस्य तादृशस्य, मम = मे, वधः = हननम्, केवलम्, प्राणिवधः न = प्राणिमात्र वधो न, किन्तु विश्वासघातपातकमित्यर्थः। ततः किमतः आह– विश्वासजुषाम् = विस्रम्भभाजाम्, द्विषामपि = शत्रूणामपि, निबर्हणम्= हिंसनम्, धर्मधनैः = धर्मएव धनं येषा तैः मन्वादिभिः, विशिष्य = अतिरिच्य, विगर्हितम् = अत्यन्तनिन्दिमित्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद– [हे राजन] त्वदीक्षणाद् = आपके दर्शन मात्र से ही, विश्वसितान्तरात्मनः = विश्वस्त अन्तःकरण वाले, मम = मेरा, वधः = वध, केवलं प्राणिवधः न = प्राणिमात्र का वध नहीं है [अपितु विश्वासघात सम्बन्धी पाप भी आपको लगेगा ही]। विश्वासजुषाम् = विश्वास करने वाले, द्विषामपि = शत्रुओं का भी, निबर्हणम् = वध करना, धर्मधनैः = धर्म ही जिसका धन है ऐसे मनु आदि धर्मशास्त्रकारों द्वारा, विशिष्य विगर्हितम् = विशेषरूप से अत्यन्त निन्दनीय कर्म कहा गया है।

भावार्थ— हे राजन्! मैंने तुम्हारे दर्शनमात्र से ही तुम पर विश्वास कर लिया है। फिर ऐसे मुझ जैसे विश्वासी का तुम्हारे द्वारा वध किया जाना केवल जीव हिंसा मात्र ही नहीं कही जायगी अपितु विश्वासघात सम्बन्धी महान् पाप के भी आप भागी होंगे। क्योंकि मनु आदि धर्मशास्त्रकारों ने तो विश्वास में आए हुए शत्रु का वध करना भी अत्यन्त निन्दनीय कर्म कहा है। फिर मैं तो आपका शत्रु भी नहीं हूँ। आपका अपना ही व्यक्ति हूँ तथा आप पर पूर्ण विश्वास भी कर रहा हूँ अत: आप द्वारा मेरा वध किया जाना नितान्त अनुचित ही होगा।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में ''अनुप्रास'' अलङ्कार है।

समास—**विश्वसितान्तरात्मनः** = विश्वसित: अन्तरात्मा यस्य स: (बहुव्रीहि), तस्य। **धर्मधनैः** = धर्म एव धनं येषां तै:।

टिप्पणियाँ—**त्वदीक्षणाद्** = आपके दर्शन मात्र से ही। अर्थात् जैसे ही मैंने आपका दर्शन प्राप्त किया वैसे ही मुझे आप पर विश्वास हो गया। **विश्वसितान्तरात्मनः** = विश्वास उत्पन्न हो गया है अन्तरात्मा (हृदय) में जिसके ऐसा मैं (हंस)। हंस के कहने का अभिप्राय यह है कि मैंने आपको देखकर ही एक अत्यन्त उदारचेता महानुभाव समझकर आप पर पूर्ण विश्वास कर लिया था। इसी कारण पूर्ण विश्वस्त होकर मैं सो भी गया था। सोने के कारण धोखे से आपने मुझे पकड़ लिया। **विश्वासजुषाम्** = विश्वसित-विश्वास में आए हुए। **निबर्हणम्** = हनन करना या मारना। **विशिष्य** = विशेषकर के विशेषरूप से। **विगर्हितम्** = अत्यधिक निन्दी की है।

प्रसङ्ग— हे राजन्! मैं आपकी कृपा का पात्र हूँ। ऐसे कृपापात्र पक्षी पर अपने पराक्रम का प्रयोग करना आपके लिये सर्वथा अनुचित एवं निन्दनीय ही है—

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा
न तेषु हिंसारस एष पूर्य्यते ?।
धिगीदृशन्ते नृपतेः कुविक्रमं
कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि॥१३२॥

मल्लिनाथकृत-टीका— पदे पद इति। रणोद्भटाः रणेषु प्रचण्डाः भटा योधाः पदे-पदे सन्ति सर्वत्र सन्तीत्यर्थः, वीक्षायां द्विर्भावः। एष हिंसारसो हिंसारागस्तेषु भटेषु पूर्यते अत्र काकुः न पूर्यते किमित्यर्थः। नृपतेर्महाराजस्य ते तव ईदृशमवध्यवधरूपं कुविक्रमं धिक् यः कुविक्रमः कृपाश्रये कृपाविषये अनुकाम्पनीये कृपणे दीने पतत्रिणि क्रियत इति विशेषः॥१३२॥

अन्वय—पदे पदे रणोद्भटाः भटाः सन्ति, एष हिंसारसः तेषु न पूर्यते। ते नृपतेः ईदृशं कुविक्रमं धिक्, यः कृपाश्रये कृपणे पतत्रिणि [दृश्यते]।

संस्कृत-व्याख्या—पदे पदे = स्थाने स्थाने, रणोद्भटाः = रणेषु युद्धेषु उद्भटाः प्रचण्डाः, भटाः = योद्धाः, सन्ति =विद्यन्ते। एष हिंसारसः = हिंसानुरागः, तेषु = भटेषु, न पूर्यते = परिपूर्णो न भवति किम्? ते = तव, नृपतेः = राज्ञः, ईदृशम् = अवध्यवधरूपम्, कुविक्रमम् = कुत्सितं पौरुषम्, धिक्, यः = कुविक्रमः कृपाश्रये = कृपाविषये—अनुकम्पनीये, कृपणे = दीने, [मयि] पतत्रिणि = पक्षिणि, [दृश्यते]।

हिन्दी अनुवाद—पदे पदे = स्थान-स्थान पर, रणोद्भटाः = रण में प्रचण्ड, भटाः = योद्धा, सन्ति = विद्यमान हैं, एष = यह, हिंसारसः = हिंसा प्रेम, [क्या] तेषु = उनमें, न पूर्यते = पूरा नहीं होता है? ते नृपतेः = तुझ राजा के, ईदृशम् = इस प्रकार के [अवध्य प्राणी का वध कर देने वाले] कुविक्रमम् = बुरे पराक्रम को, धिक् = धिक्कार है, यः = कि जो [बुरा पराक्रम], कृपाश्रये = कृपा के पात्र, कृपणे = दीन [मुझ] , पतत्रिणि = पक्षी पर , दृश्यते = जा रहा है।

भावार्थ— क्या पद-पद पर युद्ध में अत्यन्त पराक्रमी और वीर योद्धा नहीं है कि जिन पर तुम्हारा हिंसानुराग पूरा हो पाता। तुम्हारा यह हिंसानुराग नम्र प्राणियों [मुझ जैसे दीनों] पर पूरा हो रहा है। इससे ज्ञात होता है कि उन शूरवीरों के साथ युद्ध करने में असमर्थ होने के कारण तुम मुझ जैसे नतमस्तक दीनों पर अपनी हिंसा प्रवृत्ति को पूरा कर रहे हो जो कि तुम्हारे लिये नितान्त अनुचित है।

अलङ्कार—इस श्लोक में भी अनुप्रास की छटा स्पष्ट ही है।

समास—**रणोद्भटा:** = रणेषु, उद्भटा: रणोद्भटा:। **कुविक्रमम्** = कुत्सितं विक्रमम्, इति कुविक्रमम्।

टिप्पणियाँ—**रणोद्भटा:** = युद्धों में उन्मत्त योद्धागण। **भटा:** = शूरवीर, योद्धा। **हिंसारस:** = हिंसा (मारना—हनन करना) के प्रति प्रेम। **ईदृशम्** = अवध्य प्राणी का वध करना जैसा। **कुविक्रमम्** = बुरा पराक्रम— निन्दनीय पराक्रम को। **कृपाश्रये** = कृपा करने के स्थान— दया किये जाने योग्य प्राणी पर। **पतत्रिणि** = पक्षी (हंस) पर।

प्रसङ्ग— जो राजा दुष्टों को दण्ड देता है और सज्जनों की रक्षा करता है वह प्रशंसनीय होता है। इसके विपरीत जो दण्ड का अनुचित प्रयोग करता है (जैसा कि आप मेरे साथ रहे हैं) वह स्वयं ही दण्ड का भागी बना करता है—

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां
मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तय:.
त्वयाद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा
कथं न पत्या धरणी हृणीयते॥१३३॥

मल्लिनाथकृत-टीका— फलेनेति। यस्य मम मुनेरिव वारिभूरुहां जलरुहां पद्मादीनाम् अन्यत्र चारिरुहा भूरुहाञ्च फलेन मूलेन चेत्थमनेन दृश्यमानप्रकारेण वृत्तयो जीविका: तस्मिन् अपि अनपराधेऽपीति भाव:। दण्डधारिणा दण्डकारिणा अदण्ड्यदण्डकेनेत्यर्थ:। पत्या त्वया हेतुना अद्य धरणी कथं न हृणीयते जुगुप्सत एवेत्यर्थ: हृणीयते कण्ड्वादियगन्ताल्लट् तत्र हृणीङिति ङित्करणादात्मनेपदम्। अकार्यकारिणं भर्त्तारमपि हन्ते स्त्रिय इति भाव:॥१३३॥

अन्वय— यस्य मम मुने: वारिभूरुहां फलेन मूलेन च इत्थं वृत्तय:, तस्मिन् अपि दण्डधारिणा त्वया पत्या अद्य धरणी कथं न हृणीयते?

संस्कृत-व्याख्या—यस्य, मम= हंसस्य, मुने: इव = ऋषेरिव,

वारिभूरुहाम् = जलरुहां पद्मादीनाम् [अन्यत्र वारिरुहां भूरुहाञ्च], फलेन मूलेन च= कन्दादिना मृणालेन च, इत्थम् = अनेन दृश्यमानप्रकारेण, वृत्तयः = जीविकाः, तस्मिन् अपि = निरपराधेऽपि मयीत्यर्थः, दण्डधारिणा = दण्डकारिणा अदण्डदण्डकेनेत्यर्थः, त्वया = भवता, पत्या = स्वामिना, अद्य, धरणी = पृथ्वी, कथं न = हृणीयते = जुगुप्सते एव— इत्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद--यस्य मम = जिस मेरी, मुनेः इव = मुनि के समान, वारिभूरुहाम् = कमलों के [मुनि पक्ष में— जल में उत्पन्न होने वाले कमल आदि तथा पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले आम्र आदि वृक्षों के], फलेन मूलेन च = फल तथा मूल (मृणाल, कन्द आदि) से, इत्थम् = इस प्रकार, वृत्तयः = जीविका होती है, तस्मिन् अपि = उसको भी, दण्डधारिणा = दण्ड धारण करने वाले, त्वया पत्या = तुम्हारे जैसे स्वामी से, अद्य = इस समय, धरणी = पृथ्वी, कथं न = क्यों नहीं, हृणीयते = लज्जित होती है ?

भावार्थ— [दण्ड देना राजा का धर्म है— इस सम्बन्ध में हंस कह रहा है—] जिसकी जीविका जल-भूमि में उत्पन्न कमलों के फल (कमल गट्टा) तथा मूल (कमल-नाल की जड़) से [मुनिपक्ष में— जल में उत्पन्न होने वाले कमल आदि के तथा पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले आम्र आदि के फल तथा कन्द आदि से] होने के कारण मुनियों के सदृश है ऐसे कृपा के पात्र मुझ पर भी [अनुचित] दण्ड का प्रयोग करने वाले तुम्हारे जैसे पालकों अथवा रक्षकों से यह पृथ्वी लज्जित क्यों नहीं होती है।

राजा का कर्तव्य है कि वह दुष्टों को दण्ड दे तथा सज्जनों की रक्षा करे किन्तु आप तो इस प्रकार के राजा हैं कि जो मुझ जैसे निरपराध को ही दण्डित कर रहे हैं। अतः आप पृथ्वी के अधिपति हैं वह पृथ्वी आप जैसे स्वामी को पाकर लज्जित क्यों नहीं होगी ? अर्थात् अवश्य होगी।

अलङ्कार-- इस श्लोक में 'उपमा' अलङ्कार है।

व्याकरण--**वारिभूरुहाम्** = वारिभू + रुह् + क्विप् (षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में)। **हृणीयते** = हृणी (कण्ड्वादिज + लट्।

समास—**वारिभूरुहाम्** =वारि एव भूः (उत्पत्ति स्थानं) इति वारिभूः, तस्यां रोहन्ते (उत्पद्यन्ते) इति वारिभूरुहाः, तेषाम्।

टिप्पणियाँ—**मुनेः इव** = मुनि के समान-जैसे वन में रहने वाले मुनि लोगों की जीविका फलों तथा कन्दों पर आधारित रहा करती है उसी प्रकार से मेरी जीविका का आधार भी कमलगट्टा तथा कमलमूल ही है। **वारिभूरुहाम्** = [हंस के पक्ष में—] कमलों के। [मुनिपक्ष में—] जल में उत्पन्न होने वाले कमल आदि तथा पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले आम्र आदि वृक्षों के फल। **वृत्तयः** = जीविका। **धरणी** = पृथ्वी। **ह्रणीयते** = लज्जित होती हैं।

प्रसङ्ग— राजा नल सुवर्णमय हंस को देखने से आश्चर्यान्वित, अपनी निन्दा सुनने के कारण लज्जित, तथा हंस के वचनों का श्रवण कर दया से युक्त हो रहे थे।

इतीदृशैस्तं विरचय्य वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृपं खगः।
दयासमुद्रे स तदाशयेतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिरः॥१३४॥

मल्लिनाथकृत-टीका—इतीति। इतीत्थं खगो हंसस्तं नृपम् ईदृशैर्दोषालम्भैरित्यर्थः, वाङ्मयैर्वाग्विकारैः 'एकाचो नित्यं मयटमिच्छती'ति विकारार्थे मयट्प्रत्ययः। पक्षिकथनात् चित्रं, परैः स्वाकार्योद्घाटनादपत्रपा वैलक्ष्यं, परार्त्तिदर्शनेन तन्निवर्त्तनेच्छा वा कृपा, ताभिः सह वर्त्तत इति सचित्रवैलक्ष्यकृतं विरचय्य विधाय 'ल्यपि लघुपूर्वादि'त्ययादेशः। दयासमुद्रे तदाशये तच्चित्ते कारुण्यरसापगा करुणारसनदीः गिरः अतिथीचकार प्रवेशयामासेत्यर्थः समुद्रे नदीप्रवेशो युक्त इति भावः॥१३४॥

अन्वय—इति ईदृशैः वाङ्मयैः तं नृपं सचित्रवैलक्ष्यकृपं विरचय्य स खगः दयासमुद्रे तदाशये कारुण्यरसापगाः गिरः अतिथीचकार।

संस्कृत-व्याख्या—इति = इत्थम्, ईदृशैः = एतादृशैः, वाङ्मयैः = वचनैः, तम्, नृपम् = राजानम्, सचित्रवैलक्ष्यकृपम् = चित्रं न वैलक्ष्यं च कृपा च तत्सहितम्, विरचय्य = विधाय, सः, खगः = हंस, दयासमुद्रे = दयासागरे,

तदाशये = तस्य नलस्य आशये हृदये, कारुण्यरसापगा: = करुणारसनदी:, गिर: = वाच: अतिथीचकार = प्रवेशयामास-इत्यर्थ:।

हिन्दी अनुवाद—इति = इस प्रकार, ईदृशै: = ऐसे, वाङ्मयै: = वचनों से, तं नृपम् = उस राजा नल को, सचित्रवैलक्ष्यकृपम् = आश्चर्यान्वित, लज्जित तथा दयापूर्ण, विरचय्य = बनाकर, स खग: = उस पक्षी हंस ने, दयासमुद्रे = दया के सागर, तदाशये = राजा नल के हृदय में, कारुण्यरसापगा: = करुण रस की नदी रूपी, गिर: = वाणी को, अतिथीचकार = प्रविष्ट करा दिया।

भावार्थ— उस पक्षी हंस ने इस प्रकार के अपने वचनों (१।१३० से १।१३३ तक) द्वारा राजा नल को अपने सुवर्णमय स्वरूप आदि आश्चर्यान्वित अपने द्वारा की जाती हुई निन्दा से लज्जित तथा अपने दया भरे वचनों से कृपालु बनाकर दया के सागर राजा नल के हृदय में कारुण्यरूपी जल की नदीरूपिणी वाणी को प्रवाहित कराया अर्थात् समुद्र में जल से भरी हुई नदियों के समान दयार्द्र राजा नल के हृदय में अपने करुणा भरे वचनों को प्रविष्ट कराया— राजा नल से दया भरे वचनों को कहने लगा।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में 'रूपक' तथा 'अनुप्रास' अलङ्कार हैं।

व्याकरण—वाङ्मयै: =वाच् + मयट्— ''एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ति' से विकार अर्थ में। **विरचय्य** = वि + रच् + णिच् = ल्यप् – ''ल्यपि लघुपूर्वात्'' सूत्र से णिच् के इ को अयोदश। **कारुण्य** = करुण + ष्यञ्‌ **अतिथीचकार** = अतिथि + च्वि, दीर्घ, कृ + लिट्।

समास—सचित्रवैलक्ष्यकृपम् = चित्रं च वैलक्ष्यं च कृपा च इति (द्वन्द्व समास), तै: सहित: इति सचित्रैलक्ष्यकृप: (बहुव्रीहि) तम्। **कारुण्यर-सापगा:** = कारुण्यमेवरस: (कर्मधारय) इति कारुण्यरस:, तस्य आपगा: (षष्ठी तत्पु०)।

टिप्पणियाँ—वाङ्मयै: = वाणी के विकारों, वचनों द्वारा। **सचित्रवैलक्ष्यकृपम्**= आश्चर्य, लज्जा और कृपा से युक्त। **विरचय्य** =

बनाकर। **तदाशये** = उस राजा नल के हृदय में। **कारुण्यरसापगा:** = कारुण्यरस (रूपी जल) की नदी। **गिर:** = वाणी को-वचनों को। **अतिथीचकार** = अतिथि बनाया अर्थात् प्रविष्ट करा दिया।

प्रसङ्ग—अब हंस अपने भाग्य को उलाहना देता हुआ कहता है।

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा
नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो
विधे! त्वां करुणा रुणद्धि नो॥१३५॥

मल्लिनाथकृत-टीका— तावद्गिर: प्रपञ्चयति— मदित्यादिना। तत्र तावद् दैवमुपालभते हे विधे! जननी अहमेवैक: पुत्रो यस्या: मदेकपुत्रा मम नाशे तस्या गत्यन्तरं नास्तीत्यर्थ:। जरातुरा स्वयमप्यसमर्थेत्यर्थ:, वरटा स्वभार्य्या 'हंसस्य योषिद्वरटे'त्यमर:। नवप्रसूतिरचिरप्रसवा तपस्विनी शोच्या एव जन: स्वयमित्यर्थस्ययोर्जायाजनन्योगति: शरणं तं जनं मामित्यर्थ: अर्दयन् पीडयन् हे विधे! विधाता! त्वां करुणा नो रुणद्धि मत्पीडनान्न निवारयतीति काकु:, न रुणद्धि किमित्यर्थ:॥१३५॥

अन्वय— अहो! जननी, मदेकपुत्रा जरातुरा तपस्विनी वरटा नवप्रसूति:, एष जन: तयो: गति:, तं अर्दयन् हे विधे! त्वां करुणा रुणद्धि ? (किम्)

संस्कृत-व्याख्या—अहो! कष्टसूचकमव्ययमेतत्, जननी = (मम) माता,, मदेकपुत्रा = अहमेव एक: पुत्रो यस्या: मदेकपुत्रा, जरातुरा = वार्धक्यपीडिता [च]— स्वयमप्यसमर्था इत्यर्थ: [तस्या: गत्यन्तरं नास्तीति भाव:।] तपस्विनी = पतिव्रता दीना वा, वरटा = मम भार्या, नवप्रसूति: = अचिरप्रसवा [अतएव, तपस्विनी शोच्या]। एष जन: = स्वयमित्यर्थ:, तयो: = जायाजनन्यो:, गति: = शरणम्-वृत्त्युपाय: वा;, तम् = जनं-मामित्यर्थ:, अर्दयन् = पीडयन्, हे विधे! हे विधात: !, त्वाम्, करुणा = दया, न रुणद्धि मत्पीडनात् न निवारयति [किम्] ?

हिन्दी अनुवाद—अहो! = हाय, जननी = [मेरी] माता, मदेकपुत्रा = मैं ही हूँ एकमात्र पुत्र जिसका ऐसी है [तथा], जरातुरा: = वृद्धावस्था से पीड़ित है। तपस्विनी = पतिव्रता अथवा दीन अथवा बेचारी, वरटा = मेरी पत्नी, नवप्रसूतिः = नव प्रसव वाली [अर्थात् उसके शीघ्र ही बच्चा होने वाला है।] (अथवा—वरटा = मेरी पत्नी, नवप्रसूतिः = शीघ्र ही सन्तान उत्पन्न करने वाली है अतएव तपस्विनी = शोचनीय है।) एषजनः = यह व्यक्ति अर्थात् मैं ही, तयोर्गतिः = उन दोनों [माता और पत्नी] का सहारा हूँ [उन दोनों की जीवन-रक्षा के निमित्त मैं ही एकमात्र सहारा हूँ], तम् = [ऐसे] उस (मुझ) को, अर्दयन् = सताते हुए-पीड़ित करते हुए, हे विधे! =हे विधाता! त्वाम् = तुमको-आपको, करुणा = दया, रुणद्धि = [क्यों] नहीं रोकती है।

भावार्थ— हे भाग्य! मैं ही जिसका इकलौता पुत्र हूँ ऐसी बुढ़ापे से पीड़ित मेरी माता है। तथा नवीन प्रसव वाली एवं पतिव्रता (अथवा दीन-बेचारी) मेरी पत्नी है। उन दोनों [मेरी माता, पत्नी] का मैं एकमात्र शरण अथवा जीविका चलाने वाला हूँ। उस मुझको मारते हुए क्या करूणा (दया) तुमको नहीं रोकती है? यह बड़े दुःख की बात है।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में ''परिकर'' नामक अलङ्कार है।

समास—**मदेकपुत्रा** = अहमेव एकः पुत्रो यस्याः सा मदेकपुत्रा। (बहुव्रीहि)। **नवप्रसूतिः** = नवाप्रसूतिः (कर्मधारय) इति नवप्रसूतिः।

टिप्पणियाँ—**मदेकपुत्रा** = मैं ही हूँ एकमात्र पुत्र जिसका— इकलौते पुत्र वाली। **जरातुरा** = वृद्धावस्था से पीड़ित। **वरटा** = हंसी। ''हंसस्य योषिद्वरटा'' इत्यमरः। **नवप्रसूतिः** = नवप्रसूता अर्थात् जिसने शीघ्र ही बच्चे को जन्म दिया है। **तपस्विनी** = बेचारी,दीन, पतिव्रता। **अर्दयन्** = पीड़ित करते हुए, सताते हुए। **न रुणद्धि** = नहीं रोकती है।

प्रसङ्ग— हंस अपनी माँ को सम्बोधित करते हुए कह रहा है कि माता! मेरी मृत्यु से तुमको जीवनपर्यन्त कष्ट सहन करना होगा।

मुहूर्त्तमात्रं भवन्दिन्दया दयासखाः सखायः स्त्रवदश्रवो मम।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः सुतशोकसागरः॥१३६॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अथ मातरं शोचयति-मुहूर्त्तेति। हे मातः! सखायः सुहृदो दयासखाः सदयाः भवनिन्दया संसारगर्हमेन मुहूर्त्तमात्रं क्षणमात्रं स्त्रवदश्रवो गलिताश्रव एव सन्तो निवृत्तिं शोकोपरतिमेष्यन्ति, किन्तु त्वयैव सुतशोक एव सागरः परमत्यन्तः दुःखेनोत्तीर्य्यत इति दुरुत्तरो दुरस्तरः तरतेः कृच्छ्रार्थे खल् प्रत्ययः॥१३६॥

अन्वय— हे मातः! मम दयासखाः सखायः स्त्रवदश्रवः मुहूर्त्तमात्रं भवन्दिन्दया निवृत्तिं एष्यन्ति, परं त्वया एव सुतशोकसागरः दुरुत्तरः।

संस्कृत-व्याख्या—हे मातः! = हे जननि! मम = मे, दयासखाः = दयालवः, सखायः = मित्राणि (अन्ये पक्षिणः), स्त्रवदश्रवः = स्त्रवन्ति गलन्ति अश्रूणि येषां तादृशाः, मुहूर्त्तमात्रम् = क्षणमात्रम्, भवन्दिन्दया = भवस्य संसारस्य निन्दया, निवृत्तिम् = शोकोपरतिम्, एष्यन्ति = प्राप्स्यन्ति। परम् = किन्तु, त्वया एव, सुतशोकसागरः = सुतशोकः पुत्रशोकः एव सागरः समुद्रः, दुरुत्तरः = दुरस्तरः [दुःखेनापि तरितुं योग्यः न भविष्यति— इति भावः। अथवा दुःखेन एव तरितुं योग्यः भविष्यति॥]

हिन्दी अनुवाद—हे मातः = हे माता!, मम= मेरे, दयासखाः =दयालु, सखाः = मित्र, स्त्रवदश्रवः = अश्रुधारा बहाते हुए, मुहूर्त्तमात्रम् = क्षण भर के लिये, भवन्दिन्दया = ''यह संसार अनित्य है, जीवन क्षणभंगुर है'' इत्यादि रूप से संसार की निन्दा करके, निवृत्तिम् = शान्ति को अथवा दुःख विस्मृति को, एष्यन्ति = प्राप्त कर लेंगे। परम् = किन्तु, त्वयाएव = केवल तुम्हारे द्वारा ही, सुतशोकसागरः = पुत्र शोक रूपी समुद्र, दुरुत्तरः = पार करना कठिन होगा॥

भावार्थ— अश्रुधारा बहाते हुए तथा दयालु मेरे मित्र थोड़े समतक तक संसार की (यह संसार अनित्य है, क्षणभंगुर है, यहाँ जन्म लेने के पश्चात् अन्त में सबकी यही गति (मृत्यु) होती है, काल किसी को नहीं छोड़ता— इत्यादि

रूप में) की निन्दा कर दुःख को भूल जावेंगे। किन्तु हे माता! पुत्र का शोकसागर तुम्हारे लिये ही दुःख से पार करने योग्य होगा। तात्पर्य यह है कि मेरी मृत्यु से मेरे मित्रों को तो थोड़ी सी देर के लिये ही कष्ट होगा किन्तु तुमको जीवन-पर्यन्त कष्ट सहन करना होगा।

अलङ्कार— इस श्लोक में "अनुप्रास" अलङ्कार है। "सुतशोकसागरः" में रूपक भी है।

व्याकरण—मुहूर्त्तमात्रम् = यहाँ पर "कालाध्वनोऽत्यन्तसंयोगे" सूत्र में वर्णित नियम के आधार पर द्वितीया विभक्ति हुई है। **दुरुत्तरः** = दुर + उद् + तृ + खल्।

समास—दयासखाः = दायायाः सखायः इति दयासखाः (षष्ठी तत्पु०)। "यहाँ पर 'राजाहः सखिभ्यष्टचत्' से समासान्त 'टच्' प्रत्यय हुआ है।" **स्रवदश्रवः** = स्रवन्ति अश्रूणि येषां ते (बहुव्रीहि)— स्रवदश्रवश्च।

टिप्पणियाँ—दयासखाः = दया के मित्र अर्थात् दयालु। **सखायः** = मित्र। **स्रवदश्रवः** = अश्रुधारा बहाते हुए। **मुहूर्त्तमात्रम्** = क्षणभर के लिये। थोड़ी सी देर के लिए। **भवन्दिन्दया** = संसार की निन्दा द्वारा (संसार की अनित्यता-नश्वरता-क्षणभंगुरता आदि दोषों को कहते हुए)। **निवृत्तिम्** = शोक से शान्ति को अथवा दुःख निवृत्ति को। **एष्यन्ति** = प्राप्त कर लेंगे। **परम्** = किन्तु। **सुतशोकसागरः** = पुत्र शोक रूपी सागर को। **दुरुत्तरः** = दुःख (महान् कष्ट) के साथ पार करने योग्य।

प्रसङ्ग— अब वह हंस अपनी पत्नी को लक्षित कर विलाप करता हुआ कहता है—

मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः
प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये!
स कीदृग्भविता तव क्षणः॥१३७॥

मल्लिनाथकृत-टीका—अथ भार्य्यामुद्दिश्य विलपति— मदर्थेत्यादिनः। हे प्रिये! मह्यमिमे मदर्थे 'अर्थेन सह नित्य समासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' तयोः सन्देश मृणालयोः वाचिकविसयोः मन्थरस्तत्प्रेषणे विलम्बितप्रवृत्तिः प्रियः कियद्दूरे वर्त्तत इति त्वया उदिते उक्ते पृष्टे सतीत्यर्थः। अथ प्रश्नानन्तरं रुदतः अनिष्टोच्चारणाशक्त्या अश्रूणि विमुञ्चतः पक्षिणः इतो गच्छतो गतान्विलोकयन्त्यास्तव स क्षणः स कालः कीदृग्भविता भविष्यति? वज्रपातप्राय इति भावः। कर्त्तरि लुट्॥१३७॥

अन्वय— प्रियः! मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः किंयद्दूरे इति त्वया उदिते, अथ रुदतः पक्षिणः विलोकयन्त्याः तव स क्षणः कीदृक् भविता।

संस्कृत-व्याख्या—हे प्रियः! = हे वल्लभे! मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः = मह्यं इमे मदर्थे ये सन्देशमृणाले—तयोः सन्देशमृणालयोः वाचिकविसयोः विषये मन्थरः अलसः [तत्प्रेषणे विलम्बितप्रवृत्तिः वा], प्रियः = वल्लभः, किंयद्दूरे = कियति दूरे देशे वर्त्तते, इति,त्वया उदिते = उक्ते—पृष्ठे सतीत्यर्थः, अथ = प्रश्नानन्तरम्, रुदतः = अनिष्टोच्चारणाशक्त्या अश्रूणि विमुञ्चतः, पक्षिणः = खगान् विलोकयन्त्याः = पश्यन्त्याः, तव = ते, सः, क्षणः = कालः, कीदृक् = कीदृशः, भविता = भविष्यति ? वज्रपातप्राय-इतिभावः।

हिन्दी अनुवाद—हे प्रियः! मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः = मेरे लिये सन्देश तथा मृणाल (भेजने(के विषय में देर करने वाला—अथवा सुस्त, मेरा, प्रियः = प्रिय, किंयद्दूरे = कितनी दूर रह गया है? इति = इस प्रकार से, त्वया उदिते = तेरे द्वारा कहने जाने के, अथ = पश्चात्, रुदतः = रोते हुए पक्षिणः = पक्षियों को, विलोकयन्त्याः = देखती हुई, तव = तुम्हारा, स क्षणः = वह क्षण, कीदृक् = कैसा, भविता = होगा।

भावार्थ— हे प्रिये! वन से वापिस लौटे हुए अन्य पक्षियों से जब तुम यह पूछोगी कि मेरे लिये संदेश भेजने अथवा मृणाल लाने वाले मेरा प्रिय (हंस) कितनी दूर रह गया है? तब वे पक्षी मुझ (हंस) के पकड़े जाने की बात मुख से न निकालेंगे तथा उनकी आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगेगी। यह

देखकर हे प्रिय! तुम्हारी दशा क्या होगी? तुम किसी अनिष्ट को समझकर वज्राहत सी हो जाओगी।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में ''भावोदय'' नामक अलङ्कार है।

समास—मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः = सन्देशं च मृणालं च इति सन्देशमृणाले (द्वन्द्व), मह्यं इमे मदर्थे (चतुर्थी तत्पु०), मदर्थे ये संदेशमृणाले तयोः मन्थरः (सप्तमी तत्पु०) इति मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः।

टिप्पणियाँ—मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः = मेरे लिये सन्देश भिजवाने तथा मृणालदण्ड को भेजने में देर करने वाला। **उदिते** = कहे जाने पर। **कीदृक्** = कैसा-किस प्रकार का? **भविता** = होगा।

प्रसङ्ग— हंस को इस बात का आश्चर्य है कि ब्रह्मा ने अपने जिन कमलसदृश सुकोमल हाथों में उसकी प्रिया (हंसी) के शरीर का निर्माण किया था उन्हीं हाथों से उसके ललाट पर ऐसे कठोर अक्षर कैसे लिख दिये— कि तू अपनी प्रिया से वियुक्त हो जायेगा—

कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा॥१३८॥

मल्लिनाथकृत-टीका— कथमिति। हे विधातः! प्रियायाः वरटायाः शैत्यमृदुत्वशिल्पिनस्तादृक् तदङ्गशैत्यमार्दवनिर्म्माणकात्तव पाणिपङ्कजात्पङ्क-जमृदुशिशिरात् पाणेरित्यर्थः। मयि विषये वल्लभया सह वियोक्ष्यसे इत्येवंरूपा अतएव ललाटं तपन्ति दहन्तीति ललाटन्तपानि 'असूर्य्यललाटयोर्दृशितपोरि'ति खल् प्रत्ययः 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना मुमागमः तानि निष्ठुराणि कर्णकठोराणि चाक्षराणि यस्याः सा लिपिरक्षरविन्यासः कथं निर्गता निःसृता? अत्र कारणात् विरुद्धकार्य्योत्पत्ति-कथनाद्विषमालङ्कारभेदः 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य भावयेत्। विरूपघटना वा स्याद्विषमालंकृतिर्मते'ति॥१३८॥

अन्वय— हे विधातः! प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः तव पाणिपङ्कजात् मयि 'वल्लभयेति वियोक्ष्यसे' इति ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा लिपिः कथं निर्गता?

संस्कृत-व्याख्या—हे विधातः ! = हे ब्रह्मन्! प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः = प्रियायाः वरटायाः शैत्यमृदुत्वशिल्पिनः-तादृक्तदङ्गशैत्यमार्दवनिर्माणकुशलात्, तव= ते पाणिपङ्कजात् = कमलसदृशमृदुशिशिरात् पाणेः, मयि = मद्विषये, 'वल्लभया= दयितया, वियोक्ष्यसे = वियोगं प्राप्स्यसि' इति = एवंरूपा, ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा = ललाटं तपन्ति दहन्ति-इति ललाटन्तपानि तानि निष्ठुराणि कर्णकठोराणि च अक्षराणि यस्या सा, लिपिः = अक्षरविन्यासः, कथम् = केन प्रकारेण, निर्गता = निसृता ?

हिन्दी अनुवाद—हे विधातः ! = हे बह्मन्!, प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः = मेरी प्रिया (के शरीर) की शीतलता और कोमलता के निर्माण करने वाले, तव = तुम्हारे (आपके), पाणिपङ्कजात् = कमलसदृश हाथों से, मयि = मेरे विषय में (मेरे मस्तक पर) ''बल्लभया वियोक्ष्यसे' = तुम प्रिया से वियुक्त होओगे, इति = इस प्रकार की, ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा = मस्तक को संतप्त करने वाले कठोर अक्षरों से युक्त, लिपिः = लिपि, कथम् = कैसे, निर्गता = निकली (अथवा मस्तक पर अंकित की गयी)।

भावार्थ— हंस आश्चर्य प्रकट करता हुआ कहता है कि ब्रह्मा ने अपने जिन कमलसदृश शीतल तथा कोमल हाथों से उसकी प्रिया (हंसी) के कोमल अङ्गों का निर्माण किया था उन्हीं हाथों से उसके मस्तक पर ऐसे कठोर अक्षरों को कैसे लिख दिया कि '' तू अपनी प्रिया (हंसी) से वियुक्त हो जायेगा''? कोमल हाथों से कोमल अक्षरों को ही लिखा जाना उचित था न कि कठोर।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में कारण के विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति का कथन किये जाने से 'विषम' नामक अलङ्कार है। लक्षण- ''विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्। विरूपघटना वा स्याद्विषमालङ्कृतिर्मता''। इसके अतिरिक्त रूपक अलङ्कार भी है जो कि स्पष्ट ही है।

व्याकरण—**ललाटन्तप** = ललाट + तप् + खश् ''असुर्यललाटो दृशितपोः'' से। तदनन्तर ''अरुद्विषदजन्तस्य मुम्'' से 'मुम्' का आगम।

समास–**प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः** = शैत्यं च मृदुत्वं च इति शैत्यमृदुत्वे (द्वन्द्व), प्रियायाः शैत्यमृदुत्वे, तयोः शिल्पी (षष्ठी तत्पु०) इति प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पी तस्य। **पाणिपङ्कजात्** = पाणिः पङ्कजमिव इति पाणिपङ्कजम् (उपमित समास), तस्मात्। **ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा** =ललाटं तपन्ति इति ललाटन्तपानि, ललाटन्तपानि निष्ठुराणि (कर्मधारय), ललाटन्तपनिष्ठुराणि अक्षराणि यस्याः सा (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ–**प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः** = प्रिय (हंसी) के शीतल एवं कोमल अङ्गों के रचयिता। **पाणिपङ्कजात्** = कमलसदृश हाथों से। **वियोक्ष्यसे** = वियुक्त (पृथक्) होओगे। **ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा** = मस्तक को सन्तप्त करने वाले अथवा मस्तक में सन्ताप को उत्पन्न करने वाले अत्यन्त कठोर अक्षरों से युक्त **निर्गता** = निकली अथवा लिख दी गयी।

प्रसङ्ग– अपने झुण्ड वाले हंसों से मेरी मृत्यु का समाचार जानकर हे प्रिये! तुम दशो दिशाओं को सूना ही देखोगी–

अपि स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं
ममाद्य वृत्तान्तमिमं बतोदिता।
मुखानि लोलाक्षि ? दिशामसंशयं
दशापि शून्यानि विलोकयिष्सि॥ १३९॥

मल्लिनाथकृत-टीका–अपीति। अपि चेत्यपेरर्थः। अद्यास्मिन् दिने 'सद्यःपरुदि, त्यादिना निपातः स्वयूथ्यैः स्वसङ्घचरैर्हंसैः कर्तृभिरशनिक्षतोपमं वज्रप्रहारप्रायं ममेमं वृत्तान्तम् अनर्थवार्त्ता उदिता उक्ता सती वदेर्ब्रूञर्थस्य दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः 'वचिस्वपीत्यादिना सम्प्रासरणं, हे लोलक्षि ? दशदिशां मुखानि शून्यान्यलक्ष्याकाराणि विलोकयिष्यसि असंशयं सन्देहो नास्तीत्यर्थः। अर्थाभावेऽव्ययीभावः वतेति खेदे॥

अन्वय–अपि लोलाक्षि! अद्य स्वयूथ्यैः अशनिक्षतोपमं मम इमं वृत्तान्तं उदिता, वत असंशयं दिशां दशापि मुखानि शून्यानि विलोकयिष्यसि।

संस्कृत-व्याख्या—अपि = चेत्यपरेर्थः, लोलाक्षि! = चञ्चलनेत्रे, अद्य = अस्मिन् दिने, स्वयूथ्यैः = स्वसङ्गचरैः, हंसैः, अशनिक्षतोपमम् = वज्रप्रहारसदृशम्, मम = मे, इमम् = मरणरूपम्, वृत्तान्तम् = अनर्थ वार्त्ताम्, उदिता = कथिता, वत् = इति खेदे, असंशयम् = निःसन्देहम्, दिशाम् = ककुभम्, दश अपि मुखानि, शून्यानि = रिक्तानि, विलोकयिष्यसि = अवलोकयिष्यसि।

हिन्दी अनुवाद—हे लोलाक्षि! = हे चंचल नेत्रों वाली, अद्य = आज, स्वयूथ्यैः = अपने झुंड के हंसों द्वारा, अशनिक्षतोपमम् = वज्रप्रहार के समान, मम= मेरे, इमं वृत्तान्तम् = इस (मरणरूप) वृतान्त के, उदिता = कहे जाने पर, वत = हाय, असंशयम् = निःसन्देहरूप से, दिशां दश अपि = दशों दिशाओं के, मुखानि = मुखों को, शून्यानि = शून्य, विलोकयिष्यसि = देखोगी।

भावार्थ— और, हे चंचल नेत्रोंवाली प्रिये! (हंसी) आज अपने झुंड में रहने वाले हंसों के द्वारा वज्रप्रहार सदृश मेरे इस वृतान्त (मरण-समाचार) को कहे जाने पर खेद है कि तुम दशों दिशाओं को शून्य देखोगी।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में अनुप्रास तथा उपमा अलंकार हैं।

व्याकरण—**यूथ्याः** = यूथ् + यत्। **उदिता** = वद् + क्त (कर्म में)। उद धातु द्विकर्मक है। इसके गौणकर्म में 'क्त' प्रत्यय होता है। इसी कारण प्रधान कर्म 'वृतान्तम्' में द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

समास—**लोलाक्षि** = लोले लक्षिणी यस्याः सा (बहुव्रीहि) **स्वयूथ्यैः** = यूथे भवः यूथ्याः स्वस्य यूथ्याः स्वयूथ्या तैः। **अशनिक्षतोपमम्** = अशनेः क्षतम् इति अशनिक्षतम् तदेव उपमा यस्य स अशनिक्षतोपमः (बहुव्रीहि) तम्।

टिप्पणियाँ—**लोलाक्षि!** = चंचल नेत्रों वाली। **स्वयूथ्यैः** = अपने झुंड के पक्षियों के द्वारा। **अशनिक्षतोपमम्** = वज्र के प्रहार के सदृश। **उदिता** = कही जाने पर। **वत्** = खेदवाचक अव्यय है। **असंशयम्** = निःसन्देह। **शून्यानि** = शून्य, रिक्त। **विलोकयिष्यसि** = देखोगी।

प्रसङ्ग— हंस पुनः कहता है— हे प्रिये! मेरे न होने पर तुम बच्चों का पालन पोषण कर सकती हो। किन्तु यदि मेरे वियोग में तुमने भी प्राण-त्याग दिये तो बच्चों की निश्चित ही मृत्यु हो जायेगी—

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयाऽसि चित्राङ्गि ? विपद्यते यदि।
तदस्मि दैवेन हतोऽपि हा हतः स्फुटं यतस्ते शिशवः पराशवः॥१४०।

मल्लिनाथकृत-टीका— ममैवेति। हे चित्राङ्गि ? लोहितचञ्चुचरणत्वा-द्विचिगात्रे ? मम शोके नैव मद्विपत्तिदुःखेनैव विदीर्णवक्षसा विदलितहृदा त्वया विपद्यते म्रियते यदि तर्त्तहि दैवेन हतः स्फुटं व्यक्तं पुनर्हतोऽस्मि हेति विषादे. 'हा विस्मयविषादयोरि'ति विश्वः। कुतः ? यतः ते शिशवः परासवो मातुरप्यभावे पोषकाभावान्मृताः, अतः शिशुमरणभावनया द्विगुणितं मे मरणदुःखं प्राप्तमित्यर्थः॥१४०॥

अन्वय— हे चित्राङ्गि? यदि मम एव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वया, विपद्यते, तत्, हा दैवेन हतः अपि हतः अस्मि, यतः ते शिशवः स्फुटं परासवः।

संस्कृत-व्याख्या—हे चित्राङ्गि = (लोहितचञ्चुचरणत्वात्) हे विचित्रगात्रे! 'विचित्राङ्गि' इत्यपि पाठो लभ्यते। यदि = चेत्, मम एव शोकेन = मद्विपत्तिदुःखेनैव, विदीर्णवक्षसा = विदीर्णहृदया, त्वया, विपद्यते = म्रियते, तत् = तर्हि, हा = इति विषादे, दैवेन = भाग्येन, हतः = मारितः, अपि हता अस्मि, यतः, ते = तव, शिशवः = बालकाः, स्फुटम् = व्यक्तम्, परासवः = मातुः अपि अभावे पोषकाभावात् मृताः, अतः शिशुमरणभावनया द्विगुणितं मे मरणदुःखं प्राप्तम् — इति भावः।

हिन्दी अनुवाद—हे चित्राङ्गि ? = हे विचित्र (नाना प्रकार के सुन्दर अंगों से युक्त) शरीर वाली! यदि = अगर, मम एव शोकेन = मेरे ही शोक के कारण, विदीर्णवक्षसा = विदीर्णहृदयवाली, त्वया = तुम, अपि = भी, विपद्यते = मृत्यु को प्राप्त हो जाती हो, तत् = तो,, हा = हाय, दैवेन = भाग्य से, हतः = मारा गया हुआ मैं (फिर दुबारा), हतः अस्मि = मारा जाऊँगा; यतः =

क्योंकि, ते शिशवः = तुम्हारे बच्चे, स्फुटम् = व्यक्त रूप से ही अर्थात् निश्चित रूप से, परासवः = (तुम्हारे द्वारा किये जाने वाले पालन पोषण को न पाकर) निष्प्राण हो जाएंगे अथवा मर जाएंगे। अतः बच्चों के भी मरे जाने के कारण मेरा कष्ट दुगुना हो जाएगा।

भावार्थ—हंस पुनः सोचता है कि उसके वियोग के कारण उसकी पत्नी निश्चित ही अपने प्राण त्याग देगी। और फिर माता-पिता दोनों के ही अभाव के कारण जब उसके बच्चों का पालन-पोषण करने वाला कोई भी नहीं रह जायगा तो वे बच्चे भी मृत्यु के ग्रास बन जाएंगे अथवा मर जाएंगे। इस भाँति उस हंस के मर जाने पर उसका वंश ही समाप्त हो जाएगा। यह सोचकर उस हंस का दुःख दूना (द्विगुणता को प्राप्त) हो रहा था।

अलङ्कार— इस श्लाके में "काव्यलिङ्ग" अलङ्कार की प्रतीति है। लक्षण— "स्यात्काव्यलिङ्गं वागर्थो नतूनार्थसमर्थकः"।

व्याकरण—**विपद्यते** = वि + पद् + लट् (भाववाच्य)।

समास—**विदीर्णवक्षसा** = विदीर्णः वक्षः यस्या सा (बहुव्रीहि) विदीर्णवक्षा तया। **परासवः** = परागताः असवः येषां ते परासवः।

टिप्पणियाँ—**चित्राङ्गि** = हे सुन्दर अंगों तथा प्रत्यङ्गों से युक्त अर्थात् हे शोभन अंगों से युक्त शरीरवाली। **ममएवशोकेन** = मेरे वियोग से उत्पन्न शोक के कारण ही। **विदीर्णवक्षसा** = जिसका हृदय विदीर्ण हो गया हो (अथवा फट गया हो)—ऐसी (तुम)। **विपद्यते** = मृत्यु को प्राप्त हो जाती हो अथवा मर जाती हो। हा! यह विषाद अर्थ में प्रयुक्त अव्यय है। अर्थात् बड़े ही दुःख की बात है अथवा हाय। " हा विस्मयविषादयोः" इति विश्वः। **परासवः** = निकल गये हैं प्राण जिनके— मरे हुए-मृत। (स्वयं ही) मर जाएंगे—निष्प्राण हो जाएंगे।

प्रसङ्ग— हंस कहता है कि मेरे वे बच्चे जो कि बड़े मनोरथों के पश्चात् बड़े भाग्य से, चिरकाल तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त उत्पन्न हुए थे, क्षणभर में ही मृत्यु के ग्रास बन जाएंगे—

तवापि हाहा विरहात् क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुट्य तेषु ते।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम॥ १४१॥

मल्लिनाथकृत-टीका— ननु मन्मृतौ कथं तेषां मृतिरत आह— तवापीति। हे प्रिये! बहुभिर्मनोरथैश्चिरेण लब्धाः कृच्छ्रलब्धा इत्यर्थः, अस्फुटितेक्षणाः अद्याप्य-नुन्मीलेतेक्षणाः मम ते पूर्वोक्ताः शिशवः तवापि न केवलं ममैवेति भावः। क्षुधाकुलाः क्षुत्पीडिताः तेषु स्वसम्पादितेष्वित्यर्थः कुलायकूलेषु नीडान्तिकेषु, 'कुलाया नीडमस्त्रियामि'त्यमरः। विलुठ्य परिवृत्य क्षणेन गताः मृतप्रायाः, हा हेति खेदे॥ १४१॥

अन्वय— हा हा, बहुभिः मनोरथैः चिरेण लब्धाः अस्फुटितेक्षणाः मम ते तव अपि विरहात् क्षुधाकुलाः तेषु कुलायकूलेषु विलुठ्य क्षणेन गताः।

संस्कृत-व्याख्या—हा हा =इति खेदे; [हे प्रिये], बहुभिः = अनेकै, मनोरथैः = कामनाभिः, चिरेण = बहुकालेन, लब्धाः = प्राप्ताः अस्फुटितेक्षणाः = अधुनापि अनुन्मीलितनेत्राः मम, ते = शिशवः तव अपि (न केवलं ममैवेति भावः), विरहात् = वियोगात्, क्षुधाकुलाः = क्षुत्पीडिताः, (सन्तः), तेषु = स्वसम्पादितेषु-इत्यर्थः, कुलायकूलेषु = नीडान्तिकेषु, विलुठ्य = परिवृत्य, क्षणेन गताः = मृतप्रायाः।

हिन्दी अनुवाद—हा हा = महान् दुःख की बात है [कि हे प्रिय], बहुभिः = अनेक मनोरथों से, चिरेण = बहुत काल पश्चात्, लब्धाः = प्राप्त हुए—अथवा उत्पन्न हुए, अस्फुटितेक्षणाः = जिनकी आँखे इस समय तक भी पूर्णरूपेण खुल नहीं सकी हैं. ऐसे, मम = मेरे, ते = वे बच्चे, तव अपि = तुम्हारे भी (वे बच्चे), त्रिरहात् = (तुम्हारे) विरह के कारण, क्षुधाकुलाः = भूश से पीड़ित होकर, तेषु = (स्वयं निर्माण किये गये हुए उन, कुलायकूलेषु = घोंसलों के किनारों पर, विलुठ्य = लोट-पोटकर-छटपटाकर, क्षणेन गताः = क्षणभर में ही मर जाऐंगे।

भावार्थ— हे प्रिये! मेरे अनेक मनोरथों से प्राप्त (उत्पन्न हुए), अनुन्मीलित नेत्रों वाले, मेरे तथा तुम्हारे भी वे बच्चे तुम्हारे भी वियोग के कारण [किसी पालन-पोषणकर्त्ता के विद्यमान न होने के कारण] भूख से व्याकुल होकर हम दोनों द्वारा निर्मित घोंसलों के अन्दर ही छटपटाकर क्षणभर में ही इस संसार से चल बसेंगे अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जाएंगे— यह महान् दु:ख एवं शोक की बात है।

अलङ्कार— ''चिरेणलब्धा'' तथा ''क्षणेनगता:'' में विद्यमान विरोध की दृष्टि से उक्त श्लोक में ''विरोधाभास'' अलङ्कार की प्रतीति हो रही है।

व्याकरण— क्षणेन = में कार्य समाप्ति के अर्थ में तृतीया-विभक्ति हुई है।

समास—अस्फुटितेक्षणा: = अस्फुटितानि ईक्ष्णानि येषां ते (बहुव्रीहि)। **क्षुधाकुला:** = क्षुधया आकुला: (तृतीया तत्पु०)। **कुलायकूलेषु** = कुलायानां कूलानि (षष्ठी तत्पु०) इति कुलायकूलानि।

टिप्पणियाँ—बहुभि:मनोरथै: = अनेक बार की गयी अभिलाषाओं के परिणामस्वरूप। **चिरेण** = बहुत समय तक की गयी प्रतीक्षा के उपरान्त (पश्चात्)। **लब्धा:** = प्राप्त अथवा उत्पन्न हुए। **अस्फुटितेक्षणा:** = जिनकी आँखें इस समय तक भी (पूर्णरूपेण) नहीं खुल सकी हैं ऐसे (मेरे बच्चे)। **विरहात्** = मैं तो मर ही चुका होऊँगा और मेरे वियोग में तुम भी मर जाओगी— फिर तुम्हारे भी वियोग के कारण (अनाथ हो जाने वाले मेरे बच्चे)। **क्षुधाकुला:** = भूख से पीड़ित। **तेषु** = उन (स्वयं निर्माण किये गये हुए) घोंसलों में। **कुलायकूलेषु** = घोंसलों के किनारे अथवा छोरों पर। मेरे अथवा तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा में घोंसलों के किनारों पर स्थित होकर। **विलुट्य** = लोटपोटकर-तड़फड़ाकर-छटपटाकर। **क्षणेन गता:** = क्षण भर में ही (थोड़ी देर में ही) चल बसेंगे—मृत्यु को प्राप्त हो जावेंगे।

प्रसङ्ग— इस भाँति अपनी प्रिया (हंसी) के प्रति कहकर हंस अपने बच्चों को सम्बोधित करते हुए कह रहा है—

सुताः कमाहूय चिराय चुङ्कृतै-
र्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य च
सुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाश्रुणः॥१४२॥

मल्लिनाथकृत-टीका—सुता इति। हे सुताः? चूङ्कृतैश्चूङ्कारश्चिराय कं प्रति कमपि प्रति मुखानि कम्प्राणि चञ्चलानि विधाय कथासु शिष्यध्वं कथामात्रशेषा भवत? कुत्रापि पित्रोरदर्शनाद् म्रियध्वं, प्राप्तकाले लोट्, मरणकालः प्राप्त इत्यर्थः। इतीति इत्युक्त्वेत्यर्थः। गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः। प्रमील्य मूर्च्छां प्राप्य स हंसः सुतस्य दयार्द्रभावात्प्रवहतो नृपस्याश्रुणः सेकाद् बुबुधे संज्ञां लेभे। प्रायेणात्र स्वभावोक्तिरह्या॥१४२॥

अन्वय—सुताः चुङ्कृतैः कं चिराय आहूय कं प्रति मुखानि कम्प्राणि विधाय कथासु शिष्यध्वं इति प्रमील्य सः सुतस्य नृपाश्रुणः सेकात् बुबुधे।

संस्कृत-व्याख्या—सुताः = पुत्राः, चुङ्कृतैः = "चूँ, चूँ" इत्यव्यक्तशब्दैः, कम्, चिराय = बहुकालपर्यन्तम्, आहूय = आकार्य, कं प्रति, मुखानि = आननानि, कम्प्राणि= चंचलानि, विधाय = कृत्वा, कथासु शिष्यध्वम् = कथामात्रशेषा भवत— कुत्रापि पित्रोरदर्शनाद् म्रियध्वम् — मरणकालः प्राप्त-इत्यर्थः, इति = इत्युक्त्वा-इत्यर्थः, प्रमील्य = मूर्च्छां प्राप्य, सः = हंसः, सुतस्य= दयार्द्रभावात् प्रवहतः, नृपाश्रुणः = नृपस्य राज्ञःनलस्यः अश्रुणः, सेकाद् = सेचनाद्, बुबुधे = संज्ञां लेभे।

हिन्दी अनुवाद—हे सुताः! = हे पुत्रों, चुङ्कृतैः = चूँ चूँ शब्द द्वारा, कं चिराय आहूय = किसको देर तक बुला-बुलाकर [खाना माँगोगे?], [तथा बोलना सीखने के निमित्त], कं प्रति = किसकी ओर, मुखानि = मुखों को, कम्प्राणि = कम्पित अथवा कम्पनपूर्ण, विधाय = करके, कथासु शिष्यध्वम् = कथामात्र शेष रह जाओगे— (कहीं पर भी अपने माँ बाप को न पाकर मृत्यु

को प्राप्त हो जाओगे), इति = ऐसा कहकर, प्रमील्य = मूर्च्छा प्राप्त करके, सः = वह हंस, सुतस्य = बहते हुए, नृपाश्रुणः = राजा के आँसुओं के, सेकात् = सेक से, बबुधे = चेतनता को प्राप्त हुआ।

भावार्थ— हे पुत्रों! चूँ चूँ करते हुए बहुत समय तक किसे बुला-बुलाकर [खाना माँगोगे] ? तथा अपने मुखों को कँपाते हुए किससे बोलना सीखोगे? [अर्थात् किसी से नहीं], अतएव कथाशेष हो (मर) जाओगे। इतना कहकर वह हंस मूर्छित हो गया। हंस के उपर्युक्त वचनों को सुनकर तथा उसकी मूर्छित अवस्था को देखकर राजा का हृदय दया से भर गया और उसकी अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। राजा के वे आँसू हंस के ऊपर गिरे और उनके सिंचन से हंस को चेतना प्राप्त हुई अर्थात् वह होश में आया।

रस— हंस द्वारा किये गये उपर्युक्त विलाप-वर्णन (१।१३५-१।१४२ तक) में ''करुण-रस'' की प्रतीति स्पष्ट रूपेण हो रही है।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में ''स्वभावोक्ति'' अलङ्कार की प्रतीति हो रही है।

व्याकरण—**शिष्यध्वम्** = शिष् + लोट् (प्राप्तकाल अर्थ में)।

समास—**नृपाश्रुणः** = नृपस्य अश्रुणः (षष्ठी तत्पु०) इति नृपाश्रुणः।

टिप्पणियाँ—**चुङ्कृतैः** = ''चूँ चूँ'' इस प्रकार के शब्दों द्वारा। **कम्प्राणि** = चंचल। **शिष्यध्वम्** = कथामात्रशेष रह जाओगे। **प्रमील्य** = मूर्छित होकर, मूर्छा को प्राप्त कर। **सुतस्य** = बहते हुए— प्रवाहित होते हुए। **नृपाश्रुणः** = राजा नल के आँसू से (अश्रुधारा से)। **बुबुधे** = जगा होश में आया, चेतनता को प्राप्त किया-सचेत हुआ।

प्रसङ्ग— इस प्रकार विलाप करते हुए उस हंस को राजा ने छोड़ दिया—

इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयाऽवनिपालः।

रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ तथेच्छमथेत्यभिधाय॥१४३॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अत्र सर्वत्र 'भिन्नसर्गान्तैरि'ति काव्यलक्षणाद

वृत्तान्तरेण श्लोकद्वयमाह— इत्थमित्यादिना। इत्थं विलपन्तं परिदेवमानममुं हंसमवनिपालो नलो दीनेष्वार्त्तेषु दयालुतया कारुणिकतया रूपमाकृतिरदर्शि अपूर्वत्वादवलोकितं, यस्मै यदर्थं रुपदर्शनार्थमेर धृतो गृहीतोऽसि, अथ यथेच्छं गच्छेत्यभिधाय अमुञ्चत् मुक्तवान्। 'दोधकवृत्तमिदम्भभभा गावि'ति लक्षणात्॥ १४३॥

अन्वय— दीनदयालुतया अवनिपालः ''यदर्थं धृतः असि (तत्) रूपं अदर्शि। अथ यथेच्छं गच्छ'' इति अभिधाय इत्थं विपलन्तं अमुं अमुञ्चत्।

संस्कृत-व्याख्या— दीनदयालुतया = दीनेषु दयालुतया कारुणिकतया, अवनिपालः = राजा नलः, ''यदर्थम् = यस्मै प्रयोजनाय, धृतः = गृहीतः, असि, (तत्), रूपम् = आकृतिः, अदर्शि = दृष्टम्, अथ = अतः परम्, यथेच्छम् = स्वेच्छानुसारम्, गच्छ'', इति = इत्थम्, अभिधाय = उक्त्वा, इत्थम् = पूर्वोक्तप्रकारेण, विपलन्तम् = विलापं कुर्वन्तम्, अमुम् = हंसम्, अमुञ्चत् = मुक्तवान्।

हिन्दी अनुवाद— दीनदयालुतया = दीनों के प्रति दयालु होने के कारण, अवनिपालः = राजा नल, ''यदर्थम् = जिस (उद्देश्य) के लिये, धृतः असि = तुमको पकड़ा था, (तत् = उस), रूपम् = रूप को, अदर्शि = देख लिया। अथ = अब, यथेच्छम् = अपनी इच्छानुसार, गच्छ = जाओ—विचवण करो।'' इति = ऐसा, अभिधाय = कहकर, इत्थम् = पूर्वोक्त प्रकार से, विपलन्तम् = विलाप करते हुए, अमुम् = उस हंस को, अमुञ्चत् = छोड़ दिया।

भावार्थ— इस प्रकार (१।१३५-१४२) विलाप करते हुए उस हंस को, राजा नल ने यह कहकर '' कि हंस! मैंने तुम्हारे रूप को देखने के लिये ही तुमको पकड़ा था— वह मैंने देख लिया। अब तुम अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहो, वहाँ जाओ'' छोड़ दिया।

अलङ्कार— इस श्लोक में ''अनुप्रास'' अलङ्कार है।

छन्द— उपर्युक्त वृत्त में '' दोधक'' नामक छन्द है। लक्षण— ''दोधकवृत्तिमिदम्भभभागौ''।

भगण	भगण	भगण	गुरु	गुरु
ऽ । ।	ऽ । ।	ऽ । ।	ऽ	ऽ
इत्थम्	मुंबिल	पन्तम	मु	चत्
दीनद	यालुत	यावनि	पा	लः

व्याकरण—**दयालुः** = दय् + आलुच्। **दीनदयालुतया** = दीनदयालु + तल् + टाप्। **अदर्शि** = दृश् + लुङ् (कर्मवाच्य-प्रथमपु०—एकवचन)।

समास—**दीनदयालुतया** = दीनेषु दयालुः इतिदीनदयालुः, तस्य भावः दीनदयालुता तया। **यथेच्छम्** = इच्छामनतिक्रमय इति यथेच्छम् (अव्ययीभाव)।

टिप्पणियाँ—**दीनदयालुतया** =दीनों (दुखियों-गरीबों) के प्रति कृपालु (दयालु) होने के कारण। **धृतः असि** = पकड़े गये हों— पकड़ा था। **विपलन्तम्** = विलाप करते हुए।

प्रसङ्ग— हंस के पकड़ लिये जाने पर उसके साथियों द्वारा पहले अश्रुधारा प्रवाहित की गयी थी। अब हंस के छूट जाने पर हर्ष के कारण उनके अश्रु बह निकले—

आनन्दजाश्रुभिरनुस्त्रियमाणमार्गान्
प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान्।
चक्रे स चक्रनिमचङ्क्रमणच्छलेन
नीराजनां जनयतां निजबान्धवानाम्॥१४४॥

मल्लिनाथकृत-टीका— आनन्देति। हंसः चक्रनिभचङ्क्रमणस्य मण्डलाकारभ्रमणस्य छलेन नीराजनाञ्जनयतां कुर्वतां निजबान्धवानां 'बन्धमुक्तं बान्धवा नीराजयन्ती'ति समाचारः। प्राङ्मोचनात्पूर्वं शोकेन निर्गलिता निःसृता नेत्रपयःप्रवाहा बाष्पपूरास्तानानन्दजाश्रुभिरानन्दबाष्पैरनुस्त्रियमाणमार्गान् अनुगम्यमानमार्गांश्चक्रे कृतवान्। अत्र पक्षिणां स्वभावसिद्धं बन्धमुक्तं स्वयूथ्यभ्रमणं छलशब्देनापह्नुत्य तत्र नीराजनात्वारोपादपह्नवभेदः। अत्र चमत्कारित्वान्मङ्गला-

चारूपत्वाच्च सर्वत्र सङ्गीतश्लोकेष्वानन्दशब्दप्रयोगः, यथाह भगवान् भाष्यकारः– 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि विहितानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाण्या-युष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ती'ति। वसन्ततिलकावृत्तम 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गा इति लक्षणात्। सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः, यथाह दण्डी–सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्॥' इति॥१४४॥

अन्वय– स चक्रनिमचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानां प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान् आनन्दजाश्रुभिः अनुस्त्रियमाणमार्गान् चक्रे।

संस्कृत-व्याख्या–सः = हंसः, चक्रनिमचङ्क्रमणच्छलेन = चक्रनिभं मण्डलाकारं चङ्क्रमणं भ्रमणं तस्य छलेन व्याजेन, नीराजनाम् = आरार्तिकाम्, जनयताम् = कुर्वताम्, निजबान्धवानाम् = स्वीयमित्राणाम्, प्राक् = मोचनात् पूर्वम्, शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान् = शोकेन शुचा निर्गलितान् (निर्गमित पाठोपि लभ्यते), निःसरितान् नेक्षपयःप्रवाहान् अश्रुपूरान्, आनन्दजाश्रुभिः = आनन्दवाष्पै, अनुस्त्रियमाणमार्गान् = अनुगम्यमानमार्गान्, चक्रे = कृतवान्।

हिन्दी अनुवाद–सः = उस (हंस) ने, चक्रनिमचङ्क्रमणच्छलेन = मण्डलाकार भ्रमण के बहाने से, नीराजनां = आरती, जनयताम् = करते हुए, निजबान्धवानाम् = अपने बंधुओं के, प्राक् = छोड़ दिये जाने से पहले वाले, शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान् = शोक के कारण निकले हुए आँसुओं के प्रवाह को, आनन्दजाश्रुभिः = (अब छूट जाने के पश्चात्) हर्ष से उत्पन्न आँसुओं से, अनुस्त्रियमाणमार्गान् = अनुसरण किये जाते हुए मार्ग वाला, चक्रे = कर दिया– बना दिया।

भावार्थ– राजा नल द्वारा हंस के पकड़ लिये जाने पर उसके साथी बन्धुओं ने रोकर तथा उस हंस के बंधन मुक्त (छूट जाना) हो जाने पर आँसू बहाने लगे तथा उस बन्धनमुक्त हंस के चारों ओर आ-आकर बैठते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे कि मानों उस बन्धनमुक्त हंस की आरती सी उतार रहे हों।

अलङ्कार— उक्त श्लोक में अनुप्रास अलङ्कार तो स्पष्ट ही है यद्यपि पक्षियों का यह स्वभावसिद्ध धर्म है कि वे अपने साथी के बन्धनमुक्त हो जाने पर हर्षित होकर उसके समीप आ-आकर चारों ओर बैठा करते हैं किन्तु इस मण्डलाकार बैठने में महाकवि 'छल' शब्द द्वारा उसका अपह्नव करके आरती किये जाने का आरोप किया है— अतः यहाँ अपह्नुति अलङ्कार भी है।

व्याकरण—**चङ्क्रमणम्** = क्रम् + यङ् + ल्युट्। **अनुस्रियमाण** = अनु + सृ + शानच् (कर्मवाच्य)।

समास—**चक्रनिमचङ्क्रमणच्छलेन** = चक्रेण निभं (सदृशम्) चक्रनिभम् (तृतीया तत्पु०), चक्रनिभं चङ्क्रमणं (कर्मधारय)— इति चक्रनिभचङ्क्रमणम्, तस्य छलम्, (षष्ठी तत्पु०)— इति चक्रनिमचङ्क्रमणच्छलम्-तेन। **प्राक्शोक-निर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान्** = शोकेन निर्गलिताः शोकनिर्गलिताः (तृतीया तत्पु०), प्राक् शोकनिर्गलिताः (सुप्सुपा समास), प्राक्शोकनिर्गलिताःनेत्रपयःप्रवाहाः (कर्मधारय) इति प्राक्शोकनिर्गलितपयःप्रवाहाः, तान्।

टिप्पणियाँ—**चक्रनिमचङ्क्रमणच्छलेन** = मण्डलाकार रूप में किये गये भ्रमणों के बहाने से। **नीराजनाम्** = आरती को। **जनयताम्** = उत्पन्न करते हुए— करते हुए। **निजबान्धवानाम्** = अपने ही झुंड में रहने वाले बन्धु सदृश पक्षियों के। **प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान्** = छोड़े जाने से पहले (जब हंस राजा नल द्वारा पकड़ लिया गया था उस समय पकड़े जाने से उत्पन्न हुए) शोक के कारण निकले हुए आँसुओं के प्रवाह को-अथवा अश्रुधारा को। **आनन्दजाश्रुभिः** = [हंस जब राजा द्वारा छोड़ दिया गया तब उसकी मित्र मण्डली में रहने वाले पक्षियों द्वारा हर्ष के कारण अश्रुधारा को प्रवाहित किया] (इस भाँति के) आनन्द के कारण उत्पन्न हुए आँसुओं से। **अनुस्रियमाणमार्गान्** = अनुसरण किये जाते हुए मार्ग से युक्त अथवा मार्ग वाला। **चक्रे** = किया—कर दिया— बना दिया।

नैषध महाकाव्य के सभी सर्गों के अन्तिम श्लोक में "आनन्द" पद का प्रयोग किया गया है जो कि चमत्कारोत्पादक तथा मङ्गलपूर्ण भावना का द्योतक है। अतः इस काव्य को "आनन्दाङ्क काव्य" भी कहा जाता है। ऐसा करके महाकवि श्रीहर्ष ने शिष्टाचार का ही पालन किया है जैसा कि भगवान् नामक भाष्यकार ने कहा भी है– "मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि विहितानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्तीति।"

छन्द– काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार महाकाव्य के अन्त में छन्द-परिवर्त्तन हो जाना भी आवश्यक कहा गया है। जैसा कि महाकवि दण्डी ने कहा भी है–"सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्॥" इसी आधार पर १४३ वें तथा १४४ वें श्लोकों में छन्दपरिवर्त्तन किया गया है। उक्त वृत्त में "वसन्ततिलका" नामक छन्द है। लक्षण– "उक्ता वसन्ततिलका तभजाजगौगाः"। अर्थात् यह १४ वर्णों का वृत्त होता है। इसके प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण, भगण, जगण, जगण तथा दो गुरु वर्ण आते हैं–

तगण	भगण	जगण	णगण	गुरु	गुरु
ऽ ऽ।	ऽ ।।	।ऽ।	।ऽ।	ऽ	ऽ
आनन्द	जाश्रुभि	रनुस्रि	यमाण	मा	र्गान्
प्राक्छोक्	निर्गलि	तनेत्र	पयःप्र	वा	हान्। इत्यादि

प्रसङ्ग– अब महाकवि प्रथम सर्ग की समाप्ति का वर्ण भी श्लोक द्वारा ही करते हैं।

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहरिः सुषवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः॥१४५॥

मल्लिनाथकृत-टीका— अथ कविःकाव्यवर्णनमाख्यातपूर्वकं सर्गसमाप्ति श्लोकबन्धेनाह— श्रीहर्षमिति। कविराजराजिमुकुटानां विद्वच्छ्रेष्ठश्रेणीमुकुटानाम् अलङ्कारभूतो हीरो व्रजमणिःहीरो नाम विद्वान् श्रीहर्षनामानं यं सुतं सुषुवे जनयामास, मामल्लदेवी नाम स्वमाता सा च यं सुतं सुषुवे, तस्य श्रीहर्षस्य यश्चिन्तामणिमत्रः तस्य चिन्तनमुपासना तस्य फले फलभूते 'शृङ्गाररभङ्ग्या' शृङ्गाररसेन चारुणि निषधानां राजा नैषधो नलः तदीयचरिते नलचरितमानके महाकाव्ये अयमादिः प्रथमः सर्गो गतः समाप्त इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्॥१४५॥

इति मल्लिनाथसूरि-विरचितायां समाख्यायां नैषधटीकायां प्रथमः सर्गः समाप्तः॥१॥

अन्वय—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः श्री हीरः मामल्लदेवी च यं जितेन्द्रिचयं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अयं आदिः सर्गः गतः।

संस्कृत-व्याख्या— कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः = कविराजराजि-मुकुटानां विद्वच्छ्रेष्ठश्रेणिमौलीनां अलङ्कार अलङ्कारभूतः हीरः वज्रमणिः, श्री हीरः = श्री हीरो नाम पिता, मामल्लदेवी = एतदाख्या माता, च, यम् जितेन्द्रिचयम् = जितः इन्द्रियचयः इन्द्रयसमूहः येन तादृशम्, श्रीहर्षम् = श्री हर्षनामानम्, सुतम् = पुत्रम्, सुषुवे = जनयामास, तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले = तस्य श्री हर्षस्य यः चिन्तामणिमन्त्रः तस्य चिन्तनं उपासना तस्य फले फलभूते, शृङ्गारभङ्ग्या = शृङ्गाररसवृत्या, चारुणि = रमणीये नैषधीयचरिते = नैषधीयं नलसम्बन्धि चरितं विद्यते यस्मिन् एवंविधे [अथवा-निषधानां राजा नैषधः नलः तदीयचरिते नलचरितनामके], महाकाव्ये अयम् आदिः = प्रथम, सर्गः, गतः = समाप्तः।

हिन्दी अनुवाद—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः = श्रेष्ठ कवियों की पंक्ति के मुकुटों के आभूषणस्वरूप हीरे (के सदृश), श्री हीरः = श्रीहीर् (नामक

पिता तथा,) मामल्लदेवी च = और मामल्लदेवी (नाम की माता) ने, यम् = जिस, जितेन्द्रियचयम् = सम्पूर्ण इन्द्रियों के विजेता, श्रीहर्ष सुतम् = श्री हर्ष नाम के पुत्र को, सुषुवे = उत्पन्न किया, तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले = उसके चिन्तामणि नामक मन्त्र की उपासना के फलस्वरूप, शृङ्गारभङ्ग्या = शृंगार रस की प्रधानता से, चारुणि = मनोहर, नैषधीयचरिते = नैषधीयचरित नामक, महाकाव्ये = महाकाव्य में, अयम् = यह, आदिः = प्रथम, सर्गः, गतः = समाप्त हुआ।

व्याकरण—नैषधीय = निषधानां राजा नैषधः (नलः), तस्य इदं नैषधीयम्— नैषध + छ (''वृद्धाच्छः'' सूत्र से) तदनन्तर छ के स्थान पर ''ईय्'' आदेश होकर।

समास— कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः= कवीनां राजनः कविराजाः, कविराजानां राजिः, इति कविराजराजिः, तस्या मुकुटानि-इति कविराजराजिमुकुटानि, तेषां अलङ्कारहीरः अलङ्कारभूतः हीरः (मध्यलो०स०)— इति। **जितेन्द्रियचयम्**= जितः इन्द्रियचयः येन तादृशम्। **चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले** = चिन्तामणिमन्त्रस्य ब्रह्मणः मन्त्रस्य चिन्तनं उपासना तस्य फले। **नैषधीयचरिते** = निषधानां राजा नैषधः, तस्य इदं नैषधीयम्, नैषधीयं चरितं यस्मिन् तत् नैषधीयचरितम् — तस्मिन्।

टिप्पणियाँ—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः = श्रेष्ठकवियों के समूह के मुकुट के अलङ्कारभूत हीरकमणि के सदृश (अर्थात् अतिश्रेष्ठ एवं सुयोग्य महाकवि)। **श्री हीरः** = महाकवि श्रीहर्ष के पिता का नाम श्री हीर था। **मामल्लदेवी** = यह श्रीहर्ष की माता का नाम था। **जितेन्द्रियचयम्** = जिसने इन्द्रिय'समूह (अथवा सभी इन्द्रियों) पर विजय प्राप्त कर ली थी ऐसे। **सुषुवे** = उत्पन्न किया। **चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले** = चिन्तामणि नामक मन्त्र के चिन्तन के फलस्वरूप। अर्थात् महाकवि श्रीहर्ष ने चिन्तामणि नामक मन्त्र का चिन्तन किया था और उसके फलस्वरूप इस महाकाव्य का निर्माण हुआ था। **शृङ्गारभङ्ग्या** = शृङ्गार रस (की प्रधानता) से परिपूर्ण। **नैषधीयचरिते** =

निषध देश के राजा नल से सम्बन्धित "नैषधीयचरित" नामक महाकाव्य में। **गतः** = समाप्त हुआ।

उक्त श्लोक में महाकवि श्रीहर्ष ने अपने माता-पिता का परिचय दिया है। उनके पिता का नाम श्री हीर तथा माता का नाम मामल्लदेवी था। श्री हीर श्रेष्ठ कवियों के मुकुट की मणि के सदृश थे। महाकवि श्रीहर्ष को "चिन्तामणि" नामक मन्त्र सिद्ध था जिसके फलस्वरूप उन्होंने "**नैषधीयचरित**" नामक महाकाव्य की रचना की।

छन्द—इस अन्तिम वृत्त में "शार्दूलविक्रीडित" नामक छन्द है। **लक्षण**—"सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्"। अर्थात् यह १९ वर्णों का वृत्त है। इसमें १२, ७ पर विश्राम होता है। इसमें क्रमशः "मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण" और गुरु वर्ण आते हैं।

	मगण	सगण	जगण	तगण	तगण	गुरु
रूप—	S S S	I I S	I S I	S S I	S S I	S

श्री हर्षं कविरा जराजि मुकुटा लङ्कार हीरः सु तम्।
श्री हीरः सुषुवे जितेन्द्रि यचयं मामल्ल देवी च यम्॥ इत्यादि॥

इत्युत्तरप्रदेश 'मैनपुरी' मण्डलान्तर्गत 'महावतपुर' ग्रामनिवासिनः
श्रीमतो दयानन्दमहोदयस्य श्रीमत्याः सुखदेव्याश्च तनुजनुषा
वृन्दावनस्थगुरुकुलविश्वविद्यालयाधीतविद्येन,
पी-एच०डी० इत्युपाधिधारिणा
आचार्यसुरेन्द्रदेवशास्त्रिणा
विरचिता 'आशुबोधिनी' व्याख्या समाप्ता।
समाप्तश्चायं प्रथमः सर्गः

श्लोकानुक्रमणिका

	श्लोक संख्या	पृष्ठ संख्या
अकारि तेन श्रवणातिथिर्	१.४४	१२०
अचीकरच्चारु हयेन या	१.७३	१८९
अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्	१.५९	१५६
अजस्रमभ्यासमुपेयुषा	१.१७	५४
अत श्रिया भर्त्सितमत्स्य	१.५६	१४९
अथ स्वमादाय भयेन	१.१०७	२६५
अथान्तरेणावटुगामिना	१.५८	१५४
अथावलम्ब्य क्षणमेक	१.२१	२९५
अदस्तदाकर्णि फलाढ्य	१.२८	८२
अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा	१.२०	६१
अधीतिबोधाचरणप्रचारणै	१.४	१२
अधोविधानात् कमलप्रवालयोः	१.१८	५६
अनङ्गचिह्नं स विना शशाक	१.५५	१४७
अनल्पदग्धारिपुरानलोज्	१.१०	३२
अनेन भैमीं घटयिष्यत-	१.४६	१२५
अपह्नुवानस्य जनाय	१.४९	१३२
अपि द्विजिह्वाभ्यवहार	१.६३	१६६
अपि स्वयूथ्यैरशनि-	१.३९	३२७
अमन्यतासौ कुसुमेषुगर्	१.८७	२२१

	श्लोक संख्या	पृष्ठ संख्या
अमी ततस्तस्य विभूषितं	१.५७	१८२
अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्ग	१.२२	६६
अमुष्य धीरस्य जयाय	१.४५	१२२
अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी	१.५	१६
अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं	१.१५	४७
अलं नलं रोद्धुममी किला-	१.५४	१४५
अलिस्रजा कुड्मलमुच्च	१.९१	२३०
अवश्यभव्येष्वनव	१.२०	२९३
अवाप सापत्रपतां स भूपतिर्	१.५३	१४३
अशोकमर्थान्वितनाम	१.१०१	२५२
अहो अहोभिर्महिमा	१.४१	११३
आनन्दजाश्रुभिरनु	१.४४	३३६
इत्थममुं विलपन्तममु	१.४३	३३४
इतीदृशैस्तं विरचय्य	१.३४	३१८
इतीष्टगन्धाढ्यमटन्नसौ	१.१०४	२५१
उपासनामेत्य पितुस्स्म	१.३४	९७
उरोभुवा कुम्भयुगेन	१.४८	१३०
कथं विधातर्मयि पाणि	१.३८	३२५
कथाप्रसङ्गेषु मिथस्सखी	१.३५	९९
करेण मीनं निजकेतनं	१.१०५	२६१
किमन्यदद्यापि यदस्त्र	१.४७	१२७
किमस्य रोम्णाङ्कपटेन	१.२१	६४

	श्लोक संख्या	पृष्ठ संख्या
कृतोवरोहस्य हयादु	१.२३	२९९
क्षणादथैष क्षणदापति	१.६७	१७५
गता यदुत्सङ्गतले	१.९८	२४५
गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः	१.९२	२३२
चलन्नलङ्कृत्य महारयं	१.६६	१७३
चलाचलप्रोथतया मही	१.६०	१५८
चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्ग	१.११४	२८०
जगज्जयं तेन च कोश	१.१९	५९
तटान्तविश्रान्त तुरङ्ग	१.१०९	२७०
ततः प्रतीच्छ प्रहरति	१.६८	१७८
ततः प्रसूने च फले च	१.७६	१९६
तदङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि	१.९३	२३४
तदर्थमध्याप्य जनेन	१.१०३	२५७
तदात्तमात्मानमवेत्य	१.२५	३०३
तदोजसस्तद्यशसः	१.१४	४४
तमेव लब्ध्वावसरं ततः	१.४३	११८
तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्ल	१.११२	२७६
तवापि हाहा विरहात्	१.४१	३३१
त्वदग्रसूचीसचिवः स	१.८०	२०५
दिगीशवृन्दांशविभूतिरी	१.६	२१
दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽ-	१.९०	२२८
द्विषद्भिरेवास्य विलङ्घिता	१.७२	१८६

	श्लोक संख्या	पृष्ठ संख्या
धनुर्मः स्विन्नकरोऽपि	१.८१	२०७
धिगस्तु तृष्णातरलं	१.३०	३११
न का । ।शि ःवाप्नगतं	१.३०	८७
न केवल प्राणिवधो	१.३१	३१३
न जातरु पपच्छर	१.२९	३०९
नलस्य । ग्रा निष।ागता	१.३७	१०४
नवा लत गन्धव.।न	१.८५	२१७
न वासयो या वसुधेय	१.२८	३०८
निजा मयू त्रा इव तिस्म	१.६५	१७१
निपीय यस्र क्षितिरक्षिणः	१.१	१
निमीलनभ्रं गजुषा दृशा	१.२७	७९
निमोलिताद क्षियुगाच्च	१.४०	१११
निवारितास्ते र महीतले	१.११	३६
नृपाय तस्मै हिमितं	१.९९	२४७
नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां	१.३३	९५
पतत्रिणा तदुचिरेण	१.२७	३०६
पदे पदे सन्ति भटा	१.३२	३१४
पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते	१.७	२४
पयोधिलक्ष्मीमुषि केलि	१.११७	२८७
पयोनिलीनाभ्रमुकामुका	१.१०८	२६७
पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे	१.३	९
पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्	१.८८	२२३

	श्लोक संख्या	पृष्ठ संख्या
पुरोहठाक्षिप्तसतुषार	१.९७	२४३
प्रकाममादित्यमवाप्य	१.११५	२८२
प्रतीपभूपैरिव किं ततो-	१.१३	४१
प्रयातुमस्माकमियं कियत्	१.६९	१७९
प्रियं प्रियां च त्रिजगज्ज-	१.३८	१०६
प्रियासु बालासु रतिक्ष	१.११८	२८७
फलानिपुष्पाणि च	१.७७	१९७
फलेन मूलेन च वारि	१.३३	३१६
मदर्थसन्देशमृणाल	१.३७	३२३
मदेकपुत्रा जननी	१.३५	३२०
मनोरथेन स्वपतीकृतं	१.३९	१०९
ममैव शोकेन विदीर्ण	१.४०	३२९
मरुल्ललत्पल्लवकण्टकै:	१.९४	२३६
महीभृतस्तस्य च मन्मथ-	१.२६	७७
महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य	१.११९	२९१
महीयस: पङ्कजमण्डल	१.११३	२७८
महारथस्याध्वनि चक्रर्	१.६१	१६०
मुनिद्रुम: कोरकित: शितिद्	१.९६	२४१
मुहूर्त्तमात्रं भवन्दिन्दया	१.३६	३२२
मृषाविषादाभिनयादयं	१.५१	१३७
यथोह्यमान: खलु भोग-	१.३२	९१
यदम्बुपुरप्रतिबिम्बिताय	१.११६	२८५

	श्लोक संख्या	पृष्ठ संख्या
यदस्य यात्रासु बलोद्धतं	१.८	२७
युवद्वयीचित्तनिमज्जनो	१.९५	२३९
रथाङ्गभाजा कमला	१.१११	२७४
रसालसाल: समदृश्य	१.८९	२२६
रसै: कथा यस्य सुधा-	१.२	६
लताऽबलालास्यकला	१.१०६	२६३
वनान्तपर्यन्तमुपेत्य	१.७५	१९३
वमूचरास्तस्य नृपस्य	१.७१	१८४
विचिन्वती: पान्थपतङ्ग	१.८६	२१९
विदर्भसुभ्रस्तनतुङ्ग	१.८२	
विधाय मूर्तिं कपटेन	१.२४	३०१
विनिद्रपत्रालिगतालिकैत-	१.७८	२००
विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो	१.१६	५०
वियोगभाजोऽपि नृपस्य	१.१००	२४९
वियोगभाजां हृदि कण्टकै:	१.७९	२०३
वियोगिनीमैक्षत दाडिमी	१.८३	२१२
विलासवापीतटवी	१.१०२	२५५
विलोकयन्तीभिरजस्र-	१.२९	८४
विवेश गत्वा स विलास	१.७४	१९१
शशाक निह्नोतुमनेन तत्	१.५२	१४०
श्रियास्य योग्याहमिति	१.३१	८९
श्रीहर्षं कविराजराजि-	१.४५	१२२

	श्लोक संख्या	पृष्ठ संख्या
सनालमात्माननिर्जित	१.२२	२९७
ससम्भ्रमोत्पातिपतत्	१.२६	३०४
स सिन्धुजं शीतमहस्	१.६४	१६८
सितत्विषश्चञ्चलतामुपेयुषो	१.६२	१६४
सितांशुवर्णैर्वयतिस्म	१.१२	३९
सिताम्बुजानां निवहस्य	१.११०	२७२
सुताः कमाहूय चिराय	१.४२	३३३
सुरोरुहं तस्य दृशैवं निर्जितं	१.२४	७२
स्फुरद्धनिर्निस्वनतद्घना-	१.९	३०
स्मरात्परासोरनिमेष-	१.३६	१०१
स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे	१.८४	२१५
स्मरोपतप्तोऽपि भृशं	१.५०	१३५
स्वकान्तिकीर्तिव्रज-	१.४४	११५
स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन	१.२३	६९
स्वबालभारस्य तदुत्तमाङ्	१.२५	७४
हरेर्यदक्रामि पदैककेन	१.७०	१८२

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या, आयुर्वेद तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक

पोस्ट बाक्स नं. 2206

बंग्लो रोड, 9-यू.बी., जवाहर नगर

(कमला नगर के पास)

दिल्ली-110007 (भारत)

द्वितीयः सर्गः

अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः ।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः ॥ १ ॥

अधिगत्येति । अथ मोचनानन्तरं स द्विजः पक्षी विप्रश्च, 'दन्तविप्राण्डजा द्विजा' इत्यमरः । जगत्यधीश्वरात् क्ष्मापतेः भुवनपतेश्च 'जगती भुवने क्ष्मायामि'ति विश्वः । पुरुषोत्तमात् पुरुषश्रेष्ठात् विष्णोश्च ततः तस्मात् प्रकृतान्नलात् अन्यत्र प्रसिद्धाच्च मुक्तिं मोचनं निर्वाणञ्च अधिगत्य प्राप्य आनन्दो वचसामपि न गोचरः वक्तुमशक्यः, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादेरवाङ्मनसगोचरश्च तमानन्दं परमानन्दञ्च अविन्दतालभत, विदेर्लाभार्थात् 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफल' इत्यात्मनेपदं, 'शे मुचादीनामि'ति नुमागमः । अत्राभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणादुभयश्लेषानुपपत्तेर्भेदान्तरानवकाशाल्लक्षणायाश्च मुख्यार्थबाधमन्तरेणासम्भवात् ध्वनिरेवायं, ब्राह्मणस्य विष्णोर्मोक्षानन्दप्राप्तिलक्षणार्थान्तरप्रतीतेर्न श्लेषः प्रकृताप्रकृतोभयगतः । अस्मिन् सर्गे एकशतश्लोकपर्यन्तं वियोगिनीवृत्तम् । 'विषमे ससजा गुरुः समे सभरालोऽथ गुरुर्वियोगिनी'ति लक्षणादिति संक्षेपः ॥ १ ॥

हंस के मुख से दमयन्ती के वर्णन के लिए द्वितीय सर्ग का प्रारम्भ करते हैं—

नल के द्वारा छोड़े जाने के अनन्तर वह पक्षी हंस उस पृथिवी के अधीश्वर पुरुषश्रेष्ठ नल से मुक्ति (छुटकारा) प्राप्त कर, जो आनन्द वाणी का विषय नहीं, अर्थात् जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, उस लोकोत्तर आनन्द को प्राप्त किया । (पक्षान्तर में) जैसे कोई ब्राह्मण लोक में सबसे श्रेष्ठ पुरुषोत्तम श्री विष्णुभगवान् से मुक्ति एवं मुक्ति का साधन संसार से विरक्ति कराने वाले ज्ञान को प्राप्त कर वाणी एवं मन के अविषय (अनिर्वचनीय) आनन्द को प्राप्त करता है ।

इस सर्ग में सौ श्लोक तक वियोगिनी छन्द है । इस पद्य में श्लेष अलङ्कार है, यह साहित्यविद्याधरी का मत है । वस्तुतः यहाँ अभिधा

प्राकरणिक हंस के अर्थ में नियन्त्रित है, अतः ब्राह्मण पक्ष वाला अर्थ अभिधावृत्ति से बोध्य नहीं होगा। उसके लिए व्यञ्जना माननी पड़ेगी। अतः यहाँ श्लेष नहीं है, अभिधा मूल ध्वनि है। हंस तथा ब्राह्मण में उपमानोपमेय भाव व्यङ्ग्य है ॥ १ ॥

अधुनीत खगः स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम् ।
करयन्त्रणदन्तुरान्तरे व्यलिखच्चञ्चुपुटेन पक्षती ॥ २ ॥

अधुनीतेति। स खगो हंसः उत्फुल्लतनूरुहीकृतां नृपकरपीडनादुद्बद्ध पतत्रीकृतां 'पतत्रञ्च तनूरुहमि'त्यमरः। तनूं शरीरं नैकधा, नञर्थस्य सुप्सुपेति समासः। नञसमासे नलोपप्रसङ्गः। अधुनीत धूतवान्। धूञः क्र्यादेर्लिङिति तङ्, 'प्वादीनां ह्रस्व' इति ह्रस्वः। किञ्च करयन्त्रणेन नृपकरपीडनेन दन्तुरे निम्नोन्नतमध्यप्रदेशे पक्षती पक्षमूले 'स्त्री पक्षतिः' पक्षमूलमि'त्यमरः, चञ्चुपुटेन त्रोटिसम्पुटेन व्यलिखत् विलेखनेन ऋजूचकारेत्यर्थः। एतदादेः श्लोकचतुष्टयेषु स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ २ ॥

उस खग (हँस) ने उत्फुल्ल (फुलाये गये) रोमों वाले शरीर को अनेक प्रकार से कम्पित किया तथा नल के हाथ की यन्त्रणा (दृढग्रहण) से निम्नोन्नत मध्य भाग वाले पक्ष मूलों को चञ्चुपुट से खुजलाया।

यहाँ पक्षी के स्वभाव का वर्णन है अतः स्वभावोक्ति अलंकार है ॥ २ ॥

अयमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वगजङ्घमङ्घ्रिणा ।
स्खलनक्षण एव शिश्रिये द्रुतकण्डूयितमौलिरालयम् ॥ ३ ॥

अयमिति। अयं हंसः स्खलनक्षण एव मोचनानन्तरमेवेत्यर्थः। एकतमेनाङ्घ्रिणा पक्षतेः पक्षमूलस्याधिमध्यं मध्ये ऊर्ध्वगामिनी जङ्घा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा कण्डूयनेन तत्तथा द्रुतं कण्डूयितमौलिः सत्वरं कषितचूडः सन् आलयं निजावासं शिश्रिये श्रितवान् ॥ ३ ॥

पक्षमूल के मध्य में ऊपर जङ्घा करके एक चरण से शीघ्र ही खुजला लिया है मस्तक को जिसने, ऐसा वह हंस नल से छूटते ही अपने नीड (घोसले) में चला गया।

यहाँ भी स्वभावोक्ति अलंकार है ॥ ३ ॥

स गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु कीटान् दशतः सतः क्वचित् ।
नुनुदे तनुकण्डु पण्डितः पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः ॥ ४ ॥

स इति । पण्डितः निपुणः स हंसः गरुतः पक्षा एव वनदुर्गं तत्र दुर्ग्रहान् ग्रहीतुमशक्यात् कटुतीक्ष्णान्दशतः दन्तैस्तुदतः क्वचित् कुत्रचिदेव सतः वर्त्तमानान् कीटान् क्षुद्रजन्तून् पटुचञ्चूपुटस्य समर्थत्रोटेः कोटया अग्रेण कुट्टनैः चुट्टनैस्तनुरल्पा कण्डूर्यस्मिन् तनुकण्डु यथा तथा 'गोस्त्रियोरुपर्जनस्येति' ह्रस्वः । नुनुदे निवारितवान् 'स्वरितञित' इत्यात्मनेपदम् ॥ ४ ॥

खुजलाने में निपुण उस हंस ने पक्ष-समूह रूपी दुर्ग में रहने के कारण दुर्ग्रह (दुःख से पकड़ने योग्य) तथा तीक्ष्ण दंशन करते हुए कहीं शरीर में विद्यमान कीटों को तीक्ष्ण चोच के अग्रभाग से कूटकर थोड़ी खुजली को मिटाया ।

दूसरे भी समर्थ योद्धा पर्वतों के दुर्ग में रहने के कारण दुर्ग्रह तथा उपद्रव करने वाले शत्रु को तीक्ष्ण शस्त्रों से मार कर उसकी बाधा को दूर करते हैं ।

यहाँ भी स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ ४ ॥

अयमेत्य तडागनीडजैर्लघु पर्य्यव्रियताथ शङ्कितैः ।
उदडीयत वैकृतात् करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरैः ॥ ५ ॥

अयमिति । अयं हंसस्तडागनीडजैः सरःपक्षिभिस्तत्रत्यहंसैः 'नीडोद्भवा गरुत्मन्त' इत्यमरः । लघु क्षिप्रमेत्यागत्य पर्य्यव्रियत परिवृतः, वृणोतेः कर्मणि लङ् । अथ परिवेष्टनानन्तरमस्य हंसस्य करग्रहजान्नलकरपीडनजन्याद्विकृतादेव वैकृताद्विलुण्ठितपक्षत्वरूपाद्विकारदर्शनादित्यर्थः, स्वार्थेऽण् प्रत्ययः, शङ्कितैश्चकितैः अतएव विकस्वरस्वरैरुच्चैर्घोषैस्तैरुदडीयतोड्डीनम् डीङो भावे लङ् ॥

इस हंस को तडाग के पक्षियों ने आकर शीघ्र ही घेर लिया । पश्चात् वे पक्षी नल के हाथ से पकड़ने से उत्पन्न विकार (हंस के निम्नोन्नत शरीर भाग) में शङ्कित होकर जोर से शब्द करते हुए उड़ गये । (तीर्थ आदि में भी दान लेने के लिए कुछ लोग किसी को घेर लेते हैं, अनन्तर बलिग्रहण जन्य कलह की आशङ्का से जोरों से बोलते हुए चले जाते हैं ।)

यहाँ श्लेष अलङ्कार है ॥ ५ ॥

दधतो बहुशैवलक्ष्मतां धृतरुद्राक्षमधुव्रतं खगः।
स नलस्य ययौ करं पुनः सरसः कोकनदभ्रमादिव ॥ ६ ॥

दधत इति। अथ स खगो हंसः बहुशैवला भूरिशैवला क्ष्मा भूर्यस्य तद्बहुशैवलक्ष्म तस्य भावः तत्ता तां दधतो दधानात् सरसः पल्वलात् बहूनि शैवलक्ष्माणि शिवभक्तचिह्नानि यस्य स बहुशैवलक्ष्मा तस्य भावः तत्ता तां दधतो दधानस्य नलस्य रुद्राक्षाणि मधुव्रता इवेत्युपमितसमासः, ते धृता येन तं करं कोकनदभ्रमाद्रक्तोत्पलभ्रान्तेरिव पुनर्ययौ, कोकनदन्तु रुद्राक्षसदृशमधुव्रतं खलु। अत्र बहुशैवलेत्यादौ शब्दश्लेषस्तदनुप्राणिता रुद्राक्षमधुव्रतमित्युपमा तत्सापेक्षा चेयं कोकनदभ्रमादिवेत्युत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ६ ॥

वह पक्षी बहुत से शैवाल (सेवार) हैं जिसमें ऐसी भूमि वाले तडाग से, बहुत से शिव या शिव भक्तों के चिह्नों (त्रिपुण्ड्र आदि) को धारण करने वाले नल के, रुद्राक्षरूपी भ्रमर को धारण करने वाले हाथ को रुद्राक्षसदृश भ्रमर से युक्त कोकनद (रक्त कमल) की भ्रान्ति से पुनः प्राप्त किया।

(यहाँ "बहुशैवलक्ष्मतां दधतः" का यह भी अर्थ हो सकता है—बहुत से शिव सम्बन्धी = कल्याणकारक (शुभसूचक) लक्ष्म = (सामुद्रिक शास्त्रोक्तमत्स्य आदि) चिह्नों को धारण करने वाले। तथा "धृतरुद्राक्षमधुव्रतम्" का धारण किया है रुद्राक्षों का मधु = समीचीन व्रत को जिसने। अथवा रुद्र-अक्षम-धु-व्रत–पदच्छेद से रुद्र को न सहन करने वालों को कम्पित करना हैं व्रत जिसका, अर्थात् शिवद्रोहियों का पराभव करने वाला (कमल पक्ष में) धृतरुत्-राक्ष-मधुव्रतं = सशब्द, अग्नितुल्य पिंगल वर्ण वाले भ्रमर हैं जिस पर)।

यहाँ शब्दश्लेष से अनुप्राणित उपमा सापेक्ष उत्प्रेक्षा है, अतः सङ्करालङ्कार है ॥ ६ ॥

पतगश्चिरकाललालनादतिविश्रम्भमवापितो नु [1]सः।
अतुलं विदधे कुतूहलं भुजमेतस्य भजन्महीभुजः ॥ ७ ॥

अथास्य स्वयमागमनादुत्प्रेक्षते–पतग इति। पतङ्गो हंसश्चिरकाललालनादुपलालनादतिविश्रम्भमतिविश्वासं 'समौ विश्रम्भविश्वासावि'त्यमरः।

१. 'सन्' इति पाठान्तरम्।

अवापितः प्रापितो नु किमित्युत्प्रेक्षा, अन्यथा कथं पुनः स्वयमागच्छेदिति भावः। किञ्च एतस्य महीभुजो भुजम्भजन् स्वयमाप्नुवन् अतुलं कुतूहलं विदधे कौतुकञ्चकारेत्यर्थः। अत्रोत्प्रेक्षावृत्त्यनुप्रासयोः शब्दार्थालङ्कारयोस्तिलतण्डुलवत् संसृष्टिः। 'एकद्वित्र्यादिवर्णानां पुनरुक्तिर्भवेद्यदि। सङ्ख्यानियममुल्लङ्घ्य वृत्त्यनुप्रास ईरितः॥' इति ॥ ७ ॥

इस राजा नल के हाथ का आश्रय लेता हुआ वह हंस मानो चिरकाल तक (राजा नल के द्वारा) उपलालन करने से अतिशय विश्वस्त हो गया हो, इसलिए अनुपम कौतूहल किया।

(दूसरा भी बहुत काल तक पोषित व्यक्ति विश्वस्त होकर स्वामी को अपने गुण से कुतूहल युक्त करता ही है)।

यहाँ उत्प्रेक्षा एवं अनुप्रास की संसृष्टि है ॥ ७ ॥

नृपमानसमिष्टमानसः स निमज्जत्कुतुकामृतोर्मिषु।
अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीकं रचयन्नवोचत ॥ ८ ॥

नृपमानसमिति। इष्टमानसः प्रियमानसः स राजहंसः कुतुकं हर्षस्तदेव अमृतं सुधा तस्योर्मिषु निमज्जदन्तर्गतं नृपमानसं नलमनःकर्णौ शष्कुल्याविव कर्णशष्कुल्यौ ते कलस्यौ ते अवलम्बिते अवधीकृते धृते च येन तत्तथोक्तं 'नद्यृतश्चे'ति कप्। रचयन् कुर्वन्नवोचत उक्तवान्। जले मज्जन्नपि तरणार्थं कलसमवलम्बते, तद्वत्कर्णं शष्कुली–कलस्यावित्युपमारूपकयोः संसृष्टिः ॥ ८ ॥

इष्ट है मानसरोवर जिसको ऐसा वह हंस कौतुक रूपी अमृत (पानी) के तरङ्गों में डूबते हुए नल के मन को कर्णशष्कुली (छिद्र) रूपी दो कलशियों का अवलम्बन कराता हुआ अर्थात् अपने वचन सुनने में सावधान करता हुआ बोला। (दूसरे भी डूबते हुए अपने प्रिय को बचाने के लिए अवलम्बन देते ही हैं; हंस को भी मानस प्रिय है, अतः राजा के मानस को सहारा दिया)।

यहाँ उपमा एवं रूपक की संसृष्टि है ॥ ८ ॥

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागममर्मपारगैः।
स्मरसुन्दर ! मां यदत्यजस्तव धर्मः स दयोदयोज्ज्वलः ॥ ९ ॥

मृगयेति । धर्मागमममर्मपारगैर्धर्मशास्त्रतत्त्वपारदर्शिभिरिव 'अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः' इति गमेर्डप्रत्ययः । नृपैर्मृगया आखेटो न विगीयते न गर्ह्यते । तथापि हे स्मरसुन्दर ! मामत्यज इति यत् स त्यागस्तव दयोदयेनोज्ज्वलो विमलो निरुपाधिक इति यावत धर्म्मः सुकृतम् । न केवलमाकारादेव सुन्दरोऽसि, किन्तु धर्मतोऽपीति भावः ॥ ९ ॥

धर्मशास्त्र के रहस्य को जानने वाले मनु आदि राजा भी मृगया (शिकार) की निन्दा नहीं करते (अपितु मृगया करते हैं), तो भी हे काम तुल्य सौन्दर्य वाले राजन् ! आपने मुझे जो छोड़ दिया वह आपका धर्म दया से युक्त होने के कारण उज्ज्वल है । (यहाँ "सदयोदयोज्ज्वलः" का सद्-अयः=शुभावह अर्थात् वह आपका धर्म कल्याणकारी तथा दया से उज्ज्वल है)।

यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ९ ॥

अबलस्वकुलाशिनो झषान्निजनीडद्रुमपीडिनः खगान् ।
अनवद्यतृणार्दिनो मृगान् मृगयाऽघाय न भूभृतां घ्नताम् ॥ १० ॥

ननु प्राणिहिंसा कथं न विगीयते तत आह—अबलेति । अबलस्वकुलाशिनो झषाः 'दुर्बलस्वकुलघातिनो मत्स्या' इति प्रसिद्धिः, निजनीडद्रुमपीडिनो विण्मोक्षफलभक्षणादिना स्वाश्रयवृक्षपीडाकरान् खगान् अनवद्यतृणार्दिनः अनपराधितृणहिंसकान् मृगान्, 'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता' इति मनुस्मृत्या तरुतृणादीनामपि प्राणित्वात्तद्धिंसा पीडैवेति भावः । सर्वत्रापि ताच्छील्ये णिनिप्रत्ययः, घ्नतां हिंसतां भूभृतां मृगया अघाय पापाय न भवति । तद्वधस्य दण्डरूपत्वात् प्रत्युताकरणे दोष इति भावः ॥ १० ॥

मृगया के अभिनन्दन में कारण बताते हैं—अपने ही कुल के निर्बलों को खाने वाली मछलियों को, अपने ही घोसले के आधारभूत वृक्षों को (मल-मूत्रादि से) पीड़ित करने वाले पक्षियों को तथा निरपराध तृणों को भक्षणादि द्वारा पीड़ा देने वाले मृगों को मारने वाले राजाओं की मृगया दोषावह नहीं होती । (क्योंकि अपराधियों को दण्ड देना राजा का धर्म है)।

यहाँ काव्यलिङ्ग तथा दीपकालङ्कार है ॥ १० ॥

यदवादिषमप्रियन्तव प्रियमाधाय नुनुत्सुरस्मि तत ।
कृतमातपसंज्वरं तरोरभिवृष्यामृतमंशुमानिव ॥ ११ ॥

तथापि किमर्थं पुनरागतन्त्वयेत्यत आह—यदिति। तव यदप्रियमवादिषमवोचम्। प्रियमाधाय प्रियं कृत्वा तदप्रियन्तरोः कृतं स्वकृतमातपसन्तापम् अमृतमुदकमभिवृष्य 'पयः कीलालममृतमि'त्यमरः। अंशुमानिव नुनुत्सुर्नोदितुं प्रमार्ष्टुमिच्छुः, नुद-प्रेरण इत्यस्माद्धातोः सन्नन्तादुप्रत्ययः ॥११॥

हे राजन्! मैंने जो तुमसे अप्रिय (निन्दा आदि) कहा था, अब प्रिय करके उस अप्रिय का निराकरण करना चाहता हूँ। जैसे सूर्य पहले आतप (अपने धूप) से सन्तप्त हुए वृक्षों के सन्ताप का जल बरसा कर निराकरण करता है।

यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार ॥ ११ ॥

उपनम्रमयाचितं हितं परिहर्तुं न तवापि साम्प्रतम्।
करकल्पजनान्तराद्विधेः शुचितः प्रापि स हि प्रतिग्रहः ॥ १२ ॥

तर्हि भवन्मोचनं सुकृतमेव मम पर्याप्तम् किं दृष्टोपकारेणेति न वाच्यमित्याह—उपनम्रमिति। अयाचितमप्रार्थितमुपनम्रमुपनतं हितम् इह चामुत्र चोपकारकं तवापि परिहर्तुं न साम्प्रतम् युक्तम्। 'अयाचितं हितं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्म्मण' इति स्मरणादिति भावः। तदपि मादृशात् पृथग्जनात् कथं ग्राह्यमत आह—करेति। हि यस्मात्कारणात् स प्रतिग्रहः करकल्पङ्करस्थानीयमित्यर्थः। ईषदसमाप्तो कल्पप्प्रत्ययः, यज्जनान्तरं स्वयं यस्य तस्माच्छुचेः शुद्धाद्विधेः ब्रह्मणः प्राप्तः न तु मत्त इति भावः। आप्नोतेः कर्म्मणि लुङ्। विधिरेव ते दाता अहं तस्योपकरणमात्रम्, अतो न याच्ञालाघवन्तवेति भावः ॥ १२ ॥

बिना याचना किये उपस्थित प्रिय वस्तु का परित्याग करना आप जैसे सार्वभौम को भी उचित नहीं है। क्योंकि हाथ के सदृश अन्य (हमारे जैसे) जन हैं, जिसके ऐसे पवित्र भाग्य से ही वह प्रतिग्रह प्राप्त हुआ है। (अर्थात् सभी शुभ या अशुभ वस्तु भाग्यवश ही प्राप्त होती है। जो दैववश प्राप्त है उसका कोई निराकरण नहीं कर सकता। अतः आप भाग्यद्वारा प्राप्तव्य वस्तु को ही मेरे द्वारा प्राप्त कर रहे हैं।)

यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ १२ ॥

पतगेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तव किं प्रभूयते ?
इति वेद्मि, न तु त्यजन्ति मां तदपि प्रत्युपकर्त्तुमर्त्तयः ॥ १३॥

ननु सार्वभौमस्य मे तिरश्चा त्वया किमुपकरिष्यते, तत्राह–पतगेनेति। पतगेन पक्षिमात्रेण मया जगत्पतेः सार्वभौमस्य तवोपकृत्यै उपकाराय प्रभूयते क्षम्यते किं न भूयत एवेत्यर्थः, भावे लट्, इति वेद्मि अक्षमत्वं जानामि। तदपि तथाप्यर्त्तयो यास्तु त्वया विनिर्वर्तिता इति भावः। मां प्रत्युपकर्तुं न त्यजन्ति प्रत्युपकरणाय प्रेरयन्तीत्यर्थः। अत्र पतगोऽप्यहं महोपकारिणस्ते महोपकारं करवाणीति भावः ॥ १३ ॥

हंस अपने गर्व का परिहार करता है—मुझ पक्षी द्वारा जगत के पति आपका उपकार क्या किया जा सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं किया जा सकता ,यह मैं जानता हूँ। तथापि प्रत्युपकार करने की उत्कण्ठा रूप पीढाएं मुझे नहीं छोड़तीं, अर्थात् प्रत्युपकार के लिए मुझे बाध्य करती हैं।

यहाँ अनुप्रास तथा हेतु अलङ्कार है ॥ १३ ॥

अचिरादुपकर्तुराचरेदथवात्मौपयिकीमुपक्रियाम् ।
पृथुरित्थमथाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रहः ॥ १४ ॥

अथवा यथाशक्तिपक्षोऽस्त्वित्याह-अचिरादिति। अथवा उपकर्त्तुरचिरादविलम्बादुपाय एवौपयिकः, विनयादित्वात् स्वार्थे ठक् 'उपधाया ह्रस्वत्वञ्चे'ति ह्रस्वः, तत आगता औपयिकी तामात्मौपयिकीं स्वोपायसाध्यामित्यर्थः, 'तत आगत' इत्यण्प्रत्यये 'टिड्ढाणञि' त्यादिना ङीप्। उपक्रियामाचरेत् प्रत्युपकारं कुर्यात्, चरधातोर्विधिलिङ्। इत्थमेवं सति सोपक्रिया पृथुरधिकाऽस्तु अथ अथवा अणुरल्पाऽस्तु विदुषां विवेकिनामिहास्मिन् विषये विशेषे ग्रह आग्रहो न। गुणग्राहिणो विवेकिनः कृतज्ञतामेव अस्य पश्यन्ति, न दोषमन्विष्यतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

उपकर्ता का यथाशक्ति प्रत्युपकार करना चाहिए, यह विधि है। अतः कहता है—अथवा उपकारी का शीघ्र ही अपने उपाय से साध्य (यथा सामर्थ्य) प्रत्युपकार करना चाहिये, वह प्रत्युपकार छोटा है या बड़ा, इस विषय में विद्वानों का आग्रह नहीं है। (विद्वान् गुणग्राही होते है, वे गुणों को देखते हैं, छोटे-बड़े का विचार कर दोषान्वेषण नहीं करते।)

यहाँ छेकानुप्रास तथा अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ॥ १४ ॥

भविता न विचारचारु चेत्तदपि श्रव्यमिदं मदीरितम् ।
खगवागियमित्यतोऽपि किं न मुदं दास्यति कीरगीरिव ।। १५ ।।

अथ स्ववाक्ये आदरं याचते—भवितेति । हे नृप ! इदं वक्ष्यमाणं मदीरितं मद्वचः मद्वचनं विचारे विमर्शे चारु युक्तं न भविता न भविष्यति चेत्तदपि अविचारितरमणीयमपि श्रव्यं श्रोतव्यम् । इयं खगवागित्यतोऽपि हेतोः कीरगीः शुकवागिव मुदं किं न दास्यति दास्यत्येव । प्रयोजनान्तराभावेऽपि कौतुकादपि श्रोतव्यमित्यर्थः, ददातेः लृट् ।। १५ ।।

हे राजन् ! यद्यपि यह मेरा वचन विचारसह नहीं होगा, अर्थात् विचार करने पर युक्त नहीं ठहरेगा, तथापि सुनने योग्य तो है ही । क्योंकि यह पक्षी की वाणी है, इसलिए भी शुक की वाणी के समान क्या आप को आनन्द नहीं देगा ? अर्थात् अवश्य देगा ।

यहाँ अनुप्रास तथा उपमा अलङ्कार है ।। १५ ।।

स जयत्यरिसार्थसार्थकीकृतनामा किल भीमभूपतिः ।
यमवाप्य विदर्भभूः प्रभुं हसति द्यामपि शक्रभर्तृकाम् ।। १६ ।।

अथ यद्वक्तव्यं तदाह—स इति । अर्थेन अभिधेयेन सह वर्तत इति सार्थकम्, 'तेन सहेति तुल्ययोग' इति बहुव्रीहिः, 'वोपसर्जनस्ये'ति सहशब्दस्य विकल्पात् सभावः 'शेषाद्विभाषे'ति कप् समासान्तः, ततश्च्विरभूततद्भावे । अरिसार्थेषु शत्रुसङ्घेषु सार्थकीकृतं नाम भीम इत्याख्या येन स तथोक्तः च प्रसिद्धः बिभ्यत्यस्मादिति भीमः 'भियो म' इत्यपादानार्थे निपातनान्मप्रत्यय औणादिकः, भीम इति भूपतिः नृपः जयति किल सर्वोत्कर्षेण वर्तते खलु । विदर्भभूर्विदर्भदेशः यं भूपतिं प्रभुं भर्त्तारमवाप्य शक्रो भर्त्ता यस्यास्तां शक्रभर्तृकां 'नद्यतश्चे'ति कपि द्यान्दिवमपि हसति, किमुतान्यभर्तृकदेशानित्यर्थः । स्त्रियो हि भर्त्तुरुत्कर्षाद्धासं कुर्वन्तीति भावः । अत्र विदर्भभुवोऽपि द्युहासासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ।। १६ ।।

शत्रु समुदाय में अपने नाम को सार्थक करने वाले वह प्रसिद्ध राजा भीम सबसे उत्कृष्ट हैं । विदर्भ भूमि जिनको पति प्राप्त कर, इन्द्र हैं पति जिसके ऐसे अमरावती को भी हँसती है । (अर्थात् विदर्भभूमि स्वर्गतुल्य हो गयी है । शक्र तपस्वियों से शङ्का करते हैं (डरते हैं), या जीते जा सकते

हैं, अतः उनसे कोई नहीं डरता और भीम से सभी शत्रु डरते हैं, यहीं हसने में हेतु है)।

यहाँ अतिशयोक्ति तथा उपमा अलङ्कार है ।। १६ ।।

दमनादमनाक् प्रसेदुषस्तनयां तथ्यगिरस्तपोधनात्।
वरमाप स दिष्टविष्टपत्रितयानन्यसदृग्गुणोदयाम् ।। १७ ।।

दमनादिति । स भीमभूपतिरमनागनल्पं प्रसेदुषो निजोपासनया प्रसन्नात् 'भाषायां सदवसश्रुव' इति सदेर्लिटः क्वस्वादेशः । दमनाद्दमनाख्यात् तथ्यगिरः अमोघवचनात् तपोधनादृषेः दिष्टानां कालानां विष्टपानां लोकानाञ्च त्रितययोरनन्यसदृशीं गुणोदयां कालत्रये लोकत्रये चानन्यसाधारणप्रकर्षां तनयां दुहितरं वरमाप । वरत्वेन लब्धवानित्यर्थः । 'देवादृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक्प्रिय' इत्यमरः ।। १७ ।।

पुराण प्रसिद्ध इतिहास को सूचित करता हुआ कहता है—हे राजन ! वह राजा भीम अत्यन्त प्रसन्न सत्यवक्ता तपस्वी दमन नामक महर्षि से तीनो काल एवं तीनों लोक में अनन्य सदृश (असाधारण) सौन्दर्या-औदार्य आदि गुणों से युक्त पुत्री को वर रूप में प्राप्त किया । (अर्थात् तीनो लोक एवं तीनो काल में दमयन्ती जैसी सौन्दर्यादि गुणों से युक्त कोई दूसरी नहीं है) ।

[यहाँ अनुप्रास तथा व्यतिरेक अलङ्कार है ।। १७ ।।

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम् ।
उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ ।। १८ ।।

अथास्या नामधेयं व्युत्पादयन्नेवाह—भुवनत्रयेति । असौ वरप्रसादलब्धा तनया कर्त्री तनुश्रिया निजशरीरसौन्दर्येण करणेन भुवनत्रयसुभ्रुवां त्रैलोक्यसुन्दरीणां कमनीयतामदं सौन्दर्यगर्वं दमयन्ती अस्तंगमयन्ती दमेर्ण्यन्ताद् 'न पादमि'त्यादिना कर्त्रभिप्राय आत्मनेपदापवादः परस्मैपदप्रतिषेधेऽप्यकर्त्रभिप्रायविवक्षायां परस्मैपदे लटः शत्रादेशः । उदियाय उदिता, इणो लिट्, ततस्तस्मादेव निमित्ताद्दमयन्तीत्यभिधामाख्यां दधौ, दधातेर्लिट् ।। १८ ।।

दमयन्ती के नाम की व्युत्पत्ति करता है—जिस कारण यह भीमतनया तीनों लोक की सुन्दरियों के सौन्दर्य से उत्पन्न मद को अपने शरीर की

सुन्दरता से दमन करती हुई, उत्पन्न हुई अतः दमयन्ती इस सार्थक नाम को धारण की।

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १८ ॥

श्रियमेव परं धराधिपाद् गुणसिन्धोरुदितामवेहि ताम्।
व्यवधावपि यां विधोः कलां मृडचूडानिलयां न वेद कः ॥ १९ ॥

अथैकविंशतिश्लोकैश्चिकुरादारभ्य दमयन्तीं वर्णयति—श्रियमिति। हे नृप ! ताम् दमयन्तीं गुणसिन्धोः गुणसागरादधिपाद्भीमनरेन्द्रादुदितामुत्पन्नां श्रियं साक्षाल्लक्ष्मीमेव परं ध्रुवमवेहि जानीहि, अवपूर्वादिणो लोटि 'सेर्हिरि' ति ह्यादेशे ङित्वान्न सार्वधातुकगुणः, संहितायाम् 'आद्गुणः' अत्र केवलावपूर्वस्य इणो ज्ञानार्थत्वादाङ् प्रश्लेषे तदलाभात्, प्रश्लेषेऽपि 'ओमाङोश्चे'ति पररूपमिति केषाञ्चित्प्रक्रियोपन्यासो वृथा। प्रक्षाल्य त्यागः 'अवैहीति वृद्धिरवद्ये'ति वामनसूत्रमप्यनाङ्प्रश्लेष एव भ्रान्तिप्राप्तवृद्धिप्रतिषेधपरं गुण एव युक्त इति व्याख्यानादन्यथा 'ओमाङोश्चे'ति पररूपमेव युक्तमित्युच्येत इति। न च देशव्यवधानाच्च श्रीरेवेति वाच्यमित्याहव्यवधौ व्यवधाने सत्यपि 'उपसर्गे घोः किरि'ति किप्रत्ययः, मृडचूडानिलयां हरशिखाश्रयां कलां विधोरिन्दोरेव कलां को वा न वेद ? सर्वोऽपि वेदैवेत्यर्थः, 'विदो लटो वे'ति वैकल्पिको णलादेशः। यथा हरशिरोगतापि कला चन्द्रकलैव, तथा भीमभवनोदिताऽप्येषा श्रीरेवेति सौन्दर्यातिशयोक्तिः। अत्र श्रीकलयोः नृपमृडौ वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बभावेन सामान्यधर्मवत्तया निर्दिष्टाविति दृष्टान्तालङ्कारः। 'यत्र वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतयोच्यते। सामान्यधर्म्मः काव्यज्ञैः स दृष्टान्तो निगद्यते ॥' इति लक्षणात् ॥ १९ ॥

यहाँ से २१ श्लोको में हंस दमयन्ती का वर्णन करता है—

हे राजन् आप उस दमयन्ती को गुणों के सागर राजा भीम से उत्पन्न हुई साक्षात् लक्ष्मी ही जानें। (बस इतनी विशेषता है कि लक्ष्मी जल-समुद्र से उत्पन्न हुई है और यह गुण-समुद्र से उत्पन्न हुई है) व्यवधान रहने पर भी शिव की चूडा में रहने वाली चन्द्रकला को कौन नहीं जानता ? अर्थात् सभी जानते हैं। (जैसे शिव की चूडा में स्थित कला भी चन्दकला ही है, उसी तरह राजा भीम से उत्पन्न दमयन्ती भी लक्ष्मी ही है।)

यहाँ श्री एवं कला में बिम्वप्रतिबिम्वभावापन्न साधारण धर्म के रूप में राजा एवं शिव निर्दिष्ट हैं, अतः यहाँ दृष्टान्तालङ्कार है। "तां श्रियमेव" इस वाक्य से दमयन्ती में लक्ष्मीत्व का आरोप है, अतः रूपकालङ्कार है, रुद्रट के मत में आक्षेप अलङ्कार है ॥ १९ ॥

चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्द्धनि सा बिभर्त्ति यान्।
पशुनाऽप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः ॥ २० ॥

चिकुरप्रकरा इति। चिकुरप्रकराः केशसमूहाः जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते, यान् वेत्तीति विदुषी विशेषज्ञा 'विदेः शतुर्वसुः' 'उगितश्चे'ति ङीप् 'वसोः-सम्प्रसारणम्'। सा दमयन्ती मूर्द्धनि बिभर्त्ति, विद्वद्गृह एव सर्वस्याप्युत्कर्ष-हेतुरिति भावः। अतएव पशुना तिरश्चा चमरीमृगेणाप्यपुरस्कृतेनानादृतेन चामरेण चमरीपुच्छेन सह तत्तुलनान्तेषां चिकुराणां समीकरणं क इच्छतु? न कोऽपीत्यर्थः। सम्भावनायां लोट्। अत्र तुलनानिषेधस्यापुरस्कृतपदार्थहेतु-कत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतमि'ति लक्षणात् ॥ २० ॥

हे राजन्! वह प्रसिद्ध विदुषी भैमी जिन केश-समूहों को सिर पर धारण करती है, वे केश विजयी (सर्वोत्कृष्ट) हैं। (यदि कोई कहे कि उन केशों की तुलना चामर से होती है तो वे केश सर्वोत्कृष्ट कैसे हैं? तो इसका समाधान करते हैं) पशु (चमर नामक मृग विशेष) से भी अपुरस्कृत (पीछे किये गये अर्थात् तिरस्कृत) चामर से भैमी के केशों की तुलना कौन करना चाहे? अर्थात् कोई नहीं। (विद्वान् जिनको उत्तमाङ्ग सिर पर धारण करते हैं अर्थात् पूजते हैं, उनकी तुलना मूर्खों से भी असम्मानित या तिरस्कृत के साथ कौन करना चाहे, अतः दमयन्ती के केश सर्वोत्कृष्ट हैं)

यहाँ तुलना के निषेध में अपुरस्कृत पदार्थ कारण है, अतः पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। उपमान चामर की अपेक्षा उपमेय दमयन्ती के केश में उत्तमाङ्ग में धारण रूप अधिक्य का वर्णन है, अतः व्यतिरेक है ॥ २० ॥

स्वदृशोर्जनयन्ति सान्त्वनां खुरकण्डूयनकैतवान्मृगाः।
जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षणशोभया भयात् ॥ २१ ॥

स्वदृशोरिति। मृगाः हरिणास्तस्या दमयन्त्या अखर्वयोरायतयोरीक्षण-योरक्ष्णोः शोभया कर्त्र्या जितयोरत एव भयादुदयत्प्रमीलयोरुत्पद्यमाननिमी-

लनयोः स्वदृशोर्निजनयनयोः खुरैः शफैः 'शफं क्लीबे खुरः पुमानि'त्यमरः। कण्डूयनस्य कर्षणस्य कैतवाच्छलात्सान्त्वनां जनयन्ति लालनां कुर्वन्ति। यथा लोके परपराजिता निमीलिताक्षाः स्वजनैर्भयनिवृत्तये करतलास्फालनादिना परिसान्त्व्यन्ते तद्वदिति भावः। अत्र कैतवशब्देन कण्डूयनमपह्नुत्य सान्त्वनारोपादपह्नवभेदः ॥ २१ ॥

हे राजन्! मृग दमयन्ती के विशाल नेत्रों की शोभा से जीते गये अतएव भय से निमीलित होने वाले अपने नेत्रों को खुर से खुजलाने के व्याज से सान्त्वना देते हैं। (जैसे किसी से पराजित तथा डरे हुए व्यक्ति को कोई आत्मीय जन हाथ से सहला कर सान्त्वना देता है वैसे मृग भी अपने नेत्रों को सान्त्वना देते हैं।)

यहाँ कैतव शब्द से कण्डूयन का निषेध कर सान्त्वना का आरोप किया गया है, अतः अपह्नुति अलङ्कार है। यहाँ 'जितयो······लयो' इस विशेषण के बल से किसी पराजित व्यक्ति के व्यवहार की भी प्रतीति होती है, अतः समासोक्ति भी है ॥ २१ ॥

अपि लोकयुगं दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि।
श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरां वरापते! ॥ २२ ॥

अपीति। हे वरापते! दमो नाम भीमस्यैवात्मजस्तस्य स्वसुर्दमयन्त्या लोकयुगं मातापितृकुलयुगं श्रुतिगामितया वेदप्रसिद्धतया सुतरां व्यतिभाते परस्परोत्कर्षेण भाति तथा दृशौ नेत्रे अपि श्रुतिगामितया कर्णान्तविश्रान्ततया व्यतिभाते परस्परोत्कर्षेण भातस्तथा श्रुताः श्रुतिप्रसिद्धाः ते च ते दृष्टाः लोकप्रसिद्धाश्च विशेषणयोरपि विशेषणविशेष्यभावविवक्षायां विशेषणसमासः, ते रमणीगुणाः स्त्रीधर्म्मा अपि श्रुतिगामितया जनैः श्रूयमाणतया 'श्रुतिः श्रोत्रे तथाम्नाये वार्त्तायां श्रोत्रकर्म्मणी'ति विश्वः। सुतरां व्यतिभाते व्यतिहारेण भान्ति। 'आत्मनेपदेष्वनत' इति झस्यादादेशः, सर्वत्र 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहार' इत्यात्मनेपदम्, अदादित्वाच्छपो लुक्, सर्वत्र टेरेत्वम्। अत्र लोकयुगादीनान्त्रयाणामपि प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतविषयतुल्ययोगिताभेदः। 'प्रस्तुताप्रस्तुतानाञ्च केवलं तुल्यधर्म्मतः। औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिते'ति लक्षणात् ॥ २२ ॥

(वि-अति उपसर्ग पूर्वक दीप्त्यर्थक मा धातु का कर्मव्यतिहार में आत्मने पद करने पर प्रथम पुरुष के तीनों वचन में समान रूप "व्यतिभाते" ही होता है, इसका परस्पर विनिमय अर्थ होता है) हे राजन् ! दम (राजा भीम के पुत्र) की बहन दमयन्ती का लोकयुग अर्थात् मातृकुल तथा पितृकुल वेद प्रसिद्ध (या सभी से श्रुत होने के कारण लोक प्रसिद्ध) होने से (परस्पर में विनिमय या उत्कर्ष के द्वारा) अति सुशोभित होते हैं। तथा दमयन्ती के नेत्र युगल कानों तक पहुँचने से अर्थात् अत्यन्त विशाल होने से (परस्पर में विनिमय से) शोभित होते हैं और जो शास्त्रों में या किसी स्त्री में सुने गये हैं तथा किसी-किसी सुन्दरी में देखे गये हैं, वे सारे दमयन्ती सम्बन्धी स्त्री-गुण लोगों के द्वारा सुने जाने से परस्पर में सुशोभित होते हैं। (यहाँ परस्पर विनिमय का तात्पर्य है कि दमयन्ती का मातृकुल उसके पितृकुल के लोक प्रसिद्धत्व को तथा पितृकुल मातृकुल के लोक-प्रसिद्धत्व को स्वीकार कर परस्पर में समान सुशोभित होते हैं। इसी तरह नेत्र तथा गुण के सम्बन्ध में भी विनिमय समझना चाहिए)।

यहाँ व्यतिभाते में वचन श्लेष है तथा एक क्रिया में अनेक कारकों का अन्वय होने से दीपक है; अतः इन दोनों की संसृष्टि है। यहाँ लोकयुग आदि तीनों प्रस्तुतों का "श्रुतिगामित" यह एक साधारण धर्म है, अतः तुल्ययोगिता है ।। २२ ।।

नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे ।
अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम् ।। २३ ।।

नलिनमिति । नलिनं पद्मं मलिनमचारु विवृण्वती कुर्वाणे पृषतीं मृगीमस्पृशती असमानत्वात् दूरादेव परिहार इत्यर्थः, तदीक्षणे तल्लोचने अञ्जनाञ्चिते कज्जलपरिष्कृते सती खञ्जनं खञ्जरीटाख्यं खञ्जननामकः पक्षिविशेषः 'खञ्जरीटस्तु खञ्जन' इत्यमरः। तमपि रुचिगर्वदुर्विधं चारुत्वगर्वनिःस्वं विदधाते कुरुतः, सर्वथाप्यनुमेये इत्यर्थः। 'निःस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि स' इत्यमरः। ईक्षणयोर्मलिनादिमलिनीकरणाद्यसम्बन्धे सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तया चोपमा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ।। २३ ।।

कमल को मलिन करते हुए तथा मृगी का स्पर्श भी नहीं करते हुए अञ्जन से युक्त दमयन्ती के नेत्र खञ्जन (खञ्जरीट) को भी कान्तिमद से

शून्य कर देता है। (अथवा-पृषती अञ्जनशलाका) का स्पर्श नहीं किये हुए अर्थात् अञ्जन से हीन दमयन्ती के विस्तृत नेत्र कमल को मलिन (शोमा-हीन) करते हैं और अञ्जन से सुशोभित होकर खञ्जरीट को कान्ति-मद में दरिद्र वनाते हैं। अथवा—दमयन्ती के नेत्र अपनी श्यामता प्रकाशित करते हुए कमल या नीलकमल को तथा अधिक विस्फारित होते हुए हरणी को एवं अञ्जन से युक्त होने पर खञ्जरीट को शोमा सम्बन्धी गर्व के विषय में दरिद्र वनाते हैं।)

यहाँ नेत्रों में नलिन के मलिनीकरण सम्बन्ध नहीं होने पर भी सम्बन्ध के वर्णन से अतिशयोक्ति है, उससे उपमा व्यङ्ग्य है। अतः अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनि है ॥ २३ ॥

अधरं खलु बिम्बनामकं फलमस्मादिति[1] भव्यमन्वयम् ।
लभतेऽधरबिम्बमित्यदः पदमस्या[2] रदनच्छदं वदत् ॥ २४ ॥

अधरमिति। अधरबिम्बमित्यदः पदम् अधरं बिम्बमिवेत्युपमितसमासाश्रयणेन स्त्रीणामधरेषु यत्पदं प्रयुज्यते तदित्यर्थः। अस्या दमयन्त्याः रदनच्छदम् ओष्ठमभिदधत् तदभिधानाय प्रयुक्तं सदित्यर्थः। बिम्बनामकंफलं बिम्बयस्माद्दमयन्तीरदनच्छदादधरं किलापकृष्टं खल्विति अधरशब्दस्यापकृष्टार्थत्वे अधरं बिम्बं यस्मात्तदिति बहुव्रीहिसमासे च सति भव्यमबाधितमन्वयं लभते, अन्यथा समर्थसमासाश्रयणे 'समर्थः पदवृत्तिपदार्थसंसर्गलक्षणं

१-२. अत्र म० म० शिवदत्तशर्माणः—'आभ्याम्, रदनच्छदे' इति द्विवचनान्तपाठः साहित्यविद्यावरीसम्मतः। यतो व्याख्यातम्-रदनच्छदे ओष्ठौ वदत् प्रतिपादयत्। रदनच्छदस्य नपुंसकत्वम्। यदुक्तं प्रतापमार्तण्डाभिधानकोषे—'गरुत्पक्षच्छदोऽस्त्रियाम्' इति। 'आभ्याम्, रदनच्छदे' इति पाठस्तु सर्वथाऽशुद्धः, 'ओष्ठोऽधरो रदच्छदः' इति पुल्लिङ्गनिर्देशात्, इति सुखावबोधा। आभ्यामिति पाठे रदनच्छदौ वदद्दिति युक्तः पाठः। छदशब्दस्य पुंल्लिङ्गत्वात्। 'दलं पर्णं छदः पुमान्' इत्यमरः, इति तिलकव्याख्यायामभिहितम्। रदनच्छदे वदन् 'वद स्थैर्ये' स्थिरीभवन्निति सप्तम्यन्तपाठाङ्गीकारश्च'। इति।

विधिरि'ति समर्थपरिभाषा भज्येत, तर्हिनोपमा स्यादिति भावः। अत्र दमयन्तीदन्तच्छदस्य बिम्बाधरीकरणासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः पूर्ववत् ध्वनिश्च ॥ २४ ॥

हे राजन् ! उस दमयन्ती के अधरोष्ठ को कहता हुआ "अधरबिम्ब" यह पद बिम्बनामक फल (दमयन्ती के) उस ओष्ठ से अधर (तुच्छहीन) है, इसलिए उचित अन्वय (सम्बन्ध) को प्राप्त करता है।

(दूसरे स्त्रियों के लिए प्रयुक्त "अधर बिम्ब" इस पद में तत्पुरुष समास होता है जिसका अर्थ होता है "अधर बिम्ब के समान है"। दमयन्ती के अधरोष्ठ के लिए प्रयुक्त अधर बिम्ब पद में बहुव्रीहि समास है जिसका अर्थ है अधर (हीन) है बिम्ब (बिम्बफल) जिससे।)

यहाँ भी अतिशयोक्ति से उपमालङ्कार ध्वनि है। वस्तुतः उत्प्रेक्षा है॥

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥ २५ ॥

हृतसारमिति। इन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय तन्निर्माणायेत्यर्थः। 'क्रियार्थोपपदस्ये'ति चतुर्थी, वेधसा हृतसारमुद्धृतमध्याङ्गमिव, कुतः ? कृतमध्यबिलं विहितमध्यरन्ध्रमत एव धृतो गम्भीरखनीखस्य निम्नमध्यरन्ध्राकाशस्य नीलिमा नैल्यन्तथा विलोक्यते, 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यादि'त्यमरः। 'कृदिराकादक्तिन' इति ङीप्। अत्र कलङ्कापह्नवेन खनीलिमारोपादह्नवभेदः, स च कृतमध्यबिलमित्येतत्पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गानुप्राणितः, तदपेक्षा चेयं हृतसारमित्युत्युत्प्रेक्षेति सङ्करः। तया चोपमा व्यज्यत इति पूर्ववत् ध्वनिः ॥२५॥

ब्रह्मा ने दमयन्ती के मुख का निर्माण करने के लिए मानो चन्द्रमण्डल के सार भाग को हर लिया, जिससे चन्द्रमा के बीच में बिल हो गया, उस गम्भीर गड्ढे में आकाश की नीलिमा देखी जाती है।

यहाँ 'हृतसारमिव' में उत्प्रेक्षा तथा कलङ्क का निषेध कर आकाश के नीलिमा का आरोप करने से अपह्नुति तथा आकाश की नीलिमा दीखने में मध्य में बिल कारण है, अतः काव्यलिङ्ग-इन सभी का सङ्कर है। इससे मुख तथा चन्द्र में उपमा व्यङ्ग्य है॥ २५॥

धृतलाञ्छनगोमयाञ्चनं विधुमालेपनपाण्डरं विधिः।
भ्रमयत्युचितं विदर्भजाननीराजवर्द्धमानकम् ॥ २६ ॥

धृतेति । विधिर्ब्रह्मा धृतं लाञ्छनमङ्क एव गोमयाञ्चनं मध्यस्थितगोमयसंश्लेषणम् एनम् आलेपनपाण्डरं निजकान्तिसुधाधवलितमित्यर्थः, विधुं चन्द्रमेव विदर्भजाननस्य वैदर्भीमुखस्य नीराजनवर्द्धमानकं नीराजनशरावम् 'शरावो वर्द्धमानक' इत्यमरः । किरणदीपकलिकायुक्तमिति भावः । भ्रमयत्युचितम् लोकोत्तरत्वात् इति भावः, एवं नीराजयन्तीति देशाचारः । अत्र विधुतल्लाञ्छनादेर्नीराजनशरावगोमयादित्वेन निरूपणात्सावयवरूपकम् ॥ २६ ॥

हंस प्रकारान्तर से (चन्द्रमा की अपेक्षा) दमयन्ती के मुख की श्रेष्ठता का वर्णन करता है—(ब्रह्मा की आज्ञा से चन्द्रमा घूमता है। उसमें उत्प्रेक्षा करता है–) ब्रह्मा ने कलङ्क रूपी गोबर के लेप से युक्त तथा आलेपन (अइपन = जल में गाढ़ा घुलाहुआ चावल का चूर्ण) से श्वेत (अर्थात् बीच में कलङ्क से काले तथा शेष भाग कान्तिसुधा से धवलित) चन्द्रमा को ही दमयन्ती के मुख की आरती के लिये शराव (सराई = ढकनी, गोला गोला पात्र) को घुमाता है, यह उचित ही है। (गोमय से लिये तथा अइपन लगाये गये शराब से दृष्टि दोष निराकरण करने के लिए आरती की जाती है। यह लोकाचार है)।

यहाँ चन्द्रमा के भ्रमण में आरती करने की उत्प्रेक्षा है। चन्द्रमा में ढकनी का, कलङ्क में गोमय लेप का, श्वेतभाग में अइपन का, चन्द्रकान्ति में कपूर जलने का आरोप किया गया गया है अतः सावयव रूपक है ॥ २६ ॥

सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्ममभाजि तन्मुखात् ।
अधुनापि न भङ्गलक्षणं सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम् ॥ २७ ॥

सुषमेति । सुषमा परमा शोभा सैव विषयः यस्मिन् परीक्षणे जलदिव्यशोधने कृते निखिलं पद्मं पद्मजातं तन्मुखापादानात् भङ्गावधित्वादभाजि अभञ्जि स्वयमेव भग्नमभूदित्यर्थः, स्फुटं, कर्त्तरि लुङ्, 'भञ्जेश्च चिणी'ति वैभाषिको नकारलोपः । अतएवाधुनापि भङ्गलक्षणम्पराजयचिह्नं सलिलादुन्मज्जनं क्षणमपि नोज्झति न जहाति । जलदिव्योन्मज्जनस्य पराजयलिङ्गत्वस्मरणादिति भावः । उन्मज्जनक्रियानिमित्तेयं भङ्गोत्प्रेक्षा ॥ २७ ॥

(कमल की शोभा अधिक है या दमयन्ती के मुख की इस) परमशोभा विषयक दिव्य परीक्षा में सारे कमल दमयन्ती के मुख से हार गये, इसी लिये आज भी उस पराजय के चिह्न सलिलोन्मज्जन (जल से ऊपर रहने) को नहीं छोड़ते, यह स्फुट है। (जल दिव्य परीक्षा में धनुर्धर द्वारा प्रक्षिप्त बाण को लेकर दूसरा व्यक्ति दौड़ता हुआ जब तक न आजाय तब तक जो व्यक्ति जल में डूबा रहता है, वह विजयी होता है, जो पहले ही ऊपर आ जाता है वह पराजित होता है) ।

यहाँ जल से ऊपर रहना कमल का स्वभाव है, उसमें दमयन्ती के मुख से पराजित होने की उत्प्रेक्षा की गयी है। जल के उपर रहने से पराजय का अनुमान किया गया है अतः अनुमानालङ्कार है तथा असम्बन्ध में सम्बन्ध वर्णन रूप अतिशयोक्ति है ॥ २७ ॥

धनुषी रतिपञ्चबाणयोरुदिते विश्वजयाय तद्भ्रुवा ।
नलिके न[1] तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः ॥ २८ ॥

धनुषी इति । तद्भ्रुवौ विश्वजयायोदिते उत्पन्ते रतिपञ्चबाणयोर्धनुषी नूनमित्यादिव्यञ्जकाप्रयोगादगम्योत्प्रेक्षा, किञ्च तस्याः दमयन्त्याः उच्चनासिके उन्नतनासापुटे त्वयि नालीकानां द्रोणिचापशराणां विमुक्ति कामयो इति तथोक्तयोः नयोः 'शीलिकामिभक्ष्याचारिभ्यो ण' इति णप्रत्ययः 'नालीकं पद्मखण्डेऽस्त्री नालीकः शरशल्ययोरि'ति विश्वः । नलिके न द्रोणिके न किमिति काकुः । पूर्ववदुत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

दमयन्ती के दोनों भौंहें विश्वविजय के लिये प्रकट हुए रति तथा कामदेव के धनुष नहीं हैं क्या ? अपितु धनुष ही हैं तथा दमयन्ती की दो छिद्रों से उपलक्षित नासिकायें तुम्हारे पर बाण चलाने के लिये नलिकायें नहीं हैं क्या ? अर्थात् हैं ही ।

यहाँ भौंहों में धनुषत्व का आरोप, तथा दोनो छिद्रों में नलिका की सम्भावना की गयी है, अतः रूपक, उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ २८ ॥

सदृशी तव शूर ! सा परं जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा ।
अपि मित्रजुषां सरोरुहां गृहयालुः करलीलया श्रियः ॥ २९ ॥

१. 'न' इति पाठान्तरम् ।

सदृशीति। हे शूर! जलदुर्गस्थानि मृणालानि जयत इति तज्जितौ भुजौ यस्याः सा मित्रजुषामर्कसेविनां सुहृत्सलिलानाञ्च सहायकसम्पन्नामपीत्यर्थः। 'मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्के इति विश्वः। सरोरुहां श्रियः शोभा सम्पदश्च 'न लोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः, करलीलया भुजविलासेन भुजव्यापारेण वलिग्रहणेन च 'वलिहस्तांशवः कराः' 'लीलाविलासक्रिययोरि'ति चामरः, गृहयालुः ग्रहीता गृह–ग्रहण इति धातोश्चौरादिकात् 'स्पृहिगृही'त्यादिना आलुच् प्रत्ययः, 'अयामन्ते' त्यादिना णेरयादेशः। सा दमयन्ती तव परमत्यन्तं सदृशी अनुरूपेत्युपमालङ्कारः। शूरस्य शूरैव भार्या भवितुर्हमतीति भावः ॥ २९ ॥

हे वीर! जलरूपी दुर्ग में रहनेवाली मृणाल को जीतने वाले भुजाओं से युक्त तथा कर (हाथ पक्षा० राजदेय भाग) के विलास से मित्र (सूर्य पक्षा० सुहृत् जल) की सहायता से सम्पन्न (अर्थात् खिले हुए शोभा सम्पन्न) कमलों की श्री (शोभा पक्षा० सम्पत्ति) को ग्रहण करने वाली वह दमयन्ती केवल तुम्हारे ही योग्य है। (अर्थात् तुम भी दुर्गस्थ शत्रुओं को भुजाओं से जीतते हो, वह भी जीतती है तथा मित्र की सहायता सम्पन्न शत्रुओं के सम्पत्ति को कर रूप में तुम लेते हो, वह भी लेती है। अतः शूर की पत्नी शूर ही होनी चाहिए)।

यहां तुम्हारे सदृश है इससे उपमा, योग्य का योग्य से साथ समागम है इससे सम, तथा मित्र, श्री, कर, आदि में श्लेष है अतः सङ्करालङ्कार है॥ २९ ॥

वयसी शिशुतातदुत्तरे सुदृशि स्वाभिविधिं विधित्सुनी।
विधिनापि न रोमरेखया कृतसीम्नी प्रविभज्य रज्यतः ॥ ३० ॥

वयसी इति। सुदृशि दमयन्त्यां स्वाभिविधिं स्वव्याप्तिं विधित्सुनी विधातुमिच्छती अहमहमिकया स्वयमेवाक्रमितुमिच्छती इत्यर्थः, शिशुतातदुत्तरे बाल्ययौवने वयसी विधिना सीमाभिज्ञेन रोमरेखया सीमाचिह्नेन प्रविभज्य रोमराजेः प्रागेव अत्र शैशवेन स्थातव्यन्ततः परं यौवनेनेति कालतो विभागं कृत्वा, कृतसीम्नी कृतमर्यादे अपि 'विभाषा ङिश्यो'रित्यल्लोपः, न रज्यतः

न सन्तुष्यतः। रम्यवस्तु दुस्त्यजमिति भावः। एतेन वयःसन्धिरुक्तः। अत्र प्रस्तुतवयोविशेषसाम्यादप्रस्तुतविवादप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः॥ ३०॥

हे राजन्! उस सुनयना दमयन्ती में अपनी-अपनी अभिव्याप्ति (सर्वाङ्गों में स्थिति) बनाने के इच्छुक शैशव एवं उसके बाद की अवस्था अर्थात् यौवन ये दोनो ब्रह्मा के द्वारा उदर में वर्तमान रोम की रेखा से सम विभाग करके सीमा निर्धारण करने पर भी सन्तुष्ट नहीं हैं। (अर्थात् दोनों अवस्थाएँ सम्मिलित रह कर ही सन्तुष्ट हैं। बाल्यावस्था है ही, रोमोद्गम से युवावस्था का भी प्रारम्भ है, अतः वयः सन्धि है। लोक में भी देखा जाता है कि नियम से सीमा (मेड) बना देने पर भी अच्छी जमीन के लिए कुछ लोग विवाद करते ही हैं)।

यहाँ प्रस्तुत वयः सन्धि से अप्रस्तुत विवाद की प्रतीति होती है, अतः समासोक्ति है। तथा सीमा निर्धारण रूप कारण के होने पर भी विभागरूप कार्य नहीं कहा गया है, अतः विशेषोक्ति है॥ ३०॥

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम्।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ॥ ३१॥

सम्प्रति यौवनमेवाश्रित्याह—अपीति। कान्तिझरैर्लावण्यप्रवाहैरगाधतां दुरवगाहतां गमिते तद्वपुषि दमयन्तीशरीरे प्रसर्पतोस्तरतोः स्मरयौवनयोर्द्वयोरपि उभौ कुचौ प्लवस्योन्मज्जनस्य कुम्भौ प्लवनार्थं कुम्भावित्यर्थः, प्रकृतिविकारभावाभावादश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः। लोके तरद्भिः अनिमज्जनाय कुम्भादिकमलम्ब्यत इति प्रसिद्धं, भवतः खलु। अत्र कुचयोः स्मरयौवनप्लवनकुम्भत्वोत्प्रेक्षया तयोरौत्कट्यं कुचयोश्चातिवृद्धिर्व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः॥ ३१॥

कान्ति रूपी जल के प्रवाह से अगाधता को प्राप्त भी उस दमयन्ती के शरीर में क्रीडा करते (तैरते) हुए कामदेव एवं यौवन के लिए दोनों स्तन तैरने के लिए घड़े हो रहे हैं। (अगाध जल में क्रीडा करना अनुचित है तो भी क्रीडा कर रहे हैं, यह अपि शब्द से द्योतित है। "कुचौ" पद में द्विवचन विभक्ति से ही दोनों कुच यह अर्थ निकल जाता है, फिर भी उभौ शब्द का प्रयोग "परस्परमिलितत्व" अर्थ को प्रकाशित करने के लिए है।)

यहाँ कुचों में प्लवकुम्भत्व की सम्भावना की गई है अतः उत्प्रेक्षा अलङ्कार है, इससे कुचों की विशालता व्यक्त होती है अतः अलङ्कार से वस्तुध्वनि है ॥ ३१ ॥

कलसे निजहेतुदण्डजः किमु चक्रभ्रमकारितागुणः ? ।
स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रभ्रममातनोति यत् ॥ ३२ ॥

कलस इति । निजहेतुदण्डजः स्वनिमित्तकारणजन्यः चक्रभ्रमकारिता कुलालभाण्डभ्रमणजनकत्वं सैव गुणो धर्मो रूपादिश्च, 'गुणः प्रधाने रूपादावि'-त्यमरः । सा कलसे किमु ? दण्डकार्य्यं कलसे संक्रान्तः किमु ? इत्यर्थः, कुतः यद्यस्मात् स कलसः तस्या दमयन्त्या उच्चकुचौ भवन् तत्कुचात्मना परिणतः सन् प्रभाझरे लावण्यप्रवाहे चक्रभ्रमं चक्रवाकभ्रान्ति कुलालदण्डभ्रमणं चातनोति, 'चक्रो गणे चक्रवाके चक्रं सैन्यरथाङ्गयोः । ग्रामजाले कुलालस्य भाण्डे राष्ट्रास्त्रयोरपि' इत्युभयत्रापि विश्वः । अत्र 'समवायिकारणगुणा रूपादयः कार्य्ये संक्रामन्ति न निमित्तगुणा' इति तार्किकाणां समये स्थिते गुण इति चक्रभ्रम इति चोभयत्रापि वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसाय एव 'स तदुच्चकुचौ भवन्नि'ति कुचकलसयोरभेदातिशयोक्त्युत्थापितझरचक्रभ्रमात्मक-क्रियानिमित्ता कुचात्मनि कलसे कार्ये चक्रभ्रमकारितालक्षणानिमित्तकारण-गुणसंक्रमलक्षणेनोत्प्रेक्षेति सङ्क्षेपः । तार्किकसमये विरोधात् विरोधा-भासोऽलङ्कार इति केश्चिदुक्तम्, तदेतदत्यन्ताश्रुतचरमलङ्कारपारदृश्वानः शृण्वन्तु ॥ ३२ ॥

हे राजन् ! चक्र भ्रम कारिता (चाक को घुमाने वाला) गुण कलश में अपने निमित्त कारण दण्ड से प्राप्त हुआ है क्या ? क्योंकि वह (कलश) दमयन्ती का उच्चकुच (विशाल स्तन) होता हुआ कान्ति-प्रवाह से चक्र भ्रम (कुम्हार चाक के समान लोगों के दृष्टि को भ्रान्त, पक्षा० चक्र = राष्ट्र (लोक समूह) को भ्रम (मोहित) पक्षा० कान्तिरूपी जल प्रवाह में चक्रवाक होने का भ्रम) करता है । (न्याय शास्त्र के अनुसार समवायिकारण का गुण कार्य में आता है (''कारण गुणाः कार्यण्यारभन्ते'' इस सिद्धान्त से) न निमित्तकारण का, परन्तु यहाँ निमित्तकारण (दण्ड) का गुण कलश में आया है, यह आश्चयजनक है । हे राजन् आप ऐसा कहीं देखे हैं क्या ?

मैं तो दमयन्ती के कुच कलशों में देखा हूँ। इस बात को "किमु" शब्द से कहा गया है)।

यहाँ कलश दमयन्ती के उच्चकुच हैं यह रूपकालङ्कार, कुचों में चक्रवाक की भ्रान्ति होने से भ्रान्तिमान् अलङ्कार है, कलश और कुच में अभेदाध्यवसान होने से अतिशयोक्ति है, इन सभी का सङ्कर है ॥ ३२ ॥

भजते खलु षण्मुखं शिखी चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः ।
अपि जम्भरिपुं दमस्वसुर्जितकुम्भः कुचशोभयेभराट् ॥ ३३ ॥

भजत इति । दमस्वसुर्दमयन्त्योश्चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः कृतपिच्छनिन्दः जितबर्ह इत्यर्थः । शिखी मयूरः षण्मुखं कार्तिकेयं भजते खलु, तया कुचशोभया जितकुम्भ इभराडैरावतोऽपि जम्भरिपुमिन्द्रं भजते । परपरिभूताः प्राणत्रायाण प्रबलमाश्रयन्त इति प्रसिद्धम् । अत्र शिख्यैरावतयोः षण्मुखजम्भारिभजनस्य जितबर्हत्वजितकुम्भत्वपदार्थहेतुकत्वात् तद्धेतुके काव्यलिंगे तदसम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिश्च ॥ ३३ ॥

दमयन्ती के केशों से (न्यूनशोभा के कारण) तिरस्कृत पिच्छ वाला मयूर षण्मुख (कार्तिकेय) की सेवा करता है तथा उसके कुचों की शोभा से पराजित कुम्भ (गण्डस्थल) वाला गजराज ऐरावत भी जम्भ नामक राक्षस के शत्रु इन्द्र की सेवा करता है। (जब कोई किसी से पराजित होता है तो उससे प्रबल का सहारा लेता है, यहाँ "चिकुरो" पद में बहुवचन है, अतः षडानन का आश्रय लिया, क्योंकि छः आनन है तो केश भी अधिक होगें। इसी तरह कुचभार से शरीर झुकता है तो जम्भ का अर्थ भी है शरीर का झुकना (जभि गात्रविनामे) उस जम्भ का रिपु और अधिक शरीर को झुकायेगा। अतः इन दोनों की सेवा मयूर तथा ऐरावत द्वारा किया जाना उचित ही है ।)

यहाँ खलु शब्द से उत्प्रेक्षा है और अनेक कारकों का एक भजन क्रिया में अन्वय है, अतः दीपकालङ्कार है। मयूर एवं ऐरावत के षण्मुख एवं इन्द्र की सेवा में पराजित होना कारण है, अतः काव्यलिङ्ग है एवं असम्बन्ध में सम्बन्ध वर्णन रूप अतिशयोक्ति है ।

उदरं नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना ।
चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गतत्रिबलिभ्राजि कृतं दमस्वसुः ॥ ३४ ॥

उदरमिति। दमस्वसुरुदरं नतमध्यं निम्नमध्यप्रदेशं पृष्ठं यस्योदरस्य तस्य भावस्तत्ता तया स्फुरत् दृढफलके पृष्ठफलके स्फुटीभवदङ्गुष्ठपदमङ्गुष्ठन्यासंस्थानं यस्य तेन मुष्टिना करणेन चतसृणामङ्गुलीनां समाहारश्चतुरङ्गुलि-'तद्धिते' त्यादिना समाहारे द्विगुरेकवचननपुंसकत्वे। तस्य मध्येभ्योऽन्तरालेभ्यो निर्गतं तत्त्रिवलि पूर्ववत् समसादिः कार्यः, यत्तूक्तं वामनेन 'त्रिवलिशब्दः संज्ञा चेदि'ति सूत्रेण सप्तर्षय इत्यादिवत् 'दिक्संख्ये संज्ञायामि'ति संज्ञायां द्विगुरिति। तदपि चेतकरणसामर्थ्यात् त्रिवलय इति बहुवचनप्रयोगदर्शने स्थितं गतिमात्रं न सार्वत्रिकमितिप्रतीमः। तेन भ्राजत इति तद्भ्राजि वलित्रयशोभि कृतमित्युत्प्रेक्षा, कौतुकिनेति शेषः। मुष्टिग्राह्यमध्येयमित्यर्थः। मुष्टिग्रहणा-दङ्गुष्ठनो दनात्पृष्ठ मध्ये नम्रता उदरे च चतुरङ्गुलिनोदनाद्वलित्रयाविर्मा-वश्चेत्युत्प्रेक्षते ॥ ३४ ॥

हे राजन् दमयन्ती के उदर को (ब्रह्मा ने उसका निर्माण करते समय)
मुट्ठी में पकड़ा। (उससे) पीठ के मध्यभाग में गड्ढा होने से स्फुट हो
रहा है अंगुष्ठ का स्थान तथा चारो अंगुलियों के मध्य से निकलने के
कारण उदर त्रिवली से सुशोभित हो गया।

यहाँ पीठ के बीच में गड्ढा तथा पेट में तीन रेखायें देखकर मुट्ठी में
पकड़ने की सम्भावना की गई है, अतः उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। त्रिबली से
युक्त होने में मुट्ठी में बाँधना कारण है, अतः काव्यलिङ्ग है तथा असम्बन्ध
में सम्बन्ध वर्णन रूप अतियोक्ति है ॥ ३४ ॥

उदरं परिमाति मुष्टिना कुतुकी कोऽपि दमस्वसुः किमु ?।
धृततच्चतुरङ्गुलीव यद्वलिभिर्भाति सहेमकाञ्चिभिः ॥ ३५ ॥

उदरमिति, कोऽपि कुतुकी दमस्वसुरुदरं मुष्टिना परिमाति किमु ?
परिच्छिनत्ति किमित्युत्प्रेक्षा, कुतः ? यद् यस्मात् सहेमकाञ्जिभिर्वलिभिर्हेम-
काञ्चया सह चतसृभिस्त्रिवलिभिरित्यर्थः। एतस्याः कनकसावर्ण्यं सूचितम्
धृतं तस्य मातुश्चतुरङ्गुली अङ्गुलीचतुष्ठयं येन तदिव भातीत्युत्प्रेक्षा।
अत्रोत्प्रेक्षयोर्हेतुहेतुमद्भूतयोरङ्गाङ्गिभावेन सजातीयः सङ्करः। पूर्वश्लोके वलीनां
तिसृणां चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गतत्वमुत्प्रेक्षितम्। इह तु तासामेव काञ्जीसहितान
चतुरङ्गुलित्वमुत्प्रेक्षत इति भेदः प्रेक्षितुरिति भावः ॥३५॥

प्रकारान्तर से उदर का ही वर्णन करता है—कोई कौतुकी (पक्षा० कौतुकी ब्रह्मा) दमयन्ती के उदर को मानो मुट्ठी से नापता है, जिससे सुवर्ण की करधनी सहित त्रिबली से युक्त ऐसा मालूम पड़ता है, मानो उस नापने वाले के (पा०—मुष्टि के) चारों अंगुलियों को धारण किया हुआ है।

यहाँ मुट्ठी से नापने की तथा चार अंगुलियों के धारण की-दो उत्प्रेक्षाओं का सङ्कर है ॥ ३५ ॥

पृथुवर्तुलतान्नितम्बकृन्मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया ।
विधिरेककचक्रचारिणं किमु निर्मित्सति मान्मथं रथम् ॥ ३६ ॥

पृथ्विति। पृथु वर्तुलं च तस्याः नितम्बं करोतीति नितम्बकृन्नितम्बं कृतवान् विधिः ब्रह्मा मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया रविरथनिर्माणाभ्यासपाटवेन एककमेकाकि 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कप्रत्ययः। तेन चक्रेण चरतीति तच्चारिणं मान्मथं रथं निर्मित्सति किमु ? सूर्यस्येव मन्मथस्यापि एक[illegible] रथं निर्मातुमिच्छात किमु ? इत्युत्प्रेक्षा। अन्यथा किमर्थमिदं नितम्बनिर्माणमिति भावः। मातेः सन्नन्ताल्लट्। 'सनि मीमे' त्यादिना ईसादेशः, 'सस्यार्द्धधातुक' इति सकारस्य तकारः, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये' त्यभ्यासलोपः ॥ ३६ ॥

सूर्य के रथ के निर्माण शिक्षा (अभ्यास) से विशाल तथा गोलाकार दमयन्ती के नितम्ब को बनाने वाले ब्रह्मा एक चक्के से चलने वाला कामदेव के रथ का निर्माण करना चाहते हैं क्या ? (यहाँ सूर्य के एक पहिये से चलने वाले रथ के निर्माण के अभ्यास से ब्रह्मा ने दमयन्ती का नितम्ब बनाया है, उसमें काम के रथत्व की उत्प्रेक्षा की गयी है।) (भाव है कि नितम्ब कामोद्दीपक है)।

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३६ ॥

तरुमूरुयुगेन सुन्दरी किमु रम्भां परिणाहिना परम्।
तरुणीमपि जिष्णुरेव तां धनदापत्यतपःफलस्तनीम् ॥ ३७ ॥

तरुमिति। सुन्दरी दमस्वसा परिणाहिना विपुलेन ऊरुयुगेन रम्भां रम्भां नाम तरुं परन्तरुमेव 'नलोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। जिष्णुः किमु ? किन्तु धनदापत्यस्य नलकूबरस्य तपसः फलस्तनीं फलभूतकुचां तां रम्भान्नाम तरुणी-

मपि जिष्णुरेव । 'रम्भाकदल्यप्सरसोरि'ति विश्वः । रम्भे इव रम्भाया इव चोरू यस्याः सा इत्युभयथारम्भोरुरित्यर्थः ।। ३७ ।।

हे राजन् ! सुन्दरी दमयन्ती विशाल उरुद्वय से केवल रम्भा (कदली) वृक्ष को ही जीतने वाली है क्या ? (अर्थात् नहीं बल्कि) कुबेर के पुत्र नलकूबर की तपस्या का फलभूत स्तनों वाली उस प्रसिद्ध तरुणी रम्भा को भी जीतने वाली है। (अर्थात् दमयन्ती के उरुयुगल कदलीवृक्ष तथा रम्भा अप्सरा के उरुद्वय से भी सुकुमार चिकने तथा आरोहावरोह युक्त है)।

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।। ३७ ।।

जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतुः ।
ध्रुवमेत्य रुतः सहंसकीकुरुतस्ते विधिपत्रदम्पती ।। ३८ ।।

जलजे इति । ये जलजे द्विपद्मे रविसेवया सूर्योपासनयेव एतस्याः पदतां चरणत्वमेव पदम्प्रतिष्ठामवापतुः ते जलजे कर्मभूते विधिपत्रदम्पती द्वन्द्वचारिणौ ब्रह्मवाहनहंसौ एत्यागत्यरुतः रवात्कूजनादित्यर्थः। रौतेः सम्पदादित्वात् क्विपि तुगागमः । सहंसकौ सपादकटकौ सहंसकी च कुरुतः 'अभूततद्भावे च्विः' । 'हंसकः पादकटक' इत्यमरः। हंसपक्षे वैभाषिकः कप्रत्ययः । ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् । पद्महंसयोरविनाभावात् कयोश्चिद्दिव्यपद्मयोस्तत्पदत्वमुत्प्रेक्ष्य दिव्यहंसयोरेव हंसकत्वञ्चोत्प्रेक्षते ।। ३८ ।।

जिन दो कमलों ने मानों सूर्य की उपासना करके दमयन्ती के चरणत्व प्राप्ति रूप प्रतिष्ठित पद को प्राप्त किये हैं, उन चरण रूपी कमलों को प्राप्त कर ब्रह्मा के वाहन हंस दम्पती (हंस और हंसी) उन्हें अपने शब्द से सहंस की (हंस युक्त पक्षा० नूपुर से युक्त) करते हैं। (अर्थात् जब कमल सूर्य की उपासना से दमयन्ती का चरण बने तब ब्रह्मा की उपासना करके उनके वाहन हंस मिथुन उनके चरण कमलों को सजाने के लिए नूपुर बने)।

यहाँ कमलों को पद तथा ब्रह्मा के वाहन हंसो को नूपुर होने की सम्भावना की गई है, अतः उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।। ३८ ।।

श्रितपुण्यसरःसरित्कथं न समाधिक्षपिताखिलक्षपम् ।
जलज गतिमेतु मञ्जुलां दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि ।। ३९ ।।

श्रितेति। श्रिताः सेविताः पुण्याः सरःसरितः मानसादीनि सरांसि गङ्गाद्याः सरितश्च येन तत्समाधिना ध्यानेन निमीलनेन क्षपिताखिलक्षपं यापितसर्वरात्रं जलजं दमयन्तीपदमिति नाम यस्मिन् जन्मनि मञ्जुलाङ्गतिं रम्यगतिमुत्तमदशाञ्च, 'गतिर्मार्गे दशायां चे'ति विश्वः। कथं नैतु एत्वेवेत्यर्थः। पदस्य गतिसाधनत्वात्तत्रापि दमयन्तीसम्बन्धाच्चोभयगतिलाभः। तथापि जन्मान्तरेऽपि सर्वथा तपः फलितमिति भावः। सम्भावनायां लोट्॥ ३९॥

श्रेयस्कर सर तथा सरिता का सेवन करने वाले तथा समाधि (मुकुलित होकर (ध्यान में नेत्र बन्दकर) पक्षान्तर में सम्यक्+अधि=मनोव्यथा) से सम्पूर्ण रात्रि बिताने वाले कमल दमयन्ती के चक्षण नाम वाले जन्म में (जन्मान्तर में) मञ्जुल गति (मनोहर गमन पक्षा० उत्तम लोक प्राप्ति रूप गति) को क्यों नहीं प्राप्त करें? (दूसरे लोग भी पुण्य तीर्थों का सेवन करके तथा रात्रि भर समाधि लगाकर दूसरे जन्म में उत्तम गति प्राप्त करते ही हैं)।

यहाँ विशेषण के बल से किसी तपस्वी की सद्गति प्राप्ति रूप अर्थ प्रतीत होता है, अतः समासोक्ति है॥ ३९॥

सरसीः परिशीलितुं मया गमिकर्मीकृतनैकनीवृता।
अतिथित्वमनायि सा दृशोः सदसत्संशयगोचरोदरी॥ ४०॥

अथ कथं त्वमेनां वेत्सीत्यत आह—सरसीरिति। सरसीः सरांसि परिशीलितुं परिचेतुं तत्र विहर्त्तुमित्यर्थः। चुरादिणेरनित्यत्वादण्यन्तप्रयोगः। गमिर्गमनं शब्दपरशब्देनार्थो गम्यते तस्य कर्मीकृताः कर्मकारकीकृताः नैके अनेके नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः। नितरां वर्त्तन्ते जना येष्विति नीवृतः जनपदाः येन तेन क्रान्तानेकदेशेनेत्यर्थः। 'नहिवृती' त्यादिना दीर्घः। मया सदसद्वेति संशयगोचरः सन्देहास्पदमुदरं यस्याः सा कृशोदरीत्यर्थः। 'नासिकोदरे' त्यादिना ङीप्। सा दमयन्ती दृशोरतिथित्वमनायि स्वविषयतां नीता दृष्टेत्यर्थः। नयतेः कर्मणि लुङ्॥ ४०॥

ऐसी दमयन्ती को तुम कैसे जानते हो "इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए हंस कहता है—विहार करने हेतु तडागों को ढूढने के लिए अनेक देशों

में जाने वाले मैंने "है या नहीं" ऐसे सन्देह का विषयभूत उदर वाली अर्थात् कृशोदरी उस दमयन्ती को अपने नेत्रों का अतिथि बनाया (अर्थात् देखा)।

यहाँ प्रौढिरूप ओजा गुण है। इसे कुन्तक पर्याय वक्रता कहते हैं ॥४०॥

अवधृत्य दिवोऽपि यौवतैर्न सहाधीतवतीमिमामहम् ।
कतमस्तु विधातुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम् ॥ ४१ ॥

अवधृत्येति। अहमिमान्दमयन्तीं दिवः स्वर्गस्य सम्बन्धिभिर्यौवतैर्युवति-समूहैरपि 'गाभिणं यौवनं गण' इत्यमरः। भिक्षादित्वात्समूहार्थे अण्प्रत्ययः; तत्राप्यस्य युवतीति स्त्रीप्रत्यान्तस्यैव प्रकृतित्वेन तद्ग्रहणात् तत्सामर्थ्यादेव 'भस्याढे तद्धित' इति पुंवद्भाव इति वृत्तिकारः। न सहाधीतवतीमदृशीं ततोऽप्यधिकसुन्दरीमित्यर्थः। 'नञर्थस्य न शब्दस्य सुप्सुपेति समास' इति वामनः। अवधृत्य निश्चित्य विधातुः ब्रह्मणः आशये हृदि अस्याः पतिः कतमो नु कतमोवा वसतीत्यचिन्तयम् तदैत्रेति शेषः ॥ ४१ ॥

मैंने स्वर्ग की युवतियों के साथ भी अध्ययन नहीं करने वाली (समान गुण वालों के साथ अध्ययन किया जाता है अर्थात् स्वर्गीय युवतियां भी इसके समान सौन्दर्य में नहीं हैं) दमयन्ती को निश्चय रूप से जान करके "ब्रह्मा के मन में इसका कौन पति बसता है" (अर्थात् सुर-सुन्दरी से भी श्रेष्ठ दमयन्ती के लिए कौन पति ब्रह्मा के द्वारा बनाया गया है) यह विचार किया।

यहां प्रतीप अलङ्कार है, वस्तुतः उपमान (स्वर्गीय युवतियों) से उपमेय (दमयन्ती) में आधिक्य वर्णन है, अतः व्यतिरेक अलंकार है ॥ ४१ ॥

अनुरूपमिमं निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम् ।
युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम् ॥ ४२ ॥

अनुरूपमिति। अथेदानीमनुरूपं योग्यं त्वां निरूपयन् तस्याः पतित्वेनालोचयन् सर्वेष्वपि युवसु पूर्वपक्षतां दूष्यकोटित्वं व्यपनेतुमक्षमः सन् त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम्। त्वमेवास्याः पतिरिति निरचैषमित्यर्थः। अयमेव विधातुरप्याशय इति भावः ॥ ४२ ॥

उस दमयन्ती के रूप के योग्य पति का निरूपण अर्थात् "यह योग्य है या यह", ऐसा विचार करता हुआ सभी युवकों में अयोग्यता रूप पूर्वपक्षता का निराकरण करने में असमर्थ मैंने आप में सिद्धान्त बुद्धि निश्चित किया। (अर्थात् तुम से भिन्न कोई भी युवक दमयन्ती के योग्य नहीं है)।

यहाँ योग्यता से योग्यों का समागम सम्भावित है अतः समालंकार है॥

अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे।
चिरमप्यवलोकिताऽद्य सा स्मृतिमारूढवती शुचिस्मिता ॥ ४३॥

अथ त्वद्रूपदर्शनमेव सम्प्रति तत्स्मारकमित्याह—अनयेति। चिरमवलोकिताऽपि सा शुचिस्मिता सुन्दरी अद्याधुना हस्तेन निर्दिशन्नाह—अनया तव रूपसीमया सौन्दर्यकाष्ठया कृतसंकारविबोधनस्य उद्बुद्धसंस्कारस्य मे स्मृतिमारूढवती स्मृतिपथङ्गता, सदृशदर्शनं स्मारकमित्यर्थः ॥ ४३॥

चिर काल की देखी हुई भी रम्य हास वाली वह दमयन्ती तुम्हारे इस रूप की सीमा (पराकाष्ठा) से उद्बुद्ध संस्कार वाले मेरे स्मृति पथ में आरूढ़ हो गई (स्मृत हो गई) है। (सदृश वस्तु के देखने से ही स्मृति होती है, इसलिए उसके योग्य तुम हो)।

यहाँ सदृश वस्तु देखने से सदृश का स्मरण हुआ है, अतः स्मरणालंकार है॥

त्वयि वीर! विराजते परं दमयन्तीकिलकिंचितं किल।
तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् ॥ ४४॥

ततः किमत आह—त्वयीत्यादि। हे वीर! दमयन्त्याः किलकिञ्चितम्, 'क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादे सङ्करः किलकिञ्चितमि' त्युक्तलक्षणलक्षितशृङ्गारचेष्टितं त्वयि परन्त्वय्येव विराजते किल शोभते खलु। तथाहि—मणिहारावलेर्मुक्ताहारपङ्क्तेः रामणीयकं रमणीयत्वं 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्'। तरुणीस्तन एव दीप्यते, नान्यत्रेत्यर्थः। स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेणेति प्रायग्रहणादेकवचनप्रयोगः। अत्र हारकिलकिञ्चितयोरुपमानोपमेययोर्वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतया स्तननृपयोः समानधर्मत्वोक्तेर्दृष्टान्तालंकारः लक्षणन्तूक्तम् ॥

हे वीर! दमयन्ती का किलकिञ्चित (शृङ्गार की एक चेष्टा) केवल आप में विशेष शोभा पायेगा, क्योंकि मुक्ताहारों की रमणीयता तरुणियों के स्तन पर ही उद्दीप्त होती है, न कि वृद्धाओं के। (वीर ही शृङ्गारी हो सकता है, इसे व्यक्त करने के लिए वीर शब्द का प्रयोग इस पद्य में है)।

यहाँ विराजते तथा दीप्यते पद के द्वारा प्रतिवाक्यों में भिन्न-भिन्न उपमा दी गई है, अतः प्रतिवस्तूपमा है।

हार और किलकिञ्चित (उपमानोपमेय) में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव से साधारण धर्म (राजा और स्तन) कहे गये हैं, अतः दृष्टान्तालंकार है ॥४४॥

तव रूपमिदं तया विना विफलं पुष्पमिवावकेशिनः ।
इयमृद्धघना वृथाऽवना, स्ववनी सम्प्रवदत्पिकापि का ? ॥ ४५ ॥

तवेति । हे वीर ! तवेदं रूपं सौन्दर्यं तया दमयन्त्या विना अवकेशिनो वन्ध्यवृक्षस्य 'वन्ध्योऽफलोऽवकेशी चे' त्यमरः । पुष्पमिव विफलं निरर्थकम्, ऋद्धधना सम्पूर्णवित्ता इयमवनी वृथा निरर्थिका । सम्प्रवदत्पिका कूजत्कोकिला स्ववनी निजोद्यानमपि 'ङीप्' का तुच्छा निरर्थिकेत्यर्थः । तद्योगे तु सर्वं सफलमिति भावः । 'किं वितर्के परिप्रश्ने क्षेपे निन्दापराधयोरि' ति विश्वः । अत्र नलरूपावनीवनीनां दमयन्त्या विना रम्यतानिषेधाद्विनोक्तिरलंकारः । 'विना सम्बन्धि यत्किञ्चिदत्रान्यत्र परा भवेत् । रम्यताऽरम्यता वा स्यात् सा विनोक्तिरनुस्मृते'ति लक्षणात् । तस्याश्च पुष्पमिवेत्युपमया संसृष्टिः ॥ ४५ ॥

हे राजन् ! तुम्हारा यह दृश्यमान अनुपम रूप भी उस दमन्यती के बिना वन्ध्यवृक्ष के फलरहित पुष्प के समान (पक्षा० मुण्डित मुण्ड पर रखे गये फूल के समान) व्यर्थ है, केवल रूप ही नहीं व्यर्थ है अपितु यह धान्य से परिपूर्ण पृथिवी भी व्यर्थ ही है; तथा कूज रहे हैं पिक जिसमें ऐसी तुम्हारी विलास वाटिका भी कुछ नहीं है (अर्थात् व्यर्थ ही है)।

यहाँ दमयन्ती के विना रूपादि की व्यर्थता कही गई है अतः विनोक्ति है, पुष्पमिव में उपमा है, इन दोनों की संसृष्टि है ॥ ४५ ॥

अनयाऽमरकाम्यमानया सह योगः सुलभस्तु न त्वया ।
घनसंवृतयाऽम्बुदागमे कुमुदेनेव निशाकरत्विषा ॥ ४६ ॥

अत्रान्यापेक्षां दर्शयितुं तस्या दौर्लभ्यमाह—अनयेति । अमरैरिन्द्रादिभिः काम्यमानयाऽभिलष्यमाणया दमयन्त्या सह योगः अम्बुदागमे घनसंवृतया मेघावृतया निशाकरत्विषा सह योगः कुमुदेनेव त्वया न सुलभो दुर्लभ इत्यर्थः । अत्र तत्संयोगदौर्लभ्यस्य अमरकामनापदार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गभेदः, तत्सापेक्षा चेयमुपमेति सङ्करः ॥ ४६ ॥

इन्द्रादि देवताओं के द्वारा काम्यमान (अभिलषित) दमयन्ती के साथ तुम्हारा सम्बन्ध होना वैसे ही सुलभ नहीं है जैसे वर्षाकाल में मेघों से ढके

हुये चन्द्रमा की कान्ति के साथ कुमुदिनी का सम्बन्ध सुलभ नहीं होता है। (अर्थात् जैसे वर्षाकाल में भी वायु के द्वारा मेघ को तितर बितर कर देने पर कुमुदिनी के साथ चन्द्रिका का समागम हो जाता है वैसे ही हमारे उपाय से तुम्हारा दमयन्ती से सम्बन्ध होगा)।

यहाँ दमयन्ती के असुलभ होने में देवताओं की अभिलाषा कारण है। अतः काव्यलिङ्ग है, कुमुदेनेव में उपमा है, दोनो का सङ्कर है ॥ ४६ ॥

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्याः सविधे तव स्तवम् ।
हृदये निहितस्तया भवानपि नेन्द्रेण यथाऽपनीयते ॥ ४७ ॥

अत्र का गतिरित्याह—तदिति । तत्तस्मात्कार्यस्य सप्रतिबन्धत्वादहं दमयन्त्याः सविधे समीपे तथा तथा तव स्तवं स्तोत्रं विदधे विधास्य इत्यर्थः, सामीप्ये वर्त्तमाने प्रत्ययः । यथा तया हृदये विहितो भवानिन्द्रेणापि नापनीयते नेतुमशक्य इत्यर्थः । यथेन्द्रादिप्रलोभिताऽपि त्वय्येव गाढानुरागा स्यात्तथा करिष्यामीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

(योग्य के) समागम में अनेक विघ्न होते हैं, अतः मैं दमयन्ती के समीप तुम्हारी वैसी वैसी प्रशंसा करूँगा जिससे दमयन्ती के द्वारा हृदय में रखे गये तुमको इन्द्र भी दूर नहीं कर सकेगें। (साधारण देवताओं या मनुष्यों की बात ही क्या ?)

यहां प्रशंसा में अतिशयोक्ति है ॥ ४७ ॥

तव सम्मतिमत्र केवलामधिगन्तुं धिगिदं निवेदितम् ।
ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ॥ ४८ ॥

नहि तथैव क्रियतां किं निवेदनेनेत्यत आह—तवेति । अत्रास्मिन् कार्ये केवलामेकांतव सम्मतिमङ्गीकारमधिगन्तुमिदं निवेदितं निवेदनं धिक् । तथा हि—साधवो निजोपयोगितां स्वोपकारित्वं फलेन कार्येण ब्रुवते बोधयन्ति, किन्तु कण्ठेन वाग्वृत्त्या न ब्रुवते । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥

निवेदन में अनौचित्य का परिहार करता है—"दमयन्ती का समागम तुम्हे अनुमत है या नहीं" केवल इस तुम्हारी सम्मति को जानने के लिए किए गए इस निवेदन को धिक्कार है, क्यों कि सज्जन लोग अपनी उपयोगिता को कार्य सिद्धि के द्वारा सूचित करते हैं, केवल कण्ठ (वचन) से नहीं।

यहाँ सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है ॥ ४८ ॥

तदिदं विशदं वचोऽमृतं परिपीयाभ्युदितं द्विजाधिपात् ।
अतितृप्ततया विनिर्ममे स तदुद्गारमिव स्मितं सितम् ॥ ४९ ॥

तदिति । स नलो द्विजाधिपात् हंसाच्चन्द्राच्चाभ्युदितमाविर्भूतं विशदं प्रसन्नमवदातञ्च तत् पूर्वोक्तमिदमनुभूयमानं वच एवामृतमिति रूपकं तत्परिपीय अत एव अतितृप्ततया अतिसौहित्येन तस्य वचोऽमृतस्य उद्गारमिव सितं स्मितं विनिर्ममे निर्मितवान् । माङः कर्त्तरि लिट् । अतितृप्तस्य किञ्चिन्निःसार उद्गारः । सितत्वसाम्यात् स्मितस्य वागमृतोद्गारोत्प्रेक्षा ॥४९॥

उस नल ने द्विजाधिप (पक्षिश्रेष्ठ हंस पक्षा० चन्द्रमा) से निकले हुए इस पूर्वोक्त विशद (व्यक्त पक्षा० श्वेत) वाणीरूप अमृत को सादर सुन कर (पक्षा० पीकर) अत्यन्त तृप्त होने के कारण । उस पिये गये श्वेत अमृत के उद्गार के समान श्वेत स्मित (मुस्कान) किया । (सज्जनों का स्मित पूर्वक भाषण करने का नियम होता है) ।

यहाँ वाणी आदि में अमृतत्वका आरोप है अतः रूपक है, वह स्मित मे उद्गारत्व के ऊत्प्रेक्षा में निमित्त है अतः दोनों का सङ्कर है ॥ ४९ ॥

परिमृज्य भुजाग्रजन्मना पतगङ्कोकनदेन नैषधः ।
मृदु तस्य मुदेऽगिरद् गिरः प्रियवादामृतकूपकण्ठजाः ॥ ५० ॥

परिमृज्येति । निषधानां राजा नैषधः नलः 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' ।
भुजाग्रजन्मना कोकनदेन पाणिशोणपङ्कजेनेत्यर्थः । पतगं हंसं परिमृज्य तस्य हंसस्य तथा मुदे हर्षाय प्रियवादानामेवामृतानां कूपः निधिः कण्ठो वागिन्द्रियं तज्जन्याः गिरः मृदु यथा तथा अगिरत् प्रियवाक्यामृतैरसिञ्चदित्यर्थः । अत्र भुजाग्रजन्मना कोकनदेनेति विषयस्य पाणेर्निगरणेन विषयिणः कोकनदस्यैवोप-निबन्धात् अतिशयोक्तिः, 'विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते । यत्र साति-शयोक्तिः स्यात्कविप्रौढोक्तिसम्मता ॥' इति लक्षणात् । सा च पाणिकोकनद योरभेदोक्तिः अभेदरूपा तस्याः प्रियवादामृतकूपकण्ठेति रूपकसंसृष्टिः ॥ ५० ॥

नल ने बाहु के अग्रभाग पर उत्पन्न होने वाले रक्त कमल अर्थात् करतल से हंस को सहलाते हुए उसकी प्रसन्नता के लिए प्रियवाद रूपी अमृत के कूप रूपी कण्ठ से उत्पन्न मृदु वाणी बोले ।

यहाँ उपमान (कोकनद) के द्वारा उपमेय (करतल) निगीर्ण है अतः अतिशयोक्ति है तथा प्रियवाद में अमृतत्व तथा कण्ठ में कूपत्वारोप होने से रूपक है, दोनों की संसृष्टि है ।।५०।।

न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचो वर्त्मनि ते सुशीलता ।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा ।। ५१ ।।

न तुलेति । हे हंस ! तव आकृतिः आकारः तुलाविषये सादृश्यभूमौ न वर्त्तते असदृशीत्यर्थः । ते तव सुशीलता सौशील्यं वचोवर्त्मनि न वर्त्तते वक्तुमशक्येत्यर्थः । अत एवाकृतौ गुणाः 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा' इति सामुद्रिकाणां या सारमुद्रणा सिद्धाप्रतिपादनं सा त्वमेवोदाहरणं यस्याः सा तथोक्ता आकृतिसौशील्ययोः त्वय्येव समानाधिकरण्यदर्शनादित्यर्थः । अत एवोत्तरवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः 'हेतोर्वाक्यार्थहेतुत्वे काव्यलिङ्ग मुदाहृतमि'ति लक्षणात् ।। ५१ ।।

हे हंस तुम्हारी आकृति तुलना का विषय नहीं है तथा तुम्हारी सुशीलता वाणी का विषय नहीं हैं, 'जहाँ आकृति हैं वहाँ गुण हैं' इस सामुद्रिक शास्त्र के सारभूत नियम का तुम्हीं उदाहरण हो । (अर्थात् तुम्हारे में आकृति और गुणों का सन्निवेश देखकर सामुद्रिक शास्त्र का यह नियम बना है)

यहाँ उत्तर वाक्यार्थ में पूर्ववाक्यार्थ हेतु है अतः काव्यलिङ्ग है ।। ५१ ।।

न सुवर्णमयो तनुः परं ननु किं वागपि तावकी तथा ।
न परं पथि पक्षपातिताऽनवलम्बे किमु मादृऽशेपि सा ।। ५२ ।।

न सुवर्णेति । ननु हे हंस ! तवेयं तावकी 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् चे'ति चकारादण् प्रत्यये ङीप् 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः । तनुः परं मूर्तिरेव सुवर्णमयी हिरण्मयी न किन्तु वागपि तथा सुवर्णमयी शोभनाक्षरमयीत्यर्थः । अनवलम्बे निरवलम्बे पथि परमाकाश एव पक्षपातिता पक्षपातित्वं किमु किं वेत्यर्थः । निपातानामनेकार्थत्वात् । अनवलम्बे निराधारे मादृशेऽपि सा पक्षपातिता स्नेहवत्तेत्यर्थः । अत्र तनुवाचोः प्रकृताप्रकृतयोः सुवर्णमयीति शब्दश्लेषः एवं पथि मादृशेऽपि पक्षपातितेति सजातीयसंसृष्टिः, तया चोपमा व्यज्यते ।। ५२ ।।

हे हंस ! तुम्हारा यह शरीर ही केवल सुवर्णमय (स्वर्णमय) नहीं है,

किन्तु तुम्हारी वाणी भी सुवर्णमयी (सुन्दर वर्णों वाली) है और तुम्हारी पक्षपतिता (पक्षों से गमन करने का स्वभाव) निरालम्ब मार्ग (अन्तरीक्ष) में ही केवल नहीं है, किन्तु वह पक्षपतिता (अपने वर्ग का पक्ष करना) मुझ जैसे निराश्रित में भी है।

यहाँ सुवर्णमयी तथा पक्षपतिता में श्लेष है; दो सजातीय (श्लेष) की संसृष्टि है, उससे उपमा व्यङ्ग्य है। अतः अलंकार ध्वनि है ॥ ५२ ॥

भृशतापभृता मया भवान्मरुदासादि तुषारसारवान् ।
धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधिः ॥ ५३ ॥

भृशेति। भृशतापभृता अतिसन्तापभाजा मया भवांस्तुषारैः शीकरैः सारवानुत्कृष्टो मरुत् मारुतः सन् आसादि सन्तापहरत्वादिति भावः। तथा हि—धनिनां धनिकानां कुबेरादीनामितरः पद्मशङ्खादिः संश्चासौ निधिश्चेति सन्निधिः, सतां विदुषां पुनः गुणवतां सन्निधिः सान्निध्यमेव सन्निधिः महानिधिः। सन्तापहारित्वात् त्वमेव शिशिरमारुतः, अन्यतस्तु दहन एवेति भावः। दृष्टान्तालंकारः लक्षणं तूक्तम् ॥ ५३ ॥

हे हंस ! अतिशय कामज्वर से संतप्त मैंने हिम के सार से युक्त वायुरूप आप को प्राप्त किया है। धनवानों का इससे भिन्न (अर्थात् तुच्छ द्रव्यों का ही) विधिवत् निधि=खजाना होता है, किन्तु सज्जनों का गुणवानों का समागम ही सन्निधि (सम्यक्-निधि) है, दूसरा नहीं।

यहाँ हंस में वायुत्वारोप है, अतः रूपक है तथा सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है। सन्निधि में बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने से दृष्टान्त है ॥ ५३ ॥

शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिर्मम ।
अधुना तव शंसितेन तु स्वदृशैवाधिगतामवैमि ताम् ॥ ५४ ॥

शतश इति। त्रिजगतः त्रैलोक्यस्य मोहे सम्मोहने महौषधिः महौषधमिति रूपकम्। सा दमयन्ती शतशो मम श्रुतिं श्रोत्रमागतैव अधुना तव शंसितेन कथनेन तु स्वदृशा मम दृष्ट्यैवाधिगतां दृष्टामवैमि साक्षाद् दृष्टां मन्ये। आप्तोक्तिप्रामाण्यादिति भावः ॥ ५४ ॥

तीनों लोकों को मोहित (वशीभूत) करने में महौषधी (सम्मोहिनी

विद्या) रूप वह दमयन्ती सैकड़ों बार हमारे सुनने में आई ही है, अब तुम्हारे इस कथन से तो उसे अपने आखों से ही देखी गयी समझ रहा हूँ।

यहाँ दमयन्ती में महौषधी का आरोप होने के कारण रूपकालंकार है तथा सुनी हुई दमयन्ती को प्रत्यक्ष देखी हुई मान रहा है अतः भाविक अलंकार है, अतः दोनों की संसृष्टि है ॥ ५४ ॥

अखिलं विदुषामनाविलं सुहृदा च स्वहृदा च पश्यताम् ।
सविधेऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रमक्षिणी ॥ ५५ ॥

अथ स्वदृष्टेरप्याप्तदृष्टिरेव गरीयसीत्याह—अखिलमिति । सुहृदा आप्तमुखेन स्वहृदा स्वान्तःकरणेन च सुहृद् ग्रहणं तद्वत्सुहृदः श्रद्धेयत्वज्ञापनार्थमखिलं कृत्स्नमर्थमनाविलमसन्दिग्धम् अविपर्यस्तं यथा तथा पश्यतामवधारयतां विदुषां विवेकिनां सविधे पुरोऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी असूक्ष्मार्थदर्शिनी 'सुप्सुपे'ति समासः । अक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रं न तु दूरसूक्ष्मार्थदर्शनोपयोगिनीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

मित्र के द्वारा और अपने मन से समस्त वस्तुओं को सन्देह तथा विपर्यय रहित देखने वाले विद्वानों के समीपस्थ सूक्ष्मवस्तुओं (नेत्रगत कज्जल आदि) को भी न देखने वाले दोनों नेत्र केवल मुख का अलंकार मात्र हैं। (पक्षान्तर में वदनालङ्कृतिमात्रम् वद + न + अलङ्कृतिमात्रम्, इस पदच्छेद से अर्थ होगा-बोलो क्या अलंकार मात्र नहीं हैं, अर्थात् अलंकार मात्र ही हैं। (अर्थात् जो नेत्र द्वय स्वगत कज्जल या लालिमा को भी नहीं देख सकते, वे दूरस्थ वस्तु को क्या देख सकेंगें। यहाँ सुहृद शब्द का प्रथम उपादान होने से अपने हृदय की अपेक्षा मित्र की प्रधानता द्योतित होती है। मित्र के द्वारा देशान्तर तथा कालान्तर की वस्तु भी देखी या जानी जा सकती है। इससे सिद्ध होता कि प्रत्यक्ष की अपेक्षा आगम तथा अनुमान प्रमाण प्रबल हैं।)

यहाँ साहित्य विद्याधरी के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार है। परन्तु हमारी दृष्टि से नेत्रों के अलंकार मात्र कहने में, समीपस्थ सूक्ष्म वस्तु को न देख सकना कारण है, अतः काव्यलिङ्ग है ॥ ५५ ॥

अमितं मधु तत्कथा मम श्रवणप्राघुणकीकृता जनैः ।
मदनानलबोधनेऽभवत् खग धाय्या धिगधैर्यधारिणः ॥ ५६ ॥

अमितमिति । हे खग ! जनैः विदर्भागतजनैः मम श्रवणप्राघुणकीकृता कर्णातिथीकृता तद्विषयीकृतेत्यर्थः । 'आवेशिकः प्राघुणक आगन्तुरतिथिस्तथे'ति हलायुधः । अमितमपरिमितं मधु क्षौद्रं तद्वदतिमधुरेत्यर्थः । तत्कथा तद्गुणवर्णना अधैर्यधारिणोऽत्यन्ताधीरस्य मम मदनानलबोधने मदनाग्निप्रज्वलने धाय्या सामिधेनी भवेत् 'ऋक् सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धने' । इत्यमरः । 'पाय्यसान्नाय्ये' त्यादिना निपातः । धिक् वाक्यार्थो निन्द्यः । अत्र तत्कथायाः धाय्यात्मना प्रकृतमदनाग्नीन्धनोपयोगात् परिणामालंकारः, 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम' इत्यलंकारसर्वस्वकारः ॥ ५६ ॥

हे हंस ! लोगों के द्वारा कानों की अतिथि बनायी गयी अर्थात् सुनी गयी उस दमयन्ती की अनुपम मधुरुप (प० अपरिमित मधु तुल्य) कथा हमारे कामाग्नि के उद्दीपन में धाय्या नामक (अग्नि प्रज्ज्वलन करने में समर्थ) ऋचा बन जाती है, अतः मुझ जैसे अधीर पुरुषों को धिक्कार है। (पक्षा० अधीर हमारे कामाग्नि······बन जाती है, अतः मुझे धिक्कार है।)

यहाँ प्राकरणिक मदनाग्नि के उद्दीपन में दमयन्ती की कथा का धाय्या रुप से उपयोग है, अतः परिणामालंकार है। कथा में मधु का आरोप है अतः रुपक है, पूरे वाक्यार्थ में अतिशयोक्ति है; इन सभी का संकर है। साहित्यविद्याधारी के अनुसार अर्थान्तरन्यास का भी संकर है ॥ ५६ ॥

विषमो मलयाहिमण्डलीविषफूत्कारमयो मयोहितः ।
बत कालकलत्रदिग्भवः पवनस्तद्विरहानलैधसा ॥ ५७ ॥

विषम इति । विषमः प्रतिकूलः कालकलत्रदिग्भवः यमदिग्भवः प्राणहर इति भावः, पवनो दक्षिणमारुतः तद्विरहानलैधसा दमयन्तीविरहाग्निसमिधा तद्दाह्येनेत्यर्थः । मया मलये मलयाचले या अहिमण्डली सर्पसङ्घः तस्याः विषफूत्कारमयऊहितस्तद्रूप इति तर्कित इत्यर्थः । लोके च 'अग्निरेधांसि फूत्कारवातैर्भायत' इति भावः । बतेति खेदे । विरहानलैधसेतिरूपकोत्थापितेयं दक्षिणपवनस्य मलयाहिमण्डलीफूत्कारत्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ५७ ॥

हे हंस ! दमयन्ती के विरहरूप अग्नि का इन्धनरूप मैं काल (यम) की पत्नीरूपी दिशा (दक्षिण दिशा) की वायु को मलयाचल पर रहने वाली सर्पों की मण्डली के विष का फूत्कार स्वरूप (इसलिए) विषम (विषतुल्य)

(या विष देने वाला) समझा हूँ। (यहाँ कालकलत्रदिग्भवः शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ है कि सभी प्राणियों का नाश करने वाला जो काल, उसकी पत्नी में उत्पन्न। अर्थात् उसका जो पुत्र होगा वह विष के तुल्य या विष दाता होगा ही)। (फूत्कार मे प्रदीप्त की हुई अग्नि जैसे काष्ठ को जलाती है वैसे ही मलयवायु से प्रदीप्त की हुई विरहाग्नि हमें जलाती है) (मलयाचल पर चन्दन अधिक होता है, अतः वहाँ सर्प भी अधिक रहते हैं)

यहाँ नल में विरहानल की लकड़ी का आरोप है अतः रूपक है; उसमें दक्षिण पवन में सर्पमण्डली के फूत्कार की उत्प्रेक्षा की गई, अतः सङ्करालङ्कार है। "विषफूत्कारमय है अतः विषतुल्य है", इसलिए काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ५७ ॥

प्रतिमासमसौ निशाकरः खग ! सङ्गच्छति यद्दिनाधिपम्।
किमु तीव्रतरैस्ततः करैर्मम दाहाय स धैर्यतस्करैः ? ॥ ५८॥

प्रतिमासमिति। असौ निशाकरो मासि मासि प्रतिमासम्प्रतिदर्शमित्यर्थः. वीप्सायामव्ययीभावः। दिनाधिपं सूर्यं सङ्गच्छति प्राप्नोतीति यत्ततः प्राप्तेः स निशाकरः तीव्रतरैरत एव धैर्यतस्करैर्मम धैर्यहारिभिः करैः सौरैः तत आनीतैः मम दाहाय सङ्गच्छतीत्यनुषङ्गः. किमुशब्द उत्प्रेक्षायाम्। अत्र सङ्गमनस्य दाहार्थत्वोत्प्रेक्षणात् फलोत्प्रेक्षा ॥ ५८ ॥

हे हंस ! यह चन्द्रमा जो प्रतिमास सूर्य के पास जाता है, वह सूर्य के सङ्ग से प्राप्त अतितीक्ष्ण एवं धैर्य के नष्ट करने वाले किरणों से मुझे जलाने के लिए क्षम होता है क्या ? (या जलाने के लिए जाता है क्या ?) (यहां चन्द्रमा तो स्वयं विरहियों को जलाता है, उसमें सूर्य की तीक्ष्णता लाकर जलाने की उत्प्रेक्षा की गई है) (दूसरा भी जो स्वयं अपकार करने में असमर्थ होता है, वह दूसरे की सहायता से अपकार करता है।)

यहां प्रतिमास अमावास्या को चन्द्रमा सूर्य के साथ रहते ही है, उस सङ्गति में जलाने के लिए तीक्ष्ण किरण लाने के लिए जाने की उत्प्रेक्षा की गई है, अतः फलोत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ५८ ॥

कुसुमानि यदि स्मरेषवो न तु वज्रं विषवल्लिजनानि तत्।
हृदयं यदमूमुहन्नमूर्मम यच्चातितमामतीपन् ॥ ५९ ॥

कुसुमानीति । स्मरेषवः कुसुमान्येव यदि न तु वज्रमशनिः सद्योमरणाभावादिति भावः । तत्तथा अस्तु किन्तु विषवल्लिजानि विषलतोत्पन्नानि । यद्यस्मादमूः स्मरेषवः 'पत्री रोप इषुर्द्वयोरि'ति स्त्रीलिङ्गता, मम हृदयममूमुहन् अमूर्च्छयन् मुह्यतेर्णौ चङ्, यद्यस्मादतितमामतिमात्रमव्ययादाम्प्रत्ययः । अतीतपन् तापयन्तिस्म, तपतेर्णौ चङ् मोहतापलक्षणविषमकार्यदर्शनाद्विषवल्लिजत्वोत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

यदि काम के बाण फूल हैं, वज्र नही हैं तो वे विषलता से उत्पन्न हैं । क्योंकि ये कामवाण मेरे हृदय को अत्यन्त मूर्च्छित और अति सन्तप्त कर दिये हैं । (अथवा—मेरे लिए वे काम बाण वज्र ही हैं, फूल नहीं हैं । यदि कोई कहे कि आप लोक प्रसिद्धि के विरुद्ध कह रहे हैं तो वे अगर फूल हैं, तो विष-लता से उत्पन्न हैं । विषलता से उत्पन्न होने में हेतु दे रहा है—क्योंकि ये काम-वाण······कर दिये हैं) । (विना विष-लता से उद्भूत हुए पुष्पों में अत्यन्त मोहकत्व या सन्तापकारिता सम्भव नहीं है अतः विषलता से ही उत्पन्न हैं) ।

यहाँ मोह तथा ताप रूप विषम कार्य देखने से फूलों के विष लता से उत्पत्ति की उत्प्रेक्षा की गयी है, अतः उत्प्रेक्षालङ्कार है ॥५९॥

तदिहानवधौ निमज्जतो मम कन्दर्पशराधिनीरधौ ।
भव पोत इवावलम्बनं विधिनाऽकस्मिकसृष्टसन्निधिः ॥ ६० ॥

तदिति । तत्तस्मादिहास्मिन्ननवधौ अपारे कन्दर्पशरैर्य आधिर्मनोव्यथा 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथे'त्यमरः । तस्मिन्नेव नीरधौ समुद्रे निमज्जतो अन्तर्गतस्य मम विधिना दैवेनाकस्मादकाण्डे भवमाकस्मिकमध्यात्मादित्वात् ठक्, अव्ययानाम्भ मात्रे टिलोपः तद्यथा तथा सृष्टसन्निधिः सन्निधानं भाग्यादागतः इत्यर्थः । त्वं पोतो यानपात्रमिव 'यानपात्रन्तु पोत' इत्यमरः । अवलम्बनं भव ॥६०॥

हे हंस ! इस निःसीम कामवाण से उत्पन्न मनोव्यथा रूप समुद्र में डूबते हुए मेरे दैववश अकस्मात् समीप में उपस्थित हुए आप जहाज के समान अवलम्बन होवें । (जैसे अपार समुद्र में डूबने वाले किसी का, दैववश उपस्थित जहाज उसके रक्षा का आलम्बन होता है वैसे काम-वाण-

जन्य मनोव्यथा रूपी सागर में डूबते हुए मेरे पास अकस्मात् उपस्थित आप भी दमयन्ती के समागम रूप कार्य में सहायता करके हमारी रक्षा में आलम्बन होवें)।

यहाँ शराधि को नीरधि बनाया गया है अतः रूपक है। 'पोत' इव में उपमा है अतः सङ्करालङ्कार है ॥६०॥

अथवा भवतः प्रवर्त्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टि नः ?।
स्वत एव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता ॥ ६१ ॥

अथवेति। अथवा इयं नोऽस्माकं सम्बन्धिनी 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति नियमात् कर्त्तरि कृद्योगे षष्ठीनिषेधेऽपि शेषषष्ठीपर्यवसानात् कर्त्रर्थलाभः। भवतः 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति षष्ठी, प्रवर्त्तना प्रेरणा 'ण्यासश्रन्थो युच्', कथं पिष्टं न पिनष्टि ? स्वतः प्रवृत्तिविषयत्वात् पिष्टपेषणकल्पेत्यर्थः। हि यस्माद् ग्रहणानां ज्ञानानां यथार्थता याथार्थ्यं यथा प्रामाण्यमिव स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिव 'गृह्यतां जाता मनीषा स्वत एव मानमि'ति मीमांसकाः। सतां परार्थता परार्थप्रवृत्तिः स्वत एव न तु परतः। उपमासंसृष्टोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६१ ॥

अथवा "तुम हमारे अवलम्बन होवो" इस तरह की तुम्हारे लिए हमारी प्रेरणा पिष्ट का पेषण मात्र नहीं करती क्या ? अर्थात् करती ही है, अतः व्यर्थ है। क्योंकि वैसे सज्जनों की परोपकारिता स्वतः होती है। (जैसे ज्ञानों का स्वतः प्रामाण्य होता है) (१क्षा०—शब्दों का जैसे स्वतः अनुगतार्थता होती है, जैसे वृक्ष शब्द कहने से मूल, शाखा, पत्र आदि प्रत्यक्ष के समान स्फुरित होते हैं वैसे ही सज्जनों के नाममात्र ग्रहण करने से उनकी परोपकारिता स्फुरित होती है) जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—"एक सत्पुरुष वे होते हैं जो स्वार्थ का परित्याग कर परोपकर करते हैं" आदि।)

यहाँ यथा शब्द से उपमा, "स्वत एव सतां परार्थता" इस सामान्य वाक्य से हंस के स्वतः परोपकारिता का (विशेष) समर्थन है अतः अर्थान्तरन्यास है; यथार्थता, परार्थता में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है अतः दृष्टान्त तथा सज्जनों की स्वतः परार्थता में ज्ञानों की यथार्थता निदर्शन है अतः निदर्शनालङ्कार भी है, अतः सङ्करालङ्कार है ॥ ६१ ॥

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अपि साधय साधयेप्सितं स्मरणीया समये वयं वयः ॥ ६२ ॥

तवेति । हे वयः ! तव वर्त्मनि शिवं मङ्गलं वर्त्ततां, त्वरितं क्षिप्रमेव पुनः समागमोऽस्तु, अपि साधय गच्छ, ईप्सितमिष्टं साधय सम्पादय समये कार्यकाले वयं स्मरणीयाः । अनन्यगामि कार्यं कुर्या इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

मार्ग में तुम्हारा कल्याण हो । पुनः (कार्य में सफल हुये) तुम्हारा शीघ्र समागम हो । हे हंस दमयन्ती प्राप्तिरूप हमारी अभिलाषा को सिद्ध करो २ । (अथवा—जाओ अभिमत कार्य की सिद्धि करो) हे पक्षिन्! समय पर मेरा स्मरण करना (अर्थात् दमयन्ती जब एकान्त में हो तब उसमें अभिलाषा जगाने के लिए हमारा वर्णन करना । अथवा—किसी प्रतिबन्ध की आशङ्का के समय कार्यसिद्धि के लिए हम वैन्य नल आदि का स्मरण करना ।)

यहाँ दण्डी के अनुसार अभिमत वस्तु की आशंसा है अतः "आशीः" नामक अलङ्कार है ।

इति तं स विसृज्य धैर्य्यवान्नृपतिः सूनृतवाग्बृहस्पतिः ।
अविशद्वनवेश्म विस्मितः श्रुतिलग्नैः कलहंसशंसितैः ॥ ६३ ॥

इतीति । धैर्यवानुपालाभात् सधैर्यः सूनृतवाक् सत्यप्रियवादेषु बृहस्पतिः तथा प्रगल्भ इत्यर्थः । 'सूनृतं च प्रिये सत्यमि'त्यमरः । स नृपतिरितीत्थं हंसं विसृज्य श्रुतिलग्नैः श्रोत्रप्रविष्टैः कलहंसस्य शंसितैर्विस्मितः सन् वनवेश्म भोगगृहमविशत् ॥ ६३ ॥

इस तरह धैर्ययुक्त तथा प्रिय एवं सत्य बोलने में बृहस्पति के समान उस राजा नल ने उस हंस को भेजकर स्मृति में आए हुए गम्भीर हंस के भाषण से विस्मित होता हुआ उद्यान गृह में प्रवेश किया ।

यहाँ बृहस्पति के समान-इस अर्थ में उपमा है। बृहस्पतित्व का आरोप किया जाय तो रूपक है । सा. वि. के अनुसार दीपक और अतिशयोक्ति है ॥

अथ भीमसुतावलोकनैः सफलं कर्त्तुमहस्तदेव सः ।
क्षितिमण्डलमण्डनायितं नगरं कुण्डिनमण्डजो ययौ ॥ ६४ ॥

अथेति । अथ सोऽण्डजो हंसः तदहरेव भीमसुतायाः भैम्या अवलोकनैः

सफलं कर्तुं तस्मिन्नेव दिने तां द्रष्टुमित्यर्थः। क्षितिमण्डलस्य मण्डनायित-मलङ्कारभूतं कुण्डिनं कुण्डिनाख्यनगरं ययौ ॥ ६४ ॥

(राजा के द्वारा विसर्जित होने के) अनन्तर वह हंस दमयन्ती के दर्शन से उसी दिन को सफल बनाने के लिए भूमण्डल का अलङ्कार भूत कुण्डिन नामक नगर को गया। ("उसी दिन को सफल बनाने के लिए" इससे सूचित होता है कि क्षणभर भी विलम्ब नहीं किया, इससे उसकी परोपकारिता प्रकट होती है।)

यहाँ "मण्डनायितम्" में उपमा अलङ्कार है। "मण्डलमण्ड" में अनुप्रास है ॥ ६४ ॥

प्रथमं पथि लोचनातिथिं पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनम्।
कलसं जलसंभृतः पुरः कलहंसः कलयाम्बभूव स ॥ ६५ ॥

अथ श्लोकत्रयेण शुभनिमित्तान्याह-प्रथमित्यादिना। सः कलहंसः प्रथममादौ पथि मार्गे लोचनातिथिं दृष्टिप्रियं पथिकानां पस्थातृणां प्रार्थितस्य इष्टार्थस्य सिद्धिशंसिनं सिद्धिसूचकं जलसम्भृतं जलपूर्णं कलसं पूर्णकुम्भं पुरोऽग्रे कलयांबभूव ददर्श ॥ ६५ ॥

यहाँ से तीन श्लोकों में हंस के प्रस्थान के समय शकुन का वर्णन करते हैं—उस राजहंस ने पहले मार्ग में पथिकों के अभीष्ट सिद्धि की सूचना देने वाले जल से परिपूर्ण घट को आगे अपने लोचन का अतिथि बनाया अर्थात् देखा। (अतिथि शब्द का तात्पर्य है कि अकस्मात् उपस्थित शकुन जैसा फल दायक होता है, वैसा प्रयत्नपूर्वक किया हुआ नहीं होता)

यहाँ पथिक प्रार्थित इत्यादि में अनुप्रास अलङ्कार है। सा० वि० के अनुसार उपमा भी है ॥ ६५ ॥

अवलम्ब्य दिदृक्षयाऽम्बरे क्षणमाश्चर्यरसालसं गतम्।
स विलासवनेऽवनीभृतः फलमैक्षिष्ठ रसालसंगतम् ॥ ६६ ॥

अवलम्ब्येति। स हंसो दिदृक्षया स्वगन्तव्यमार्गालोकनेच्छया अम्बरे क्षणमाश्चर्यरसेन तद्वस्तुदर्शननिमित्तेन अद्भुतरसेन अलसं मन्दं गतं गतिमवलम्ब्य अवनीभुजो नलस्य विलासवने विहारवने रसालेन चूतवृक्षेण सङ्गतं सम्बद्धम्, आम्रश्चूतो रसालोऽसा' वित्यमरः, फलमैक्षिष्ट दृष्टवान् ॥ ६६ ॥

उस हंस ने एक क्षण मार्ग देखने की इच्छा से (सुन्दर उद्यान देखने से उत्पन्न[2]) आश्चर्य रस से, आकाश[1] में अलसाई हुई (मन्द) गति का अवलम्बन कर राजा नल के विलास वन में आम के वृक्ष में लगे हुए फल को देखा।

(यात्रा के समय फलमात्र का देखना शुभप्रद होता है, आम के लिए तो कहना ही क्या। आम का दर्शन कार्य सिद्धि का सूचक है) यहाँ अलसाई हुई गति का अवलम्बन करना पक्षियों का स्वभाव होने से 'स्वभावोक्ति' अलंकार है तथा रसालसङ्गतम् में मन्दष्ट नामक यमकालंकार है ॥ ६६ ॥

नभसः कलभैरुपासितं जलदैर्भूरितरक्षुपन्नगम् ।
स ददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटपच्छन्नतरक्षुपन्नगम् ॥ ६७ ॥

नभस इति। पुमान् गौः वृषभः विशेषणसमासः, 'गोरतद्धितलुगि'ति समासान्तष्टच् स इव पतङ्गपुङ्गवः पक्षिश्रेष्ठः उपमितसमासः, नभसः कलभैः खेचरकरिकल्पैरित्यर्थः। जलदैरुपासितं व्याप्तं भूरयः बहवस्तरक्षवो मृगादनाः पन्नगा यस्य तं विटपैः शाखाविस्तारैण, 'विस्तारो विटपोऽस्त्रियामि' त्यमरः छन्नतराः अतिशयेन छादिताः क्षुपा ह्रस्वशाखाः, 'ह्रस्वशाखाशिफः क्षुप' इत्यमरः। नगं पर्वतं ददर्श 'पूर्णकुम्भादिदर्शनं पान्थक्षेमकरमि'ति निमित्तज्ञाः ॥ ६७ ॥

उस पक्षिश्रेष्ठ हंस ने आकाश के कलभ (करिशावक) रूप मेघों से सेवित तथा अधिकतर छोटी २ शाखा वाले वृक्ष से युक्त पर्वत को देखा। तथा शाखाओं से तरक्षु (लकड़बग्घा = जानवर विशेष) और सर्पों को छिपाने वाले वृक्षों को देखा। (यहाँ कलभ दर्शन शकुन है, इसलिए बादलों को कलभरूप से कहा तथा तरक्षु सर्प आदि का दर्शन अशकुन है, इसलिए इनको शाखाओं में छिपाया गया है।)

यहाँ भी "तरक्षुपन्नगम्" २ में संदष्ट नामक यमक है तथा अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ६७ ॥

स ययौ धुतपक्षतिः क्षणं क्षणमूर्ध्वायनदुर्विभावनः ।
विततीकृतनिश्चलच्छदः क्षणमालोककदत्तकौतुकः ॥ ६८ ॥

स इति। स हंसः क्षणं धुतपक्षतिः कम्पितपक्षमूलः क्षणम् ऊर्ध्वायनेन ऊर्ध्वगमनेन दुर्विभावनो दुष्करावधारणो दुर्लक्ष इत्यर्थः। विततीकृतो विस्ता-

रीकृतौ निश्चलौ छदौ पक्षौ यस्य सः, तथा क्षणमालोककानां द्रष्टॄणां दत्तकौतुकः सन् ययौ। स्वभावोक्तिः ॥ ६८ ॥

वह हंस एक क्षण पक्षमूलों को कँपाता हुआ, एक क्षण ऊपर चले जाने मे दुर्लक्ष्य (दुःख से देखने योग्य) होता हुआ तथा किसी क्षण फैलाने से निश्चल पक्षों वाला, अतएव देखने वालों को कौतुक देता हुआ गया।

यहाँ 'गया' इस क्रिया में अनेक कारकों का अन्वय है, अतः दीपक तथा पक्षी का स्वभाव वर्णन होने से स्वभावोक्ति का सङ्कर है ॥ ६८ ॥

तनुदीधितिधारया रयाद्गतया लोकविलोकनामसौ।
छदहेम कषन्निवालसत् कषपाषाणनिभे नभस्तले ॥ ६९ ॥

तन्विति। असौ हंसो रयाद्धेतोः उत्पन्नयेति शेषः। लोकस्य आलोकिजनस्य परीक्षकजनस्य च विलोकनां दर्शनं गतया कौतुकाद्वर्णपरीक्षां च विलोक्यमानयेत्यर्थः। तनोः शरीरस्य तन्वा सूक्ष्मया च दीधितिधारया रश्मिरेखया निमित्तेन कषपाषाणनिभे निकषोपलसन्निभे नभस्तले छदहेम निजपक्षसुवर्णं कषन् घर्षन्निवालसत् अशोभतेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६९ ॥

वह हंस लोगों के द्वारा देखे जाते हुए शरीर की (प०-वेग पूर्वक गमन से कृश) कान्ति के प्रवाह से कसौटी तुल्य गगन में अपने पक्ष के सुवर्ण को (शुद्धाशुद्धि परीक्षण के लिए) घिसता हुआ-सा सुशोभित हुआ।

यहाँ "घिसता हुआ-सा" में उत्प्रेक्षा तथा "कसौटी के सदृश" में उपमा अलङ्कार है ॥ ६९ ॥

विनमद्भिरधः स्थितैः खगैर्झटिति श्येननिपातशङ्किभिः।
न निरैक्षि दृशैकयोपरि स्यदसांकारिपतत्रिपद्धतिः ॥ ७० ॥

विनमद्भिरिति। स्यदेन वेगेन सांकारिणी सामिति शब्दं कुर्वाणा पतत्रिपद्धतिः पक्षसरणिर्यस्य स हंसः श्येननिपातं शङ्कन्त इति तच्छङ्किभिः अतएव विनमद्भिर्विलीयमानैरधःस्थितैः खगैः झटिति द्राक् एकया दृशा उपरि निरैक्षि निरीक्षितः। कर्मणि लुङ्। स्वभावोक्तिः ॥ ७० ॥

वेग से झन झन करती हुई पक्षसरणी वाला वह हंस (हंस की अपेक्षा) नीचे उड़ने वाले, श्येन निपात की (बाज के झपटने की) शङ्का करने वाले, अतएव विनम्र हुए (नीचे उतरने वाले) पक्षियों के द्वारा एक दृष्टि डालकर ऊपर देखा गया।

यहाँ ऊपर एक आँख से देखने में श्येन निपात की शङ्का तथा श्येन निपात की शङ्का में हंस के पक्षों का ज्ञन २ करना कारण है, अतः काव्य लिङ्ग तथा पक्षियोंके स्वभाव का वर्णन होनेसे स्वाभावोक्ति अलंकार है।।७०।।

ददृशे न जनेन यन्नसौ भुवि यच्छायमेवक्ष्य तत्क्षणात् ।
दिवि दिक्षु वितीर्णचक्षुषा पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः ।। ७१ ।।

ददृश इति । यन् गच्छन्, इणो लटः शत्रादेशः, असौ हंसः भुवि तच्छायं तस्य हंसस्य च्छायां 'विभाषा सेने'त्यादिना नपुंसकत्वम् । अवेक्ष्य तत् क्षणात् प्रथमं दिशि पश्चात् दिक्षु च वितीर्णचक्षुषा दत्तदृष्टिना जनेन पृथुवेगेन द्रुतं शीघ्रं मुक्तदृक्पथः सन् न ददृशे न दृष्टः। क्षणमात्रेण दृष्टिपथमतिक्रान्त इत्यर्थः ।। ७१ ।।

पृथ्वी पर इस हंस की छायाको देखकर (उसको देखने के लिए) उसी क्षण आकाश एवं दिशाओं में दृष्टि डालने वाले लोगों ने, अत्यन्त वेग से गमन करने के कारण शीघ्र ही दृष्टिपथ से ओझल हुए उस हंस को नहीं देखा। (उड़ते हुए उस हंसकी पृथ्वीपर पड़ती हुई छाया को देखकर उसे देखने के लिये लोग तत्काल ऊपर आकाशमें तथा सभी दिशाओं में दृष्टि डाले, परन्तु अत्यन्त वेग से जाने के कारण बहुत दूर निकल गये उस हंस को नहीं देख सके।)

यहाँ दृष्टि पथ से ओझल होने में अतिशय वेग कारण है, इसलिए काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। सा. वि. के अनुसार यहाँ पुनरुक्तवदाभास भी है। परन्तु विभिन्न आकार वाले, आपाततः एक अर्थ का आभास कराने वाले शब्दों के अभाव मे पुनरुक्तवदाभास होता ही नहीं है।। ७१।।

न वनं पथि शिश्रियेऽमुना क्वचिदप्युच्चतरद्रुचारुतम् ।
न सगोत्रजमन्ववादि वा गतिवेगप्रसरद्रुचा रुतम् ।। ७२ ।।

नेति । गतिवेगेन प्रसरद्रुचा प्रसर्पत्तेजसा अमुना हंसेन क्वचिदपि उच्चतराणामत्युन्नतानां द्रूणां द्रुमाणां चारुता रम्यता यस्मिंस्तत् वनं न शिश्रिये। सगोत्रजं बन्धुजन्यं रुतं कूजितं वा नान्वादि नानूदितम् । मध्यमार्गे अध्वश्रमापनोदनं बन्धुसम्भाषणादिकमपि न कृतमिति सुहृत्कार्यानुसन्धानपरोक्तिः। 'पलाशो द्रुद्रुमागमा' इत्यमरः ।। ७२ ।।

गति के वेग से फैलती हुई कान्ति वाले उस हंस ने मार्ग में कहीं भी ऊँचे २ वृक्षों से सुशोभित वन मे विश्रम नहीं किया और न तो अपने जाति वाले हंसो के शब्दों का अनुवाद ही किया। (अर्थात् उड़ते हुए उसे देख कर दूसरे हंसो के बोलने पर भी नहीं बोला) (मार्ग में सुन्दर वनों में रुक जाना तथा सजातीय पक्षियों से भाषण करना आदि पक्षियों का स्वभाव होता है, परन्तु विलम्ब होने के भय से हंस ने इन दोनों कामों को नहीं किया, इससे हंस का गमन में आदर सूचित होता है।)

यहाँ 'रुचारुतम्' २ में यमक अलङ्कार है ॥ ७२ ॥

अथ भीमभुजेन पालिता नगरी मञ्जुरसौ धराजिता।
पतगस्य जगाम दृक्पथं हरशैलोपमसौधराजिता ॥ ७३ ॥

अथेति। धराजिता भूमिजयिना 'सत्सूद्विषे' त्यादिता क्विपि तुक् भीमस्य भीमभूपस्य भुजेन पालिता हिमशैलोपमैः सौधैः राजिता मञ्जुर्मनोज्ञा असौ पूर्वोक्ता नगरी कुण्डिनपुरी पतगस्य हंसस्य दृक्पथं जगाम, स तां ददर्शेत्यर्थः। अत्र यमकाख्यानुप्रासस्य हिमशैलोपमेति, उपमायाश्च संसृष्टिः ॥ ७३ ॥

अनन्तर पृथ्वी को जीतने वाले राजा भीम के भुजा से पालित तथा कैलाश पर्वत के सदृश (ऊँची-ऊँची तथा चूना पोतने से श्वेत) अट्टालिकाओं से सुशोभित उस कुण्डिन नाम की सुन्दर नगरी को हंस ने देखा।

यहाँ 'हरशैलोपम' में उपमा, 'धराजिता' २ में यमक, "भीम भुज" में अनुप्रास होने से संसृष्टि है। यहाँ सौधराजिता, असौधराजिता कैसे होगी, यह विरोध है, असौ पृथक् पद है, नगरी का विशेषण है, अतः विरोध का परिहार हो जाता है, इस तरह यहाँ विरोधाभास भी है ॥ ७३ ॥

दयितं प्रति यत्र सन्ततं रतिहासा इव रेजिरे भुवः।
स्फटिकोपलविग्रहा गृहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः ॥ ७४ ॥

तां वर्णयति—दयितमिति। यत्र नगर्यां स्फटिकोपलविग्रहाः स्फटिकमय-शरीरा इत्यर्थः। अत एव शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः शशाङ्कशकलनिष्कल-ङ्कानि कुड्यानि येषान्ते 'भित्तं शकलखण्डे वे'त्यमरः, भिदेः क्विप्प्रत्ययः। 'भित्तं शकलमि'त्यादि निपातनात् 'रदाभ्यामि'त्यादिना निष्ठानत्वाभावः। गृहाः दयितं भीमं प्रति सन्ततं भुवः भूमेर्नायिकायाः रतिहासाः केलिहासा इव रेजिरे इत्युत्प्रेक्षा ॥ ७४ ॥

जिस नगरी में स्फटिक मणि से बने हुए तथा चन्द्रमा के टुकड़े के समान निष्कलङ्क (कालिमा रहित) भित्ति वाले गृह, (अपने) प्रियतम (राजा भीम) के प्रति प्रवृत्त पृथिवी (नायिका) के रति कालिक हास के समान सुशोभित होते थे।

यहाँ शशमृद्भित्तनिरङ्क में लुप्तोपमा, रेजिरे आदि में अनुप्रास, रति-हासा इव में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ७४ ॥

नृपनीलमणीगृहत्विषामुपवेर्यत्र भयेन भास्वतः।
शरणासमुवास वासरेऽप्यसदावृत्त्युदयत्तमं तमः ॥ ७५ ॥

नृपेति। यत्र नगर्यां तमोन्धकारः भास्वतो भास्करात् भयेन नृपस्य ये नीलमणीनां गृहाः तेषां त्विषः तासामुपवेश्छलादित्यपह्नवभेदः। 'रत्नं मणि-र्द्वयोरि'त्यमरः। 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीप्। शरणाप्नं शरणं गृहं रक्षितार-मन्वागतं 'शरणं गृहरक्षित्रोरि'त्यमरः। वासरे दिवसेऽप्यसदावृत्ति अपुनरावृत्ति किञ्चोदयत्तममुद्यत्तमं सदुवास ॥ ७५ ॥

जिस नगरी में सूर्य से डरा हुआ (अतएव) शरण के लिए, नीलमणि से बने हुए राजा के घर की (नीली) कान्ति के बहाने अन्धकार दिन में भी आवृत्ति (आने जाने) से रहित (होकर) अत्यन्त उदित होता हुआ निवास करता था। (अन्यत्र रात्रि में ही अन्धकार रहता है, दिन में नहीं। यहाँ रात-दिन सदा रहता है)।

यहाँ इन्द्रनील मणि से निर्मित राजा के घर की नीली कान्ति का निषेध कर अन्धकार की स्थापना की गयी है, अतः अपह्नुति अलङ्कार है तथा अन्धकार के नाशक दिन में भी अन्धकार का नाश न होने से विभावना एवं इन्द्रनील मणि के घर होने से उदात्तालङ्कार है ॥ ७५ ॥

सितदीप्रमणिप्रकल्पिते यदगारे हसदङ्करोदसि।
निखिलान्निशि पूर्णिमा तिथीनुपतस्थेऽतिथिरेकिका तिथिः ॥७६॥

सितेति। सितैः दीप्रैश्च मणिभिः प्रकल्पिते उज्ज्वलस्फटिकनिर्मिते हस-दङ्करोदसि विलसदङ्करोदस्के द्यावापृथिवीव्यापिनीत्यर्थः। यदगारे यस्या नगर्या गृहेष्वित्यर्थः। जातावेकवचनं, निशि निखिलान् तिथीनेकिका एकाकिनी एकैवेत्यर्थः। 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कप्रत्ययः। 'प्रत्ययस्थात्

कात् पूर्वस्ये'तीकारः। पूर्णिमा तिथि राकातिथिः। 'तदाद्यास्तिथयोरि'त्यमरः। अतिथिः सन् उपतस्थे अतिथिर्भूत्वा सङ्गतेत्यर्थः 'उपाद्देवपूजे'त्यादिना सङ्गतिकरणे आत्मनेपदम्। स्फटिकभवनकान्तिनित्यकौमुदीयोगात् सर्वा अपि रात्रयोराकारात्रय इवासन्नित्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ७६ ॥

श्वेत तथा चमकने वाले मणियों से निर्मित तथा (पृथिवी और आकाश के बीच में हँसते हुए, (प्रकाशमान) जिस नगरी के गृहों में रात्रि में केवल पूर्णिमा तिथि ही, सकल (प्रतिपदा आदि) तिथियों की अतिथि बन कर निवास करती थी। (अत्यन्त चमकने वाले स्फटिक मणि से निर्मित घरों की कान्ति से पृथिवी और आकाश का मध्य भाग सदा प्रकाशित रहता था, अतः अन्धकार के न रहने से सदा पूर्णिमा तिथि के निवास की भ्रान्ति होती थी)।

यहाँ सभी तिथियों में पूर्णिमा का सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध की कल्पना की गई है, अतः अतिशोक्ति है। उदात्त सम्पत्ति का वर्णन होने से उदात्त तथा पूर्णिमा में अतिथि के आरोप से रूपक अलंकार है, गृह तथा तिथियों में अतिथि के व्यवहार का समारोप होने से समासोक्ति अलंकार है॥

सुदतीजनमज्जनार्पितैर्घुसृणैर्यत्र कषायिताशया।
न निशाऽखिलयापि वापिका प्रससाद ग्रहिलेव मानिनी ॥ ७७ ॥

सुदतीति। यत्र नगर्यां शोभना दन्ता यासां ताः सुदत्यः स्त्रियः, अत्रापि विधानाभावाद्दत्रादेशश्चिन्त्य इति केचित् 'अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्चे'ति चकारात् सिद्धि रित्यन्ये, सुदत्यादयः स्त्रीषु योगरूढाः, 'स्त्रियां संज्ञायामि'ति दत्रादेशात् साधव इत्यपरे, तदेतत्सर्वमभिसन्धायाह वामनः—'सुदत्यादयः प्रतिविधेया' इति। ता एव जना लोकाः तेषां मज्जनादवगाहादर्पितैः क्षालितैः घुसृणैः कुङ्कुमैः कषायिताशया सुरभिताभ्यन्तरा भोगचिह्नैः कलुषितहृदया च वाप्येव वापिका दीर्घिका ग्रहिला, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धावि'ति विश्वः। तद्वती दीर्घरोषा पिच्छादित्वादिलच् दिवादिः। मानिनीस्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो 'मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' इत्युक्तलक्षणो मानः तद्वती नायिकेव अखिलया निशा निशया सर्वरात्रिप्रसादनेनेत्यर्थः। न प्रससाद प्रसन्नहृदया नाभूत् तादृक् क्षोभादिति भावः॥ ७७ ॥

जिस नगरी में (सुन्दर दाँतवाली) स्त्रियों के स्नान करने से अर्पित

(धुले हुए) अङ्गरागों से कलुषित मध्यभाग वाली (वापी पक्ष में—मैले जलवाली, नायिकापक्ष में—दूषित चित्तवृत्ति वाली या कलुषिता + अशया अर्थात् क्रुद्ध हुई तथा न सोने वाली) वापिका आग्रही (हठी) नायिका के समान सारी रात में भी प्रसन्न (स्वच्छ जल वाली, पक्षा० खुश) नहीं हुई। (जैसे सपत्नी के आलिङ्गन से प्रिय में लगे हुए अङ्ग राग को देखकर क्रुद्ध हुई मानिनी सारी रात प्रार्थना करने पर भी प्रसन्न नहीं होती है, वैसे ही वापिका भी सारी रात में निर्मल न हो सकी।)

यहाँ उपमा एवं उदात्तालंकार है ॥ ७७ ॥

क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया।
मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिबाह्यमीक्ष्यते[1] ॥ ७८ ॥

क्षणेति। निशि निशीथे क्षणं नीरवया एकत्र सुप्तजनत्वादन्यत्र ध्यानस्तिमितत्वान्निःशब्दमाश्रितः प्राप्तः वप्रावलिः योगपट्ट इव अन्यत्र वप्रावलिरिव योगपट्टो यथा सा तयोक्ता यया नगर्या मणिवेश्ममयं तद्रूपं निर्मलमबाह्यमन्तर्वर्ति किमपि अवाङ्मनसगोचरं ज्योतिः प्रभा आत्मज्योतिश्च ईक्ष्यते सेव्यते स्म। अत्र प्रस्तुतनगरीविशेषसाम्यादप्रस्तुतयोगिनीप्रतीतेः समासोक्तिः ॥७८॥

प्राकार की पङ्क्ति रूपी योगपट्ट से ढकी हुई जो नगरी अर्धरात्रि में क्षणमात्र निःशब्द होकर (मौन धारण कर) प्राकार के भीतर, रत्नों से निर्मित गृह रूप निर्मल किसी अवर्णनीय तेज को प्राप्त होती है (पाठान्तर में—देखती है।)

(यहाँ दूसरे अर्थ की भी प्रतीति होती है—जैसे कोई योगिनी अर्धरात्रि में एक क्षण मौन होकर योगपट्ट (योग साधन के लिए एक वस्त्र जिससे साधक अपने को ढक लेता है) से अपने को ढक कर अविद्या आदि दोषों से रहित निर्मल किसी अवर्णनीय आत्म स्वरूप अन्तः ज्योति को पूजती है (या देखती है।)

यहाँ प्रस्तुत नगरी में अप्रस्तुत योगिनी के व्यवहार का आरोप है अतः समासोक्ति अलंकार है, वप्रावलि में योगपट्टका आरोप है अतः रूपक है, नगरी की समृद्धि का वर्णन है अतः उदात्तालकार है, इन सभी का संकर है ॥ ७८ ॥

---

१. 'भिज्यते' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः।

विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुबिम्बितेव या।
परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि ॥ ७९ ॥

विललासेति। या नगरी परिखायाः कपटेन व्याजेन स्फुटं परितो व्यक्तं तथा स्फुरता प्रतिबिम्बेनावलम्बितं मध्ये चागृह्यमाणं चाम्बु यस्मिन् तस्मिन् प्रतिबिम्बाक्रान्तमम्बु परितः स्फुरति प्रतिबिम्बदेशेन स्फुरति तेनैव प्रतिबिम्बादिति भावः क्वचन कुत्रचिज्जलाशयोदरे ह्रदमध्ये कस्यचित् ह्रदस्य मध्य इत्यर्थः। अनुबिम्बता प्रतिबिम्बता द्यौरमरावतीव विललासेत्युत्प्रेक्षा ॥ ७९ ॥

जो नगरी परिखा के व्याज से स्फुट दीखने वाले प्रतिबिम्ब से असम्बद्ध जल वाले किसी जलाशय के मध्यभाग में प्रतिबिम्बित स्वर्ग के समान सुशोभित है। (इस नगरी के चारो तरफ जल से भरी हुई परिखा (खाँई) है, उस परिखा में जल दीखता है, बीच में नगरी दीखती है, कवि उत्प्रेक्षा करता है कि यह परिखा नहीं है, बहुत बड़ा जलाशय है, उसके बीच भाग में मानों स्वर्ग का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, वही नगरी रूप से दीखता है, जहाँ प्रतिबिम्ब नहीं है, वहाँ जल दीखता है।)

यहाँ परिखा का निषेध कर बड़े जलाशय की स्थापना की गई है अतः अपह्नुति है, नगरी में स्वर्ग के प्रतिबिम्ब की उत्प्रेक्षा की गयी है अतः दोनो का संकर है। अर्थात् यह नगरी स्वर्गके समान है ॥ ७९ ॥

व्रजते दिवि यद्गृहावलीचलचेलाञ्चलदण्डताडनाः।
व्यतरन्नरुणाय विश्रमं सृजते हेलिहयालिकालनाम् ॥ ८० ॥

व्रजत इति। यस्यां नगर्यां गृहावलीषु चलाः चञ्चलाः चेलाञ्चलाः पताकाग्राणि ता एव दण्डास्तैः ताडनाः कशाघाता इत्यर्थः। ताः कर्त्र्यो दिवि व्रजते खे गच्छते हेलिहयालेः सूर्याश्वपङ्क्तेः 'हेलिरालिङ्गने रवावि'ति वैजयन्ती। कालानां चोदनां सृजते कुर्वते अरुणाय सूर्यसारथये विश्रमं स्वयं तत्कार्यकरणाद्विश्रान्ति 'नोदात्तोपदेशे' त्यादिना 'घञि वृद्धिप्रतिषेधः। व्यतरन् ददुः। अत्र हेलिहयालेश्चेलाञ्चलदण्डताडनासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः, तेन गृहाणामर्कमण्डलपर्यन्तमौन्नत्यं व्यज्यत इति अलंकारेण वस्तुध्वनिः ॥ ८० ॥

जिस नगरी के गृह समूह पर हिलते हुए पताकों के अग्रभाग रूपी दण्ड (कोड़े) की ताड़नायें, आकाश में जाते हुए सूर्य के घोड़ों को हाँकने वाले

अरुण को विश्राम प्रदान करती हैं। (अर्थात् नगरी के गृह अत्यन्त ऊँचे हैं, उन पर ऊँचीं २ पताकाएँ लगी हुई हैं, वे पताकाएँ हवा से हिल रही हैं, जब सूर्य के रथ के घोड़े वहाँ पहुँचते हैं तब हिलती हुई पताका के अनुभाग उनके शरीर में लगते हैं, अतः वे स्वयं चलने लगते हैं, अरुण को हाँकना नहीं पड़ता, अतः उनको विश्राम मिल जाता है।)

यहाँ चलचेला० तथा हेलिहयालि० आदि में अनुप्रास है तथा पताका की ताड़ना का सूर्य के घोड़ों से सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्ध का वर्णन किया गया है, अतः असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति है। इस अतिशयोक्ति से गृहों की (सूर्यमण्डल–पर्यन्त) अत्युच्चता व्यङ्ग्य है, अतः अलंकार से वस्तु ध्वनि है ॥ ८० ॥

क्षितिगर्भधराम्बरालयैस्तलमध्योपरिपूरिणां पृथक्।
जगतां खलु याऽखिलाद्भुताऽजनि सारैर्निजचिन्हधारिभिः ॥८१॥

क्षितीति। तलमध्योपरि अधोमध्योर्ध्वदेशान् पूरयन्तीति तत्पूरिणां जगतां पातालभूमिस्वर्गाणां पृथगसंकीर्णं यानि निजानि प्रतिनियतानि निजचिह्नानि निध्यन्नपानस्रक्चन्दनादिलिङ्गानि धारयन्तीति तद्धारिभिः तथोक्तैः सारैरुत्कृष्टैः क्षितिकुहरे धरायां भूपृष्ठे अम्बरे आकाशे च ये आलया गृहाः तैः भूम्यन्तर्बहिः। शिरोगृहैरित्यर्थः। या नगरी अखिला कृत्स्ना अद्भुता चित्रा अजनि जाता। 'दीपजने'त्यादिना जनेः कर्त्तरि लुङ्, च्लेश्चिणादेशः। अत्र क्षितिगर्भादीनां तलमध्योपरि जगत्सु सतां तच्चिह्नानाञ्च यथासंख्यसम्बन्धात् यथासंख्यालंकारः। एतेन त्रैलोक्यवैभवं गम्यते ॥ ८१ ॥

जो नगरी तल (पाताल), मध्य (पृथ्वी) और ऊपर (आकाश) को व्याप्त करने वाले जगत् के, पृथक्-पृथक् अपने-अपने चिह्नों को धारण करने वाले पृथिवी के नीचे पृथिवी, और आकाश में बने हुए घरों से आश्चर्यमय थी। (या सम्पूर्ण त्रैलोक्य से अद्भुत थी।) अर्थात् इस नगरी में तीन तल्ले वाले घर थे, एक तल्ला पृथ्वी के नीचे (भूघरा) था, उसमें कोष (निधि) थे; दूसरा पृथ्वीपर था, उसमें अन्नपानादि था; तीसरा आकाशमें था, उसमें चंदन, पुष्पमाला आदि भोग की सामग्रियाँ थीं। तीन लोक हैं–पहला पाताल, उसमें

रत्न तथा सुवर्णादि की खानि हैं; दूसरा मर्त्यलोक, उसमें अन्न-जल आदि हैं; तीसरा स्वर्ग है, उसमें भोग विलास की सामग्रियाँ हैं। इस तरह तीनों लोकों के पृथक्-पृथक् सारभूत पदार्थों को धारण करने वाली यह एक ही नगरी त्रैलोक्य से अद्भुत होने से आश्चर्यमयी थी।

यहाँ पाताल, भूतल, स्वर्ग के चिन्हों का नीचे (तहखाने), मध्य तथा ऊपर के तल्ले में क्रम से सम्बन्ध वर्णित है अतः यथा संख्याऽलङ्कार है। इस अलंकार से त्रैलोक्य का वैभव इस नगरी में है, यह वस्तु व्यङ्ग्य होने से अलंकार से वस्तु ध्वनि है ॥ ८१ ॥

दधदम्बुदनीलकण्ठतां वहदत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः ।
कथमृच्छतु यत्र नाम न क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम् ॥ ८२ ॥

दधदिति । यत्र नगर्यामम्बुदैरम्बुदवन्नीलः कण्ठः शिखरोपकण्ठः गजश्च यस्य तस्य भावस्तत्तां 'कण्ठो गले सन्निधाने' इति विश्वः । दधत् अच्छया सुधया लेपद्रव्येण च सुधावदमृतवच्चोज्ज्वलं वपुर्वहत् 'सुधा लेपोऽमृतं सुधे' त्यमरः । क्षितिभृन्मन्दिरं राजभवनमिंदुमौलितामिंदुमंडलपर्यंतशिखरत्वं कथं नाम न ऋच्छतु? गच्छत्वेवेत्यर्थः । राजभवनस्य तादृगौन्नत्यं युक्तमिति भावः । अन्यत्र नीलकठस्य इन्दुमौलित्वमीश्वरत्वं च युक्तमिति भावः । अत्र विशेषणविशेष्याणां श्लिष्टानामभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणात् प्रकृतेश्वरप्रतीतेः ध्वनिरेव ॥ ८२ ॥

जिस नगरी में राजा का गृह बादलों से (बादलों के समीप में आने से) नीले कण्ठ (शिखर के समीप का भाग), को धारण करता हुआ तथा अत्यन्त निर्मल चूने से (लिप्त होने के कारण) उज्ज्वल (श्वेत) स्वरूप को धारण करता हुआ इन्दुमौलिता (शिवत्व) को क्यों नहीं प्राप्त करे। (शिवजी का शरीर श्वेत है, कण्ठ नीला है, शिर में चन्द्रमा विराजमान हैं। इस नगरी में राजभवन भी चूने से लिप्त होने के कारण श्वेत तथा शिखर के समीप में मेघों के संलग्न रहने के कारण कण्ठ (शिखर के समीपस्थ नीचे का भाग) नीला है, तो अत्यन्त ऊँचा होने से शिखर में (या शिखर के अग्रभाग में) चन्द्रमा को धारण कर इन्दुमौलिता (चन्द्रशेखरत्व = शिवत्व)

को क्यों न धारण करे ।) अर्थात् राजमन्दिर का चन्द्रमौलि होना उचित ही है।

यहाँ श्लेष अलङ्कार स्पष्ट ही है । (राजमन्दिर और शिव में उपमानो॰पमेय भाव व्यङ्ग्य है। अतः उपमाऽलङ्कार ध्वनि है) यह जीवातु का मत है ॥ ८२ ॥

बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः ।
यदनेककसौधकन्धराहरिभिः कुक्षिगतीकृता इव ॥ ८३ ॥

बह्विति । बहुरूपकाः भूयिष्ठसौन्दर्याः, शैषिकः कप्रत्ययः । तेषु शालभञ्जिकानां कृत्रिमपुत्रिकाणां मुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः चन्द्रत्वात् सम्भाविताः कलङ्कमृगाः ते यस्यां नगर्यामनेकेषां बहूनां सौधानां कन्धरासु कण्ठप्रदेशेषु ये हरयः सिंहाः तैः कुक्षिगतीकृता इव ग्रस्ताः किमित्युत्प्रेक्षा मुखचन्द्राणां निष्कलङ्कत्वनिमित्तात्, अन्यथा कथं चन्द्रे निष्कलङ्कतेति भावः ॥ ८३ ॥

अत्यन्त सुन्दर (खम्भों में हाथी के दातों से बनी हुई) पुत्तलियों के मुख चन्द्रों में (सम्भावित) कलङ्क मृगों को जिस नगरी के अनेकों प्रासादों की कन्धराओं में बनाये गये सिंहों ने मानो भक्षण कर लिया हो।

(उस नगरी के गृहों के खम्भों में हाथी के दाँत की पुतलियाँ बनी हुई थीं तथा कन्धराओं में सिंह बने हुए थे, पुतलियो के मुख अत्यन्त श्वेत थे, अतः उनमें चन्द्रत्व का आरोप है। परन्तु उनमें किसी प्रकार की कालिमा नहीं थी, अतः कवि उत्प्रेक्षा कर रहा है कि मुख चन्द्र में सम्भावित कलङ्क मृग को मानों कन्धरा में बने हुए सिंहों ने खा लिया है, अतः वे निष्कलङ्क हैं) यहाँ उत्प्रेक्षा तथा मुख चन्द्र में रूपक है, अतः सङ्करालङ्कार है ॥८३॥

बलिसद्मदिवं स तथ्यवागुपरि स्माह दिवोऽपि नारदः ।
अधराय कृता ययेव सा विपरीताऽजनि[1] भूमिभूषया ॥ ८४ ॥

वलीति । स प्रसिद्धः तथ्यवाक् सत्यवचनः[2] नारदः बलिसद्मदिवं पाताल-

---

१. 'भूविभूषया' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः ।

२. 'स्वर्गादप्यतिरमणीयानि पातालानि' इति विष्णुपुराणे नारदवचनमिति 'प्रकाश' कृत ।

स्वर्गं दिवो मेरुस्वर्गादप्युपरिस्थितामुत्कृष्टाश्चाह स्म उक्तवान् । अथेदानीं भूमि-भूषया यया नगर्या अधरा न्यूना अधस्ताच्च कृतेवेत्युत्प्रेक्षा सा बलिसद्मदौ-विपरीता नारदोक्तविपरीता अजनि । सर्वोपरिस्थितायाः पुनरधः स्थितिः वैपरीत्यम् ॥ ८४ ॥

प्रसिद्ध सत्यवक्ता नारद जी ने पातालरूपी स्वर्ग को, स्वर्ग से भी ऊपर (उत्कृष्ट) कहा था। (यहाँ शब्द छल से उपरि शब्द का उर्ध्वभाग अर्थ करके पाताल का स्वर्ग से ऊपर होने की प्रसिद्धि नहीं हैं, तो ऊपर है—यह कहने वाले नारद सत्यवक्ता कैसे हुए ? इस शङ्का का समाधान भी शब्द छल से ही करते हैं)। पीछे पृथ्वी के अलङ्कार स्वरूप इस नगरी ने (अपने सौन्दर्य से) उसे ही अधर (तुच्छ-हीन पक्षा० नीचे) सा कर दिया अतः विपरीत (सबसे ऊपर रहने वाला सबसे नीचे) हो गया। (अर्थात् स्वर्ग से भी सुन्दर पाताल को भी इस नगरी ने अपने सौन्दर्य से जीत लिया है।)

यहाँ "बलिसद्मदिवम्" में रूपकालङ्कार है तथा पाताल में इस नगरी से पराजित होकर सबसे नीचे होने की उत्प्रेक्षा की गई है, अतः उत्प्रेक्षा-लङ्कार है ॥ ८४ ॥

प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः ।
कलहान्न घनान् यदुत्थितादधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः ॥ ८५ ॥

प्रतीति । पन्थानं गच्छन्तीति पथिकाः तेषामाह्वानं ददाति तथोक्तमाह्व-कम् अध्वानं गच्छतामाकर्षकमित्यर्थः । सक्तूनां सौरभं सुगन्धो यस्मिन् प्रति-घट्टपथे प्रत्यापणपथे । 'अव्ययं विभक्ती'त्यादीना वीप्सायामव्ययीभावः । 'तृतीयासप्तम्योर्बहुल'मिति सप्तम्या अमभावः । घरट्टाः गोधूमचूर्णग्रावाणः तज्जात् तस्मा नगर्याः उत्थितात् कलहात् घर्घरस्वरः निर्झरस्वरः कण्ठध्वनिः घनान् मेघान् अधुनापि नोज्झति न त्यजति । सर्वदा सर्वहट्टेषु घरट्टा मेघध्वानं ध्वनन्तीति भावः । अत्र घनानां घरट्टकलहासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयो-क्तिः । तथा च घर्घरस्वरस्य तद्धेतुकत्वोत्प्रेक्षा, व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्योत्प्रे-क्षेति सङ्करः ॥ ८५ ॥

प्रत्येक बाजार के मार्गों में पथिकों को पुकारने वाले (आकृष्ट करने वाले) सत्तुओं के सुगंधों से (उपलक्षित) जिस नगरी के चक्कियों से किये गये कलह से उत्पन्न घर्घर ध्वनि आज भी मेघों को नहीं छोड़ रही है। (अर्थात् नगरी में सत्तू पीसने वाली चक्कियाँ सत्तू पीस रही हैं, उस पीसे जाते हुए सत्तू के सुगन्ध से वर्षात में घर जाने वाले पथिक आकृष्ट होकर भोजन के लिये रुकना चाहते थे, बादल उनको घर जाने के लिये उत्सुक करते थे, अतः उनको रोकने वाली नगरी के घरट्टों से बादलों का कलह हो गया, जिसमें जोर-जोर से बोलने के कारण उनका गला फट गया और बादलों की घर्घर ध्वनि हो गई, जो आज भी उन्हें नहीं छोड़ती है)।

यहाँ बादलों एवं घरट्टों से कलह का सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध वर्णित है। अतः असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति है तथा घर्घर ध्वनि के कारण कलह की उत्प्रेक्षा की गयी है, जो व्यञ्जक के प्रयोग न होने से गम्य है, अतः उत्प्रेक्षा एवं अतिशयोक्ति का शङ्कर है ॥ ८५ ॥

वरणः कनकस्य मानिनीं दिवमङ्कादमराद्रिरागताम्।
घनरत्नकवाटपक्षतिः परिरभ्यानुनयन्नुवास याम् ॥ ८६ ॥

वरण इति। कनकस्य सम्बन्धी वरणः तद्विकारः प्रकारः स एवामराद्रिर्मेरुः यां नगरीमेव मानिनीं कोपसम्पन्नामत एव अङ्कान्निजोत्सङ्गादागतां भूलोकं प्राप्तां दिवमरावतीं घने निबिडे रत्नानां कवाटे रत्नमयकवाटे एव पक्षती पक्ष-मूले यस्य स सन परिरभ्य उपगूह्य मेरोः पक्षवत्त्वात्पक्षतिरूपत्वमनुसरन् अनुवर्त्तमानः उवास। कामिनः प्रणयकुपितां प्रेयसीमाप्रसादमनुगच्छन्तीति भावः। रूपकालङ्कारः स्फुट एव, तेन चेयं नगरी कुतश्चित् कारणादागता द्यौरेव-वरणश्च स्वर्णाद्रिरेवेत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते ॥ ८६ ॥

घने रत्नों से जटित कपाटरूप पक्षमूल वाला, सुवर्ण का प्राकार रूप सुमेरु पर्वत, क्रुद्ध हुई (अतएव) अङ्क से (अङ्क को छोड़कर) भूतल पर आयी हुई जिस नगरी रूपी अमरावती का आलिङ्गन करके अनुनय करता हुआ निवास कर रहा है। (यह नगरी अमरावती है, किसी कारण से क्रुद्ध होकर सुमेरु का परित्याग कर भूतल पर चली आई है, नगरी के चारो

तरफ बने हुए सुवर्ण के ऊँचे-ऊँचे परकोटे (प्राकार) सुमेरु पर्वत हैं, घने रत्न जटित कपाट उसके पक्ष मूल हैं, वह सुमेरु उस नगरी का आलिङ्गन (चारो तरफ से घेर कर) करके उसको खुश करने के लिए नगरी के अनुरोध से वहीं निवास कर रहा है। दूसरे भी अन्यत्र गई हुई मानिनी का अनुनय करने के लिए उसी के पास जाकर निवास करते ही हैं।)

यहाँ कपाट को पक्षमूल, वरण को सुमेरु, नगरी को अमरावती बनाया गया है, अतः रूपकालङ्कार है। इस रूपकालङ्कार से "अनुनय करता हुआ निवास कर रहा है" यह उत्प्रेक्षाऽलङ्कार व्यङ्ग्य हो रहा है, अतः अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनि है ॥ ८६ ॥

अनलैः परिवेषमेत्य या ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः।
उदयं लयमन्तरा रवेरवहद्बाणपुरीपरार्द्ध्यताम् ॥ ८७ ॥

अनलैरिति। या नगरी रवेरुदयं लयमस्तमयं चान्तरा तयोर्मध्यकाल इत्यर्थः। 'अन्तरान्तरेण युक्त' इति द्वितीया। ज्वलतामर्कांशुसम्पर्कात् प्रज्वलतामर्कोपलानां वप्राज्जन्म येषान्तैः सूर्यकान्तैः प्राकारजन्यैः अनलैः परिवेषमेत्य परिवेष्टनं प्राप्य बाणपुर्याः बाणासुरनगर्याः शोणितपुरस्य परार्द्ध्यतां श्रेष्ठतामवहत्। अत्रान्यधर्मस्यान्येन सम्बन्धासंभवात्तादृशीं परार्द्ध्यतामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः॥ ८७ ॥

जो नगरी जलते हुए सूर्यकान्त मणि से बने हुए वप्रों (प्राकारों) से उत्पन्न हुए अग्नि से घिरी हुई सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक बाणासुर के नगरी के समान श्रेष्ठता को धारण करती है।

(बाणासुर की नगरी शिवजी के वरदान से चारो तरफ जलते हुए अग्नि से घिरी रहती थी। इस नगरी के चारो तरफ सूर्यकान्त मणि से प्राकार बना था, उस प्राकार से सूर्य के सम्बन्ध से अग्नि निकलती थी, अतः यह भी बाण नगरी के सदृश अग्नि से घिरी हुई, उस नगरी के सदृश श्रेष्ठता को धारण कर रही थी।)

यहाँ बाण पुरी के श्रेष्ठता को कुण्डिन पुरी ने धारण किया, तो अन्य के

धर्म का सम्बन्ध अन्य में असम्भव होने से सादृश्य का आक्षेप है, अतः निदर्शना है ॥ ८७ ॥

बहुकम्बुमणिर्वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्करः ।
हिमबालुकयाऽच्छबालुकः पटु दध्वान यदापणार्णवः ॥ ८८ ॥

बह्विति । बहवः कम्बवः शङ्खा मणयश्च यस्मिन् सः वराटिकागणनाय कपर्दिकासंख्यानाय अटन्तः तिर्यक् प्रचरन्तः कराः पाणय एव कर्कटोत्कराः कुलीरसंघाः यस्मिन् सः, हिमबालुकया कर्पूरेण अच्छबालुकः स्वच्छसिकतः यस्याः पुरः आपणो विपणिरेवार्णवः पटु घोरं दध्वान ननाद, 'कपर्दो वराटिके'ति हलायुधः । 'शङ्खः स्यात् कम्बुरस्त्रियामि'त्यमरः । 'सिताभ्रो हिमबालुका', स्यात्कुलीरः कर्कटक' इति चामरः ॥ ८८ ॥

बहुत से शङ्ख मणि मुक्तादि से युक्त तथा कौड़ियों की गणना के लिए चलते हुए हाथ रूपी कर्कट समूह वाला, कर्पूर रूपी निर्मल सिकता वाला जिस नगरी का आपण रूपी (बाजार रूपी) समुद्र अत्यन्त शब्द करता है ।

यहाँ रूपकालङ्कार स्फुट है ॥ ८८ ॥

यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया ।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया ॥ ८९ ॥

यदिति । यस्याः नगर्याः अगारघटासु गृहपङ्क्तिषु अट्टानामट्टालिकानां कुट्टिमेषु निबद्धभूमिषु, 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूरि'त्यमरः । स्रवद्भिरिन्दुसम्पर्कात् स्यन्दमानैरिन्दूपलैश्चन्द्रकान्तैः हेतुभिः तुन्दिलाः प्रवृद्धा आपो यस्याः तया, तुन्दादिभ्य इलच् 'ऋक्पूरि'त्यादिना समासान्तः । अभ्रगङ्गया मन्दाकिन्या, 'मन्दाकिनी वियद्गङ्गे'त्यमरः । चन्द्रोदये चन्द्रोदये प्रतिचन्द्रोदयं वीप्सायामव्ययीभावः । पतिव्रतानामौचिती औचित्यं ब्राह्मणादित्वाद् 'गुणवचने'त्यादिना ष्यञ्प्रत्ययः, षिद्गौरादिभ्यश्चे'ति ङीष् । स च 'मातरि षिच्चे'ति षित्वादेव सिद्धे मातामहशब्दस्य गौरादिपाठेनानित्यत्वज्ञापनाद्वैकल्पिकः । अत एव वामनः—ष्यञः षित्कार्यं बहुलमिति स्त्रीनपुंसकयोर्भावक्रिययोः ष्यञ् । क्वचिच्च वुञ् 'औचित्यमौचिती मैत्र्यं मैत्री वुञ् प्रागुदाहृतमि'त्यमरश्च । न मुमुचे न तत्यजे । भर्तुः समुद्रस्य चन्द्रोदये वृद्धि-

दर्शनात्तस्य अपि तथा वृद्धिरुचिता । 'आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा । मृते हि म्रियते या स्त्री सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥' इति स्मरणादिति भावः । अत्राभ्रगङ्गायाः यदगारेत्यादिना विशेषणार्थासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तथा च यदगाराणामतीन्दुमण्डलमौन्नत्यं गम्यते तदुत्थापितां चेयमस्याः पातिव्रत्यधर्मापरित्यागोत्प्रेक्षेति सङ्करः, सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ८९ ॥

जिस नगरी के गृह समूहों के ऊपरी गृहों में बनी हुई वेदियों में जड़े हुए चन्द्रकान्त मणियों से बहते हुए जल से बढ़ी हुई जल वाली अभ्र गङ्गा (आकाश गङ्गा) ने प्रति चन्द्रोदय में पातिव्रत्य के औचित्य को नहीं छोड़ा। (चन्द्रोदय होने पर समुद्र के जल की वृद्धि होती है, गङ्गा समुद्र की पत्नी है, वह इस नगरी के घरों की अट्टालिकाओं पर बनी वेदियों में जटित चन्द्रकान्तमणि से चन्द्रोदय होने पर बहते हुए जल से बढ़ जाती थी, यह बढ़ना उसके पातिव्रत्य के अनुकूल ही है। क्यों कि "पति के दुखित होने पर दुखी एवं सुखी होने पर सुखी होना" आदि प्रतिव्रता का लक्षण है। इससे आकाश गङ्गा से भी ऊपर इस नगरी के गृहों की वेदिकाएँ हैं-यह सूचित होता है)

यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध वर्णन रूप अतिशयोक्ति तथा आकाश गङ्गा के जल की वृद्धि में चन्द्रकान्तमणि का द्रवित होना कारण है, अतः काव्यलिङ्ग है, समृद्धि वर्णन से उदात्तालङ्कार है, अतः इन तीनों की संसृष्टि है। अतिशयोक्ति उत्थापित पातिव्रत्यौचित्य के पालन की उत्प्रेक्षा है, अतः दोनों का सङ्कर है ॥ ८९ ॥

रुचयोऽस्तमितस्य भास्वतः स्खलिता यत्र निरालयाः खलु ।
अनुसायममभुर्विलेपनापणकश्मीरजपण्यवीथयः ॥ ९० ॥

रुचय इति । यत्र नगर्यामनुसायं प्रतिसायं वीप्सायामव्ययीभावः । विलेपनापणेषु सुगन्धद्रव्यनिषद्यासु कश्मीरजानि कुङ्कुमान्येव पण्यानि पणनीयद्रव्याणि तेषां वीथयः श्रेणयः अस्तमितस्यास्तङ्गतस्य भास्वतः सम्बन्धिन्यः स्खलिताः अस्तमयक्षोभात् च्युताः अतएव निरालया निराश्रया रुचयः प्रभाः अमुः खलु, कथञ्चित्प्रच्युताः सायन्तनार्कत्विष इव भान्ति स्मेत्यर्थः । कुङ्कुम-

राशीनां तदा तत्सावर्ण्यादियमुत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । मातुर्लुङि झेर्जुसादेशः ॥ ९० ॥

जिस नगरी में प्रति सायंकाल, विलेपन (लेप द्रव्यों) के बाजार में वेचने के लिए रखे गए कुङ्कुम की, गलियाँ (गिरे हुए कुङ्कुम से लाल होने के कारण) अस्त होते हुए सूर्य की गिरी हुई निराश्रित किरणों के समान सुशोभित होती थीं ।

यहाँ उत्प्रेक्षालङ्कार स्पष्ट ही है ॥ ९० ॥

वितत वणिजापणेऽखिलं पणितुं यत्र जनेन वीक्ष्यते ।
मुनिनेव मृकण्डुसूनुना जगतीवस्तु पुरोदरे हरेः ॥ ९१ ॥

विततमिति । यत्र नगर्यां वणिजा वणिग्जनेन पणितुं व्यवहर्तुमापणे पण्यवीथ्यां विततं प्रसारितमखिलं जगत्यां लोके स्थितं वस्तु पदार्थजातं पुरा पूर्वं हरेर्विष्णोरुदरे मृकण्डुसूनुना मुनिना मार्कण्डेयेनेव जनेन लोकेन वीक्ष्यते विष्णूदरमिव समस्तवस्त्वाकरोऽयमवमासत इत्यर्थः । पुरा किल मार्कण्डेयो हरेरुदरं प्रविश्य विश्वं तत्राद्राक्षीदिति कथयन्ति ॥ ९१ ॥

जिस नगरी में बनियों के द्वारा बेचने के लिए बाजार में फैलाए गए समस्त (जगत के) वस्तु को लोग वैसे ही देखते थे जैसे पहले मार्कण्डेय मुनि ने विष्णु भगवान् के उदर में समस्त लोक के वस्तु को देखा था ॥९१॥

यहाँ उपमा तथा उदात्तालङ्कार है ।

सममेणमदैर्यदापणे तुलयन् सौरभलोभनिश्चलम् ।
पणिता न जनारवैरवैदपि कूजन्तमलिं मलीमसम् ॥ ९२ ॥

सममिति । यस्या नगर्या आपणे सौरभलोभनिश्चलं गन्धग्रहणनिष्पन्दं ततः क्रियया दुर्बोधमित्यर्थः । मलीमसं मलिनं सर्वाङ्गनीलमित्यर्थः । अन्यथा पीतमध्यस्यालेः पीतिम्नैव व्यवच्छेदात्, अतो गुणतोऽपि दुर्ग्रहमित्यर्थः । ज्योत्स्नातमिस्रे'–त्यादिना निपातः । अलिं भृङ्गमेणमदैः समं कस्तूरीभिः सह तुलयन् तोलयन् पणिता विक्रेता कूजन्तमपि जनानामारवैः कलकलैः नादैत्, शब्दोऽपि न ज्ञातवान् इत्यर्थः । इह निश्चलस्यालेः गुञ्जनं कविना प्रौढवादे-

नोक्तमित्यनुसन्धेयम् । अत्रालेर्नैल्यादेणमदोक्तेः सामान्यालङ्कारः । 'सामान्यं गुणसामान्ये यत्र वस्त्वन्तरैकते'ति लक्षणात् । तेन भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते ॥ ९२ ॥

जिस नगरी के बाजार में सुगन्ध के लोभ से निश्चल (कस्तूरी पर बैठे हुए) काले तथा गूँजते हुए भँवरे को कस्तूरी के साथ तौलता हुआ विक्रेता लोगों के कोलाहल से नहीं जान सका। (यहाँ निश्चल भ्रमर का गूँजन वर्णन कवि की प्रौढोक्ति है)।

यहाँ काले भ्रमर को कृष्ण गुण सामान्य से कस्तूरी समझा, अतः सामान्यालङ्कार है; उससे भ्रान्तिमानलङ्कार व्यङ्ग्य है, अतः अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनि हुई ॥ ९२ ॥

रविकान्तमयेन सेतुना सकलाहज्वलनाहितोष्मणा ।
शिशिरे निशि गच्छतां पुरा चरणौ यत्र दुनोति नो हिमम् ॥ ९३ ॥

रविकान्तेति । यत्र नगर्यां सकलाहः कृत्स्नमहः 'राजाहःसखिभ्यष्टच्'। 'रात्राह्नाहाः पुंसी'ति पुंल्लिङ्गता, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, योगविभागात्समासः । ज्वलनेन तपनकराभिपातात्प्रज्वलनेन आहितोष्मणा जनितोष्मणा जनितोष्णेन रविकान्तमयेन सेतुना सेतुसदृशेनाध्वना सूर्यकान्तकुट्टिमाध्वनेत्यर्थः । गच्छतां सञ्चरतां चरणौ चरणानित्यर्थः । 'स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेणे'ति जातौ द्विवचनम् । शिशिरे शिशिरर्तौ तत्रापि निशि हिमं पुरा नो दुनोति नापीडयत् । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' । अत्र सेतोरूष्मासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तत्रोत्तरस्याः पूर्वसापेक्षत्वात् सङ्करः ॥ ९३ ॥

जिस नगरी में दिन भर (सूर्य के सम्पर्क से उत्पन्न हुई) अग्नि से गर्म हुए सूर्यकान्त मणि से निर्मित मार्ग से शिशिर ऋतु में रात्रि में भी जाने वाले लोगों के चरणों को ठण्ढ नहीं सताती थी।

यहाँ मार्ग में उष्मा के असम्बन्ध में सम्बन्ध वर्णन रूप अतिशयोक्ति है, शिशिर में भी ठंण्ढ न लगना यह दूसरी अतियोक्ति पूर्व अतिशयोक्ति से सापेक्ष है, अतः दो अतिशयोक्तियों का सङ्कर है। शिशिर में भी (शीत के

कारण रहने पर भी) शीत न लगना-यह विशेषोक्ति है तथा उदात्ताऽलङ्कार भी है ॥ ६३ ॥

विधुदीधितिजेन यत्पथं पयसा नैषधशीलशीतलम् ।
शशिकान्तमयं तपागमे कलितीव्रस्तपति स्म नातपः ॥ ६४ ॥

विध्विति । विधुदीधितिजेन इन्दुकरसम्पर्कजन्येन पयसा सलिलेन नैषधस्य नलस्य शीलं वृत्तं स्वभावो वा तद्वच्छीतलं शशिकान्तमयं यत्पथं यस्या नगर्याः पन्थानं तपागमे ग्रीष्मप्रवेशे कलितीव्रः कलिकालवच्चण्डः आतपः न तपति स्म । नलकथायाः कलिनाशकत्वादिति भावः । अत्र नगरपथस्य इन्दूपलपयः सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तत्सापेक्षत्वादुपमयोः सङ्करः ॥ ६४ ॥

चन्द्रकान्तमणि से निर्मित होने के कारण चन्द्रमा के किरणों के सम्पर्क से उत्पन्न जल से नल के स्वभाव के समान शीतल हुए जिस नगरी के मार्ग को गर्मी के दिनों में भी कलयुग के समान प्रचण्ड धूप ने नहीं तपाया ।

यहाँ भी पूर्ववत् विशेषोक्ति, उदात्त तथा "शील के समान शीतल" तथा "कलितीव्र" इन वाक्यों में उपमा है। अतिशयोक्ति भी है, इन सभी का सङ्कर है ॥ ६४ ॥

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा ।
फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता ॥ ६५ ॥

परिखेति । परिखावलयच्छलेन परिखावेष्टनव्याजेन कुण्डलनां मण्डलाकाररेखामवापिता परेषां शत्रूणां ग्रहणस्याक्रमणस्य अन्यत्र अन्येषां ग्रहणस्य ज्ञानस्य न गोचरा अविषया या नगरी विषमा दुर्बोधा फणिभाषितभाष्यफक्किका पतञ्जलिप्रणीतमहाभाष्यस्थकुण्डलिग्रन्थः तद्वदिति शेषः । अत्र नगर्याः कुण्डलि ग्रन्थत्वेनोत्प्रेक्षा ॥ सा च परिखावलयच्छलेनेति अपह्नवोत्थापितत्वात् सापह्नवा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ६५ ॥

खाई के घेरे के व्याज से कुण्डलना को प्राप्त जो नगरी शेषनाग (के अवतार पतञ्जलि) से कहे गये भाष्य की (कात्यायन के द्वारा) घेरी गयी फक्किका के समान विषम दूसरों (पतञ्जलि से भिन्न दूसरे लोगों, पक्षा०

शत्रुओं) के ग्रहण (ज्ञान, पक्षा० स्वाधीन करने) का विषय नहीं हुई। (महाभाष्य की कुछ फक्किकाएँ ऐसी हैं, जिन्हें दुर्ज्ञेय समझकर कात्यायन ने घेर दिया है, उन्हें कोई दूसरा समझ नहीं सका, उसी तरह खाई से घेरी हुई यह नगरी शत्रुओं के वश में नहीं हो सकी ।

यहाँ परिखा के वलय का निषेध कर कुण्डलना की स्थापना है, अतः अपह्नुति है तथा "भाष्यफक्किका के समान विषय है" इसमें उपमा है ॥ ६५ ॥

मुखपाणिपदाक्ष्णि पङ्कजं रचिताऽङ्ग्ष्वपरेषु चम्पकैः।
स्वयमादित यत्र भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियम् ॥ ६६ ॥

मुखेति । यत्र नगर्यां मुखञ्च पाणी च पदे च अक्षिणी च यस्मिन् तस्मिन् प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावः । पङ्कजैः रचिता सृष्टा अपरेषु मुखादिव्यतिरिक्तेष्वङ्गेषु चम्पकैश्चम्पकपुष्पैः रचिता सर्वत्र सादृश्याद्व्यपदेशः । भीमजा भैमी स्वयं स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियं शोभामादित आत्तवती। ददातेर्लुङि 'स्थाध्वोरिच्चे' तीत्वं 'ह्रस्वादङ्गादि'ति सलोपः । अत्र अन्यश्रियोऽन्यस्याऽसम्भवात् श्रियमिव श्रियमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाभेदः । तथा तदङ्गानां पङ्कजाद्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिः ! तदुत्थापिता चेयं निदर्शनेति सङ्करः ॥ ६६ ॥

जिस नगरी में मुख (श्वेतकमल), हाथ (रक्तकमल), पैर (रक्त कमल), नेत्रों ने (नीलकमल) में कमलों से तथा अन्य अङ्गों में चम्पा पुष्पों से रची गई दमयन्ती कामदेव के पूजा में पुष्पमाला की शोभा को स्वयं स्वीकार की । (तात्पर्य है कि दमयन्ती के मुख, हाथ, पैर नेत्र आदि कमल के सदृश तथा शेष अंग सुनहुला गौर होने के कारण चम्पा के सदृश, थे, अतः दमयन्ती विविध पुष्पों की बनी हुई माला सी प्रतीत होती थी । माला से जैसे कामदेव प्रसन्न होते है, वैसे दमयन्ती से भी प्रसन्न होते थे ।

यहाँ पुष्प माला की श्री को दमयन्ती ने धारण किया, इस उक्ति से अन्य की शोभा अन्य में असम्भव है, अतः सादृश्य का आक्षेप किया जायगा अतः निदर्शना है, मुखादिकों में पङ्कजादि का अभेदोक्ति है, अतः अति-

शयोक्ति है; अतः अतिशयोक्ति एवं निदर्शना का सङ्कर है। सा० वि० के अनुसार रूपक है, अतिशयोक्ति नहीं। यह सहृदय स्वयं विचारें ॥६६॥

जघनस्तनभारगौरवाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः।
ध्रुवमत्सरसोऽवतीर्य यां शतमध्यासत तत्सखीजनः॥ ६७॥

जघनेति। जघनानि च स्तनौ च जघनस्तनं, प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावः। तदेव भारः तस्य गौरवात् गुरुत्वाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः शतं शत-संख्याकाः 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्याः संख्येयसंख्ययोरि'त्यमरः। अप्सर-सोऽवतीर्य स्वर्गादागत्य तत्सखीजनः सख्यः जातावेकवचनम्। यां नगरीमध्या-सत अध्यतिष्ठन्, 'अधिशीङ्स्थासां कर्मे'ति कर्मत्वं ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा। अप्सरःकल्पाः शतं सख्य एनामुपासत इत्यर्थः॥ ६७॥

सैकड़ों अप्सराएँ नितम्ब तथा कुच के भार से गुरुता के कारण आकाश में विहार करने में असमर्थ हो गईं। अतः पृथिवी पर आकर दमयन्ती की सखियाँ बनकर जिस नगरी में निवास कर रहीं हैं। (अर्थात् उसकी सखियाँ अप्सराओं के तुल्य हैं।)

यहाँ सखियों का निषेध कर अप्सराओं का स्थापन कर सखी बन कर उस नगरी में निवास करने की उत्प्रेक्षा की गई है, अतः सापह्नवोत्प्रेक्षा है॥

स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या?।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा?॥६८॥

स्थितीति। चित्रमयी आश्चर्यप्रचुरा आलेख्यप्रचुरा च, 'आलेख्याश्चर्ययो-श्चित्रमि'त्यमरः। या नगरी स्थित्या मर्यादया स्थायित्वेन च शालन्ते ये ते समस्ता वर्णा ब्राह्मणादयः शुक्लादयश्च यस्याः तस्या भावस्तत्तां "वर्णो द्विजादौ शुक्लादावि' त्यमरः। कथं न बिभर्तु बिभर्त्येवेत्यर्थः। कलितः प्राप्तः अनल्पानां बहूनां मुखानामारवो बहुमुखानां ब्रह्ममुख-पञ्चमुख-षण्मुखानां च आरवः शब्दो यस्याः सा या पुरी स्वरस्य ध्वनेर्भेदं नानात्वं स्वः स्वर्गादभेदं च कथं वा नोपैतु उपैत्वेवेत्यर्थः। उभयत्रापि सति कारणे कार्यं भवेदेवेति भावः। अत्र केवलप्रकृतश्लेषालङ्कारः उभयोरप्यर्थयोः प्रकृतत्वात्। किन्तु

एकनाले फलद्वयवदकस्मिन्नेव शब्दे अर्थद्वयप्रतीतिरर्थश्लेषः प्रथमार्धे। द्वितीये तु जतुकाष्टवदेकवद्भूताच्छब्दद्वयादर्थद्वयप्रतीतेः शब्दश्लेषः ॥ ९८ ॥

जो नगरी स्थिति मर्यादा (अपने-अपने आचारों के पालन करने) से शोभित सभी वर्णों वाली (अत एव) आश्चर्यमयी थी। (अन्यत्र ब्राह्मण आदि वर्णों की सङ्कीर्णता थी, यहाँ सङ्कीर्णता नहीं थी, अत एव नगरी आश्चर्य मयी थी)। (पक्षान्तर में—जो नगरी चित्रमयी थी, वह परस्पर का अतिक्रमण न करने वाले समस्त नील पीतादि वर्णों (रङ्गों) को क्यों न धारण करे ?) और बहुत से (मनुष्य गज, तुरग आदि के) मुखों से निकले हुए शब्दों वाली, जो नगरी स्वर भेद [स्वरों=शब्दों की, भेद=विभिन्नता, पक्षा० स्वरभङ्ग (घर्घरध्वनि)] को क्यों न प्राप्त करे ? पक्षा०-(बहुत बोलने के कारण) अनल्प मुख ब्राह्मणों के (वेदरूप) शब्दों वाली जो नगरी स्वरों (उदात्तादि स्वरों, पक्षा० अकारादि स्वरों) के भेद को क्यों न प्राप्त करे)। (पक्षा०-स्थिति (वर्णों के आठ स्थान) से शोभित सभी अक्षरों वाली अर्थात् जहाँ ब्राह्मण सलक्षण वेदों का पाठ करते हैं।) (पक्षा० अनल्प मुखों=चतुर्मुखब्रह्मा, पञ्चमुख शिव, षण्मुख आदि के मुखों के शब्दों वाली जो नगरी स्वः=स्वर्ग से अभेद=अभिन्नता को क्यों न प्राप्त करे ?) (पक्षा० जहाँ बहुत मुखों का शब्द है वहाँ स्वर=वर्णों के भेद का ज्ञान कैसे हो ?)

यहाँ शब्दों के अनेक अर्थ होने से श्लेष अलङ्कार है ॥ ९८ ॥

स्वरुचाऽरुणया पताकया दिनमर्केण समीयुषीत्तृषः ।
लिलिहुर्बहुधा सुधाकरं निशि माणिक्यमया यदालयाः ॥ ९९ ॥

स्वरुचेति । माणिक्यमयाः पद्मरागमयाः यदालयाः यस्यां नगर्यां गृहाः दिनं दिने, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । समीयुषा सङ्गतेन अर्केण हेतुना उत्तृषः अर्कसम्पर्कादुत्पन्नपिपासाः सन्तः स्वरुचा स्वप्रभया अरुणया आरुण्यं प्राप्तयेति तद्गुणालङ्कारः, 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिरि'ति लक्षणात् । पताकया रसनायमानयेति भावः, सुधाकरं बहुधा लिलिहुः आस्वादयामासुरित्यर्थः । अह्नि सन्तप्तानिशि शीतोपचारं कुर्वन्तीति भावः । अत्र गृहाणां

सन्तापनिमित्तसुधाकरलेहनात्मकशीतोपचार उत्प्रेक्ष्यते। सा चोक्ततद्गुणो-त्थेति सङ्करः, व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ९९ ॥

माणिक्य नामक रत्न विशेष से निर्मित जिस नगरी के गृह, दिन में सूर्य के सम्पर्क से अत्यधिक प्यासे हुए, अपनी कान्ति से लाल वर्ण की हुई पताका से रात्रि में सुधाकर (चन्द्रमा) को अनेक प्रकार से आस्वादन करते थे। (दूसरा भी सूर्य के धूप से दिन में सन्तप्त होने से रात्रि में शीतल पदार्थ का सेवन करता है)

यहाँ प्रस्तुत गृह वर्णन से अप्रस्तुत प्यासे की प्रतीति है। अतः समासोक्ति, चन्द्रमा का स्पर्श न होने पर भी स्पर्श वर्णन रूप अतिशयोक्ति, गृह की लालिमा से पताका को भी लाल होने से तद्गुण, दिन में सूर्य से सन्तप्त होने से चन्द्रमा के आस्वादन की उत्प्रेक्षा, उदात्त आदि अलङ्कारों का सङ्कर है ॥ ९९ ॥

लिलिहे स्वरुचा पताकया निशि जिह्वानिभया सुधाकरम् ।
श्रितमर्ककरैः पिपासु यन्नृपसद्मामलपद्मरागजम् ॥ १०० ॥

अथानयैव भङ्ग्या राजभवनं वर्णयति–लिलिह इति। अमलपद्मरागजं यस्यां नगर्यां नृपसद्म राजभवनम् अर्ककरैः श्रियमतिसामीप्यादभिव्याप्तम्। श्रयतेः कर्मणि क्तः, श्रृणातेः पक्वार्थादिति केचित्। तदा ह्रस्वश्चिन्त्यः, प्रकृत्यन्तरं मृग्यमित्यास्तां तत्। अत एव पिपासु तृषितं सत् पिबतेः सन्नन्ता-दुप्रत्ययः। स्वकीया रुग् यस्याः तया स्वरुचा तद्रूपितयेत्यर्थः। अत एव जिह्वा-निभया पताकया सुधाकरं लिलिहे आस्वादयामास। लिहेः कर्त्तरि लिट्। स्वरितत्वादात्मनेपदम् अलङ्कारश्च पूर्ववत्, जिह्वानिभयेत्युपमासङ्करश्च विशेषः ॥ १०० ॥

जिस नगरी में निर्मल पद्मरागमणि से बना हुआ राज-भवन सूर्य की किरणों से सन्तप्त (अतएव) प्यासा हुआ अपनी कान्ति से रूषित (लाल हुई) (अतएव) जिह्वा सदृश पताका से रात्रि में सुधा के आकर चन्द्रमा का आस्वादन किया (करता है)।

यहाँ पर भी पूर्ववत अलङ्कारों का सङ्कर है ॥ १०० ॥

अमृतद्युतिलक्ष्म पीतया मिलितं यद्वलभीपताकया ।
वलयायितशेषशायिनस्सखितामादित पीतवाससः ॥ १०१ ॥

अमृतेति । पीतया पीतवर्णया यस्या नगर्याः वलभ्यां 'कूटागारन्तु वलभि' रित्यमरः । पताकया मिलितं सामीप्यात्सङ्गतममृतद्युतिलक्ष्म चन्द्रलाञ्छनं वलयायिते वलयीभूते शेषे शेत इति तच्छायिनः पीतवाससः पीताम्बरस्य विष्णोः सखितां सदृशतामादित अग्रहीदित्युपमालङ्कारः ॥ १०१ ॥

पीले वर्ण वाली जिस नगरी की वलभी (ऊपर बना हुआ कूट गृह) की पताका से मिला हुआ चन्दमा का कलङ्क वलयाकार शेषनाग पर सोने वाले पीताम्बर (विष्णु) की समता को प्राप्त हुआ (होता है) (अर्थात् चन्द्रमा का श्वेत भाग शेषनाग का वलय है, उसमें काला कलङ्क पीले रङ्ग की पताका से संलग्न होकर पीताम्बर धारी श्री विष्णु के समान ज्ञात होता है ।)

यहाँ उपमालङ्कार है, गृहों की अत्युच्चता व्यङ्ग्य है ॥ १०१ ॥

अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाविर्भूतभूरिस्तवा-
जिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना ।
पूर्वं गाधिसुतेन सामिघटिता मुक्ता नु मन्दाकिनी
यत्प्रासाददुकूलवल्लिरनिलान्दोलैरखेलाद्दिवि ॥ १०२ ॥

अश्रान्तेति । यस्याः नगर्याः प्रासादे दुकूलं वल्लिरिव दुकूलवल्लिः दुकूलमयी पताकेत्यर्थः । अश्रान्तेन श्रुतिपाठेन नित्यवेदपाठेन पूताभ्यः पवित्राभ्यः रसनाभ्यो जिह्वाभ्यः आविर्भूतेषु भूरिस्तवेषु अनेकस्तोत्रेषु अजिह्मेन अकुण्ठेन ब्रह्मणो मुखानामोघेन हेतुना विघ्निता सञ्जातविघ्ना नवस्वर्गक्रिया नूतनस्वर्गसृष्टिरेव केलिः लीला यस्य तेन गाधिसुतेन विश्वामित्रेण पूर्वं ब्रह्मप्रार्थनात्पूर्वं सामि घटिता अर्धसृष्टा 'सामि त्वर्द्धे जुगुप्सने' इत्यमरः । मुक्ता पश्चान्मुक्ता मन्दाकिनी नु आकाशगङ्गा किमनिलस्य कर्तुरान्दोलनैर्दिवि आकाशे अखेलत् विजहारेत्युत्प्रेक्षा । एषा कथा त्रिशङ्कूपाख्याने द्रष्टव्या । शार्दूलविक्रीडितवृत्तं 'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितमि' लक्षणात् ॥ १०२ ॥

जिस नगरी के प्रासादों (देवता और राजा का गृहों) की पताका रूपी श्वेत वस्त्रों की लता वायु के झोकों से हिलती हुई, निरन्तर वेदपाठ से पवित्र हुई जिह्वा से निकली हुई बहुत सी स्तुतियों से आलस्य रहित ब्रह्मा के चारो मुखों से विघ्नित की गयी नए स्वर्ग के निर्माण की क्रीडा वाले विश्वामित्र के द्वारा पहले आधी बनाई गई पश्चात् छोड़ दी गई मन्दाकिनी मानों आकाश में खेल रही हैं। (विश्वामित्र के नूतन स्वर्ग के निर्माण की क्रिया तथा ब्रह्मा की प्रार्थना से पुनः निवृत्त होने की कथा पुराणों में प्रसिद्ध है)।

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है तथा दीर्घ समास होने से गौडी रीति है। शार्दूल विक्रीडित छन्द है ॥ १०२ ॥

यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभाश्शुचिसौधवस्त्रवल्लिः ।
अलभत शमनस्वसुश्शिशुत्वं दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती ॥१०३॥

यदिति। यस्या नगर्याः अतिविमलैर्नीलवेश्मनः इन्द्रनीलनिकेतनस्य रश्मिभिः भ्रमरिता भ्रमरीकृता भ्रमरशब्दात् 'तत्करोती'ति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। वल्ल्याश्च भ्रमरैर्भाव्यमिति भावः। तथाभूता भाः छाया यस्याः सा श्यामीकृतप्रभेत्यर्थः। अत एव तद्गुणालङ्कारः। शुचिः स्वभावतः शुभ्रा सौधस्य वस्त्रमेव वल्लिः पताकेत्यर्थः। रूपकसमासः। भ्रमरितभा इति रूपकादेव साधकात् दिवसकरस्य सूर्यस्य अङ्कतले समीपदेशे उत्सङ्गप्रदेशे च चला चपला लुठन्ती परिवर्त्तमाना सती शमनस्वसुर्यमुनायाः शिशुत्वं शैशवमलभत बालयमुनेव बभावित्यर्थः। बालिकाश्च पितुरङ्के लुठन्तीति भावः। अत्रान्यस्य शैशवेनान्यसम्बन्धासम्भवेऽपि तत्सदृशमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शना पूर्वोक्ततद्गुणरूपकाभ्यां सङ्कीर्णा ॥ १०३ ॥

जिस नगरी के अत्यन्त निर्मल नीलम मणि के बने हुए गृहों की किरणों से भ्रमर तुल्य (कनीली) कान्ति वाली स्वच्छ सुधा-धवलित गृहों की चञ्चल पताका ने सूर्य के गोद में क्रीडा करती हुई यमराज के बहन (यमुना) की शिशुता को प्राप्त किया।

यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध वर्णन रूप अतिशयोक्ति, गृहों के किरणों से पताका के नीला होने से तद्गुण, समृद्धि वर्णन से उदात्त, अन्य का शैशव

अन्य प्राप्त नहीं कर सकता, अतः सादृश्य का आक्षेप होने से निदर्शना आदि अलङ्कारों का सङ्कर है। पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ १०३ ॥

स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकातिथ्यग्रहायोत्सुकं
पाथोदं निजकेलिसौधशिखरादारुह्य यत्कामिनी।
साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमान एवाभव-
न्यन्न प्राप निमेषमभ्रतरसा यान्ती रसादध्वनि ॥ १०४ ॥

स्वेति। यत्कामिनी यन्नगराङ्गना विमानेन कलितं क्रान्तं व्योम यानि-स्ताः साक्षादप्सरसो दिव्याङ्गनैवाभवत्। 'स्त्रियां बहुष्वप्सरस' इत्यभिधाना-देकत्वेऽपि बहुवचनप्रयोगः कृतः, यद्यस्मान्निजकेलिसौधशिखरादपादानात् स्वप्राणेश्वरस्य नर्महर्म्यं क्रीडासौधं तस्य कटकान्नितम्बादातिथ्यग्रहाय स्वीका-राय तत्र विश्रमार्थमित्यर्थः। उत्सुकमुद्युक्तं गच्छन्तमित्यर्थः, पाथोदं मेघमारुह्य रसाद्रागाद् यान्ती गच्छन्ती अध्वनि अभ्रतरसा मेघवेगेन हेतुना निमेषं न प्राप। अत्र नगरामराङ्गनयोर्भेदेऽपि अनिमेषमेघारोहणव्योमयानैः सैव इत्य-भेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १०४ ॥

जिस नगरी की कामिनियाँ अपने क्रीडा गृह के शिखर से अपने प्राणेश्वर के क्रीडागृह के मध्यभाग का आतिथ्य ग्रहण करने के लिए उत्सुक (कटक पर जाने के लिए उत्सुक) मेघ पर चढ़ कर मेघ के वेग से मार्ग में आनन्द से जाती हुई जो निमेष (पलक गिरना) को नहीं प्राप्त कीं, (इस कारण से) वे स्त्रियाँ विमान से आकाश में जाने वाली साक्षात् अप्सरायें ही हुईं।

(उन स्त्रियों का स्वाभाविक सौन्दर्य था, विमानतुल्य मेघ पर चढ़ी हुई थीं, पलक न गिरने से वे अप्सराओं के तुल्य हो गईं)।

यहाँ उत्प्रेक्षा तथा असम्बन्ध में सम्बन्ध वर्णन रूप अतिशयोक्ति स्फुट है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ १०४ ॥

वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भै-
ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः।

कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताग्रै-
र्यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म ॥ १०५ ॥

वैदर्भीति । 'उत्ताना वै देवगवा वहन्ती'ति श्रुत्यर्थमाश्रित्याह—वैदर्भी-केलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैः अथ ब्रह्माण्डाघातेन भग्नो स्यदजमदो वेग-गर्वो येषां तत्तथा ह्रिया धृतम् अवाङ्मुखत्वं यैस्तैरधोमुखैः अतएव दिवि उत्तानगाया ऊर्ध्वमुखाया इत्यर्थः। कस्याः सुरसुरभेः देवगव्या आस्यदेशं गताग्रैरंशुभिरेव दर्भैर्यस्या नगर्याः सम्बन्धि गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तं नोज्जृम्भते स्म। किन्तु सर्वस्य अपि ग्रासदानाद्यत्तत्सुकृतमेवोज्जृम्भित-मित्यर्थः। अत्युत्तमालङ्कारोऽयमिति केचित्। अंशुदर्भाणां ब्रह्माण्डाघाताद्य-सम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तरतिशयोक्तिभेदः। स्रग्धरावृत्तं 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयमि'ति लक्षणात् ॥ १०५ ॥

वैदर्भी के क्रीडा पर्वत पर मरकत मणि से बने हुए शिखर से ऊपर जाने वाले तथा ब्रह्माण्ड में टकराने से वेग के मद के नष्ट होने से मानों लज्जा के कारण नीचे मुख किये (अर्थात् नीचे के तरफ लौटने वाले) (नील होने के कारण) किरण रूपी कुशों से स्वर्ग में उत्तान चलने वाली सभी सुरधेनुओं के मुख में अग्रभाग के पड़ने से जिस नगरी का गोग्रास प्रदान रूप व्रत का पुण्य निन्तर बढ़ रहा है। (दमयन्ती का क्रीडा शैल मरकत मणि से बना हुआ है, उसकी किरणें ऊपर ब्रह्माण तक जाकर पुनः लौटती हैं और स्वर्ग में उत्तान चलने वाली सुरधेनुओं के मुख में पड़ती है, तो हरी २ किरण रूपी कुश सुरधेनुओं के मुख में पड़ने से इस नगरी का गोग्रास प्रदान से उत्पन्न पुण्य बढ़ रहा है)।

यहाँ अंशुदर्भैः में रूपक तथा असम्बन्ध में सम्बन्ध वर्णन रूप अति-शयोक्ति है। स्रग्धरा छन्द है ॥ १०५ ॥

विधुकरपरिरम्भादात्तनिष्यन्दपूर्णैः
शशिदृषदुपक्लृप्तैरालवालैस्तरूणाम्।
विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण
व्यरचि हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन ॥ १०६ ॥

विद्विति । तत्र तस्यां नगर्यां शशिदृषदुपक्लृप्तैश्चन्द्रकान्तशिलाबद्धैः अत एव विधुकरपरिरम्भात् चन्द्रकिरणसम्पर्कात् हेतोः आत्तनिष्यन्दैः जलप्रस्रवणैरेव पूर्णैस्तरूणामालवालैर्विफलितं व्यर्थीकृतं जलसेकस्य प्रक्रियायां प्रकारे गौरवं भारो यस्य तेन भैमीवनेन स हंसो हृतचित्तो व्यरचि । कर्मणि लुङ् । अत्रालवालानां चन्द्रकान्तनिष्यन्दासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । एतदारभ्य चतुःश्लोकपर्यन्तं मलिनीवृत्तं–'न नमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैरि'ति लक्षणात् ॥ १०६ ॥

उस नगरी में चन्द्रमा के किरणों के सम्पर्क से स्वयं बहते हुए जलों से भरे रहने वाले, चन्द्रकान्त मणि से बने हुए वृक्षों के आलवालों (कियारियों) से जल से सींचने की प्रक्रिया को व्यर्थ करने वाले दमयन्ती के वन ने उस हंस के चित्त को हर लिया ॥ १०६ ॥

अथ कनकपतत्रस्तत्र तां राजपुत्रीं
सदसि सदृशभासां विस्फुरन्तीं सखीनाम् ।
उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांशुलेखाऽ-
नुकरणपटुलक्ष्मीमक्षिलक्षीचकार ॥ १०७ ॥

अथेति । अथ दर्शनानन्तरं कनकपतत्रः स्वर्णपक्षो तत्र वने सदृशभासामात्मतुल्यलावण्यानां सखीनां सदसि विस्फुरन्तीं 'स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्य' इति षत्वम् । उडुपरिषदि तारकासमाजे मध्यस्थायिन्याः शीतांशुलेखायाश्चन्द्रकलायाः अनुकरणे पटुः समर्था लक्ष्मीः शोभा यस्याः सा इत्युपमालङ्कारः । तां राजपुत्रीम् अक्षिलक्षीचकार अद्राक्षीदित्यर्थः ॥ १०७ ॥

अनन्तर सुवर्ण के पंख वाले उस हंस ने समान कान्ति वाली सखियों की सभा में विशेष रूप से स्फुरित होने (चमकने) वाली, नक्षत्र समूह के मध्य में स्थित चन्द्रमा की रेखा का अनुकरण करने में समर्थ शोभावाली दमयन्ती को उस वन में देखा ।

(जैसे तारा गण की अपेक्षा चन्द्र लेखा अधिक सौन्दर्य शालिनी है उसी तरह समान कान्ति होने पर भी दमयन्ती सखियों की अपेक्षा अधिक शोभा युक्त है ।)

यहाँ उपमा अलङ्कार स्फुट है । मालिनी छन्द है ॥ १०७ ॥

भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा खगेन
क्वचन पतनयोग्यं देशमन्विष्यताऽधः ।
मुखविधुमदसीयं सेवितुं लम्बमानः
शशिपरिधिरिवोच्चैर्मण्डलस्तेन तेने ॥ १०८ ॥

भ्रमणेति । अधो भूतले क्वचन कुत्रचित्पतनयोग्यं देशं स्थानम् अन्विष्यता गवेषमाणेन अत एव भ्रमणरयेण विकीर्णा स्वर्णस्य भा दीप्तिर्यस्य तेन खगेन अमुष्या अयम् अदसीयम् 'वृद्धाच्छः' 'त्यदादीनि चे'ति वृद्धिसंज्ञा । मुखेन्दुं सेवितुं लम्बमानः स्रंसमानः शशिपरिधिः चन्द्रपरिवेष इव उच्चैरुपरि मण्डलो वलयः तेने वितेने तनोतेः कर्मणि लिट् । उत्प्रेक्षास्वभावोक्त्योः सङ्करः ॥ १०८ ॥

भ्रमण के वेग से सुवर्ण की कान्ति को फैलाने वाले तथा कहीं नीचे उतरने योग्य स्थान को ढूंढ़ते हुए, दमयन्ती के मुखचन्द्र का सेवन करने के लिए नीचे आये हुए उस हंस ने ऊपर चन्द्रमा के परिवेष के समान मण्डल (मण्डलाकार भ्रमण) किया ।

यहाँ दमयन्ती के मुख को चन्द्रमा कहा गया है, अतः रूपक तथा उतरते हुए मण्डलाकार भ्रमण करना पक्षियों का स्वभाव होता है अतः स्वभावोक्ति, परिधि के समान में उपमा है, अतः तीनों की संसृष्टि है । मालिनी छन्द है ॥ १०८ ॥

अनुभवति शचीत्थं सा घृताचीमुखाभि-
र्न सह सहचरीभिर्नन्दनानन्दमुच्चैः ।
इति मतिरुदयासीत्पक्षिणः प्रेक्ष्य भैमीं
विपिनभुवि सखीभिस्सार्धमाबद्धखेलाम् ॥ १०९ ॥

अनुभवतीति । विपिनभुवि वनप्रदेशे सखीभिः सहचरीभिः 'सख्यशिश्वीति भाषायामि'ति निपातनात् ङीप् । सार्द्धमाबद्धखेलामनुबद्धक्रीडां, 'क्रीडा खेला

च कूर्दनमित्यमरः। भैमीं प्रेक्ष्य पक्षिणः सा प्रसिद्धा शची इन्द्राणी घृताची-मुखाभिः सहचरीभिः सह इत्थमुच्चैरुत्कृष्टं नन्दनानन्दं नन्दनसुखं नानुभवतीति मतिः बुद्धिरुदयासीदुत्थिता। अत्र प्रेक्ष्य मतिरिति मननक्रियापेक्षया समान-कर्तृकत्वात् पूर्वकालत्वाच्च प्रेक्ष्येति क्त्वानिर्देशोपपत्तिः, तावन्मात्रस्यैव तत्प्रत्ययोत्पत्तौ प्रयोजकत्वात्। प्राधान्यन्त्वप्रयोजकमिति न कश्चिद्विरोधः। अत्रोपमानादुपमेयस्याधिक्योक्तेर्व्यतिरेकालङ्कारः 'भेदप्रधानसाधर्म्यमुप-मानोपमेययोः। आधिक्यादल्पकथनाद्व्यतिरेकः स उच्यते॥' इति लक्षणात्॥१०९॥

उपवन में सखियों के साथ क्रीडा करने वाली दमयन्ती को देख कर उस हंस की "वह इन्द्राणी, घृताची आदि सखियों के साथ इस प्रकार (दमयन्ती के समान) नन्दन वन में क्रीडा के सुख का अनुभव नहीं करती है" ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई (अर्थात् यह क्रीडा सुख इन्द्राणी को भी नहीं है)। (पक्षा० घृताची आदि सखियों के साथ यह इन्द्राणी नन्दन वन में क्रीडा के सुख का अनुभव नहीं कर रही है अर्थात् कर रही है)।

यहाँ इन्द्राणी की अपेक्षा आधिक्य का वर्णन है अतः व्यतिरेक अलङ्कार है। पक्षान्तर वाले अर्थ में भ्रान्तिमान अलङ्कार है। मालिनी छन्द है॥ १०९॥

श्रीहर्षः कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरस्सुतं
श्रीहीरस्सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
द्वैतीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥ ११०॥

श्रीहर्षमित्यादि। व्याख्यातम्। द्वितीय एव द्वैतीयीकः, 'द्वितीयादीकक् स्वार्थे वा वक्तव्य' इतीकक् द्वैतीयीकतया मितो द्वितीयत्वेन गणितः द्वितीय इत्यर्थः, अगमत्॥ ११०॥

कविराजों के मुकुटों का अलङ्कार भूत हीरा (रत्न) रूप श्री हीर

(नामक पिता) और (माता) मामल्ल देवी ने जिस इन्द्रियों को जीतने वाले श्री हर्ष नामक पुत्र को उत्पन्न किया, उस श्री हर्ष के द्वारा रचित सुन्दर नैषधीय चरित नामक महाकाव्य में स्वभावतः सुन्दर यह दूसरा सर्ग सम्पन्न हुआ ।

यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ ११० ॥

इति 'मल्लिनाथ' सूरिविरचितायां 'जीवातु' समाख्यायां नैषधटीकायां द्वितीयः सर्गः समाप्तः ॥ २ ॥

शाखा :
चौखम्भा ओरियन्टालिया
पोस्ट बॉक्स नं 2206
बंगलो रोड, 9.यू.बी., जवाहर नगर
(किरोड़ीमल कालेज के पास)
दिल्ली - 110 007 (भारत)
फोन : 3911617 3958790

तृतीयः सर्गः

आकुञ्चिताभ्यामथ पक्षतिभ्यां नभोविभागात्तरसाऽवतीर्य ।
निवेशदेशाततधूतपक्षः पपात भूमावुपभैमि हंसः ॥ १ ॥

आकुञ्चिताभ्यामिति । अथ मण्डलीकरणानन्तरं हंसः । आकुञ्चिताभ्यां पक्षतिभ्यां पक्षमूलाभ्यां नभोविभागादाकाशदेशात्तरसा वेगेनावतीर्य निवेशदेशे उपनिवेशस्थाने आततौ विस्तारितौ धूतौ कम्पितौ च पक्षौ येन सः तथा सन्नुपभैमि भैम्याः समीपे, सामीप्येऽव्ययीभावः, नपुंसकं, ह्रस्वत्वं च । भूमौ पपात । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १ ॥

मण्डलाकार घूमने के अनन्तर वह हंस दोनो पंखो को सङ्कुचित करके आकाश से वेग पूर्वक उतर कर बैठने की जगह पर पंखों को फैलाकर तथा फड़फड़ा कर दमयन्ती के समीपवर्ती भूमि पर उतर गया ।

यहाँ पक्षी के स्वभाव का वर्णन है, अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार है । इस सर्ग में १२४ श्लोकतक उपजाति छन्द है ॥ १ ॥

आकस्मिकः पक्षपुटाहतायाः क्षितेस्तदा यः स्वन उच्चचार ।
द्रागन्यविन्यस्तदृशः स तस्याः संभ्रान्तमन्तः करणश्चकार ॥२॥

आकस्मिक इति । तदा पतनसमये पक्षपुटाहतायाः क्षितेः । अकस्माद्भव आकस्मिकः अदृष्टहेतुको निर्हेतुक इत्यर्थः । यः स्वनो ध्वनिरुच्चचार उत्थितः स स्वनः अन्यविन्यस्तदृशः विषयान्तरनिविष्टदृष्टेस्तस्याः भैम्याः अन्तःकरणं द्राक् झटिति सम्भ्रान्तं ससंभ्रमं चकार । अकाण्डेऽसम्भावितशब्दश्रवणाच्चमत्कृतचित्ताऽभूदित्यर्थः । स्वभावोक्तिः ॥ २ ॥

उस (हंस के बैठने के) समय दोनो पंखों से आहत हुई पृथ्वी से जो अकस्मात् शब्द हुआ, उस (शब्द) ने दूसरी तरफ देखने वाली दमयन्ती के अन्तःकरण को शीघ्र ही सम्भ्रान्त कर दिया । (समीप में ही हुए आकस्मिक शब्द से दमयन्ती ने कुछ घबड़ाकर उस शब्द के विषय में जानने के लिए उधर देखा) ।

यहाँ भी स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ २ ॥

नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि।
प्रापुस्तमेकं निरुपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम्॥ ३॥

नेत्राणीति। विदर्भाणां राजा वैदर्भः। तस्य सुतायाः भैम्याः सखीनां नेत्राणि विमुक्तास्तत्तद्विषयग्रहाः तत्तदर्थग्रहणानि अन्यत्र तत्तद्विषयासङ्गो यैस्तानि सन्ति एकमेकचरम् अद्वितीयञ्च नोपाख्यायत इति निरुपाख्यम-वाच्यं रूपमाकारः, स्वं स्वरूपं च यस्य तं पुरोवर्त्तिनं हंसं तत्पदार्थभूतञ्च यतव्रतानां योगिनां चेतांसि ब्रह्म परात्मानमिव प्रापुः, अत्यादरेणाद्राक्षु-रित्यर्थः॥ ३॥

दमयन्ती के सखियों के नेत्र उन उन (माला, चन्दन, नृत्य आदि) विषयों (वस्तुओं) का ग्रहण करना (देखना) छोड़कर उस एक अवर्णनीय रूप (सौन्दर्य) वाले हंस को सादर देखने लगे। जैसे योगियों के चित्त उन उन विषयों (लौकिकपदार्थों) में आसक्ति को छोड़कर उस एक (अद्वितीय) वर्णनातीत ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

यहाँ योगियों के चित्त तथा सखियों के नेत्र में उपमानोपमेय भाव है (सादृश्य वर्णन है) अतः उपमा अलङ्कार है॥ ३॥

हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम्।
ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे॥ ४॥

हंसमिति। असौ दमयन्ती मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायां स्वकीयायां 'प्रत्ययस्थात्कात् पूर्वस्ये'तीकारः। तनौ शरीरान्तिके अन्यत्र तदभ्यन्तरे सन्नि-हितमासन्नमाविर्भूतं च चरन्तं वर्त्तमानं च हंसं मरालं परमात्मानं च, 'हंसो विहङ्गभेदे च परमात्मनि मत्सर' इति विश्वः। अदरिणा निर्भीकेण शयेन पाणिना 'दरो स्त्रियां भये श्वभ्रे, 'पञ्चशाखः शयः पाणिरि'त्यमरः। अन्यत्र आदरिणा आदरवता आशयेन चित्तेन ग्रहीतुकामा साक्षात्कर्त्तुकामा च यत्नात् निश्चलतां निश्चलाङ्गत्वं जगाहे जगाम॥ ४॥

सन्निहितम्=समीप (प०—सता + निहितम् = सज्जन (नल) के द्वारा प्रेषित) (प०—सद्भ्यो नितरां हितम्=सज्जनों के अत्यन्त हितकारी) (प० सं-सद्भिः नितरां हितं = ध्यातम्=सज्जनों (मनु आदि) के द्वारा विधिवत् ध्यान किए गए)। आदरिणाशयेन=आदरिणा + आशयेन=आदरयुक्त हृदय

(भाव) से । (प०—अदरिणा + शयेन, निर्भय हाथ से) (या०—दरिणा शयेन= भययुक्त हाथ से) ।

उस दमयन्ती ने समीप में (प०—नल से प्रेषित) घूमते हुए हंस को निर्भय (या सभय) हाथ से पकड़ने की इच्छा से प्रयत्नपूर्वक अपने शरीर को वैसे निश्चल बनाई, जैसे मुनि की मनोवृत्ति अपने शरीर में विद्यमान सज्जनों के द्वारा धारण (ध्यान) किए (या०—सज्जनों के हितकारी) परमात्मा को आदर युक्त भाव से जानने की इच्छासे निश्चल होती है।

यहाँ उपमा तथा स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ ४ ॥

तामिङ्गितैरप्यनुमाय मायामयं न धैर्याद्वियदुत्पपात।
तत्पाणिमात्मोपरिपातुकं तु मोघं वितेने प्लुतिलाघवेन ॥ ५ ॥

तामिति। अयं हंसस्तां पूर्वोक्तां मायां कपटमिङ्गितैश्चेष्टितैरनुमाय निश्चित्यापि धैर्यात् स्थैर्यमास्थाय ल्यब्लोपे पञ्चमी। वियदाकाशं प्रति नोत्पपात नोत्पतितवान् आत्मन उपरि पातुकम्पतयालुं 'लषपते' त्यादिना उकञ् प्रत्ययः। तस्याः पाणिं तु प्लुतिलाघवेन उत्पतनकौशलेन मोघं वितेने विफलयत्नम् अकरोत् आशाञ्च जनयति न तु पाणौ लगतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

उस हंस ने दमयन्ती की उस (पकड़ने के लिए झुक कर चलना आदि) माया (कपट) को उसकी चेष्टा से अनुमान करके भी आकाश में नहीं उड़ा। किन्तु अपने ऊपर पड़ने वाले दमयन्ती के हाथों को जल्दी-जल्दी कूद कर व्यर्थ कर दिया। (अगर हंस उड़ जाता तो दमयन्ती निराश होकर लौट जाती, हंस उससे बात-चीत नहीं कर पाता और दौत्य कार्य बिगड़ जाता। इस लिए धीरे २ चलता हुआ उसकी आशा को भी बनाए रखा और हाथ भी नहीं लगा।

यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ ५ ॥

व्यर्थीकृतं पत्ररथेन तेन तथाऽवसाय व्यवसायमस्याः।
परस्परामर्पितहस्ततालं तत्कालमालीभिरहस्यतालम् ॥ ६ ॥

व्यर्थीकृतमिति। अस्याः भैम्याः व्यवसायं हंसग्रहणोद्योगं तेन पत्ररथेन पक्षिणा व्यर्थीकृतं तथाऽवसाय ज्ञात्वा तत्कालं तस्मिन् काले अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। स एव कालो यस्येति बहुव्रीहौ क्रियाविशेषणं वा। परस्परां परस्पर-

स्यामित्यर्थः । 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्विर्भावः समासवच्च बहुलमि'ति बहुलग्रहणादसमासवद्भावे पूर्वपदस्य प्रथमैकवचने कस्कादित्वाद्विसर्जनीयस्य सत्वमुत्तरपदस्य यथायोगं द्वितीयाद्येकवचनं 'स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपदस्याः विभक्तेराम्भावो वक्तव्य' इति विकल्पादामादेशः । अर्पितहस्ततालं दत्तहस्तताडनं यथा तथा आलीभिः सखीभिरलम् अत्यर्थम् अहस्यत हसितम् । भावे लङ् ।। ६ ।।

(दमयन्ती की) सखियाँ उस समय दमयन्ती के (हंस के पकड़ने के लिए किए गए) उद्यम को उस हंस के द्वारा (कूदने के कौशल से) व्यर्थ किया हुआ जान कर परस्पर में हाथों की ताली बजाती हुईं खूब जोर से हँसीं ।

यहाँ भी स्वभाव वर्णन है अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।। ६ ।।

उच्चाटनीयः करतालिकानां दानादिदानीं भवतीभिरेषः ।
याऽन्वेति मां द्रुह्यति मह्यमेव साऽत्रेत्युपालम्भि तयाऽऽलिवर्गः ।।७।।

उच्चाटनीय इति । हे सख्यः ! भवतीभिरेष हंसः करतालिकानां दानादन्योन्यहस्तताडनकरणादुच्चाटनीयः निष्काशनीयः किमिति काकुः, नोच्चाटनीय एवेत्यर्थः । अत्र आसु मध्ये या मामन्वेति सा मह्यमेव द्रुह्यति मां जिघांसतीत्यर्थः । 'क्रुधद्रुहे'त्यादिना सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी । इतीत्थं तया भैम्या आलिवर्गः सखीसंघः उपालम्भि अशापि, शापेनैव निवारित इत्यर्थः ।। ७ ।।

इस समय (जब मैं हंस को पकड़ने का उद्यम कर रही हूँ) आप लोग हाथों की ताली बजा कर इस हंस को उड़ाना चाहती हैं क्या ? (यह उचित नहीं है) "तुम लोगों में से जो कोई मेरा अनुगमन करेगी वह मेरा ही द्रोह (वध) करेगी" इस तरह दमयन्ती ने सखियों को उपालम्भ (शपथ) दे दिया ।

यहाँ भी स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।। ७ ।।

धृताल्पकोपा हसिते सखीनां छायेव भास्वन्तमभिप्रयातुः ।
श्यामाऽथ हंसस्य करानवाप्तेर्मन्दाक्षलक्ष्या लगति स्म पश्चात् ।। ८ ।।

धृतेति । अथ सखीनिवारणानन्तरं सखीनां हसिते हासनिमित्ते धृताल्पकोपा तासु ईषत्कोपा इत्यर्थः । भास्वन्तमभिप्रयातुः सूर्याभिमुखं गच्छतः

छाया अनातपरेखेव श्यामा यौवनमध्या 'श्यामा यौवनमध्यस्था' इत्युत्पल-मालायाम् । अन्यत्र श्यामा नीला, हंसस्य कर्मणि षष्ठी । करेण हस्तेन अनवाप्तेरग्रहणाद्धेतोर्मन्दाक्षं ह्रीस्तेन लक्ष्या उपलक्ष्या ह्रीणा सतीत्यर्थः । अन्यत्र हंसस्य सूर्यस्य करानवाप्तेः अंशुसंस्पर्शाभावात् मन्दाक्षैरपटुदृष्टिभिर्लक्ष्या ग्राह्या तैः छाया लक्ष्यते न प्रकाश इति भावः । पश्चाल्लगति स्म पृष्ठे लग्नाऽभूत् प्राप्त्याशया तमन्वगात् । 'रविश्वेतच्छदौ हंसौ', 'बलिहस्तांशवः करा' इति चामरः ॥ ८ ॥

सखियों के हँसने पर थोड़ी क्रोध करने वाली तथा हंस को हाथ न लगने के कारण लजाई हुई श्यामा (यौवनमध्यस्था = दमयन्ती), सूर्य के सम्मुख चलने वाले पुरुष की छाया जैसे उसके पीछे लग जाती है, उसी तरह हंस के पीछे लग गई ।

यहाँ उपमा तथा क्रोध एवं लज्जा दो भावों का मिश्रण है अतः भाव-शबलता अलङ्कार है ॥ ८ ॥

शस्ता न हंसाभिमुखी तवेयं यात्रेति ताभिश्छलहस्यमाना ।
साऽऽह स्म नैवाशकुनीभवेन्मे भाविप्रियावेदक एष हंसः ॥ ९ ॥

शस्तेति । तवेयं हंसस्य श्वेतच्छदस्य चाभिमुखी यात्रा गमनं न शस्ता न प्रशस्ता श्रेयस्करी न शास्त्रविरोधात् श्रमसन्तापदृष्टदोषाच्चेति भावः । इतीत्थं ताभिः छलेन व्याजोक्त्या हस्यमाना सती भाविप्रियावेदको मङ्गल-मूर्तित्वादागामिशुभसूचकः एष हंसो मे मम नाशकुनीभवेदेव, किन्तु शकुनमेव भवेदित्यर्थः । अपक्षी न भवेदिति च गम्यते 'शकुनन्तु शुभाशंसानिमित्ते शकुनः पुमानि'ति विश्वः । 'अभूततद्भावे च्विः' विध्यादिसूत्रेण प्रार्थने लिङ् । इत्याह स्म अवोचत्, 'ब्रुवः पञ्चानामि'त्याहादेशः । एतेन तदीययात्रा-निषेधोक्तदोषः परिहृतो वेदितव्यः ॥ ९ ॥

हंसाभिमुखी = हंस के सामने (पक्षा०—सूर्य के सामने) अशकुनि = अपशकुनकारी (पक्षा०—पक्षी से भिन्न) भाविप्रियावेदक = भविष्य में प्रिय (शुभ) का सूचक (पक्षा०—भावी प्रिय (नल) का सूचक) (या-अनुराग युक्त प्रिय (नल) का सूचक) ।

हे दमयन्ती हंस (पं०—सूर्य) के अभिमुख (सम्मुख) तुम्हारी यह यात्रा ठीक नहीं है (शास्त्र से निषिद्ध है) इस तरह सखियों के द्वारा छलपूर्वक

हँसी गई दमयन्ती सखियों से बोली, हे सखियों यह हंस मेरा अशकुनकारी (पशा०–पक्षी से भिन्न सूर्य) नहीं है, यह भविष्य में प्रिय (शुभ) (पक्षा०–भावी प्रिय या अनुराग वाले प्रिय (नल) का सूचक है)।

यहाँ श्लेष, वक्रोक्ति तथा सखियों ने शब्द छल से हंस को सूर्य बनाया अर्थात् हंस का निषेध कर सूर्य की स्थापना किया अतः अपह्नुति है, दोनों का संकर है ॥ ९ ॥

हंसोऽप्यसौ हंसगतेस्सुदत्याः पुरःपुरश्चारु चलन् बभासे।
वैलक्ष्यहेतोर्गतिमेतदीयामग्रेऽनुकृत्योपहसन्निवोच्चैः ॥ १० ॥

एवं दमयन्तीव्यापारमुक्त्वा सम्प्रति हंसस्य व्यापारमाह–हंसोऽपीति। असौ हंसोऽपि हंसस्य गतिरिव गतिर्यस्यास्तस्याः सुदत्याः शोभनदन्तायाः भैम्याः, सुदती व्याख्याता। पुरःपुरः वीप्सायां द्विर्भावः। अग्रे समन्तात्, चारु चलन् रम्यं गच्छन् सन् वैलक्ष्यमेव हेतुस्तस्य वैलक्ष्यहेतोः, अहो मामयमतिविडम्बयतीति तस्या अपि विस्मयजननार्थमित्यर्थः। 'विलक्षो विस्मयान्वित' इत्यमरः। 'षष्ठी हेतुप्रयोग' इति षष्ठी। एतदीयाङ्गतिमनुकृत्य अभिनीय उच्चैरुपहसन्निवेत्युत्प्रेक्षा, बभासे बभौ लोके परिहासकाः तच्चेष्टाद्यनुकरणेन परान् विलक्षयन्ति ॥ १० ॥

(दमयन्ती का उपहास केवल सखियों ने ही नहीं किया अपितु) हंस भी विलक्षणता के कारण हंस के समान गति वाली तथा सुन्दर दाँतो वाली दमयन्ती के आगे-आगे सुन्दरता पूर्वक चलता हुआ, दमयन्ती की गति का, उसी के आगे अनुकरण करके मानों जोरों से उसका उपहास करता हुआ-सा शोभित हुआ। (उपहास करने वाला व्यक्ति भी दूसरे का अनुकरण कर उपहास करता ही है)।

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १० ॥

पदे पदे भाविनि भाविनी तं यथा करप्राप्यमवैति नूनम्।
तथा सखेलं चलता लतासु प्रतार्य तेनाचकृषे कृशाङ्गी ॥ ११ ॥

पदे पद इति। भावयन्तीति भाविनि हंसग्रहणमेव मनसा भावयन्ती कृशाङ्गी भैमी भाविनि भविष्यत्यनन्तर इत्यर्थः। 'भविष्यति गम्यादय' इति

साधुः । पदे पदे तं हंसं यथा करप्राप्यं करग्राह्यं नूनं निश्चितमवैति प्रत्येति, तथा सखेलं चलता गच्छता तेन हंसेन प्रतार्य वञ्चयित्वा लतासु आचकृषे आकृष्टा, एकान्तं नीतेत्यर्थः ॥ ११ ॥

हंस को पकड़ने की भावना रखने वाली वह दमयन्ती भावी पद-पद (प्रत्येक पद) पर उस हंस को निश्चय ही कर प्राप्य जैसे समझे (अर्थात् अगले कदम में मैं उसे अवश्य पकड़ लूंगी, ऐसा जैसे जाने) वैसे ही क्रीडा पूर्वक चलते हुए उस हंस ने वञ्चना करके उस दमयन्ती को लताओं में खींच ले गया।

यहाँ अनुप्रास तथा स्वभावोक्ति अलङ्कार की संसृष्टि है ॥ ११ ॥

रुषा निषिद्धालिजनां यदैनां छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार ।
तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गीं स कीरवन्मानुषवागवादीत् ॥ १२ ॥

रुषेति । रुषा निषिद्धालिजनां निवारितसखीजनां यदा छाया एव द्वितीया यस्यास्तामेकाकिनीं कलयाञ्चकार विवेद, तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गीं स्वेदाम्बुलवपरिष्कृतशरीरां स्विन्नगात्रान्तां स हंसः कीरवत् शुकवन्मनुष्यस्येव वाग्यस्य स सन्नावादीत् ॥ १२ ॥

उस हंस ने क्रोध से सखियों को निषेध करने वाली तथा श्रम से उत्पन्न स्वेद कणों से भूषित अङ्ग वाली उस दमयन्ती को जब छाया मात्र सहचरी वाला (अर्थात् अकेली) जाना तब उससे शुक के समान मनुष्य की वाणी में बोला।

यहाँ कीरवत्० में उपमा, "छाया-द्वितीयां" में रूपक अलङ्कार है ॥१२॥

अये ! कियद्यावदुपैषि दूरं व्यर्थं परिश्राम्यसि वा[1] किमर्थम् ? ।
उदेति ते भीरपि किन्नु[2] बाले विलोकयन्त्या न घना वनालीः ? ॥१३॥

अय इति । अये बाले ! व्यर्थं कियद्दूरं यावदुपैषि उपैष्यसि ? 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' । किमर्थं परिश्राम्यसि वा ? घनाः सान्द्रा वनालीर्वनपंक्तीर्विलोकयन्त्यास्ते भीरपि नोदेति किन्नु ? ॥ १३ ॥

यावत्=पर्यन्त (तक) (अथवा यातीति या तद्वत यावत्=शीघ्र-गामी पुरुष के समान) व्यर्थम्=निरर्थक, अथवा वि+अर्थम्=पक्षी के लिए।

---

१. 'किमित्थम्' इति पाठान्तरम् । २. 'किन्न बाले' इति पाठान्तरम् ।

अये दमयन्ति ! कितनी दूर तक आवोगी ? इस तरह (दौड़ती हुई) व्यर्थ में (पक्षा०—मुझ पक्षी के लिए) क्यों श्रान्त हो रही हो ? हे बाले ! (अगर तुम्हें परिश्रम तथा उसकी व्यर्थता का ध्यान नहीं है तो भी) इस घने वन समूह को देखते हुए तुम्हें भय भी नहीं उत्पन्न हो रहा है ? अर्थात् डर भी नहीं लग रहा है क्या ? ।

यहाँ अनुप्रास अलङ्कार है ॥ १३ ॥

वृथाऽर्पयन्तीमपथे पदं त्वां मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः ।
आलीव पश्य प्रतिषेधतीयं कपोतहुङ्कारगिरा वनाली: ॥ १४ ॥

वृथेति । वृथा व्यर्थमेव न पन्था अपथम्, 'ऋक्पूरि'त्यादिना समासान्तः अः, 'अपथं नपुंसकम्' । तस्मिन्नपथे दुर्मार्गे अकृत्ये च पदं पादं व्यवसायं च अर्पयन्ती 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुष्वि'त्यमरः । मरुता ललन् चलन् पल्लव एव पाणिस्तस्य कम्पैः कपोतहुङ्कारगिरा च वनाली आलीव सखीव प्रतिषेधति निवारयति, पश्य इति वाक्यार्थः कर्म । यथा लोके अमार्गवृत्तं सुहृज्जनः पाणिना वाचा च वारयति तद्वदित्यर्थः । अत एव पल्लवपाणीत्यादौ रूपकाश्रयणम् तत्सङ्कीर्णा वनाल्यालीवेत्युपमा ॥ १४ ॥

यह वन पङ्क्ति कुमार्ग में पैर रखने वाली (पक्षा०—मुझे पकड़ना रूप व्यर्थ कार्य के लिए उद्योग करने वाली) तुमको सखी के समान वायु से हिलते हुए पल्लव रूपी हाथों से तथा कबूतरों के हुङ्कार रूप वाणी से (अर्थात् हुं हुं करती हुई) तुम्हें रोक रही है, देखो ।

यहाँ '''पल्लवपाणि'' में रूपक तथा आलीव में उपमा है, अतः उपमा-रूपक का सङ्कर है ॥ १४ ॥

धार्यः कथंकारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या ।
अहो शिशुत्वं तव खण्डितं न स्मरस्य सख्या वयसाऽप्यनेन ॥ १५ ॥

धार्य इति । एकव गतिर्यस्यास्तया एकगत्या वसुधायामेकगत्या भूमात्रचारिण्येत्यर्थः । शिवभागवतवत्समासः । भवत्या वियद्विहारी खेचरोऽहं कथङ्कारं कथमित्यर्थः । 'अन्यथैवं कथमित्थंसुसिद्धाप्रयोगश्चेदि'ति' कथंशब्दोपपदात्करोतेर्णमुल् । धार्यो धर्तुं ग्रहीतुं शक्य इत्यर्थः । 'शकि लिङ् चे'ति

नकाराच्छक्यार्थे कृत्यप्रत्ययः। अनेन स्मरस्य सख्या सखिना तदुद्दीपकेन वयसा यौवनेन सखिशब्दस्य भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावः। न खण्डितं न निर्वर्तितम् अहो विरुद्धवयसोरेकत्र समावेशादाश्चर्यमित्यर्थः अत्राधार्यत्वस्य वसुधागति-वियद्विहारपदार्थहेतुकत्वादेकः काव्यलिङ्गभेदस्तथा शैशवाखण्डनस्य पूर्ववाक्यार्थ-हेतुकत्वादपर इति सजातीयसङ्करः ॥ १५ ॥

(हे दमयन्ति !) केवल पृथिवीमात्र में चल सकने वाली तुम आकाश में भी विहार करने वाले मुझको किस तरह पकड़ सकती हो। आश्चर्य है कि इस-काम के मित्र-युवावस्था ने भी तुम्हारी शिशुता (लड़कपन = अज्ञानता) का खण्डन नहीं किया। अर्थात् मेरे आकाश में उड़ने के सामर्थ्य को तथा अपनी असमता को बिना विचारे मुझे पकड़ने के लिए उद्योग कर रही हो। (पक्षा०—काम के तुल्य नल के मित्र इस (मुझ) हंस रूप पक्षी द्वारा तुम्हारा शिशुत्व नहीं खण्डित होगा अर्थात् खण्डित होगा ही।)

यहाँ न पकड़ाने में वियद्विहारी होना कारण है अतः काव्यलिङ्ग है तथा यह शैशव के खण्डित न होने में हेतु है, अतः दोनों काव्यलिङ्गों का सजातीय सङ्कर है तथा विशेषोक्ति का भी सं० है ॥१५॥

सहस्रपत्रासनपत्रहंसवंशस्य पत्राणि पतत्रिणः स्मः।
अस्मादृशां चाटुरसामृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ॥ १६ ॥

अथ प्रस्तुतोपयोगितया निजान्वयं निवेदयति—सहस्रेति। सहस्रपत्रासनस्य कमलासनस्य पत्रहंसाः वाहनहंसाः तेषां वंशस्य कुलस्य वेणोश्च पत्राणि वाहनानि पर्णानि च 'वंशो वेणौ कुले वर्गे', 'पत्रं स्याद्वाहने पर्णे' इति च विश्वः। पतत्रिणः स्मः ब्रह्मवाहनहंसवंश्याः वयमित्यर्थः। अस्मानिव पश्यन्तीति अस्मादृशामस्मद्विधानां 'त्यदादिषु' त्यादिना दृशेः क्विन् चाटुषु सुभाषितेषु ये रसाः शृंगारादयः त एव अमृतानि स्वर्लोके लोका जनाः, 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः। तेभ्यः इतरैर्मनुष्यैर्दुर्लभानि लब्धुमशक्यानीत्यर्थः ॥ १६ ॥

(हे दमयन्ति !) कमलासन ब्रह्मा का वाहन जो हंस (है) उस (हंस) के कुल का मैं पक्षी हूँ। हमारे जैसों की चाटूक्तियों में जो रस रूप अमृत है वह स्वर्गलोक के लोगों से भिन्न लोकों के लिए दुर्लभ है।

यहाँ मनुष्यों के लिए दुर्लभ है, इस अर्थ में "स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि" कहा गया है अतः ओजो नामक गुण है । छेकानुप्रास अलङ्कार है ॥ १६ ॥

स्वर्गापगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाग्रभुजो भजामः ।
अन्नानुरूपां तनुरूपऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ॥ १७ ॥

अथ स्वाकारस्य कनकमयत्वे कारणमाह—स्वर्गेति । स्वर्गापगा स्वर्णदी तस्या हेममृणालिन्यस्तासां या नालाः काण्डाः यानि मृणालानि कन्दाश्च । अत्र नाला मृणालशब्दस्य शब्दानुशासनं केषां शब्दानामितिवत्समासे गुणभूतेन सम्बन्धः सोढव्यः 'नालो नालमथास्त्रियामि'त्यमरवचनान्नालेति स्त्रीलिङ्ग-निर्देशः न च तत्रापि सन्देहः । तद् व्याख्यानेषु देशान्तरकोशेषु च स्त्रीलिङ्ग-पाठस्यैव दर्शनात् । तथा च दशमे सर्गे प्रयोक्ष्यते 'मृदुत्वमप्रौढमृणालनालया' इति, 'नाला स्याद्बिसकन्द' इति विश्वः, तेषामग्राणि भुञ्जत इति तद्भुजः वयमिति शेषः । अन्नानुरूपामाहारसदृशीन्तनोः शरीरस्य रूपऋद्धिं वर्णसमृद्धिम् 'ऋत्यक' इति प्रकृतिभावः । भजामः प्राप्ताः स्म इत्यर्थः । तथा हि कार्यं जन्यं द्रव्यं निदानादुपादानात्, 'आख्यातोपयोग' इत्यपादानता गुणान् रूपादि-विशेषणगुणान् अधीते प्राप्नोतीत्यर्थः । प्राप्तिविशेषवाचिनस्तत्सामान्यलक्षणात् प्रायेण आहारपरिणतिविशेषपूर्विकाः प्राणिनां कायकान्तय इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १७ ॥

हे भैमि ! हमलोग आकाशगङ्गा की स्वर्णकमलिनियों के नाल और मृणालों (बिसों) के अग्रभागों (कोमल अंशों) को खाते हैं, अतः अन्न के अनुरूप शरीर की शोभासमृद्धि को प्राप्त करते हैं । क्योंकि कार्य अपने (उपादान) कारण से ही गुण को प्राप्त करते हैं । (यहाँ एक न्याय का सिद्धान्त है कि "कारणगुणा कार्ये गुणानारभन्ते" इसका तात्पर्य है कि कारण के गुण कार्य में गुण का आधान करते हैं; जैसे, साड़ी का कारण सूत्र (तन्तु) अगर लाल है तो साड़ी भी लाल होगी । उसी तरह भोज्य पदार्थों से पुष्ट होने वाला शरीर भी भोज्य पदार्थ के अनुरूप ही रूप समृद्धि को प्राप्त करता है । अतः स्वर्णकमल तथा उसके मृणाल के भक्षण से हमारा शरीर स्वर्णमय है) ।

यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास तथा अनुप्रास अलङ्कार है ॥ १७ ॥

धातुर्नियोगादिह नैषधीयं लीलासरस्सेवितुमागतेषु ।
हैमेषु हंसेष्वहमेक एव भ्रमामि भूलोकविलोकनोत्कः ॥ १८ ॥

अथात्मनः क्ष्मालोकसञ्चरणे कारणमाह–धातुरिति । धातुर्ब्रह्मणो नियोगादादेशादिह भूलोके नैषधीयं नलीयं लीलासरः सेवितुं क्रीडासरसि विहर्तुमित्यर्थः । आगतेषु हैमेषु हेमविकारेष । विकारार्थेऽण् प्रत्ययः । 'नस्तद्धित' इति टिलोपः । हंसेषु मध्ये अहमेक एव भूलोकविलोकने उत्कः उत्सुकः सन् 'दुर्मना विमना अन्तर्मनाः स्यादुत्क उन्मना' इत्यमरः । उच्छब्दात्कन् प्रत्ययान्तो निपातः भ्रमामि पर्यटामि ॥ १८ ॥

(हे भैमि !) ब्रह्मा की आज्ञा से इस भूलोक में नल के क्रीडासर का सेवन करने के लिए आये हुए सुवर्णमय हंसों में से एक मैं ही भुलोक को देखने की उत्कण्ठा से घूम रहा हूँ । यहाँ हंस भूलोक में अपने आने का कारण बतलाता हुआ, प्रसङ्ग से नल को उपस्थित कर रहा है, साथ ही हमारे जैसे अनेकों हंस नल के क्रीडासर में विचरण करते हैं, वे भी ब्रह्मा के आदेश से नल के ही क्रीडासर में आते हैं, इस उक्ति द्वारा नल की महत्ता का सूचन कर रहा है) ।

यहाँ अनुप्रास अलङ्कार है ॥ १८ ॥

विधेः कदाचिद् भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्यस्स्वमहत्तरेभ्यः ।
स्कन्धस्य विश्रान्तिमदां तदादि श्राम्यामि नाविश्रमविश्वगोऽपि ॥१९॥

अनवरतभ्रमणेऽपि श्रमजये कारणमाह–विधेरिति । कदाचिद्विधेः ब्रह्मणो भ्रमणीविलासे भुवनभ्रमणविनोदे श्रमातुरेभ्यः अवसन्नेभ्यः स्वमहत्तरेभ्यः स्वकुलवृद्धेभ्यः स्कन्धस्यांसस्य, 'स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री'त्यमरः । विश्रान्तिमदां प्रादाम् । स्वयमेक एवाहमित्यर्थः । ददातेर्लुङि 'गातिस्थे'त्यादिना सिचो लुक् । तदादि तत्प्रभृति अविश्रममनवरतं 'नोदात्तोपदेश'त्यादिना श्रमेर्घञि वृद्धिप्रतिषेधः, विश्वगो विश्वं गच्छन्नपि 'अन्यत्रापि दृश्यत' इति गमेर्डप्रत्ययः । न श्राम्यामि न खिद्ये ॥ १९ ॥

हे भैमि ! मैं किसी समय ब्रह्मा के भ्रमण विलास में अत्यन्त थके हुए

अपने पूर्वजों (हंसों) के कन्धों को विश्राम दिया था, तभी से बिना विश्राम के सारे संसार में घूमकर भी मैं नहीं थकता हूँ।

यहाँ न थकने में पूर्वजों के कन्धों को विश्राम देने से प्राप्त पूर्वजों का प्रसाद कारण है अतः काव्यलिङ्ग है ॥ १९ ॥

बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित्पाशादिरासादितपौरुषस्स्यात् ।
एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य ॥ २० ॥

अथ व्याधादिबन्धनमपि न मेऽस्तीत्याह—बन्धायेति । मादृशि दिव्ये तिरश्चि विषये विरलोदयस्य दुर्लभजन्मनो नरस्य मर्त्यस्य प्रायेणैवंविधो नास्तीत्यर्थः । अन्यत्र विरो विगतरेफः स चासौ लोदयो लोदयवांश्च मत्वर्थीयोऽकारः । तस्य रेफस्थानाधिष्ठितलकारस्य नलस्येत्यर्थः । शब्दधर्मोऽर्थ उपचर्यते, भोज्यत इति भोगः सुखं स्वर्गभोगस्य स्वर्गसुखस्य भाग्यं तत्प्रापकादृष्टमित्यर्थः । स्वप्राप्तेस्तत्प्रापकत्वादिति भावः । तदेकं विना कश्चित् पाशादिः पाशाद्युपायः । बन्धाय बन्धनार्थमासादितपौरुषः प्राप्तव्यापारो न स्यात् । स्वर्भोगभाग्यैकसुलभा वयं, नोपायान्तरसाध्या इत्यर्थः । अस्मादृक्संसर्गादन्यः को नाम स्वर्गपदार्थ इति भावः ॥ २० ॥

(केवल कहीं बिरला जन्म लेने वाले स्वर्गलोक के पदार्थों के भोग करने का सौभाग्यशाली पुरुष के बिना) मुझ जैसे दिव्य पक्षी को बाँधने में किसी जाल आदि का सामर्थ्य नहीं है। (अर्थात् जाल आदि से मुझे कोई पकड़ नहीं सकता) अर्थात् जो इस लोक में रहता हुआ भी स्वर्गीय पदार्थों का भोग करता होगा वही मुझे पकड़ सकता है। (पक्षान्तर में नर शब्द में रेफ को हटाकर ल का उदय करने पर नल शब्द बनेगा अतः "नरस्य विरलोदस्य का अर्थ हुआ नल, अतः नल के बिना मुझे कोई इस भूलोक में नहीं पकड़ सकता) ।

यहाँ अनुप्रास अलङ्कार है तथा न पकड़ाने में दिव्यत्व कारण है अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ २० ॥

इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्यास्स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः ।
महीरुहो दोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति ॥ २१ ॥

तच्च भाग्यं नलस्यैवास्तीत्याह—इष्टेनेति । इष्टेन यागेन पूर्तेन खातादि-

कर्मणा च। 'त्रिष्वथ क्रतुकर्मेष्टं पूर्तं खातादिकर्मणी'त्यमरः। वश्याः वशङ्गता इति प्राग्दीव्यतीयो यत्प्रत्ययः। अमर्त्या देवा नलस्यात्रापि भूलोके स्वर्भोगं सृजन्ति स्वर्गसुखं सम्पादयन्तीत्यर्थः। ननु देवाश्च कथं लोकान्तरकायान्तर-भोग्यं स्वर्गमिदानीं सृजन्तीत्याशङ्कां दृष्टान्तेन परिहरति। महीरुहो वृक्षाः दोहदस्य अकालप्रसवोत्पादनद्रव्यस्य सेकस्य जलसेकस्य शक्तेः सामर्थ्यात् समानकालावाद्यन्तौ उत्पत्तिविनाशावस्येत्याकालिकः उत्पत्त्यनन्तरविनाशी-त्यर्थः। 'अकालिकडाद्यन्तवचन, इति समानकालशब्दस्याकालशब्दादेशे ठञ्-प्रत्ययान्तो निपातः। प्रकृते त्वकालभवं कोरकमुद्गिरन्तीत्यर्थः।' तरुगुल्म-लतादीनामकाले कुशलैः कृतम्। पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया' इति शब्दार्णवे। दोहदवशाद् वृक्षा इव देवता अपि उत्कटपुण्यवशाददेश-कालेऽपि फलं प्रयच्छन्तीत्यर्थः दृष्टान्तालङ्कारः॥ २१॥

यज्ञ करने से तथा कूप आदि जलाशय निर्माण करने से वशीभूत हुए देवता इस मनुष्यलोक में भी नल के लिए स्वर्गीय पदार्थों के भोग का सृजन करते हैं अर्थात् अत्यधिक यज्ञ तथा जलाशय एवं वाटिका आदि के निर्माण करने से देवगण वशीभूत होकर नल के लिए स्वर्गीय पदार्थों का भोग प्रदान करते हैं। (अचेतन = जड़ भी) वृक्ष दोहद (धूप आदि फल-फूल को उत्पन्न करने वाले औषधि विशेष) तथा जल से सींचने के सामर्थ्य से असमय में ही कलियों को प्रकट करते हैं। (अर्थात् जड़ वृक्ष भी अभीष्ट खाद, धूप आदि औषध से तथा पूर्त (आलवाल-थाला) में जल देने से समयान्तर में होने वाले फल-फूल को कालान्तर में (समय से पहले ही देते हैं) तो नल को इष्ट तथा पूर्त से प्रसन्न हुए देवगण देहान्तर तथा देशान्तर में प्राप्त होने वाले फल (भोग) को इसी मनुष्य योनि में यदि दे देते हैं तो इससे कोई आश्चर्य की बात नहीं है)।

यहाँ वृक्ष तथा देवगणों में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है अतः दृष्टान्त अलङ्कार है॥ २१॥

सुवर्णशैलादवतीर्य तूर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णैः।
तं वीजयामः स्मरकेलिकाले पक्षैर्नृपं चामरबद्धसख्यैः॥ २२॥

स्वर्भोगमेवाह—सुवर्णेति। सुवर्णशैलान्मेरोस्तूर्णमवतीर्य अवरुह्य स्वर्वा-

हिनीवारिकणावकीर्णैः मन्दाकिनीजलबिन्दुसम्पृक्तैः चामरेषु बद्धसंख्यैस्तत्सदृशैः पक्षैः पतत्रैः स्मरकेलिकाले तं नृपं वीजयामः तादृक्पक्षवीजनैः सुरतश्रान्तिमपनुदाम इत्यर्थः ॥ २२ ॥

हम सब (सुवर्णमय हंस) (नल के) सुरत क्रीडा के समय में सुमेरु पर्वत से शीघ्र ही उतर कर (श्वेत होने के कारण) चामरों के सदृश (प०-सेवा करने से देवों के मित्र) तथा मन्दाकिनी के जल कणों से व्याप्त (भीगे हुए) पक्षों से उस राजा नल को हवा करते हैं (अर्थात् हवा करके उसके सुरत क्रीडा से उत्पन्न श्रम (खेद) को दूर करते हैं) । (यहाँ पर पक्षा० में पक्षों को देवों का मित्र कहा गया है; उसमें हेतु है कि देव भी नल को स्वर्गीय भोग देते हैं । हमारे पक्ष भी मन्दाकिनी के जल कणों से व्याप्त होकर शीतल हवा प्रदान द्वारा स्वर्गीय भोग देते हैं अतः समान कार्य करने से देवों तथा पक्षों में एवं चामर तथा पक्षों में मित्रता कही गयी है ।)

यहाँ चामर पद में च+अमर पदच्छेद करने से देव तथा अखण्ड रखने से चामर अर्थ है । यहाँ 'चामरवृद्धसरु :' कहने से उपमा अलङ्कार है ॥२२॥

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया ।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात् ॥ २३ ॥

क्रियेतेति । साधुविभक्तिचिन्तां सज्जनविभागविचारः क्रियेत चेत्सा नलाभिधाना व्यक्तिः मूर्तिः प्रथमाभिधेया प्रथमं परिगणनीया । कुतः या व्यक्तिः स्वौजसां विलासैर्व्याप्तिभिः तावद्बहु तथा प्रभूतं नास्ति नामो नतिर्यस्येति-अनाकमनम्रं पदं परराष्टं साधयितुं स्वायत्तीकर्तुं क्षमा समर्था स्यात् । अन्यत्र साधुविभक्तिचिन्ता सप्तविभक्तिविचारः क्रियेत चेत् यदा सा प्रथमा व्यक्तिः अभिधेया विचार्य्या, या स्वौजसां 'सु औ जस्' इत्येषां प्रत्ययानां विलासैः विस्तारैस्तावद्बहु अनेकं नामपदं सुबन्तपदं 'वृक्ष' इत्यादिकं पदं साधयितं निष्पादयितुं क्षमा । अत्राभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रितत्वाल्लक्षणायाश्चानुपपत्त्यभावेनाभा।ादप्रकृतार्थप्रतीतिर्ध्वनिरेव ॥ २३ ॥

(कौन कौन सज्जन है, इस रूप में) अगर सज्जनों का विभाग पूर्वक विचार (गणना) किया जाय तो वह नल नाम का व्यक्ति प्रथम वाच्य होगा (प्रथम गिना जायगा) अर्थात् सज्जनों की गणना में नल ही

प्रथम गिना जायगा। जो (नल व्यक्ति) अपने पराक्रम के विलासों से बहुत से शत्रुओं के स्थानों को वश में करने के लिए समर्थ है।

(पक्षान्तर में—यदि साधु (पदों को साधु बनाने वाली) विभक्तियों का विचार किया जाय तो वह व्यक्ति (विभक्ति) प्रथमा नाम वाली होगी, जो सु–औ–जस प्रत्ययों के विलास से अर्थात् विसर्ग, लोप, अमादेश आदि प्रकारों से बहुत से प्रातिपदिकों को पद अर्थात् सुबन्त बनाने में अति समर्थ हैं। अथवा—साधु विभक्तियों का यदि विचार किया जाय तो एकवचन, द्विवचन, बहुवचन, सु–औ–जस, के मध्य में प्रथम सु रूप विभक्ति प्रथम होगी। जो अपने (विसर्ग, अमादेश, लोप आदि) विलासों द्वारा बहुत से प्रातिपदिकों को पद बनाने में समर्थ है। यहाँ "एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते" यह भाष्य सिद्धान्त ही प्रमाण है)।

यहाँ प्रस्तुत नल वर्णन में प्रथमा आदि विभक्तियों (अप्रस्तुत) की प्रतीति हो रही है अतः समासोक्ति अलङ्कार है। सा. वि.।

यहाँ प्रस्तुत नल रूप अर्थ में अभिधा के नियन्त्रित हो जाने से अप्रस्तुत विभक्ति रूप अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना कराती है अतः ध्वनि है ॥ २३ ॥

राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाऽध्वराज्योपमयेव राज्यम्।
भुङ्क्ते श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः पूर्वं त्वहो शेषमशेषमन्त्यम् ॥ २४ ॥

राजेति। 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्', 'सुयजोर्ङ्वनिप्', श्रिताः आश्रिताः ये श्रोत्रियाः छान्दसा अधीतवेदा इत्यर्थः। 'श्रोत्रियच्छान्दसौ समावि'त्यमरः। 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीत' इति निपातः। तत्सात्कृता दानेन तदधीना कृता श्रीः सम्पद्येन सः राजा नलः अध्वरेषु यदाज्यन्तदुपमया तत्सादृश्येनैव तद्वदेवेत्यर्थः। राज्यं विबुधा देवा विद्वांसश्च तद्व्रजत्रा दानेन तत्सङ्घाधीनं कृत्वा 'देये त्रा चे'ति चकारादितरत्र सातिप्रत्ययश्च, 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिरि'त्यव्ययत्वम्, पूर्वं पूर्वनिर्दिष्टमध्वराज्यं शेषं हुतशेषं भुङ्क्ते अन्त्यं पश्चान्निर्दिष्टं राज्यन्त्वशेषं कृत्स्नमखण्डं भुङ्क्ते, अहो उपभुक्तादन्यः शेषः पूर्वस्याशेपस्य तथात्वम्, अन्त्यस्य अशेपत्वं कथं विरोधादित्याश्चर्यम्, अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः, अखण्डमिति परिहारः ॥ २४ ॥

लक्ष्मी को आश्रित वैदिकों के आधीन करने वाले तथा विधि से यज

करने वाले उस राजा नल, जैसे यज्ञ में घृत को देवों को प्रदान करता है उसी तरह राज्य को भी विद्वत्समूह के आधीन करके, आश्चर्य है कि पहले शेष का बाद में अशेष का उपभोग करता है। अर्थात् श्लोक में उक्तक्रम से पहले अर्थात् घृत को शेष अर्थात् यज्ञ करने से बचे हुए को खाता है और अन्त्य अर्थात् राज्य का अशेष उपभोग करता है। अर्थात् जैसे देवताओं को अर्पित कर हवन से अवशिष्ट घृत का उपभोग करता है उसी तरह विद्वज्जनों के आधीन किए गए राज्य का उपभोग करता है।

यहाँ अध्वराज्योपमये में उपमा अलङ्कार है। घृत केवल विबुधों को अर्पित किया है, राज्य श्रोत्रिय विबुधों के आधीन किया गया है। यहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय में आधिक्य वर्णन है अतः व्यतिरेकालङ्कार है। लोक में प्रथम जिस पदार्थ का उपभोग किया जाता है वह अशेष रहता है पश्चात् शेष होता है। यहाँ प्रथम शेष पश्चात् अशेष का उपभोग कहा गया है अतः विरोध है, हवन से शेष तथा सम्पूर्ण राज्य अर्थ करके उसका परिहार किया गया है—अतः विरोधाभास है। छेकानुप्रास शब्दालङ्कार है। सा. वि. के अनुसार उत्प्रेक्षा भी है ॥ २४ ॥

दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैरमोघमेघव्रतमर्थिसार्थे।
सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम् ॥ २५ ॥

दारिद्र्येति। दारिद्र्यं दारयति। निवर्तयतीति तस्य दारिद्र्यदारिणो द्रविणौघस्य धनराशेर्वर्षैरर्थिसार्थे विषये अमोघमेघव्रतं वर्षुकत्वलक्षणं यस्य तं सन्तुष्टं दानहृष्टमिष्टदेवं यज्ञाराधितसुरलोकनाथं तं नलं के नाम इष्टानि न नाथन्ति ? न याचन्ते सर्वेऽपि नाथन्त्येवेत्यर्थः। नाथतेर्याच्ञार्थस्य दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् ॥ २५ ॥

दरिद्रता को नष्ट करने वाले धन समूहों की वर्षा से याचक जनों में अव्यर्थ अमोघ (अव्यर्थ = सफल) मेघव्रत को धारण करने वाले, सन्तुष्ट, देवों का यज्ञ करने वाले (या--प्रिय हैं देवता जिसके, या—याचकों के इष्ट देव) उस लोकनाथ राजा नल से कौन लोग अपने इष्ट की याचना नहीं करते, अपि तु सभी करते हैं। (यहाँ नाम शब्द प्रशंसा में शिर हिलाने अर्थ में है) अर्थात जैसे मेघ जल वर्षा के द्वारा लोगों को सन्तुष्ट करता है उसी

तरह बहुत सा धन वर्षा कर (देकर) नल भी लोगों को सुखी कर देता है इसलिए वर्षा करने वाले मेघों का व्रत धारण करने से नल अमोघ मेघव्रत वाला है । जो मेघ वर्षा नहीं करते वे मेघ (व्यर्थ) हैं ।

यहाँ अनुप्रास तथा "अमोघ मेघव्रतम्" में उपमा अलङ्कार है ॥ २५ ॥

अस्मत्किल श्रोत्रसुधां विधाय रम्भा चिरं भामतुलां नलस्य ।
तत्रानुरक्ता तमनाप्य भेजे तन्नामगन्धान्नलकूबरं सा ॥ २६ ॥

अस्मदिति । सा प्रसिद्धा रम्भा नलस्यातुलामनुपमां भां सौन्दर्यमस्मत् मत्तः श्रोत्रसुधां विधाय कर्णे अमृतं कृत्वा रसादाकर्ण्येत्यर्थः । तत्र तस्मिन्नले अनुरक्ता सती तं नलमनाप्य अप्राप्य, आङ्पूर्वादाप्नोतेः क्त्वो ल्यबादेशः नञ्-समासः । अन्यथा त्वसमासे ल्यबादेशो न स्यात् तन्नामगन्धात्तस्य नलस्य नामाक्षरसंस्पर्शाद्धेतोर्नलकूबरं कुबेरात्मजं भेजे किल । तादृक्तस्य सौन्दर्यमिति भावः ॥ २६ ॥

वह लोक प्रसिद्ध सुन्दरी रम्भा हम लोगों से नल की अनुपम कान्ति को चिरकाल तक सादर सुनकर नल में अनुरक्त हो गई । (किन्तु) नल को न पा सकने के कारण उसके नाम गन्ध (लेश = कुछ भाग) से (न कि अनु-राग से) नलकूबर को (पति रूप में) प्राप्त किया ।

यहाँ छेकानुप्रास तथा उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ २६ ॥

स्वर्लोकमस्माभिरितः प्रयातैः केलीषु तद्गानगुणान्निपीय ।
हा हेति गायन् यदशोचि तेन नाम्नैव हाहा हरिगायनोऽभूत ॥२७॥

स्वर्लोकमिति । केलीषु विनोदगोष्ठीषु तस्य नलस्य कर्तुर्गाने गुणान्निपीय इतः अस्माल्लोकात् स्वर्लोकं प्रयातैरस्माभिर्हरिगायनः इन्द्रगायको गन्धर्वः 'ण्युट् च'ेति गायतेः शिल्पिनि ण्युट्प्रत्ययः । गायन् यद्यस्मात् हाहेत्यशोचि; ततस्तेनैव कारणेन नाम्ना हाहा अभूत्, आलापाक्षरानुकारादितिः भावः । 'हाहाहूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसामि'त्यमरः । 'आलापाक्षरानुकार-निमित्तोऽयमाकारान्तः पुंसि चे'ति केचित् । 'हाहा खेदे हूहू हर्षे गन्धर्वेऽप्यनव्यय' इति विश्वः । अव्ययमेवेति भोजः । अत्र शोकनिमित्तासम्बन्धेऽपि सम्बन्धादतिशयोक्तिः । तथा च गन्धर्वातिशायि गानमस्येति वस्तु व्यज्यते ॥ २७ ॥

केलि (क्रीडा) के समय नल के गान की मधुरता आदि गुणों को सादर सुनकर यहाँ से स्वर्गलोक में गए हुए हम लोगों ने गान करते हुए इन्द्र के गायक गन्धर्वों की 'हा हा' कह कर जो निन्दा किया, इसी कारण से इन्द्र के गायक गन्धर्वों का नाम ही हाहा पड़ गया।

यहाँ हाहा नाम पड़ने में हंसो के शोक का सम्बन्ध नहीं है तो भी सम्बन्ध की कल्पना की गई है अतः अतिशयोक्ति अलङ्कार है। गन्धर्वों के गान से श्रेष्ठ गान नल का है यह वस्तु ध्वनि है ॥ २७ ॥

श्रृण्वन् सदारस्तदुदारभावं हृष्यन्मुहुर्लोम पुलोमजायाः।
पुण्येन नालोकत [1]नाकपालः प्रमोदबाष्पावृतनेत्रमालः ॥ २८ ॥

श्रृण्वन्निति। नाकपाल इन्द्रः सदारः सवधूकः तस्य नलस्य उदारभावमौदार्यं श्रृण्वन्नत एव प्रमोदबाष्पैरानन्दाश्रुभिरावृतनेत्रमालस्तिरोहितदृष्टिस्रजः सन् पुलोमजायाः शच्याः मुहुर्हृष्यन्नलानुरागादुल्लसल्लोमरोमाञ्चं पुण्येन शच्या भाग्येन नालोकत नापश्यत् अन्यथा मानसव्यभिचारापराधाद् दण्ड[illegible]ः ॥ २८ ॥

अपनी पत्नी (इन्द्राणी) के सहित उस नल की उदारता को सुनते हुए आनन्दाश्रु से भरे हुए नेत्रों वाले लोकपाल इन्द्र ने इन्द्राणी के बार-बार हर्षित होने वाले रोम (रोमाञ्च) को उसकी पुण्य से ही नहीं देख सके। (अगर इन्द्र इन्द्राणी के रोमाञ्च को देख लेते तो उसे असती होने की शङ्का से त्याग देते)।

यहाँ छेकानुप्रास तथा भावोदयालङ्कार है ॥ २८ ॥

साऽपीश्वरे श्रृण्वति तद्गुणौघान् प्रसह्य चेतो हरतोऽर्धशम्भुः।
अभूदपर्णाऽङ्गुलिरुद्धकर्णा कदा न कण्डूयनकैतवेन ॥ २९ ॥

सेति। ईश्वरे हरे प्रसह्य चेतो हरतो बलान्मनोहारिणस्तस्य नलस्य गुणौघान् श्रृण्वति सति सा प्रसिद्धा अर्धं शम्भोरर्धशम्भुः शम्भोरर्धाङ्गभूतेत्यर्थः। तथा चापसरणमशक्यमिति भावः। अपर्णा पार्वत्यपि कदा कण्डूयनकैतवेन कण्डूनोदनव्याजेन अङ्गुल्या रुद्धः पिहितः कर्णो यया सा नाभूत अभूदेवेत्यर्थः। अन्यथा चित्तचलनादिति भावः ॥ २९ ॥

१. लोकपाल' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः।

बलात् चित्त को हरण करने वाले राजा नल के गुणों को शिव के सादर सुनने पर वह प्रसिद्ध पतिव्रता शिव के शरीर की आधे भाग वाली पार्वती भी खुजलाने के व्याज (बहाने) से कब अङ्गुली से कानों को बन्द नहीं किया, अपि तु सदा बन्द किया। (अर्थात् शिव की आधी शरीर होने के कारण अन्यत्र जा नहीं सकती थीं और सुनने पर चित्त चञ्चल होने की सम्भावना थी जिससे पातिव्रत्य व्रत भंग होता, अतः कान खुजलाने के बहाने कान को बन्द कर लिया)।

यहाँ सा० वि० कार उत्पन्न अभिलाषा को छिपाने के कारण व्याजोक्ति अलङ्कार मानते हैं। परन्तु जब कानों को बन्द कर लिया, पार्वती सुनी ही नहीं तो अभिलाषा उत्पन्न होने की बात उचित नहीं प्रतीत होती ॥ २६ ॥

अलं सजन् धर्मविधौ विधाता रुणद्धि मौनस्य मिषेण वाणीम्।
तत्कण्ठमालिङ्ग्य रसस्य तृप्तां न वेद तां वेदजडः स वक्राम् ॥ ३० ॥

अलमिति। विधाता ब्रह्मा अलमत्यन्तं धर्म्मविधौ सुकृताचरणे सजन् धर्मासक्तः सन्नित्यर्थः। वाणीं स्वभार्यां वाग्देवीं वर्णात्मिकाञ्च मौनस्य वाग्यमनव्रतस्य मिषेण रुणद्धि नलकथाप्रसङ्गान्निरुन्धे, तस्या उभय्या अपि तदासङ्गभयादिति भावः। किन्तु वेदजडः छान्दसः विधाता तामुभयीमपि वाणीं तस्य नलस्य कण्ठं ग्रीवामालिङ्ग्य मुखमाश्रित्य च रसस्य तृप्तां तद्राग-सन्तुष्टामन्यत्र शृङ्गारादिरसपुष्टाञ्च। सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, 'पूरणगुणे' त्यादिना षष्ठीनिषेधादेव ज्ञापकादिति केचित्। वक्रां प्रतिकूलकारिणीं वक्रोक्त्यलङ्कारयुक्ताञ्च न वेद न वेत्ति, 'विदो लटो वे'ति णलादेशः। अशक्यरक्षाः स्त्रिय इति भावः। अत्र प्रस्तुतवाग्देवीकथनादप्रस्तुत-वर्णात्मकवाणीवृत्तान्तप्रतीतेः प्रागुक्तरीत्या ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥ ३० ॥

धार्मिक कृत्य (सन्ध्योपासना आदि) में आसक्त ब्रह्मा मौन के व्याज से वाणी (प०–अपनी स्त्री वाणी) को (अपने भीतर) रोकते हैं (अर्थात् बाहर निकल कर दूसरे पुरुष के पास चली जायगी, इस शङ्का से मौन धारण करते हैं, धर्मभावना से नहीं) परन्तु ब्रह्मा का वह रोकना व्यर्थ है (क्योंकि) वेदाभ्यास से जड़ वह ब्रह्मा नल के कण्ठ का अलिङ्गन कर (शृङ्गारादि नव) रसों से तृप्त वक्रोक्ति रूप (कुटिल) उस वाणी को

नहीं जानते हैं (दूसरा भी जड़ पुरुष पर पुरुष के कण्ठों में आलिङ्गन करने वाली कुटिल स्त्री को नहीं जानता है)। तात्पर्य यह है कि शृङ्गारादि रसों से युक्त वक्रोक्ति को नल ही जानता है, दूसरा नहीं)।

यहाँ छेकानुप्रास तथा "मौन के व्याज से" में अपह्नुति तथा वाणी में कुटिल व्यावहार का आरोप होने के कारण समासोक्ति अलङ्कार है। प्रस्तुत वाग्देवी के वर्णन से अप्रस्तुत वर्णात्मक वाणी के वृत्तान्त की प्रतीति में ध्वनि है ॥ ३० ॥

श्रियस्तदालिङ्गनभूर्न भूता व्रतक्षतिः काऽपि पतिव्रतायाः।
समस्तभूतात्मतया न भूतं तद्भर्तुरीर्ष्याकलुषाऽणुनाऽपि ॥ ३१ ॥

श्रिय इति। पतिव्रतायाः श्रियः श्रीदेव्याः तद्भर्तुर्विष्णोः समस्तभूतात्मतया सर्वभूतात्मकत्वेन नलस्यापि विष्णुरूपत्वेनेत्यर्थः। तदालिङ्गनभूर्नलाश्लेषभवा कापि व्रतक्षतिः पातिव्रतभङ्गो न भूता नाभूत्। अतएव तद्भर्तुर्विष्णोश्च ईर्ष्यया नलालिङ्गनभुवा अक्षमया यत्कलुषं कालुष्यं मनःक्षोभः दुःखादित्वेन अस्य धर्मधर्मिवचनत्वादत इव क्षीरस्वामी 'शस्तं चाथ त्रिषु द्रव्ये पापं पुण्यं सुखादि चे'त्यत्र आदिशब्दाछ्रेयःकलुषशिवमद्रादय इति उभयवचनेषु संजग्राह। तस्याणुना लेशेनापि न भूतं नाभावि। नपुंसके भावे क्तः। अत्र शच्यादिचित्तचाञ्चल्योक्तेर्नलसौन्दर्ये तात्पर्यान्नानौचित्यदोषः ॥ ३१ ॥

(पतिव्रता) लक्ष्मी (शोभारूपराज्यलक्ष्मीरूप) की, उसके पति विष्णु के समस्त प्राणियों के आत्मा (स्वरूप) होने से (नल भी विष्णु स्वरूप ही हैं अतः) नल के आलिङ्गन करने से कुछ भी व्रतक्षति (पातिव्रत्य में थोड़ी भी न्यूनता) नहीं हुई तथा उस (लक्ष्मी) के पति (विष्णु) को लक्ष्मी के द्वारा नल का आलिङ्गन करने पर भी ईर्ष्या की कलुषता का लेश भी नहीं हुआ।

यहाँ व्रत भङ्ग तथा ईर्ष्या न होने में विष्णु का समस्त प्राणि स्वरूपता कारण है अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

यहाँ २८ वें श्लोक से ३१ वें श्लोक तक जो इन्द्राणी, वाणी, लक्ष्मी आदि के चित्त की चञ्चलता का वर्णन है उसका तात्पर्य नल के सौन्दर्य प्रतिपादन

में है, इन्द्राणी आदि के चञ्चलता प्रतिपादन में नहीं, अतः यहाँ अनौचित्य दोष नहीं है ॥ ३१ ॥

धिक् तं विधेः पाणिमजातलज्जं निर्माति यः पर्वणि पूर्णमिन्दुम् ।
मन्ये स विज्ञः स्मृततन्मुखश्रीः कृतार्धमौज्झद्भवमूर्ध्नि यस्तम् ॥३२॥

धिगति । तमजातलज्जं निस्त्रपं विधेः पाणिं धिक् यः पाणिः स्मृततन्मुखश्रीरपि पर्वणि जातावेकवचनं पर्वस्वित्यर्थः । पूर्णमिन्दुं निर्माति अद्यापीति भावः । स विज्ञः अभिज्ञ इति मन्ये यः पाणिः स्मृततन्मुखश्रीः सन् तमिन्दुं कृतः अर्द्धं एकदेशो यस्य तं कृतार्द्धमर्द्धनिर्मितमेव भवमूर्ध्नि हरशिरसि औज्झत् । अतिसौन्दर्ययुक्तमस्यास्यमिति भावः ॥ ३२ ॥

(हे दमयन्ती) नल को मुख की शोभा का स्मरण रहने पर भी ब्रह्मा का वह हाथ जो पूर्णिमा में पूर्ण (तथा सकलङ्क) चन्द्र का निर्माण करता है, उस निर्लज्ज हाथ को धिक्कार है ।

(अर्थात् पूर्ण चन्द्र को भी अपनी कान्ति से तिरस्कृत करने वाले नल के मुख के होने पर भी नल के मुख से अति हीन कलङ्कयुक्त चन्द्रमा का निर्माण करता है अतः वह निर्लज्ज और निन्द्य है) हाँ, ब्रह्मा के उस हाथ को मैं विज्ञ (कुशल) मानता हूँ जिसने नल के मुख-श्री को स्मरण करके आधे बनाए हुए भी चन्द्रमा को शिवजी के मस्तक पर फेंक दिया है । (अर्थात् प्रारम्भ करके भी उससे उत्तम का स्मरण होने पर जिसने त्याग दिया वह विज्ञ है) यद्यपि पूर्णचन्द्र तथा एक कला वाले चन्द्र को एक ही ब्रह्मा का हाथ बनाता है तो भी कार्य-भेद तथा काल-भेद से उस एक ही हाथ को विज्ञ तथा निर्लज्ज कहा गया है यह उपचरित है । भाव यह है कि पूर्णचन्द्र से भी अत्यन्त रमणीय नल का मुख है)

यहाँ न्यून गुण होने से चन्द्र में उपमेयत्व की कल्पना है अतः प्रतीपालङ्कार है । सा० वि० के अनुसार प्रदीपालङ्कार भी है ॥ ३२ ॥

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः ।
सूरे समुद्रस्य कदापि पूरे कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे ॥ ३३ ॥

निलीयत इति । विधुश्चन्द्रः स्वस्य जैत्रं, तृन्नन्तात्प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययः । तस्य नलस्य मुखं नोऽस्माकं मुखाच्छ्रुत्वा ह्रीविधुरः लज्जाविधुरः

सन् कदापि सूरे सूर्ये दर्शेष्वित्यर्थः, कदापि समुद्रस्य पूरे प्रवाहे तदुत्पन्नत्वात् कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे आकाशे सञ्चरमाणमेघोदरे निलीयते अन्तर्धत्ते, न कदाचिदग्रतः स्थातुमुत्सहत इति भावः। अत्र विधोः स्वाभाविकसूर्य्यादिप्रवेशे पराजयप्रयुक्तह्रीनिलीनत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ३३ ॥

चन्द्रमा हमारे मुख से अपने (चन्द्र) को जीतने वाले नल के मुख को सुन कर लज्जा से व्याकुल होकर कभी (अमावस्या में) सूर्य में, कभी (अस्त समय में) समुद्र के प्रवाह में, कभी (वर्षा ऋतु में) आकाश में घूमने वाले मेघों के गर्भ में छिपता है। (दूसरा भी अपने विजयी से लज्जित होकर किसी गुप्त स्थान में छिपता ही है।

यहाँ चन्द्रमा में लज्जित पुरुष का व्यवहार आरोपित है अतः समासोक्ति है। सा० वि० के अनुसार पर्याय है। चन्द्रमा में पराजय प्रयुक्त छिपने की उत्प्रेक्षा है ॥ ३३ ॥

संज्ञाप्य नः स्वध्वजभृत्यवर्गान् दैत्यारिरत्यब्जनलास्यनुत्यै।
तत्संकुचन्नाभिसरोजपीताद्धातुर्विलज्जं रमते रमायाम् ॥ ३४॥

संज्ञाप्येति ।,दैत्यारिः विष्णुः स्वध्वजस्य गरुडस्य पक्षिराजस्य भृत्यवर्गान्नोऽस्मान् अतिक्रान्तमब्जमत्यब्जमब्जविजयीत्यर्थः। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयये'ति समासः। तस्य नलस्यास्यनुत्यै स्तोत्राय, 'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिरि'त्यमरः। संज्ञाप्य तत्सङ्कुचता तया नुत्या निमीलतानाभिसरोजेन पीतात्तिरोहिताद्धातुर्ब्रह्मणो विलज्जं यथा तथा रमायां रमते। अत्र विष्णोरुक्तव्यापारासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ३४ ॥

विष्णु भगवान् गरुड़ के भृत्यवर्ग हम सब को कमल के जीतने वाले नल के मुख की प्रशंसा के लिए इशारे से आदेश देकर उस (नल के मुख की स्तुति) से सङ्कुचित होते हुए नाभि कमल के द्वारा तिरोहित किए गए ब्रह्मा से (ब्रह्मा के न देखने के कारण) लज्जा रहित होकर रमा के साथ रमण करते हैं। (विष्णु भगवान् के नाभि कमल पर ब्रह्मा स्थित हैं तो ब्रह्मा के देखते रहने के कारण विष्णु रमा के साथ रमण नहीं कर सकते, अतः जब रमण की इच्छा होती है तो हम हंसों को नल के मुख की प्रशंसा के लिए सङ्केत कर देते हैं। हम लोग नल के मुख की स्तुति करने लगते हैं तो कमल

अपने विजेता की स्तुति सुनकर लज्जा से सङ्कुचित होने लगता है, उससे ब्रह्मा उसमें छिप जाते हैं तो उनके न दीखने के कारण लज्जा न होने से रमा के साथ रमण करते हैं।

यहाँ नल के मुख को उपमान कमल से उत्कृष्ट गुणवाला होने से सा० वि० के अनुसार प्रतीपालङ्कार है। यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध वर्णन रूप अतिशयोक्ति स्फुट है ॥ ३४ ॥

रेखाभिरास्ये गणनादिवास्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्तः।
चतुर्दशाष्टादश चात्र विद्या द्वेधाऽपि सन्तीति शशंस वेधाः ॥ ३५ ॥

रेखाभिरिति। अस्य नलस्य आस्ये दन्तमयीभिर्दन्तरूपाभिर्द्वात्रिंशता रेखाभिर्गणनात्संख्यानाच्चतुर्दश चाष्टादश च विद्या द्वेधा अपि अत्र आस्ये सन्ति सम्भवन्न्यायेनेति वेधाः शशंसेवेत्युत्प्रेक्षा। 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥ आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेत्यनुक्रमात्। अर्थशास्त्रं परं तस्माद्विद्या ह्यष्टादश स्मृताः॥' इति ॥ ३५ ॥

ब्रह्मा इस नल के मुख में दन्तमयी बत्तीस रेखाओं से गणना करके इस नल के मुख में स्वतन्त्र रूप से चौदह तथा अट्ठारह (इस दोनों) प्रकार की विद्याएँ हैं, मानों ऐसा कहे हैं।

यहाँ दातों को निषेध कर रेखा की स्थापना है तथा बत्तीस रेखाओं से विद्याओं की गणना की उत्प्रेक्षा है अतः सापह्नवोत्प्रेक्षाऽलंकार है ॥ ३५ ॥

श्रियौ नरेन्द्रस्य निरीक्ष्य तस्य स्मरामरेन्द्राविव न स्मरामः।
वासेन सम्यक् क्षमयोश्च तस्मिन् बुद्धौ न दध्मः खलु शेषबुद्धौ ॥ ३६ ॥

श्रियाविति। तस्य नरेन्द्रस्य श्रियौ सौन्दर्यसम्पदौ निरीक्ष्य, 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरि'ति शाश्वतः। स्मरामरेन्द्रावपि न स्मरामः किं च तस्मिन्नरेन्द्रे क्षमयोः क्षितिक्षान्त्योः 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमे'त्यमरः। सम्यग्वासेन निर्बाधस्थित्या शेषबुद्धौ फणिपतिबुद्धदेवौ चित्ते न दध्मः न धारयामः खलु। अत्र द्वयोरपि श्रियोः द्वयोरपि क्षमयोः प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतश्लेषः। एतेन सौन्दर्यादिगुणैः स्मरादिभ्योऽप्यधिक इति व्यतिरेको व्यज्यते। श्लेषयथासंख्ययोः सङ्करः ॥ ३६ ॥

(हम लोग) उस नरेन्द्र नल की शोभा तथा समृद्धि को देखकर काम-देव तथा इन्द्र को भी नहीं स्मरण करते तथा उस नल में पृथ्वी एवं क्षान्ति का भलीभाँति निवास होने के कारण शेष तथा बुद्ध को बुद्धि में धारण अर्थात् स्मरण नहीं करते । (काम में केवल शोभा है, इन्द्र में केवल समृद्धि है, राजा नल में दोनों है । अतः नल को देखने से काम तथा इन्द्र को हमलोग भूल गए हैं । इसी तरह शेष एक क्षमा (पृथ्वी) को धारण करते हैं, बुद्ध भी एक ही क्षमा (क्षान्ति) धारण करते हैं और नल में दोनों प्रकार की क्षमा (पृथ्वी और क्षान्ति) का विधिवत् निवास है । अतः शेष तथा बुद्ध का स्मरण हम सब नहीं करते हैं ।)

यहाँ श्री तथा क्षमा शब्द में श्लेष है तथा उक्त शब्दों के दोनों अर्थों का काम, इन्द्र आदि में क्रम से अन्वय है अतः यथासंख्यालंकार है । अतः दोनों का सङ्करालंकार है । साथ ही राजानल सौन्दर्य समृद्धि में काम और इन्द्र से भी अधिक हैं तथा पृथ्वी तथा क्षान्ति धारण करने में शेष एवं बुद्ध से भी अधिक हैं । यह वस्तुध्वनि है ॥ ३६ ॥

विना पतत्रं विनतातनूजैस्समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः ।
मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न निर्जिता दिक्कतमा तदश्वैः ॥ ३७ ॥

विनेति । पतत्रं विना स्थितैरिति शेषः । विनतातनूजैः वैनतेयैः, अपक्ष-तार्क्ष्यैरित्यर्थः । ईक्षणलक्षणीयैः समीरणैश्चाक्षुषवायुभिः अनणुप्रमाणैः 'अणु-परिमाणं मन' इति तार्किकाः, तद्विपरीतैर्महापरिमाणैर्मनोभिर्वैनतेयादिसमान-वेगैरित्यर्थः । एवंविधैः तदश्वैः कतमा दिक् न लङ्घिताऽऽसीत् ? सर्वापि लङ्घितैवासीदित्यर्थः । अत्राश्वानां विशिष्टवैनतेयादित्वेन निरूपणाद्रूपका-लङ्कारः ॥ ३७ ॥

विना पंख के गरुड़ तथा नेत्र से देखे जाने योग्य वायु एवं महत्परिमाण वाले मन रूप नल के घोड़ों ने किस दिशा को नहीं लाँघ गए, अपि तु सभी दिशाओं को लाँघ गए हैं । गरुड़ सपक्ष है, वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, मन अणु परिणाम है इनसे विपरीत होते हुए भी नल के घोड़े गरुड़ादि रूप हैं ।

यहाँ घोड़ों में विशिष्ट गरुड़त्वादि का आरोप है अतः रूपकालङ्कार है। सा० वि० के अनुसार विभावना है ॥ ३७ ॥

संग्रामभूमीषु भवत्यरीणामस्त्रैर्नदीमातृकतां गतासु।
तद्बाणधारापवनाशनानां राजव्रजीयैरसुभिस्सुभिक्षम् ॥ ३८ ॥

संग्रामेति। अरीणामस्त्रैः रसृग्भिर्नद्येव माता यासां तास्तासां भावस्तत्ता नदीमातृकता नद्यम्बुसम्पन्नशस्याढ्यता, 'देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रममि'त्यमरः। 'नद्यृतश्चे'ति कप्, 'त्वतलोर्गुणवचनस्ये'ति पुंवद्भावः। तां गतासु संग्रामभूमीषु तस्य नलस्य बाणधारा बाणपरम्परास्ता एव पवनाशनास्तेषां राजव्रजीयैः राजसंघसम्बन्धिभिः 'वृद्धाच्छः'। असुभिः प्राणवायुभिः सुभिक्षम्। भिक्षाणां समृद्धिर्भवति समृद्धाव्ययीभावः। नदीमातृकदेशेषु सुभिक्षं भवतीति भावः। रूपकालङ्कारः ॥३८॥

संग्राम भूमि के शत्रुओं के रुधिर से भरी हुई नदी वाली बन जाने पर (नदीमातृक बन जाने पर) शत्रु राजाओं के प्राणों से उस नल के बाण समूह रूपी सर्पों के लिए सुभिक्ष होता है। नदी-नहरों के जल से सींच कर धान्यादि अन्न उत्पन्न होने से जो देश पालित होते हैं, वे देश नदीमातृक कहलाते हैं और जहाँ वर्षा के जल से अन्नादि उत्पन्न होते हैं वे देश देवमातृक हैं)।

राजा नल ने अपने बाणों से सभी शत्रुओं को मार डाला है, संग्राम-भूमि में शत्रुओं के खून की नदी बहने लगी है। अतः संग्राम-भूमि नदी मातृक देश बन गया है तो वहाँ नल के बाण रूपी सर्पों के लिए शत्रु राजाओं के प्राण वायु से सुभिक्ष होता है। अर्थात् प्रर्याप्त भोजन मिलता है।

यहाँ लम्बे तथा शीघ्रगामी एवं प्राण हरण करने वाले बाणों में सर्पत्व का आरोप किया गया है अतः रूपकालङ्कार है ॥ ३८ ॥

यशो यदस्याजनि संयुगेषु कण्डूलभावं भजता भुजेन।
हेतोर्गुणादेव दिगापगाली कूलंकषत्वं व्यसनं तदीयम् ॥ ३९ ॥

यश इति। संयुगेषु समरेषु कण्डूलभावं कण्डूलत्वं, 'सिध्मादिभ्यश्चे'ति मत्वर्थीयो लच्। भजता अस्य भुजेन यद्यशः अजनि जनितं, जनेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ्। तदीयं तस्य यशःसम्बन्धि दिशः एव आपगाः नद्यः तासामालिः राजिः तस्याः कूलङ्कषतीति कूलङ्कषं, शिवभागवतवत्समासः, 'सर्वकूले'त्यादिना

खचि मुमागमः। तस्य भावस्तत्त्वं तत्र व्यसनमासक्तिः हेतोः कारणस्य भुजस्य गुणादेव कण्डूलत्वादागतमिति शेषः। यशसो दिक्कूलकषणानुमितायाः कण्डूलतायाः तत्कारणकण्डूलभुजगुणपूर्वत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ३९ ॥

रण की खुजली से युक्त बाहुओं से संग्राम में जो नल का यश उत्पन्न हुआ, उसका दिशा रूपी नदियों के तट को घीसने का व्यसन कारण के गुण से ही प्राप्त हुआ है (स्वभावतः नहीं)। अर्थात् यश को उत्पन्न करने वाले नल की भुजा में रणकण्डू थी, तो भुजा से उत्पन्न यश में भी कण्डू आ गई, जिसको मिटाने के लिए यश दिशा रूपी नदियों के तट को घीसा करता है जिससे तट कटता जाता है अर्थात् नल का यश दिगन्त व्याप्त है)

यहाँ दिशाओं में नदीत्व का आरोप किया गया है, अतः रूपकालङ्कार है तथा यश में खुजलाहट की, उसके कारण भुजाओं के गुण से प्राप्त होने की सम्भावना है अतः उत्प्रेक्षाऽलङ्कार है ॥ ३९ ॥

यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यातस्यास्समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात्।
पारेपरार्द्धं गणितं यदि स्याद् गणेयनिश्शेषगुणोऽपि स स्यात् ॥ ४० ॥

यदीति। किं बहुना, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी, तद्धितार्थे'त्यादिना समाहारे द्विगुः, अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते, 'द्विगो'रिति ङीप्। गणनापरा नलगुणसंख्यानतत्परा स्याद्यदि तस्याः त्रिलोक्याः आयुषः समाप्तिर्न स्याद्यदि अमरत्वं यदि स्यादित्यर्थः। परार्द्धस्य चरमसंख्यायाः पारे पारेपरार्द्धं, 'पारे मध्ये षष्ट्या वे'ति अव्ययीभावः। गणितं स्यात्परार्द्धात्परतोऽपि यदि संख्या स्यादित्यर्थः। तदा स नलोऽपि गणेया गणितुं शक्याः निःशेषा निखिला गुणा यस्य स स्यात्, गणेय इति औणादिक एयप्रत्ययः। अत्र गुणानां गणेयत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः ॥

यदि त्रिलोकी (तीनो लोक) नल के गुणों की गणना में तत्पर हो जाय और उनके आयु की समाप्ति न हो अर्थात् मरे नहीं, सदा जीवित रह कर गणना करते रहें और गणित शास्त्र भी परार्धसंख्या से परे (अधिक) हो जाय तब उस के सारे गुण गिने जा सकते हैं। अर्थात् नल असंख्य गुण वाला है।

यहाँ अतिशयोक्ति स्फुट है ॥ ४० ॥

अवारितद्वारतया तिरश्चामन्तःपुरे तस्य निविश्य राज्ञः ।
गतेषु रम्येष्वधिकं विशेषमध्यापयामः परमाणुमध्याः ॥ ४१ ॥

एवं नलगुणाननुवर्ण्य गूढाभिसन्धिनाऽस्मनस्तदन्तः पुरेऽपि परिचयं दर्शयति—अवारितेत्यादि । तिरश्चां पक्षिणामवारितद्वारतया अप्रतिषिद्धप्रवेशतयेत्यर्थः । तस्य राज्ञो नलस्यान्तःपुरे निविश्य अवस्थाय परमाणुमध्यास्तदङ्गनाः रम्येषु गतेषु अधिकमपूर्वं विशेषं भेदमध्यापयामः अभ्यासयामः । दुहादित्वाद् द्विकर्मत्वम् ॥ ४१ ॥

पक्षियों के (प्रवेश के) लिए द्वार पर निषेध (प्रतिबन्ध) न रहने के कारण हम लोग उस राजा नल के अन्तःपुर में प्रवेश करके परमाणु के समान अतिसूक्ष्म मध्यभाग (कटि) वाली रानियों के स्वतः सुन्दर गमन में और अधिकता (अलौकिकता) का उपदेश (शिक्षा) देते हैं।

यहाँ "परमाणुमध्याः" में धर्म वाचकलुप्ता लुप्तोपमा है ॥ ४१ ॥

पीयूषधारानधराभिरन्तस्तासां रसोदन्वति मज्जयामः ।
रम्भादिसौभाग्यरहःकथाभिः काव्येन काव्यं सृजताऽऽदृताभिः ॥४२॥

पीयूषेति । किं च पीयूषधाराभ्यः अनधराभिरन्यूनाभिरमृतसमानाभिः काव्यं सृजता स्वयं प्रबन्धकर्त्रा, कवेरपत्यं पुमान् काव्यस्तेन, 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य' इत्यमरः । 'कुर्वादिभ्यो ण्य' इति ण्यप्रत्ययः । आदृताभिस्तस्यापि विस्मयकरीभिरित्यर्थः । रम्भादीनां दिव्यस्त्रीणां सौभाग्यं पतिवाल्लभ्यं तत्प्रयुक्ताभिः रहःकथाभीरहस्यवृत्तान्तवर्णनाभिस्तासां नलान्तःपुरस्त्रीणामन्तरन्तःकरणं रसोदन्वति शृङ्गाररससागरे मज्जायामः अवगाहयामः ॥४२॥

हम सब अमृत की धारा (प्रवाह) से (स्वल्प भी) न्यूनता से रहित अर्थात् अमृत प्रवाह के सदृश तथा काव्य रचना करने वाले शुक्राचार्य से आदृत रम्भा आदि अप्सराओं के (पुरुषों को वश में करने आदि की शक्ति रूप) सौभाग्य के रहस्य की कथाओं से (सम्भोग गोष्ठी आदि गोपनीय वार्ता से) उस नल की स्त्रियों के अन्तःकरण को शृङ्गार रस के समुद्र में निमग्न करते हैं।

यहाँ "अमृत प्रवाह के सदृश" में उपमा अलङ्कार है तथा छेकानुप्रास है ।१

काभिर्न तत्राभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक्क्रियेऽहम् ? ।
जिह्रेति यन्नैव कुतोऽपि तिर्यक्कश्चित्तिरश्चस्त्रपते न तेन ॥ ४३ ॥

कामिरिति। किञ्चयद्यस्मात् तिर्यक् पक्षी कुतोऽपि जनान्न जिह्रेति न लज्जत एव ह्री-लज्जायामिति धातोर्लट्, 'श्लावि'ति द्विर्भावः। तिरश्चोऽपि कश्चिज्जनो न त्रपते न लज्जते, तेन कारणेन तत्रान्तःपुरे कामिस्त्रीभिरहमभिनवा अपूर्वा स्मराज्ञा रतिरहस्यवृत्तान्तः सैव विश्वासनिक्षेपो विश्वासेन गोप्यार्थः। तस्य वणिक् गोप्ता न क्रिये न कृतोऽस्मि ?। सर्वासामप्यहमेव विस्रम्भकथापात्रमस्मीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

उस नल के अन्तःपुर में कौन सुन्दरी मुझको अति गोपनीय काम रहस्य का विश्वास पूर्वक निक्षेप (धरोहर) रखने वाला व्यापारी (बनियाँ) नहीं बनाती है, अर्थात् सभी सुन्दरियाँ बनाती हैं। क्योंकि पक्षी आदि किसी प्राणी से नहीं लजाते हैं इसलिए कोई पक्षियों से भी नहीं लजाता है। (इसलिए वे, लज्जा न होने के कारण, मेरे सामने अत्यन्त गोपनीय गोष्ठी करती हैं।

यहाँ मुझे धरोहर रखने वाला बनियाँ बनाती है—इसमें रूपकालङ्कार है तथा पक्षी से कोई नहीं लजाता, इसमें पक्षियों का किसी से न लजाना कारण है अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ४३ ॥

वार्ता च साऽसत्यपि नान्यमेति योगादरन्ध्रे हृदि तां निरुन्धे।
विरञ्चिनाननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्णः ॥ ४४ ॥

अथ स्वस्य एवंविधविश्वासहेतुत्वमाह—वार्तेति। विरिञ्चेर्ब्रह्मणो नानाननैर्बहुमुखैर्वादेन व्याख्यानेन धौतस्य शोधितस्य समाधिशास्त्रस्य संयनविद्यायाः श्रुत्या श्रवणेन पूर्णकर्णःचतुर्मुखाभ्यस्तवाङ्नियमनविद्य इत्यर्थः। अहमिति शेषः। योगात् अरन्ध्रे निरवकाशे पूर्णेहृदि हृदये यां वार्त्तां निरुन्धे, सा वार्त्ता लोकवार्त्ता किमुतरहस्यवार्त्तेति भावः। असत्यपि विनोदार्थं कथितापि, किमुत सतीति भावः। असत्यपि अन्यपुरुषान्तरं नैति न गच्छति। यथा ह्यसती दुश्चरी नीरन्ध्रस्थाने निरुद्धा नान्यमेति तद्वदिति भावः। अतोऽहमासां विश्वास्य इति पूर्वेणान्वयः। अत्र वार्त्तानिरोधस्य विरञ्चीत्यादिपदार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गभेदः ॥ ४४ ॥

ब्रह्मा के अनेक (चार) मुखों से उच्चरित होने के कारण पवित्र हुए समाधि शास्त्र (योगशास्त्र) के श्रवण से पूर्ण कानों वाला मैं छिद्ररहित

(शत्रुओं से भेदन न होने योग्य, पक्षा० में योगसाधना से निर्दोष) हृदय में यत्न से जिस वार्ता को अत्यन्त गुप्त रख लेता हूँ, वह असत्य भी (परिहास की बात भी) दूसरे के पास नहीं जाती (अर्थात् परिहास की या झूठी बात भी मैं किसी का सुनकर किसी दूसरे से नहीं कहता क्योंकि मेरा हृदय योग-शास्त्र के श्रवण से पवित्र है। जिसका हृदय दूषित होता है वह दूसरे की बात दूसरे से कहता है) (पक्षा० में–असती (कुलटा) भी, जिसको मैं यत्नपूर्वक निरन्ध्र (गुप्त) स्थान में रोक लेता हूँ तो वह भी किसी दूसरे पुरुष के पास नहीं जाती, सती की या सच्ची बात की तो फिर कहना ही क्या ?)

यहाँ वार्ता को रोकने में योगशास्त्र के सुनने से हृदय का पवित्र होना कारण है अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ४४ ॥

नलाश्रयेण त्रिदिवापभोगं तवानवाप्यं लभते बतान्या ।
कुमुद्वतीवेन्दुपरिग्रहेण ज्योत्स्नोत्सव दुर्लभमम्बुजिन्याः ॥ ४५ ॥

अथ श्लोकद्वयेन अस्या नलानुरागमुद्दीपयति–नलेत्यादि। तवानवाप्यं नलपरिग्रहाभावात्त्वया दुरापं, 'कृत्यानां कर्त्तरि वे'ति षष्ठी तृतीयार्थे। त्रिदिवः स्वर्गः पृषोदरादित्वात् साधुः। तस्य उपभोगं तादृग् भोगमित्यर्थः। तस्येन्द्र-सदृशैश्वर्यत्वादिति भावः। अम्बुजिन्या दुर्लभमिन्दुपरिग्रहाभावात्तया दुराप-ज्योत्स्नोत्सवं चन्द्रिकाभोगम् इन्दोः कर्त्तुः परिग्रहेण कुमुदान्यस्यां सन्तीति कुमुदिनीव, 'कुमुदनडवेतसेभ्योड्मतुप्, 'मादुपधायाश्चे'त्यादिना मकारस्य वकारः। नलस्य कर्त्तुराश्रयेण नलस्वीकरणेन अन्या लभते, बतेति खेदे। ईदृग्भोगोपेक्षिणी त्वं बुद्धिमान्द्यात् न शोचसि इति भावः ॥ ४५ ॥

कमलिनी के लिए दुर्लभ चन्द्रिका का महोत्सव (अर्थात् चन्द्रिका के सम्पर्क से विकसित होना आदि) जैसे चन्द्रमा को स्वीकार कर लेने से (अर्थात् चन्द्रमा की बन जाने से) कुमुदिनी प्राप्त करती है, उसी तरह तुमसे दुष्प्राप्य (हमलोगों के द्वारा पक्षों से हवा करना आदि) स्वर्ग का उपयोग नल के आश्रय से दूसरी नायिकायें (जो वस्तुतः उस सुख के योग्य नहीं है) प्राप्त कर रही हैं, यह बड़े खेद की बात है।

यहाँ 'कुमुदिनी के सदृश दूसरी नायिकायें' में उपमा अलङ्कार है ॥४५॥

तन्नैषधानूढतया दुरापं शर्म त्वयाऽस्मत्कृतचाटुजन्म ।
[1]रसालवल्ल्या मधुपानुविद्धं सौभाग्यमप्राप्तवसन्तयेव ॥ ४६ ॥

तदिति । किञ्च तत्प्रसिद्धमस्माभिः कृतेभ्यः प्रयुक्तेभ्यश्चाटुभ्यः प्रियवाक्येभ्यो जन्म तस्य तत्तज्जन्यमित्यर्थः । चाटुग्रहणं पूर्वोक्तनिजपक्षवीजनाद्युलक्षणं, शर्म सुखं त्वया अप्राप्तो वसन्तो यया तया वसन्तानधिष्ठितयेत्यर्थः। रसालवल्ल्या सहकारश्रेण्या मधुपानुविद्धं सौभाग्यं रामणीयकमिव नैषधेन नलेन अनूढतया अपरिणीतत्वेन हेतुना दुरापन्तस्मात्ते नलपरिग्रहाय यत्नः कार्य्यं इति भावः ॥ ४६ ॥

इसलिए जैसे बिना वसन्त को प्राप्त किये आम की वाटिका को मधुपानुवेध का सौभाग्य (अर्थात् आम की मंजरियों के रसास्वाद से आकृष्ट भ्रमरों के झंकार, गुञ्जन आदि रूप सौभाग्य) दुष्प्राप्य है उसी तरह नल से विवाह न होने के कारण हमलोगों की चाटूक्तियों (प्रिय वचनों) का सुख तुम्हें दुष्प्राप्य है । (पहले श्लोक में कमलिनी के दृष्टान्त से सर्वथा अप्राप्य कहा था, इसमें आम्रवन के दृष्टान्त से वसन्त समागम जैसा नल के समागम से प्राप्त हो सकता है, ऐसा कर रहा है ।)

इसमें आम्रवन उपमान, दमयन्ती उपमेय, इव वाचक शब्द, दुष्प्राप्यत्व साधारण धर्म है अर्थात् पूर्णोपमाऽलङ्कार है ॥ ४६ ॥

तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्तं दृष्टं विधेः केन मनः प्रविश्य ?।
अजातपाणिग्रहणाऽसि तावद्रूपस्वरूपातिशयाश्रयश्च ॥ ४७ ॥

अथ पुनरस्या नलप्राप्त्याशां जनयन्नाह तस्येत्यादि । यद्वा तस्य नलस्यैव हस्तं किं न यास्यसि ? यास्यस्येवेत्यर्थः । केन विधेर्मन एव प्रविश्य दृष्टं, विध्यानुकूल्यमपि सम्भावितमिति भावः । कुतस्तावदद्यापि अजातपाणिग्रहणा अकृतविवाहा असि, तवायं विवाहविलम्बोऽपि नलपरिग्रहणार्थमेव किं न स्यादिति भावः । रूपं सौन्दर्यं स्वरूपं स्वभावः शीलमिति यावत् । तयोरतिशयः प्रकर्षस्तस्याश्रयश्चासि । योग्यगुणाश्रयत्वाच्च तद्धस्तमेव गमिष्यसीति भावः ॥ ४७ ॥

तुम क्या उस नल के ही हाथ में नहीं पड़ सकती हो ? अर्थात् सम्भव है कि तुम्हारा नल से ही विवाह हो जाय । ब्रह्मा के मन को किसने घुसकर

---

1. 'रसालवन्या' इति पाठान्तरम् ।

देखा है (अर्थात् दमयन्ती को नल नहीं मिलेगा, यह ब्रह्मा के मन की बात (ब्रह्मा की इच्छा) को किसने उनके भीतर प्रवेश करके जाना है ? अर्थात् कोई नहीं । (अतः उसकी प्राप्ति की सम्भावना है क्योंकि) तुम अभी तक अविवाहित हो । (योग्यता का अभाव भी नहीं है क्योंकि) लावण्य के स्वाभाविक अतिशय का आश्रय (अर्थात् बिना आभूषण आदि के ही अतिशय सुन्दरी) भी हो ।) अर्थात् स्वाभाविक सौन्दर्य से तुम्हें नल की प्राप्ति सम्भव है । (पक्षा० में रूप=लावण्य तथा स्वरूप=शील इन दोनों का उत्कर्ष तुम्हारे में है) ।

यहाँ अनुप्रास शब्दालंकार है ।। ४७ ।।

निशा शशांकं शिवया गिरीशं श्रिया हरिं योजयतः प्रतीतः ।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय ।। ४८ ।।

सत्यं विधिसंकल्पस्तु दुर्ज्ञेय इत्यत आह—निशेति । निशा निशया 'पद्न्नि'-त्यादिना निशादेशः । शशाङ्कम्, शिवया गौर्या गिरीशं शिवं, श्रिया लक्ष्म्या हरिं च योजयतो विधेः प्रयासो यत्नोऽपि परस्परं योग्यसमागमाय योग्य-सङ्घटनायैव स्वारसिकः स्वरसप्रवृत्तः प्रतीतः प्रसिद्धः ज्ञातः । निशाशशाङ्का-दिदृष्टान्ताद्विधिसंकल्पोऽपि सुज्ञेय इति भावः ।। ४८ ।।

रात्रि से चन्द्र का, गौरी से गिरीश का तथा लक्ष्मी से विष्णु का संयोग कराने वाले ब्रह्मा का भी स्वाभाविक प्रयास परस्पर में योग्यों के समागम के लिए ही (प्रसिद्ध है) प्रतीत होता है । (उक्त दृष्टान्त से प्रतीत होता है कि ब्रह्मा भी स्वभावतः परस्पर में योग्यों का ही समागम कराता है, अयोग्यों का नहीं । अतः तुम भी नल से संयोग प्राप्त करोगी) ।

यहाँ योग्यों का समागम वर्णित है अतः समालंकार है ।। ४८ ।।

वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणी न योगयोग्याऽसि नलेतरेण ।
सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन ।। ४९ ।।

नलान्यसम्बन्धस्त्वयोग्य इत्याह—वेलातिगेति । वेलामतिगच्छन्तीति वेला-तिगा निःसीमाः स्त्रीणामिमे स्त्रैणाः गुणाः 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञावि'ति वचनात् नञ्प्रत्ययः । त एवाब्धिस्तस्य वेणी प्रवाहभूतः, त्वमिति शेषः । 'वेलाऽब्धिजलबन्धने । काले सीम्नि च, वेणी तु केशबन्धे जलस्रुतौ' इति

वैजयन्ती । नलादितरेण योगयोग्या योगार्हा नासि । तथाहि मृद्वी मल्लीमाला मृशकर्कशेन दर्भगुणेन न संदर्भ्यते न संगुफयते । दृभ–ग्रन्थ इति धातोः कर्मणि लट् । व्यतिरेकेण दृष्टान्तालंकारः ॥ ४९ ॥

निःसीम स्त्री सम्बन्धी गुण समुद्र का प्रवाह रूप (समस्त सौन्दर्यादि गुणों का पात्रभूत) तुम नल से भिन्न (किसी दूसरे वर) के साथ सम्बन्ध के योग्य नहीं हो । (क्योंकि) कोमल मल्लिका की माला अत्यन्त कठोर कुश की रस्सी से नहीं गुथी जाती है । (जैसे मल्लिका कुसुम की माला कुश के कठोर डोरे (रस्सी) से नहीं गुथी जाती या गूथना अनुचित है उसी तरह तुम्हारा भी नल से भिन्न किसी व्यक्ति के साथ सम्बन्ध (विवाह) होना अनुचित है ।

यहाँ स्त्री सम्बन्धी गुणों में समुद्रत्व का आरोप है अतः रूपकालंकार तथा नल के ही योग्य तुम हो, इसमें समालंकार तथा जैसे मल्लिका की माला को कुश के धागे में गूथना अनुचित है उसी तरह नल से भिन्न तुम्हारा समागम अनुचित है, इसमें व्यतिरेक से दृष्टान्तालंकार है । अतः संकर है ॥ ४९ ॥

विधिं वधूसृष्टिमपृच्छमेव तद्यानयुग्यो नलकेलियोग्याम् ।
त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीता मयाऽस्य सक्रीडति चक्रचक्रे ॥ ५० ॥

विधिमिति । किं च, विधिं ब्रह्माणं नलस्य केलेः क्रीडायाः योग्यामर्हां वधूसृष्टिं स्त्रीनिर्माणं तस्य विधेर्यानस्य रथस्य युग्यो रथवोढा तत्र परिचित इत्यर्थः । 'तद्वहति रथयुगप्रासंगम्'ेति यत्प्रत्ययः । अहमपृच्छमेव, दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् । मया अस्य तद्यानस्य चक्रचक्रे रथाङ्गव्रजे संक्रीडति कूजति सति 'समोऽकूजन' इति वक्तव्येऽपि कूजतेनात्मनेपदम्, त्वन्नामवर्णा मया कर्णेन पीताः गृहीताः । न केवलं लिङ्गात् किन्त्वागमादपि ज्ञातोऽयमर्थः इत्यर्थः ।५०।

ब्रह्मा के विमान को ढोते हुए मैंने नल की क्रीडा (केलि) के योग्य वधू सृष्टि (अर्थात् नल की क्रीडा के योग्य कौन सी स्त्री आपने रची है ? इस बात) को ब्रह्मा से पूछा था तो ब्रह्मा के रथ के पहियों के शब्द करते रहने पर (ठीक से तो नहीं सुना, पर) तुम्हारे ही नाम के वर्णों के समान वर्णों (तुम्हारे ही नाम से मिलते जुलते अक्षर) को मैंने सुना था । (यदि

निश्चय रूप से हंस कह देता कि तुम्हारा ही नाम लिए तब तो दमयन्ती को निश्चय हो जाता कि नल हमें अवश्य मिलेगा, अतः इसके लिए हंस से विशेष आग्रह नहीं करती, हंस में उतनी आसक्ति या आदर नहीं रखती अतः हंस तुम्हारे नाम के समान वर्ण सुना ऐसा कहा।

यहाँ छेकानुप्रास तथा नाम के वर्ण के समान वर्ण सुना अतः इसमें उपमा अलङ्कार है॥ ५०॥

अन्येन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनो वा।
जनापवादार्णवमुत्तरीतुं विधा विधातुः कतमा तरी स्यात्?॥ ५१॥

अन्येनेति। किं च, अन्येन नलेतरेण पत्या त्वयि योजितायां घटितायां सत्यां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनः अभिज्ञत्वख्यात्यैव नीतायुषो विधातुर्वा जनापवादार्णवमुत्तरीतुं निस्तरीतुं 'वृतो वे'ति दीर्घः। कतमा विधा कः प्रकारः तरी तरणिः स्यात्? न काऽपीत्यर्थः। 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः' इत्यमरः! अतो दैवगत्याऽपि स एव ते भर्तेति भावः॥ ५१॥

अथवा (या—निश्चय) नल से भिन्न किसी पति के साथ तुम्हारा योग (विवाह) करा देने पर विज्ञता की कीर्ति से जीवन व्यतीत करने वाले ब्रह्मा के लिए (ब्रह्मा ने अनुचित किया है इस) लोकापवाद रूपी समुद्र को पार करने के लिए कौन-सी नौका होगी (अर्थात् पूरे जन्म में योग्यों का समागम कराकर जो विज्ञता की कीर्ति ब्रह्मा ने अर्जित की है वह कीर्ति तुम्हारा नल से विवाह न कराने पर (अनुचित समागम कराने पर) नष्ट हो जायेगी प्रत्युत ब्रह्मा ने अनुचित किया है यह लोकापवाद लग जायगें जिसे ब्रह्मा किसी तरह पार नहीं कर सकते।

यहाँ अनुप्रास तथा जनापवाद में अर्णवत्व का आरोप है अतः रूपकालङ्कार है॥ ५१॥

आस्तां तदप्रस्तुतचिन्तयाऽलं मयाऽसि तन्वि! श्रमिताऽतिवेलम्।
सोऽहं तदागः परिमाष्टुंकामस्तवेप्सितं किं विदधेऽभिधेहि॥ ५२॥

इत्थमाशामुत्पाद्य अस्याश्चित्तवृत्तिपरिज्ञानाय प्रसङ्गान्तरेण निगमयति—आस्तामिति। तत्पूर्वोक्तमास्तां तिष्ठतु, अप्रस्तुतचिन्तया अलं तया साध्यं नास्तीत्यर्थः। गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीया, अत एवाह 'न

केवलं श्रूयमाणक्रियापेक्षया कारकोत्पत्तिः, किन्तु गम्यमानक्रियाऽपेक्षयाऽपि' इति न्यासकारः। किन्तु हे तन्वि, कृशाङ्गि! मया अतिवेलम् अत्यर्थं श्रमिता खेदिताऽसि, श्रमेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। तत् श्रमणरूपमागोऽपराधं परिमाष्टुं कामः परिहर्तुकामः। 'तु' काममनसोरपी'ति मकारलोपः। सोऽहं किं स दीप्सितं तव मनोरथं विदधे कुर्वे, अभिधेहि ब्रूहि ॥ ५२ ॥

दमयन्ती की इच्छा जानने के लिए उपसंहार करता हुआ हंस कहता है-

हे भैमि! उसे (राजा नल के वृत्तान्त को) छोड़ो, यहाँ अप्रासंगिक बातों की चिंता चर्चा से क्या लाभ! हे सुकुमारी, मैंने तुम्हें बहुत देर तक (अपने पीछे-पीछे दौड़ाकर) हैरान किया है। (अतः) अपने अपराध को मिटाने की कामना करता हुआ मैं तेरा कौन-सा मनोरथ पूरा करूँ? बोलो ॥ ५२ ॥

इस श्लोक में 'कामः' और 'किमीप्सितं' में 'क' की पुनरावृत्ति है अतः छेकानुप्रास अलंकार है अन्यत्र वृत्त्यानुप्रास समझना चाहिए ॥

इतीरयित्वा विरराम पत्री स राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः।
ह्रदे गभीरे हृदि चावगाढे शंसन्ति कार्यावतरं हि सन्तः ॥ ५३ ॥

इतीति। स पत्री हंसः इति ईरयित्वा राजपुत्र्या भैम्या हृदयं बुभुत्सुः जिज्ञासुर्विरराम तूष्णीं बभूव, 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम्। तथाहि- सन्तः कार्यज्ञाः गभीरे अगाधे हृदि ह्रदे च अवगाढे प्रविश्य दृष्टे सति कार्यस्य स्नानादे रहस्योक्तेश्च अवतरं तीर्थं प्रस्तावं च शंसन्ति कथयन्ति, अन्यथा अनर्थः स्यादिति भावः। अवतरो व्याख्यातः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥५३॥

राजकुमारी (दमयन्ती) के हृदय (राजा नल में प्रेम है या नहीं इस भाव) को जानने का इच्छुक वह राजहंस (पक्षी) ऐसा (श्लोक-२।१३-५२) कहकर चुप हो गया, क्योंकि पण्डित लोग गहरे तालाब तथा गूढ़ रहस्य वाले हृदय का थाह लगा करके ही अपना कार्य आरंभ (कार्य का प्रस्ताव, अन्यत्र तालाब पक्ष में—स्नानादि संतरण कार्य) करते हैं ॥ ५३ ॥

इस श्लोक में 'पत्री, पुत्री, ह्रदे, हृदि, सन्ति, सन्तः' जैसे पदों के द्वारा छेकानुप्रास है, अन्यत्र वृत्त्यानुप्रास जानना चाहिए। यहाँ प्रस्तुत हृदयगत भाव का अप्रस्तुत ह्रद गत भाव से समर्थन किया गया है अतः अर्थान्तर-

न्यासालङ्कार है, साथ ही 'हृदय' और 'ह्रद' का एक धर्माभिसम्बन्ध है अतः दीपक के साथ सांकर्य है ॥

किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिर्विचिन्त्य वाच्यं मनसा मुहूर्तम् ।
पतत्त्रिणं सा पृथिवीन्द्रपुत्री जगाद वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुः ॥ ५४ ॥

किञ्चिदिति । किञ्चित्तिरश्चीना स्वभावादीषत्साचीभूता विलोला आयासाद्विलुलिता मौलिः केशबन्धो यस्याः सा । 'मौलयः संयताः कचा' इत्यमरः । वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुरधःकृतचन्द्रा सा पृथिवीन्द्रपुत्री भैमी मुहूर्तमल्पकालं मनसा वाच्यं वचनीयं विचिन्त्य पर्यालोच्य पतत्त्रिणं जगाद ॥ ५४ ॥

(हंस से कैसे क्या कहूँ यह विचारते समय) सिर को कुछ झुकाई हुई तथा हिलाती सी एवं अपने मुख मंडल (की जोति) से चन्द्रमा को तृण समान तुच्छ बनाती हुई वह राजपुत्री दमयन्ती थोड़ी देर कहने लायक बात को सोच करके राजहंस से बोली ॥ ५४ ॥

यहाँ 'विचिन्त्य' और 'वाच्यं' पद में छेकानुप्रास है । 'तृणीकृतेन्दुः' पद में सादृश्य है अतः उपमालंकार है ॥

धिक्चापले वत्सिमवत्सलत्वं यत्प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या ।
समीरसङ्गादिव नीरभङ्ग्या मया तटस्थस्त्वमुपद्रुतोऽसि ॥ ५५ ॥

धिगिति । चापले चपलकर्मणि, युवादित्वादण्, वत्सस्य भावः वत्सिमा शिशुत्वम् पृथ्वादित्वादिमनिच् । तेन निमित्तेन वत्सलत्वं वात्सल्यं बाल्यत्वप्रयुक्तचापलमित्यर्थः । तद्धिक् । कुतः ? यस्य चापलवात्सल्यस्य प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या चपलायमानया समीरसङ्गाद्वाताहतेरुत्तरलीभवन्त्या नीरभङ्ग्या जलवीच्येव तटस्थः उदासीनः कूलं गतश्च त्वमुपद्रुतः पीडितोऽसि । अधर्महेतुत्वाद् बालचापलं सोढव्यमिति भावः ॥ ५५ ॥

(दमयन्ती अपने अनुचित आचरण के विषय में कहती है—हे हंस !) बचपना के कारण (उभरती जवानी के कारण) चंचलता में बच्चों जैसा उस चपलता—उतावलापन को धिक्कार है, जिसकी प्रेरणा से अत्यन्त चंचल बनीं मैंने उदासीन (तटस्थ) आप को (पकड़ने के लिए) वैसे ही तंग की है, जैसे वायु के झोंकों से उठी जल की लहरें तीर पर बैठे व्यक्ति (तटस्थ) को परेशान (चोट) करती हैं ॥ ५५ ॥

बचपन में चंचलता होती है और इसके चलते आप जैसे एक साधु स्वभाव के प्राणी को पकड़ने के लिए इधर-उधर कुदा-कुदाकर दौड़ा दिया अतः इस अल्हड़ स्वभाव को धिक्कार है, अतः में अपराधिनी हूँ।

कवि ने दमयन्ती को 'नीरभङ्गी' से और हंस को तटस्थ से तुलना की है अतः यहाँ उपमालंकार है। 'तटस्थ' शब्द श्लेषात्मक है—'तटे तिष्ठतीति तटस्थः = कुलस्थः, अन्यत्र उदासीनः, निःसङ्गः, निर्लेपः' यह अर्थ है।

'वत्सि' 'वत्स' में छेकानुप्रास है और 'मीर' तथा 'नीर' में पदान्त अनुप्रास है।

आदर्शतां स्वच्छतया प्रयासि सतां स तावत्खलु दर्शनीयः।
आगः पुरस्कुर्वति सागसं मां यस्यात्मनीदं प्रतिबिम्बितं ते ॥ ५६ ॥

आदर्शतामिति। स्वच्छतया नैर्मल्यगुणेन आदृश्यते पुरोगतवस्तुरूपमस्मिन्निति आदर्शो दर्पणस्तत्तां प्रयासि, कुतः यस्य स्वच्छस्य ते तव सम्बन्धिनि सा[illegible] सापराधां मां पुरस्कुर्वति पूजयति अग्रे कुर्वाणे च आत्मनि बुद्धौ स्वरूपे च, 'पुरस्कृतः पूजिते स्यादभियुक्तेऽग्रतः कृते'। 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्मणी'तिचामरः। इदं मदीयमागोऽपराधः प्रतिबिम्बितं प्रतिफलितम्। पुरोवर्त्ति धर्म्माणामात्मनि संङ्क्रमणादादर्शोऽसीत्यर्थः, ततः किमत आह—सः आदर्शः सतां साधूनां तावत्प्रथमं दर्शनीयः अथवा पूज्यश्चेति तावच्छब्दार्थः खलु 'रोचनं चन्दनं हेम मृदङ्गं दर्पणं मणिम्। गुरुमग्निं तथा सूर्य्यं प्रातः पश्येत् सदा बुधः ॥' इति शास्त्रादिति भावः ॥५६॥

(दमयन्ती अपनी निन्दा करती हुई हंस की बड़ाई करती है—हे हंस,) तुम आदर्श हो, अति रमणीय हो (अतः दर्पण हो, देखने योग्य हो) क्योंकि स्वच्छ होने के कारण (छल-कपट से रहित होने के कारण) सज्जनों के आदर्श (नमूना, दर्पण-आइना) हो। मुझ अपराधिनी को सामने रख करके स्वच्छ तुम्हारे भीतर मेरे ही अपराध की परिछाई दिखाई दी है ॥५६॥

यहाँ कविने श्लेषालंकार में हंस को दर्पण के रूप में वर्णन किया है और सबतरह से उसे निर्मल बताया है। फलतः उसके भीतर दमयन्ती का अपराध यद्यपि स्पष्ट दिखाई पड़ता है परन्तु हंस दमयन्ती के अपराध को अपना ही अपराध मानता है और क्षमा मांगता है। सज्जनता का यह कैसा

सुन्दर नमूना है। ईसामशीह की तरह वह अपने ही को दोषी मानता है। शास्त्रों में दर्पण को मांगलिक माना गया है अतः नित्य प्रातः दर्शनीय है।

जैसे- रोचनं चन्दनं हेम मृदङ्गं दर्पणं मणिम्।
गुरुमग्निं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत् सदा बुधः॥

यहाँ 'आदर्शता' और 'दर्शनीयः' में यमकालंकार की छटा है।

अनार्यमप्याचरितं कुमार्या भवान्मम क्षाम्यतु सौम्य ! तावत्।
हंसोऽपि देवांशतयाऽभिवन्द्यः श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः॥५७॥

अनार्यमिति। हे सौम्य ! भवान् कुमार्याः शिशोर्मम सम्वन्धि अनार्यमप्याचरितं त्वदुपद्रवरूपं दुश्चेष्टितं क्षाम्यतु सहतां, हंसोऽपि तिर्यगपीत्यर्थः। त्वमिति शेषः ! भवानित्यनुषङ्गे असीति मध्यमपुरुषायोगात् देवांशतया मत्स्यमूर्तिः श्रीवत्सलक्ष्मा विष्णुरिव वन्द्योऽसि॥५७॥

(दमयन्ती अपने अपराध को निश्चित करके हंस से क्षमा मांगती है—) हे सुन्दर, सबसे पहले आप मुझ बालिका के अनुचित आचरण को क्षमा कर दीजिये। क्योंकि हंस होकर भी आप देवांश (ब्रह्मा का वाहन) हो अतः वैसे ही पूज्य हो जैसे श्रीवत्सलांछन धारी विष्णु की मत्स्यमूर्ति पूजनीय है॥५७॥

'देवांश' इसलिए कहा है कि हंस ब्रह्मा का वाहन हैं अतः पूज्य है। देवांश को पूज्यता का कारण होने से यहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार है। मत्स्यमूर्ति के साथ हंस-पूज्यता का सादृश्य भाव है अतः उपमालंकार भी है।

मत्प्रीतिमाधित्ससि कां त्वदीक्षामुदं मदक्ष्णोरपि याऽतिशेताम्।
निजामृतैर्लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुस्सृजति प्रजानाम् ?॥५८॥

अथ यदुक्तं त्वयेप्सितं किं विदधे ? अभिधेहीति, तत्रोत्तरमाह—मत्प्रीतिमिति। कां मत्प्रीतिं किंवा मदीप्सितमित्यर्थः। आधित्सति आधातुं कर्त्तुमिच्छसि ? दधातेः सन्नन्ताल्लट्। या प्रीतिर्मदक्ष्णोः त्वदीक्षामुदं त्वदीक्षणप्रीतिमतिशेतान्त्वद्दर्शनोत्सवादन्यत्किं ममेप्सितमित्यर्थः। तथाहि इन्दुः प्रजानां जनानां निजामृतैर्लोचनसेचनात् पृथक् अन्यत 'पृथग्विने' त्यादिना पञ्चमी। किंवा सृजति करोति न किञ्चित् करोतीत्यर्थः। दृष्टान्तालङ्कारः॥५८॥

(दमयन्ती दर्शन स्तुति के द्वारा 'तुम्हारा कौन-सा प्रिय सा॒धूं' इसका उत्तर देती है—हे हंस !) तुम मेरा कौन-सा मनोरथ पूरा करना चाहते हो;

जो मेरी आखों को तुम्हारे दर्शन से उत्पन्न आनंद से बढ़ के हो। जैसे, चन्द्रमा अपने अमृतों के जरिये दर्शकों (प्रजाओं की आंखों को) तृप्त करने के सिवाय (और) क्या करता है ? (अर्थात् तुम भी नयन सुख दे सकते हो, इससे अधिक कुछ नहीं; अतः मनोरथ बताना व्यर्थ है।) ॥४८॥

यहाँ दमयन्ती लज्जावश अपना अभिप्राय छिपा रही है अतः आक्षेपालंकार है। 'मुदं मदक्षणोरपि' के द्वारा छेकानुप्रास है। पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव है अतः दृष्टान्तालंकार है।

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा ॥ ५६ ॥

अत्र सर्वथा मनोरथः कथनीयः इत्यभिप्रेत्य तन्न शक्यमित्याह-मनस्त्विति। मनो मच्चित्तं कर्त्तृ यं मनोरथंजातु कदापि नोज्झति न जहाति, स मनोरथः कण्ठपथं वाग्विषयम् उपकण्ठदेशं च कथं यातु, सम्भावनायां लोट्। सम्भावनापि नास्तीत्यर्थः। केनापि प्रतिबद्धस्य मनोरथस्य कथमन्तिकेऽपि सञ्चार इति भावः। कुतः ? अभिज्ञा विवेकिनी का नाम बाला का वा स्त्री द्विजराजस्य इन्दोः पाणिना ग्रहे ग्रहणे अभिलाषं कथयेत्। तथा द्विज ! पक्षिन् ! राजपाणिग्रहाभिलाषं नलपाणिग्रहणेच्छामिति च गम्यते तया च दुर्लभजनप्रार्थना द्विजराजपाणिग्रहणकल्पा परिहासास्पदीभूतां कथं लज्जावत्या वक्तुं शक्या इत्यर्थः। पूर्व एवालङ्कारः ॥५६॥

'यदि तुम्हारा कोई मनोरथ है तो तूं ही कहो' इस पर कहती है—

हे हंस ! मन जिसे कभी भी नहीं छोड़ता, वह (मनोरथ) कंठ में कैसे उतरेगा ? भला कौन-सी ढीठ लड़की चन्दमा को हाथ से पकड़ने की इच्छा कह सकेगी ? ॥५६॥

मन का स्थान हृदय है वहीं पर विचार-अभिलाष भी रहता है और कंठ ऊपर है। तो नीचे के स्थान में रहने वाला मनोरथ ऊपर (गले) तक कैसे जावेगा यानी मनोरथ वाणी-वचन का विषय कैसे होगा ? फिर कोई बाला-अबोध लड़की राजा नल (द्विजराज-चन्द्रमा) के साथ विवाह की इच्छा कैसे करेगी ? यह तो कोई प्रौढ़ा स्त्री ही ऐसा कर सकती है, बाला नहीं। अर्थात् हे द्विजराज (हंस), कौन बाला अपना विवाह कहेगी क्योंकि लज्जालु वह

होती है अतः ऐसा नहीं कर सकती। यहाँ श्लेषालंकार के जरिये कवि दमयन्ती से सब कहला दिया है कि वह राजा नल से विवाह करना चाहती है। यहाँ 'यातु, जातु, कथं, पथं' में अनुप्रासालंकार है।

वाचं तदीयां परिपीय मृद्वीं मृद्वीकया तुल्यरसां स हंसः ।
तत्याज तोषं परपुष्टघुष्टे घृणाञ्च वीणाक्वणिते वितेने ॥ ६० ॥

वाचमिति । हंसः मृद्वीकया द्राक्षया, 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षे'त्यमरः । तुल्यरसां समानस्वादां मधुरार्थामित्यर्थः । मृद्वीं मधुराक्षरां तदीयां वाचं परिपीय अत्यादरादाकर्ण्य परपुष्टघुष्टे कोकिलकूजिते तोषं प्रीतिं तत्याज, वीणाक्वणिते च घृणां जुगुप्सां 'घृणा जुगुप्साकृपयोरि'ति विश्वः । वितेने ॥६०॥

वह हंस अंगूर-सी मीठी दमयन्ती की मधुरी वाणी (वचन) का रस पान करके (अति आदर से सुन करके) कोयल की कूक में आनंद (तोष) लेना छोड़ दिया और वीणा की झंकार में घृणा कर दिया ॥६०॥

यहाँ कोयल की कूक और वीणा की झंकार उपमान है पर इसे तिरस्कार किया गया है अतः प्रतीप अलंकार है। 'मृद्वी' की पुनरावृत्ति है अतः छेकानुप्रास है।

मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रमुक्त्वा तस्यां समाकुञ्चितवाचि हंसः ।
तच्छंसिते किञ्चन संशयालुर्गिरा मुखाम्भोजमयं युयोज ॥ ६१ ॥

मन्दाक्षेति । तस्यां भैम्यां मन्दाक्षेण ह्रिया मन्दा सन्दिग्धार्था अक्षरमुद्रा 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्यक्षरविन्यासो यस्मिन् तत्तथोक्तमुक्त्वा समाकुञ्चितवाचि नियमितवचनायां सत्यामयं हंसस्तच्छंसिते भैमीभाषिते किञ्चन किञ्चित्संशयालुः सन्दिहानः सन्, 'स्पृहिगृहि' त्यादिना आलुच् प्रत्ययः । [1]मुखाम्भोजं गिरा युयोज मुखेन गिरमुवाचेत्यर्थः ॥६१॥

---

१. 'मुखाम्भोजम् अत्र 'प्रशंसावचनैश्च' इति समासः इति 'प्रकाश' कृत् । किन्तु मनोरमाकृता प्रशस्तशोभनरमणीयादीनां यौगिकानां शुचिमृद्वादीनां गुणवचनानां 'सिंहो माणवक' इत्यादौ गौण्या वृत्या प्रशंसावाचकानाञ्च शब्दानां व्युदासस्य करिष्यमाणत्वेनोक्ततया 'वचन' ग्रहणस्य रूढपरिग्रहार्थमेव स्वीकृतत्वेन 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' (पा० सू० २।१।५६) इत्यनेनोपमितसमासस्यैवौचित्यतया भ्रान्तियुक्तं तदिति बोध्यम् ।

लज्जा के कारण दमयन्ती थोड़ा ही कहकर जब चुप हो गई; तो उसके वचन में कुछ संदेह करके हंस अपने मुखारविंद से बोला ।।६१।।

मुखाम्भोजम् (--मुखम् अम्भोजम् इव--) उपमालंकार है। 'मन्दाक्ष' 'मन्दाक्षर' में यमकालंकार है।

करेण वाञ्छेव विधुं विधतुं यमित्थमात्थादरिणी तमर्थम् ।
पातुं श्रुतिभ्यामपि नाधिकुर्वे वर्णं श्रुतेर्वर्ण इवान्तिमः किम् ॥६२॥

करेणेति। हे भैमि ! करेण विधुं चन्द्रं विधतुं ग्रहीतुं वाञ्छेव यमर्थमित्थं 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्युक्तप्रकारेण आदरिणी आदरवती सती आत्थ ब्रवीषि, 'ब्रुवः पञ्चानामि'ति ब्रुवो लटि सिपि थलादेशः ब्रुवश्चाहादेशः 'आहस्थ' इति हकारस्य थकारः। तमर्थमन्ते भवोऽन्तिमो वर्णः शूद्रः 'अन्ताच्चेति वक्तव्यमि'ति इमच्। श्रुतेर्वर्णं वेदाक्षरमिव श्रुतिभ्यां पातुं श्रोतुमपीत्यर्थः। नाधिकुर्वे नाधिकार्यस्मि किम् ? अस्म्येवेत्यर्थः। अतः सोऽर्थो वक्तव्य इति तात्पर्यम् ।।६२।।

'हाथ से चन्द्रमा को पकड़ने की इच्छा' के समान आदरणीय जिस जिस प्रयोजन (मनोरथ) को तूं कह रही हो, क्या उसे सुनने का (मैं) अधिकारी नहीं हूं ? जैसे शूद्र वेद के अक्षरों को नहीं सुन सकता हैं ।। ६२ ।।

यद्यपि तुम्हारे सोचने के अनुसार मैं तेरा मनोरथ नहीं पूरा सकूँगा परन्तु तेरा कथन तो सुन सकता हूँ । दूसरी बात यह कि मैं ही तुम्हारे कार्यों को कर पाऊँगा अतः तुम्हें अपना मतलब हमसे बताना चाहिए ।

यहाँ 'श्रुतेः वर्णमिव' में उपमालंकार है। 'विधु, विध, मित्थ, मात्थ, श्रुति, श्रुते' में छेकानुप्रास है।

अर्थाप्यते वा किमियद्भवत्या चित्तैकपद्यामपि वर्त्तते यः ।
यत्रान्धकारः खलु चेतसोऽपि जिह्मेतरैर्ब्रह्म तदप्यवाप्यम् ।। ६३ ।।

ननु तमर्थमत्यन्तदुर्लभत्वाद्वक्तुं जिह्मेमीत्याशङ्क्याह—अर्थाप्यत इति। हे भैमि ! भवत्या किंवा इयदेतावद्यथा तथा अर्थाप्यते किमर्थमयमर्थो द्विजराजपाणिग्रहवदति दुर्लभत्वेनाख्यायत इत्यर्थः। अर्थशब्दात्तदाचष्टे इत्यर्थे णिचः 'अर्थवेदसत्यानामापुग्वक्तव्य' इत्यापुगागमः। कुतस्तथा नाख्येय इत्यत आह- योऽर्थ एकः पादो यस्यामित्येकपदी एकपादसञ्चारयोग्यमार्गः। 'वर्त्तन्येकपदीति

चे'त्यमरः। 'कुम्भीपदीषु चे'ति निपातनात् साधुः। चित्तैकपद्यां मनोमार्गेऽपि वर्त्तति चक्षुराद्यविषयत्वेऽपीत्यपिशब्दार्थः। स कथं दुर्लभ इति भावः। तथाहि—यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि विषये चेतसोऽप्यन्धकारः प्रतिबन्धः तद् ब्रह्म जिह्मेतरैर-कुटिलैः कुशलधीभिरिति यावत्। अवाप्यं सुप्रापम् अमनोगम्यं ब्रह्मापि कैश्चिद् गम्यते, किमुत मनोगतोऽयमर्थः। अतएवार्थापत्तिरलङ्कारः। 'कैमुत्येनार्थान्त-रापतनमर्थापत्तिरि'ति वचनात् ॥ ६३ ॥

जो (इच्छित फल) मन रूपी पगडंडी (पतले राह) पर है वह भी तुम से प्राप्त होता है, ऐसी बात क्यों ? (चन्द्रमा को हाथ से पकड़ने जैसा असाध्य क्यों कहा ?) जिसके विषय मे चित्त भी सदैव अन्धकार में रहता है वह (ब्रह्म) भी सरल हृदयवालों से प्राप्त होता है ॥ ६२ ॥

श्रुति में लिखा है ब्रह्म के विषय में चित्त भी अन्धकार में रहता है क्योंकि वाणी वहाँ जाना चाहती परन्तु बिना कुछ पाये ही मन के साथ (खाली) लौट आती है-'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'-इति श्रुतेः। यानी जा मन के गोचर नहीं है वह प्रकाश स्वरूप ब्रह्म उद्यमी के द्वारा प्राप्त होता ही है। इस लिए तुम्हें अपना मनोरथ छिपाना नहीं चाहिए और चन्द्रमा को हाथ से पकड़ने जैसा अशक्य भी नहीं समझना चाहिए। राजानल को पाने के लिए तुम्हें सही ढंग से उपाय करना चाहिए, मेरा खयाल है वह तुम्हें अवश्य मिलेगा। तुम्हारा मनोरथ क्या है, यह तो में भली भांति समझ गया हूँ अतः तुम उसे छिपाओं मत। 'चित्तैकपद्याम्' में रूपकालंकार है। 'अवाप्यते', 'अवाप्यम्' में यमक है।

ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेशलोकेशयलोकमध्ये।
तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम् ॥ ६४ ॥

अथ मयि मृषावादित्वाशङ्कया वक्तुं सङ्कोचस्तच्च न शङ्कितव्यमित्याह—ईशेत्यादिना त्रयेण। ईशस्य यदणिमैश्वर्यं तस्य विवर्त्तो रूपान्तरं मध्यो यस्याः सा तथोक्ता हे कृशोदरीत्यर्थः! लोकेशलोके शेरत इति लोकेशलोकेशयाः ब्रह्मलोकवासिनः 'अधिकरणे शेतेरि'त्यच्प्रत्ययः। 'शयवासवासिष्वकालादि'-त्यलुक्, तेषां लोकानां जनानां मध्ये अज्ञं मूढं तिर्यञ्चं पक्षिणमपि मामिति शेषः। मृषा अनृतं तस्य अनभिज्ञा रसज्ञा रसना यस्य तस्य भावस्तत्ता

सत्यवादितेत्यर्थः। उपज्ञायत इति उपज्ञा आदावुपज्ञाता, 'उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यादि'त्यमरः। 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्प्रत्ययः बहुलग्रहणात् कर्मार्थत्वं तथात्वेन ज्ञातं तदुपज्ञम् 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायामि'ति नपुंसकत्वम्। समं साधारणं सर्वैर्ज्ञायत इति समज्ञा कीर्तिः पूर्ववदङ्प्रत्ययः, तदुपज्ञं तयात्वेनादौ ज्ञाता समज्ञा कीर्त्तिर्येन तं तथोक्तं मामञ्च, सत्यवादिनं विद्धीत्यर्थः। अञ्चतेर्गत्यर्थत्वात् ज्ञानार्थत्वम् ॥ ६४ ॥

(मेरे कथन को विना जाने ही आप जानने का अभिमान क्यों कर रहे हैं ? दमयन्ती के इस आक्षेप का उत्तर हंस यों दे रहा है—)

हे कृशोदरी ! ब्रह्मलोक में रहनेवालों के बीच रहनेवाला मुझे मूर्ख (हृदयहीन) पक्षी समझो अथवा मुझ पक्षी को सत्यवादी या वाणी-ज्ञान का प्रथम वक्ता समझो या कभी भी झूठ न बोलनेवाला पक्षी समझो (अतः मेरी पूजा करो) ॥ ६४ ॥

यहाँ 'ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये' जैसा सम्बोधन का प्रयोग करके कवि ने ओज भाव दर्शाया है। अतः गौडी रीति का काव्य है। उदर में विवर्त का आरोप किया गया है अतः रूपकालंकार है। 'लोकेश'—'लोकेश-' में यमकालंकार है।

मध्ये श्रुतीनां प्रतिवेशिनीनां सरस्वती वासवती मुखे नः।
ह्रियेव ताभ्यश्चलतीयमद्धापथान्न[1] संसर्गगुणेन बद्धा ॥ ६५ ॥

मध्य इति। किं च, प्रतिवेशिनीनां प्रतिवेश्मनां श्रुतीनां वेदानां ब्रह्ममुखस्थानां श्रुतीनां मध्ये वासवती निवसन्ती इयं नोऽस्माकं मुखे सरस्वती वाक् संसर्ग एव गुणः श्लाघ्यधर्मः तन्तुश्च तेन बद्धा सती ताभ्यः श्रुतिभ्यो ह्रियेवेत्युत्प्रेक्षा। अद्धापथात्सत्यमार्गान्न चलति संसर्गजा दोषगुणा भवन्तीति भावः। 'सत्ये त्वद्धाऽञ्जसाद्वयमि'त्यमरः ॥ ६५ ॥

सचाई को प्रकट करते हुए हंस कहता है—हे भीमपुत्री, हमलोगों के मुँह में सदैव सरस्वती (वाणी) बसती है जिसके पड़ोस में वेद-वाणियाँ हैं; अतः संसर्ग के प्रभाव से उन (वाणियों) से लज्जा के कारण यह मेरी (वाणी) निःसंदेह सत्यमार्ग से पथभ्रष्ट नहीं होती है ॥ ६५ ॥

---

१. 'मत्सङ्गगुणेन नद्धा इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः।

ब्रह्मा के मुख से वेदवाणियाँ निकली हैं। हमलोग भी ब्रह्मा और सरस्वती के नित्य सम्पर्क में रहते हैं (दोनों के वाहन हंस है)। वेदवाणी कभी असत्य नहीं होती। अतः जैसा संसर्ग—साथ वैसा गुण हमारे में भी है। इसलिए हमारी वाणी कभी झूठ नहीं हो सकती। पड़ोसी जैसा होगा तदनुरूप आचरण होगा यह लोक विदित बात है।

यहाँ श्रुति-वाणी में हंस-वाणी का चेतन भाव आरोपित है। अतः जहाँ चेतन नहीं है वहाँ भी चेतन का आरोप करने के कारण समासोक्ति अलंकार है।

पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्कां लङ्कापुरीमप्यभिलाषि चित्तम्।
कुत्रापि चेद्वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वशये शयालु ॥ ६६ ॥

ततः किमित्यत आह–पर्यङ्केति ! कुत्रापि वस्तुनि द्वीपान्तरस्थेऽपीति भावः। अभिलाषि साभिलाषं ते तव चित्तं कर्तृ पर्यङ्कतां वाससकथिकात्वमापन्नः सरस्वान् सागरोऽङ्कश्चिह्नं यस्यास्तामतिदुर्गमामित्यर्थः। तां लंकापुरीमपि प्रयाति चेत्तदपि तद्दुर्गस्थमपि स्वशये स्वहस्ते शयालु स्थितमवेहि। पर्यस्तमपि पर्यङ्कस्थमिव जानीहि ॥ ६६ ॥

'तुम अपनी इच्छा कहो वह प्राप्त होगा।' इस प्रकार अपना अमित बल हंस प्रकट करता है—

हे भैमि, तेरा मन कहीं पर भी स्थित वस्तु को पाना चाहता हो या लंका को, जो समुद्र के बीच में स्थित है, जाना चाहता हो या वहाँ स्थित वस्तु को लेना चाहता हो तो उसे अपने ही हाथों में आया हुआ तुम जानो ॥ ६६ ॥

राजा नल में स्थित तुम्हारा चित्त यदि लंका में भी जाना चाहता हो तो उसे भी प्राप्त कराने में मैं सहयोग दूँगा। यहाँ लंकापुरी कहकर यह दर्शाया गया है कि दुनिया की कोई भी वस्तु तुम्हारे लिए अलभ्य नहीं है। जब तुम लंका में भी सुखपूर्वक जा सकती हो तो अन्य स्थानों में स्थित चीज के लिए तरसना क्या ?

यहाँ समुद्र को नायक माना गया है तथा समुद्र के बाहों में आनन्द की लहर लेनेवाली लंकापुरी को नायिका के रूप में माना गया है। यानी ऐसी

नायिका को भी तेरा चित्त रूप (नायक) चाहेगा तो वह भी सद्यः प्राप्त होगा। इस प्रकार यहाँ समासोक्ति अलंकार है। 'अङ्कां' और 'लङ्कां' में अनुप्रास अलंकार है। समुद्र को पलङ्ग (पर्यङ्क) बनाया गया है। अतः रूपक अलंकार है।

इतीरिता पत्त्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी।
चेतो नलं कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ॥ ६७॥

इतीति। तेन पत्त्ररथेन पक्षिणा हंसेन इतीत्थमीरिता उक्ता भैमी ह्रीणा स्वयमेव स्वाकूतकथनसङ्कोचात् लज्जिता, 'नुदविदे'त्यादिना विकल्पान्निष्ठानत्वम्। हृष्टा उपायलाभान्मुदिता च सती बभाण। किमिति ? मदीयं चेतो लङ्कां नायते, किन्तु नलं राजानं कामयत इति श्लेषभङ्ग्या बभाणेत्यर्थः। अन्यत्र कुत्रापि वस्तुनि साभिलाषं न ॥ ६७ ॥

इस प्रकार (श्लोक–३/६२–६६) उस हंस (पक्षी) के कहने पर वह भीमपुत्री दमयन्ती आनन्दित तथा लज्जित-सी बोली—मेरा मन लंका में नहीं जाना चाहता, राजा नल को चाहता है, अन्य स्थान (या अन्य राजा) में नहीं जाना चाहता, यदि नल नहीं मिलेगा तो मैं अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगी ॥ ६७ ॥

यहाँ 'नलंकामयते' में श्लेषालंकार है। जैसे—'लंकाम् न अयते अपितु नलं कामयते' इस प्रकार दोनों अर्थ प्रकृत है। फिर 'चेतो नलं' में अनलं= अग्नि का बोध करा दिया गया है।

विचिन्त्य बालाजनशीलशैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम्।
आचष्ट विस्पष्टमभाषमाणामेनां स चक्राङ्गपतङ्गशक्रः ॥ ६८ ॥

विचिन्त्येति। विस्पष्टमभाषमाणां श्लेषोक्तिवशात्संदिग्धमेव भाषमाणामित्यर्थः। एनां दमयन्तीं सः चक्राङ्गपतङ्गशक्रः हंसपक्षिश्रेष्ठः बालाजनस्य मुग्धाङ्गनाजनस्य शीलं स्वभावमेव शैलं लज्जायामेव नद्यां मज्जदनङ्गनागो यस्य तं विचिन्त्य विचार्य आचष्ट, तस्य लज्जाविजितमन्मथत्वं ज्ञात्वा लज्जाविसर्जनार्थं वाक्यमुवाचेत्यर्थः ॥ ६८ ॥

बालाओं का स्वभाव पर्वताकार (दुर्गम-दुर्लंघ्य) होता है जो लज्जारूपी नदी में डुबकी लगाता हुआ कामरूपी हाथी के समान है। ऐसा सोचकर वह

पक्षियों का राजा हंस साफ-साफ कुछ भी न कहनेवाली इस दमयन्ती से बोला—॥ ६८ ॥

'लड़कियाँ लज्जावश अपने प्रेम को कह नहीं पातीं' इसी बात का सहृदय कवि ने अप्रस्तुत रूपक के जरिये कहा है अतः यहाँ समस्त वस्तुविषयक रूपकालंकार है। 'शील' और 'शैल' में छेकानुप्रास है।

नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहेति नलं मनः कामयते ममेति।
आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्याः श्लोकद्वयार्थस्सुधिया मया किम् ?॥

नृपेणेति। श्लेषकवेः श्लेषभङ्ग्या कवयित्र्याः श्लिष्टशब्दप्रयोक्त्र्या इत्यर्थः, कवृवर्णन इति धातोरौणादिक इकारप्रत्ययः। भवत्यास्तव सम्बन्धि नृपेण कर्त्रा पाणिग्रहणं पाणिपीडनम्, 'उभयप्राप्तौ कर्म्मणी'ति विहितायाः षष्ठ्या 'कर्म्मणि च'ति समासनिषेधेऽपि शेषे षष्ठीसमासः। तत्र स्पृहेति मम मनो नलं कामयते द्विजराजपाणिग्रहेति चेतो नलं कामयत इति श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया विदुषा नाश्लेषि नाग्राहि किं ? गृहीत एवेत्यर्थः ॥ ६९ ॥

हे भैमी ! श्लेषकवि तुम्हारे 'राजा नल के साथ विवाह की इच्छा है'; 'मेरा मन नल को चाहता है।' इन दो श्लोकों–(का नाम वाला–३।५९ तथा चेतो नलं कामयते—३।६७) के अर्थ को विद्वान् मैंने नहीं समझा क्या ? ॥ ६९ ॥

तुमने श्लेषात्मक (द्वयर्थक शब्दोंवाला) काव्य का सर्जन करके स्पष्ट नहीं कहा. फिर भी तुम नल को चाहती हो, ऐसा अपना मनोरथ बता ही दिया है जिसे मैंने भलीभाँति समझ लिया है।

त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययं तु सम्भाव्य भाव्यस्मि तदज्ञ[1] एव।
लक्ष्ये हि बालाहृदि लोलशीले दरापराद्धेषुरपि स्मरः स्यात् ॥ ७०॥

तर्हि किमर्थं करेण वाञ्छेत्यादिकमज्ञवदुक्तवदुक्तमित्यत आह–त्वच्चेतस इति। किन्तु त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्य्ययमस्थिरत्वं संभाव्य आशङ्क्य तदज्ञः कस्य श्लोकद्वयार्थस्य अज्ञः अनभिज्ञः भावी भविष्यन् 'भविष्यति गम्यादय' इति साधुः अस्मि। त्वच्चित्तनिश्चयपर्यन्तमित्यर्थः। धातुसम्बन्धे प्रत्यया इति

१. 'तमज्ञ' इति पाठान्तरम्।

भविष्यत्ताया गुणात्वाद्वर्तमानतानुरोधः। नन्वेवमनुरक्तायां मयि कुत इयं शङ्केत्याशङ्क्य स्त्रीणां चित्तचाञ्चल्यसम्भवादित्याह—लक्ष्य इति। लोलशीले चंचलस्वभावे बालाहृदि चित्त एव स्मरोऽपि दरापराद्धेषुरीवच्च्युतसायकः स्यात्, कुशलोऽपि धन्वी चललक्ष्यात्काचिदपराध्यत इति भावः। 'अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद् यश्च्युतसायकः' इत्यमरः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥७०॥

'यदि मेरा अभिप्राय ज्ञात ही है तो लज्जा छोड़ करके बार-बार क्यों बोलवाते हो' इस आशंका का हंस उत्तर देता है—

किन्तु तुम्हारे चित की चंचलता को जानकर ही मैं अनजाना रहूँगा क्योंकि चंचल स्वभाववाली लड़कियों के हृदय (मन) रूपी लक्ष्य पर कामदेव भी अपना निशाना चूक जा सकता है ॥ ७० ॥

बालाओं का स्वभाव चंचल होता है, अतः इस उम्र का विचार संभवतः आगे बदल जा सकता है, नल को छोड़कर किसी अन्य को भी जा सकता है। अतः चंचलतावश कामदेव भी यहाँ असफल हैं और मैं भी तुम्हारे इस चित परिवर्तन से सब कुछ जानकर अनजान बना हूँ। यहाँ हृदय को लक्ष्य बनाया गया है। अतः रूपकालंकार है। बालाओं का हृदय चंचल है अतः काम भी असफल और मैं भी असफल। ऐसी दशा में अर्थापत्ति अलंकार हैं।

महीमहेन्द्रः खलु नैषधेन्दुस्तद्बोधनीयः कथमित्थमेव ?।
प्रयोजनं सांशयिकम्प्रतीदृक्पृथग्जनेनेव स मद्विधेन ॥ ७१ ॥

महीति। नैषधः इन्दुरिव नैषधेन्दुर्नलचन्द्रः महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्रः खलु तस्मात् स नलः। पृथग्जनेन प्राकृतजनेनेव मद्विधेन मादृशा विदुषाईदृक् सांशयिकं सन्देहदुःस्थम् अस्थिरं प्रयोजनं प्रति इत्थमेव मुग्धाकारेणैव कथं बोधनीयः? अनर्हमित्यर्थः। 'गतिबुद्धि'त्यादिना अणि कर्त्तुर्नलस्य कर्मत्वं, 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मण' इति अभिधानाच्च ॥ ७१ ॥

तुम्हारे बारे में निश्चय नहीं है अतः मुझ जैसे प्राणी से वह राजा समझाने योग्य नहीं है ऐसा हंस कहता है—

निषध देश के इन्दु (चन्द्रमा) स्वरूप सबके चित्त का आनन्ददायक है अतः नल निश्चय ही इस पृथ्वी का महान् इन्द्र हैं ऐसी दशा में किसी अन्य व्यक्ति

के सामान मुझ (अज्ञ या सर्वज्ञ) द्वारा संशय युक्त बात को लेकर वह (राजा) कैसे समझाया जा सकेगा ॥ ७१ ॥

'नैषधेन्दुः' और 'महीमहेन्द्रः' में दो रूपकों का समावेश है अतः संसृष्टि अलंकार है।

पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्यं यदि या वृणीषे।
त्वदर्थमर्थित्वकृतिप्रतीतिः कीदृङ्मयि स्यान्निषधेश्वरस्य ॥ ७२ ॥

अथेत्थमेव बोधने को दोषस्तत्राह—पितुरिति। पितुर्नियोगेन आज्ञया निजेच्छया स्वेच्छया वा अन्यं नलादयं युवानं यदि वृणीषे वृणोषि यदि, तदा निषधेश्वरस्य नलस्य मयि विषये त्वदर्थं तुभ्यं; 'चतुर्थी तदर्थे' त्यादिना चतुर्थी समासः, 'अर्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्'। तद्यत्तया अर्थित्वकृतिः अर्थित्वमजनं तत्र प्रतीतिर्विश्वासः कीदृक् स्यान्न स्यादित्यर्थः। तस्मादसंदिग्धं वाच्यमिति भावः ॥ ७२ ॥

'इसी प्रकार से समझाने में दोष क्या है?' इस पर हंस कहता है—

पिता की आज्ञा से या अपनी इच्छा से यदि (तुम) अन्य (नल से अतिरिक्त) युवक को वरण करती हो, (तो) तेरे लिए याचना करने वाला मुझ पर (में) नल का कैसा विश्वास होगा ? ॥ ७२ ॥

यानी ऐसा करने पर राजा नल मुझे बहुत फटकारेंगे और सदा के लिए मुझ पर से उनका विश्वास हट जायेगा अतः निश्चय के बिना उनके समक्ष तुम्हारे बारे में कुछ कहना ठीक नहीं लगता।

त्वयाऽपि किं शङ्कितविक्रियेऽस्मिन्नधिक्रिये वा विषये विधातुम्।
इतः पृथक् प्रार्थयसे तु यद्यत्कुर्वे तदुर्वीपतिपुत्रि ! सर्वम् ॥ ७३ ॥

अन्यथा तथा वक्तुं न शक्यते तर्हि तनोऽन्यदीप्सितं करिष्ये प्रतिज्ञाभङ्गपरिहारायेत्याह—त्वयेति ! हे उर्वीपतिपुत्रि ! भैमि ! त्वयापि वा किं विधातुं किं कर्तुं शङ्कितविक्रिये सम्भावितविपर्यये अस्मिन् विषये राजापाणिग्रहणसंघटन, कार्ये अहम् अधिक्रिये विनियुज्ये, अनियोज्य इत्यर्थः। करोतेः कर्मणि लट्, किन्तु इतः पृथगस्मादन्यत् यद्यत्प्रार्थयसे तत्सर्वं कुर्वे करोमीत्यर्थः ॥ ७३ ॥

'तो संदेह वाले काम में तुम्हें भी मुझ को नहीं लगाना चाहिए' इस पर हंस कहता है—हे पृथिवीपति-पुत्री, जहाँ विचार बदल जाने की संभावना

हैं, ऐसे (नल-विवाह के) विषय में तुम भी मुझे क्यों लगा रही हो? किन्तु इससे अन्य जो जो (चीज तुम) मांगोगी वह सब मैं पूरा करूँगा ॥ ७३ ॥

श्रवःप्रविष्टा इव तद्गिरस्ता विधूय वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना ।
ऊचे ह्रिया विश्लथितानुरोधा पुनर्धरित्रीपुरुहूतपुत्री ॥ ७४ ॥

श्रव इति । धरित्रीपुरुहूतपुत्री भूमीन्द्रसुता भैमी श्रवःप्रविष्टा इव न तु सम्यक् प्रविष्टाः तद्गिरो हंसवाचः । वैमत्येन असम्मतया धुतेन कम्पितेन मूर्ध्ना विधूय प्रतिषिध्य ह्रिया कर्त्र्या विश्लथितानुरोधा शिथिलितवृत्तिस्त्यक्तलज्जा सती पुनरप्यूचे उवाच ॥ ७४ ॥

कानों में या कानों के भीतर प्रवेश किए हुए हंस के उन वचनों को मानों असहमति से अपने शिर को हिलाते हुए बाहर करके लज्जा के बन्धन को ढीलाकर (हटाकर) राजकुमारी दमयन्ती बोली—॥ ७४ ॥

हंस के पूर्वोक्त कथन पर कि 'हो सकता है कि तू पिता की आज्ञा से या अपनी इच्छा से किसी अन्य युवक को वरण कर लोगी' निषेध करती है और हंस के इस अनाभिलषित बात को अपने कानों से निकालने के लिए ही सिर हिलाती है । पराये व्यक्ति से अपनी बात कहने में स्त्री जाति को लज्जा होती है अथवा लज्जा उनका भूषण है फिर भी दयन्ती यहाँ लज्जा को ढील देकर हंस से अपनी बात कहने के लिए तत्पर हो जाती है ।

मदन्यदानं प्रति कल्पना वा वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा ।
निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्याः ॥ ७५ ॥

मदिति । मम अन्यदानमन्यस्मै दानं प्रति दानमुद्दिश्य या कल्पना पितुर्नियोगेनेत्यादि श्लोकस्तर्कः । एषा कल्पना त्वदीये हृदि वेदस्तावत्सत्य एवेत्यर्थः । निशो निशाया अपि 'पद्न्नि'त्यादिना निशाया निशादेशः सोमाच्चन्द्रादिरकान्तशङ्कां पुरुषान्तरकल्पनामेव ओङ्कारं प्रणवम् अस्य वेदस्याग्रेसरमाद्यं कुर्याः कुरु सर्वस्यापि वेदस्य प्रणवपूर्वकत्वादिति भावः । यथा निशायाः निशाकरेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीयः, तथा ममापि नलेतरप्रतिगहो न शङ्कनीय इत्यर्थः । रूपकालङ्कारः ॥ ७५ ॥

निम्नोक्त दो प्रकार के दृष्टान्तों के जरिये नल-के विषय में भ्रम को दूर करते हुए दमयन्ती करती है—

मुझे अन्य (नल से भिन्न) युवक को दिये जाने के विषय में कल्पना है और यह आपके हृदय में यदि वेद (वाक्य) की तरह प्रामाणिक है तो रात्रि रूपी नायिका का पति चन्द्रमा से भिन्न कोई (पति) हो सकता है इस शंका को भी (आप) वेद का अग्रसर ओंकार स्वरूप अंगीकार कीजिए यानी इसे भी विश्वास कीजिए ॥ ७५ ॥

जिस प्रकार रात्रि का पति चन्द्रमा के अतिरिक्त दूसरा नहीं है उसी प्रकार मेरा भी भावी पति नल के सिवाय दूसरा नहीं होगा यही राजकुमारी दमयन्ती के कहने का यहाँ भाव है। यहाँ 'कल्पना' में वेद का और 'शङ्का में 'ओङ्कार' का आरोप है अतः रूपकालंकार है। वेद से पहले ओङ्कार पद का जोड़ना शास्त्र विहित है।

सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनर्कसम्पर्कमतर्कयित्वा ।
मदन्यपाणिग्रहशङ्कितेयमहो महीयस्तव साहसिक्यम् ॥ ७६ ॥

सरोजिनीति । सरोजिन्याः मानसरागवृत्तेर्मनोऽनुरागस्थितेरभ्यन्तरारुण्यप्रवृत्तेश्च अनर्कसम्पर्कमर्केतरकान्तसंक्रान्तिमतर्कयित्वा अनूहित्वा तवेयं मम अन्यस्य नलेतरस्य पाणिग्रहं शङ्कत इति तच्छङ्कितस्य भावस्तत्ता महीयो महत्तरं साहसिक्यं साहसिकत्वम् अहो असम्भावितसम्भावनादाश्चर्यम् ॥ ७६ ॥

कमलिनी के हृदयानुराग (प्रेम-व्यापार) का सम्बन्ध सूर्य से भिन्न के साथ बतलाना (दुसाहस है, वैसे ही) अन्य (नल से भिन्न युवक) के साथ मेरे पाणिग्रहण (विवाह) की शङ्का करना आपका यह अत्यन्त साहसिक है (जिसपर मुझे आश्चर्य हो रहा है) ॥ ७६ ॥

जिस प्रकार सूर्य के विना कमलिनी नहीं खिलती उसी प्रकार नल को छोड़ किसी अन्य के साथ मेरा विवाह कभी हो नहीं सकता, अतः ऐसी बेतुकी बातों की सम्भावना करने पर मुझे आपके साहस पर अचरज हो रहा है। यहाँ सरोजिनी को नायिका और अर्क (सूर्य) में नायक का समारोप है अतः समासोक्ति अलंकार है। अनर्क, संपर्क, तर्क, तथा अर्क में अनुप्रासालंकार है ॥ ७६ ॥

साधु त्वयाऽतर्कितदेकमेव स्वेनानलं यत्किल संश्रयिष्ये।
विनाऽमुना स्वात्मनि तु प्रहर्तुं मृषा गिरं त्वां नृपतौ न कर्तुम् ॥७७॥

साध्विति। किन्तु स्वेन स्वेच्छया अनलं नलादन्यम् अग्नि च संश्रयिष्ये प्राप्स्यापीति यत् त्वया अतर्कि ऊहितं तदेकमेव साधु अतर्कि, किन्तु अमुना नलेन विना तदलाभ इत्यर्थः। स्वात्मनि प्रहर्तुं स्वात्मानं हिंसितुं कर्मणोऽधिकरणत्वविवक्षायां सप्तमी। 'अनेकशक्तियुक्तस्य विश्वस्यानेककर्मणः। सर्वदा सर्वतोभावात् क्वचित् किञ्चिद्विवक्ष्यते ॥' इति वचनादनलं संश्रयिष्ये इत्यनुषङ्गः नृपतौ नले विषये त्वां मृषागिरमसत्यवाचं कर्तुमनल एव शरणम् अन्यथा मरणमेव शरणमिति भावः ॥ ७७ ॥

[इस श्लोक के द्वारा दूसरे पक्ष का निराकरण करते हुए दमयन्ती कहती है—हे हंस,] तुम्हारा यह तर्क (अंदाजा) सही है कि मैं अनल (नल से भिन्न या अनल = अग्नि) का आश्रय ग्रहण कर लूंगी। इस (नल राजा) के विना मैं आत्म-हत्या पर तुली हुई हूँ। यानी नल के न मिलने पर अनल–अग्नि में जल जाऊँगी परन्तु आप (जैसे तटस्थ महात्मा) को राजा नल के आगे झूठा बोलने वाला न बनाऊँगी ॥ ७७ ॥

यहाँ अनल में नल भिन्न तथा अग्नि अर्थ है अतः श्लेषालंकार है। 'प्रहर्तुम्' तथा 'कर्तुम्' के अनुप्रासालंकार है।

मद्विप्रलम्भ्यं पुनराह यस्त्वां तर्कस्स किं तत्फलवाचि मूकः ?।
अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु ? ॥ ७८ ॥

मदिति। किञ्च, यस्तर्क ऊहः मद्विप्रलम्भ्यं मया विप्रलम्भनीयं 'पोरदुपधादि'ति यत्प्रत्ययः। आह बोधयतीत्यर्थः स तर्कः तस्य विप्रलम्भस्य फलवाचि प्रयोजनाभिधाने मूकः अशक्तः किम् ? अतो मय्यसत्यवादित्वशङ्का न कार्येत्यर्थः। कथमेतावता सत्यवाक्यत्वनिश्चयः अतः आह–अशक्या शङ्का यस्य सः अशक्यशङ्कः शङ्कितुमशक्यः व्यभिचारहेतुर्विप्रलिप्सालक्षणो यस्याः सा वाणी न वेदा यदि न प्रमाणं चेत्तर्हि के तु वेदाः सन्तु ? न केऽपीत्यर्थः सम्भावनायां लोट्। वेदवाचामसत्यत्वे मद्वाचोऽप्यसत्यत्वम्, नान्यथेति भावः ॥ ७८ ॥

['यदि मेरा वचन धोखा देने वाला है सत्य नहीं है' इस पर दमयन्ती कहती है—हे हंस,] जो तर्क आपको मुझे धोखा देने वाला कहता है वह

तर्क उस ठगने वाले के प्रयोजन को बतलाने में क्यों मौन है ? (आप जैसे निःछल को झूठा बनाने मे मुझे क्या मिलेगा ? यह भी तो उसी तर्क (कल्पना) से आपको पूछना चाहिए।) जिस बात में कोई शंका (व्यभिचार) नहीं है वह वेद नहीं; तो फिर वेद किसका नाम है ? ॥ ७८ ॥

मैं यहाँ पर नल को पति बनाने की बात कहकर आप को ठग नहीं रहीं हूँ बल्की सत्य रूप से कह रही हूँ। वेद वाक्य भी तो वही है जहाँ कोई छल-छद्म नहीं है अतः वह लोक में प्रामाण्य है अन्यथा उसे कौन मानता ? अतः मेरी वाणी भी वेद वाक्य की तरह अचल है, ग्राह्य है। वाणी को वेदत्व का कारण यहाँ बताया गया है इसलिए काव्यलिङ्ग अलंकार है।

अनैषधायैव जुहोति किं मां तातः कृशानौ न शरीरशेषाम् ?।
ईष्टे तनूजन्मतनोस्तथापि मत्प्राणनाथस्तु नलस्स एव ॥ ७९ ॥

एवं निजेच्छया नलान्यशङ्कां निरस्य पित्राज्ञयापि तां निरस्यति— अनैषधायेति। ततो मम जनकः। 'तातस्तु जनकः पिता' इत्यमरः। मामनैषधाय नैषधान्नलादन्यस्मै एव जुहोति ददातिति काकुः, तदा शरीरशेषां मृतां तत्रापि कृशानौ न किं न तु जीवन्तीं नग्नेरन्यत्र जुहोतीत्यर्थः। तदङ्गीकर्त्तव्यमेवेति भावः। कुतः ? स जनकः तनूजन्मतनोः आत्मजशरीरस्य ईष्टे स्वामी, भवतीत्यर्थः। 'अधीगर्थदयेशां कर्मणी' ति शेषे षष्ठी। तथापि शरीरस्य पितृस्वामिकत्वेऽपीत्यर्थः। मत्प्राणानाथस्तु नल एव प्राणानामतज्जन्यत्वादिति भावः। अतो मय्यविश्वासं मा कुर्वित्यर्थः ॥ ७९ ॥

पिता जी (यदि) शरीर मात्र बची हुई मुझ (बाला) को राजा नल से भिन्न किसी अन्य युवक के लिए परित्याग करते हैं (तो) आग में ही क्यों नहीं झोंक देते ? वह (पिता) निःसंदेह शरीर जन्माने के अधिकारी हैं, लेकिन मेरे प्राणनाथ तो राजा नल ही है ॥ ७९ ॥

इस भौतिक देह पर भले ही किसी का अधिकार हो जाय परन्तु आत्मा किसी और को ही दीजायेगी। यानी नल यदि नहीं प्राप्त होंगे इस देह से तो मैं अग्नि में जलकर अगले जन्म में राजा नल को प्राप्त कर लूंगी यह कहने का भाव है। पिता जी का मेरे शरीर परन्तु ही तो अधिकार है पर मन पर नहीं है अतः हृदय राजा नल के लिए सब प्रकार से समर्पित है।

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते ।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधारकरेणापि सुधाकरेण ॥ ८० ॥

फलितमाह—तदेकेति । तस्य नलस्यैकस्यैव दासीत्वं तदेव पदमधिकारस्तस्मादुदग्रे अधिके मदीप्सिते पत्नीत्वरूपे विषये तव विधित्सुता चिकीर्षुता साधु साध्वी, अविचारेण मनोरथपूरणमेव ते युक्तमिति भावः। साध्विति सामान्योपक्रमान्न पुंसकत्वम्, 'शक्यं श्वमांसेनापि क्षुन्निवर्तयितुमि'ति भाष्यकारप्रयोगात् । ननु किमत्राभिनिवेशेन गुणवत्तरं चेद्युवान्तरस्वीकारे को दोषस्तत्राह—अहेलिनेति । नलिनी सुधाकरेण अमृतदीधितिनापि अहेलिना असूर्येण सुधाकरेण चन्द्रेण किं विधत्ते ? किं तेन तस्या इत्यर्थः । तद्वन्ममापि किं युवान्तरेणेति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ८० ॥

उस (राजा नल) की दासी पद से भी उत्तम मेरे मनोरथ पूर्ण करने (किसी अन्य की पटरानी बनाने) की तुम्हारी इच्छा क्या ठीक है ? (कभी नहीं, क्योंकि) कमलिनी सूर्य से भिन्न अमृत के खान चन्द्रमा से क्या (हित) करती है ॥८०॥

जैसे कमलिनी आग बरसान वाले सूर्य को पाकर तृप्त होती है परन्तु सुधा बरसाने वाले चन्द्रमा को उपेक्षा करती है उसी प्रकार नल का दासी होना मुझे प्रिय है परन्तु किसी की पटरानी बन कर रहना पसंद नहीं है। अतः नल से भिन्न वस्तु को उपलब्ध कराने का तुम्हारा प्रयास कभी भी सराहनीय नही होगा। अतः नल से भिन्न कोई मेरा मनोरथ नही है। यहां दृष्टान्तालंकार है ! 'सुधाकरेण' में यमक अलंकार है ।

तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम् ।
वित्ते ममैकस्स नलस्त्रिलोकीसारो निधिः पद्ममुखस्स एव ॥ ८१ ॥

तदिति । तस्मिन्नेवैकस्मिन् लुब्धे लोलुपे मे हृदि अनर्घं चिन्तामणिमपि लब्धुं चिन्ता विचारो नास्ति, तथा वित्ते धनविषयेऽपि मम स नलस्त्रिलोकीसारस्त्रैलोक्यश्रेष्ठः पद्ममुखः पद्माननः एकः स नल एव त्रैलोक्यसारः, पद्मनिधिश्च । नलादन्यत्र कुत्रापि मे स्पृहा नास्ति । किमुत युवान्तर इति भावः ॥

इस लिए केवल उस नल (राजा) को पाने का इच्छुक मेरे हृदय में अमूल्य चिन्तामणि को पाने की चिन्ता (मनोरथ) नहीं है। मेरे चित्त

(मन) में तो सम्पूर्ण त्रिलोकी का सारभूत (चौसठों कलाओं से युक्त अतः श्रेष्ठ) कमल समान मनोहर मुखवाले वह (नल) ही हमारा निधि (सर्वस्व खजाना या स्वामी) हैं ॥८१ ॥

नवों निधियों में पद्मनिधि भी एक है अतः यह मेरे लिए तीनों लोकों में (यानी संसार के चौसठ कलाओं) में यही सर्व श्रेष्ठ वस्तु है अन्य नहीं। यहाँ नल में निधि का आरोप हैं अतः रूपक अलंकार है। पद्ममुख में उपमा तथा श्लेषालंकार है अतः संकर है। 'चिन्ता' और चिन्ता में यमकालंकार है।

श्रुतश्च दृष्टश्च हरित्सु मोहाद् ध्यातश्च नीरन्ध्रितबुद्धिधारम् ।
ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेव शेषः ॥ ८२ ॥

श्रुतश्चेति । किं बहुना स नलः श्रुतः दूतद्विजनन्द्यादिमुखादाकर्णितश्च, मोहात् भ्रान्तिवशात् हरित्सु दृष्टः साक्षात्कृतश्च, तथापि नीरन्ध्रितबुद्धिधारं निरन्तरीकृततदेकविषयबुद्धिप्रवाहं यथा तथा ध्यातश्च । अथाद्य मम तत्प्राप्तिः नलप्राप्तिसुव्ययः प्राणत्यागो वा द्वयमेव द्वयोरन्यतर एवेत्यर्थः । शेषः कार्यशेषः स च तव हस्ते आस्ते त्वदायत्तः तिष्ठतीत्यर्थः । अत्र तत्पदार्थश्रवणमनननिदिध्यासनसम्पन्नस्य ब्रह्मप्राप्तिदुखोच्छेदलक्षणमोक्षो गुर्वायत्त एवेत्यर्थान्तरप्रतीतिर्ध्वनिरेव अभिधायाः प्रकृतार्थवियन्त्रणादि संक्षेपः ॥ ८२ ॥

मैंने उस नल के बारे में (लोगों–दूत एवं ब्राह्मणादि से) सुना है, मोहवश (उन्मादवश) सम्पूर्ण दिशा में उसे देखा है, हर क्षण ज्ञानधारा में उनका ध्यान किया है (और) अब उनकी (नल की) प्राप्ति या उनके न मिलने पर मरण (ये) दो चीजें आप के हाथ में हैं। (परन्तु उनमें) एक का शेष होगा यानी मैं नल को वरूँगी या मर जाऊँगी ॥ ८२ ॥

जिस प्रकार वेदान्तादि शास्त्रों के द्वारा अविच्छिन्न ज्ञान के द्वारा ध्यान में आये हुए ब्रह्म की प्राप्ति या अप्राप्ति किसी योग्य गुरु पर निर्भर है। वह ब्रह्म यद्यपि द्वैतभाव में दो दिखाई देता है, परन्तु अन्ततः एक ही शेष रहता है। यहाँ नल प्राप्ति प्रस्तुत है परन्तु अप्रस्तुत ब्रह्म से उसकी संगति मिलाई गई है अतः उपमा है।

सञ्चीयतामाश्रुत पालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यम् ।
निवार्यतामार्य ! वृथा विशङ्का भद्रेऽपि मुद्रेयमये ! भृशं का ? ॥८३॥

सञ्चीयतामिति । हे हंस ! आश्रुतपालनोत्थं प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहणोत्पन्नम् 'अङ्गीकृतमाश्रुतं प्रतिज्ञातमि'त्यमरः। मत्प्राणानां विश्राणनं दानं तज्जन्यं पुण्यं सुकृतं सञ्चीयतां संगृह्यतां, हे आर्य ! वृथा विशङ्का सन्देहो निवार्यताम्। अये ! अङ्ग ! भद्रे पूर्वोक्तपुण्यरूपे श्रेयसि विषये मूकशङ्केयं मुदा औदासीन्यं, श्रेयसि नोदासितव्यमिति भावः ॥ ८३ ॥

'मेरा कार्य साधने में आपको महान् लाभ होगा' इस आशय से दमयन्ती कहती है—स्वीकृत वचन के पालन से उत्पन्न पुण्य को तथा मेरे प्राणों के दान से जो पुण्य होगा उसे आप संग्रह कीजिए, हे आर्य, (मन से) व्यर्थ की शंका दूर हटा दीजिए, ए हंस ! मंगलदायी कार्य में आपका यह अतिशय मौन कैसा ? ॥ ८३ ॥

पिता की आज्ञा से तुम दूसरे को वरण कर लोगी ऐसी विपरीत शंका आप अपने मन से दूर कर दीजिए। आप विचारवान हैं अतः इस शुभकारी कार्य में मौन छोड़कर अपनी प्रतिज्ञा (श्लोक ३।६३ के अनुसार) पूरी कीजिए। यहाँ ':ः', 'विश्राण', 'वार्य', 'मार्य' में अनुप्रास अलंकार है।

अलं विलङ्घ्य प्रिय[1] ! विज्ञ ! याञ्चां कृत्वापि वाक्यं विविधं विधेये।
यशःपथादाश्रवतापदोत्थात् खलु स्खलित्वाऽस्तखलोक्तिखेलात् ॥ ८४ ॥

अलमिति । हे प्रिय ! प्रियङ्कर विज्ञ ! विशेषज्ञ ! उभयत्र 'इगुपधे'त्यादिना कप्रत्ययः। याञ्चां प्रार्थनां विलङ्घ्य अलं याञ्चभङ्गो न कार्य इत्यर्थः। विधेये विनीतजने विविधं वाक्यं वक्रतां कृत्वापि अलं, तच्च न कार्यमित्यर्थः। आश्रवो यथोक्तकारी, 'वचने स्थित आश्रव' इत्यमरः। तस्य भावास्तत्ता सैव पदं पदक्षेपः तदुत्थात् अस्ता निरस्ता खलोक्तिखेला मिथ्यावादविनोदो येन तस्माद्यशःपथात् स्खलित्वा चलित्वा खलु न स्खलितव्यमित्यर्थः। अन्यथा हानिः स्यात्। 'निषेधवाक्यालंकारजिज्ञासानुनये' इत्यमरः 'अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वे'ति उभयत्रापि क्त्वाप्रत्ययः इह 'न पादादौ खल्वादय' इति निषेधस्योद्वेजकत्वाभिप्रायत्वाभिप्रातवान्नञ्नार्थस्य खलशब्दस्यानुद्वेजकत्वान्नञ्वदेव पादादौ प्रयोगो न दूष्यत इति अनुसन्धेयम् ॥ ८४ ॥

हे प्रिय, विचारशील, (या पक्षियों में ज्ञानी राजहंस !) मेरी प्रार्थना को मत लांघिये, (या प्रिय विद्वान नल सम्बन्धी याचना को मत ठुकराइये),

---

१. 'प्रियविज्ञ !' इति पाठान्तरम्।

करणीय कार्य में नाना प्रकार के कुटिलापन मत कीजिए, स्वीकृ कार्य को पूरा करने से उत्पन्न उस सुयश से वंचित मत होइये, जो दुष्टों को कठोर वचनों से सदैव अछूता रहा है (यानी लोक में 'हंस के समान उपकारी जन्तु अन्य नहीं है' ऐसा दुर्जन भी कहते हैं) ॥ ८४ ॥

स्वजीवमप्यार्त्तमुदे ददद्भ्यस्तव त्रपा नेदृशबद्धमुष्टेः।
मह्यं मनीयान्यदसूननित्सोर्धर्मः कराद् भ्रश्यति कीर्तिधौतः ॥८५॥

स्वेति । ईदृशबद्धमुष्टेरीदृक्कष्टलुब्धस्य तव आर्त्तानां मुदे प्रीत्यै स्वजीवं ददद्भ्यः स्वप्राणव्ययेन परत्राणं कुर्वद्भ्यो जीमूतवाहनादिभ्य इत्यर्थः । जीवः ञ्जीमूतवाहन' इति प्रसिद्धम् । त्रपा नेति काकुः, त्रपाया मनःप्रत्यावृत्तिरूपत्वात्तदपेक्षया तेषामपादानत्वात् पञ्चमी । यद्यस्मान्मदीयानेवासून् प्राणान् मह्यमदित्सोः तव कीर्त्या धौतः शुद्धो धर्मः कराद्धस्ताद् भ्रश्यति, न चैतत्तवार्हमिति भावः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार मुट्ठी बांधे हुए (महा कंजूस की नाई) तुम्हारे (मन में) दुखित प्राणियों के आनन्द के लिए अपने प्राणों को भी देने वालों (जीमूतवाहन आदि महात्माओं) से लाज नहीं आती, इसीलिए तो मेरे ही प्राणों (नल) को मुझे न देने की इच्छा रखनेवाले तुम्हारे यशोधवल धर्म हाथ से गिर रहा है (नष्ट हो रहा है ।) ॥ ८५ ॥

यहाँ कवि ने जिन परोपकारी महात्माओं का संकेत किया है, वे ये हैं—

'कर्णस्त्वचं शिविर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि किमदेयं महात्मनाम् ॥' इति ।

यहाँ राजा नल को दमयन्ती अपना ही प्राण बतलाती है। अतः दोनों के प्राणों में भेद होते हुए भी अभेदाध्यवसाय हो रहा है इसलिए अभेदातिशयोक्ति अलंकार है । बंधी हुई मुट्ठी है फिर भी धर्म गिर रहा है अतः विरोध हो रहा है, बँधी मुट्ठी से 'कंजूस' अर्थ करने पर दोष का परिहार हो जाता है । आलंकारिकों ने इसे विरोधाभास अलंकार कहा है ।

दत्वाऽऽत्मजीवं त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन ।
विधेहि तन्मां [1]त्वद्गुणेष्व[2]शोढ्‌ममुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् ॥८६॥

---

१. त्वद्गुणान्यशोढ-' इति पाठान्तरम् । २. '-असोढ-' इति पाठान्तरम् ।

दत्त्वेति । किं च, जीवदे प्राणदे त्वयि विषये आत्मजीवं मत्प्राणं दत्त्वापि शुध्यामि आनृण्यं गमिष्यामीत्यर्थः । किन्तु जीवादधिकः प्रियः तद्दे त्वयि केन शुध्यामि ? न केनापि, तत्तुल्यदेयवस्त्वभावादित्यर्थः । सम्प्रति प्राणैः समं तु न किञ्चिदस्तीति भावः । तत्तस्मादभावादेव मां त्वद्दृणेषु विषये अशोद्धुमृणग्रस्तां भवितुमेव अमुद्रे अपरिमिते दारिद्रयं त्वद्देयवस्त्वभावरूपं तस्मिन्नेव समुद्रे मग्नां विधेहि नलसङ्घट्टनेन मामृणग्रस्तां कुर्वित्यर्थः । अशोद्धुं, मग्नामिति मग्नत्वानुवादेन अशुद्धिर्विधीयते दरिद्राणामृणमुक्तिर्नास्तीति भावः ।। ८६ ।।

आपके द्वारा प्राण दान करने पर (मैं) अपना प्राण देकर भी शुद्ध (ऋण से मुक्त) हो जाऊँगी किन्तु प्राणों से भी अधिक (नल को) देने पर फिर कैसे (किस वस्तु को देकर) मुक्त हो सकूँगी ? इसलिए ऋणों को न चुकाने के लिए (असमर्थ) मुझे दारिद्र रूपी अथाह समुद्र में तुम डूबी रहने दो ।।८६।।

तुम मुझे प्रणों से भी प्रिय नल को देकर अपने जन्म भर का ऋणी बना लो । यहाँ दारिद्रय में समुद्र का आरोप है। जो अमुद्र (मुद्रारहित) है वह समुद्र कैसे होगा, यह विरोध है परन्तु समुद्र का सागर अर्थ होने पर विरोध का परिहार हो जायेगा । ऐसी स्थिति में यहाँ विरोधाभास अलंकार है ।

क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यं न चेद्वस्तु पुण्यम् ।
जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम् ।। ८७ ।।

क्रीणीष्वेति । हे जीवेशदातः प्राणेश्वरद ! मज्जीवितमेव पण्यं क्रेयं वस्तु क्रीणीष्व, जीवेशरूपमूल्यदानेन स्वीकुरुष्वेत्यर्थः । अन्यदेतन्मूल्यानुरूपं वस्त्वन्तरं नास्ति चेत्तर्हि पुण्यं सुकृतमस्तु, किञ्चिद्यदि ते तुभ्यं दातुं न प्रभवामि न शक्नोमि तावत्तर्हि यशोऽपि कीर्तिं गातुं प्रभवामि, ख्यातिसुकृतार्थमेवोपकुरुष्वेत्यर्थः ।।

हे हंस, तुम मेरे प्रियतम नल को दान रूप में देकर मेरे प्राणों को ही कीन लो, नहीं तो फिर पारलौकिक पुण्य ही कमालो । हे प्राणनाथ के दाता, यदि तुम्हारे (समान) दान को लौटाने के लिए समर्थ न होऊँगी, तो (तेरा इस लोक में) सुयश भी न गाऊँगी (क्या) ? ।। ८७ ।।

यहाँ 'जीवित' में पण्यत्व (मूल्य) का आरोप है अतः रूपकालंकार है। कुछ आचार्यों के अनुसार अतिशयोक्ति है । 'पण्यं' 'पुण्यम्' 'जीवि' तथा 'जीवे' में छेकानुप्रास है ।

वराटिकोपक्रिययाऽपि लभ्यान्नेभ्यः कृतज्ञानयवाद्रियन्ते ।]
प्राणैः पणैः स्वं निपुणं भणन्तः क्रीणन्ति तानेव तु हन्त सन्तः ॥८८॥

अथवा साधुस्वभावेनापि परोपकारं कुर्वित्याह—वराटिकेति। वराटिकोपक्रियया कपर्दिकादानेनापि लभ्यान् कृतज्ञान् तावदेव बहुमन्यमानान् उपकारज्ञान् इभ्याः धनिकाः, 'इभ्य आढ्यो धनी स्वामी'त्यमरः। नाद्रियन्ते धनलोभान्नोपकुर्वन्तीत्यर्थः। सन्तो विवेकिनस्तु स्वात्मानं निपुणं भणन्तः, सन्त एते वयं त्वदधीना इति साधु वदन्त इत्यर्थः। तानेव कृतज्ञान् प्राणैरेव पणैः क्रीणन्ति आत्मसात्कुर्वन्ति, किमुत जनैरित्यर्थः। अतस्त्वयाऽपि सता कृतज्ञाऽहमुपकर्तव्येति भावः। हन्त हर्षे ॥ ८८ ॥

धनवान लोग कौड़ी भर भी उपकार (भलाई) के जरिए प्राप्त होने वाले कृतज्ञों को आदर नहीं करते, परन्तु अचरज है कि सज्जन लोग अपने को चतुर कह करके (चलो हम अच्छे रहे ऐसा कह कर) उन्हीं (कृतज्ञों) को जी-जान से खरीद लेते हैं ॥ ८८ ॥

लोक में कहावत है कि 'अर्धो तेजे पंडिता सर्वो तेजे मूढ़' इस प्रकार अपने को परम बुद्धिमान मानकर सज्जन पुरुष अपना प्राण रूपी मूल्य से प्राप्त कृतज्ञता को लेना पसन्द करते हैं परन्तु धन के लोभी होने के कारण धनी लोग ऐसे कृतज्ञों को छोड़ देते हैं। इसलिए भले ही तुम्हें न यश की चाह है, परलोक में मिलनेवाला पुण्य ही पसन्द है, फिर भी तुम तटस्थ उदासी महात्मा होने के नाते मेरा उपकार तो करो। यहाँ प्राण पर ही पणत्व (मूल्य) का अरोप है अतः रूपक अलंकार है।

स भूभृदष्टावपि लोकपालास्तैर्मे तदेकाग्रधियः प्रसेदे ।
न हीतरस्माद्घटते यदेत्य स्वयं तदाप्तिप्रतिभूर्ममाभूः ॥ ८९ ॥

स इति। किञ्च स भूभृन्नलः अष्टावपि लोकपालाः, तदात्मक इत्यर्थः। 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति स्मरणात्। अत एव तदेकाग्रधियो नलैः कतानबुद्धेः मे मम तैर्लोकपालैः प्रसेदे प्रसन्नं भावे लिट्। देवता ध्यायतः प्रसीदन्तीति भावः। कुत ? इतरस्मात् प्रसादादन्यथेत्यर्थः। स्वयं स्वयमेवागत्य मम तदाप्तिप्रतिभूः नलप्राप्तिलग्नकोऽभूरिति यत्, तन्न घटते हि। तत्प्रसादाभावे कुतो ममेदं श्रेयः ? इत्यर्थः ॥ ८९ ॥

वह राजा नल आठो लोकपाल स्वरूप है अतः उस (नल) में एकाग्र (निश्चित) बुद्धि लगाने वाली मुझ पर वे (आठो लोकपाल) प्रसन्न हैं। इसीलिए तो तुम स्वयं आकर उनकी प्राप्ति के लिए मेरा जामिनदार (प्रतिभू) बने हो, नहीं तो यह सम्भव नहीं था; यानी लोकपाल रंज होते तो तुम नहीं मिलते ॥ ८९ ॥

दाता और ग्रहीता के बीच में काम करने वाले जामिनदार को ही विशेष दबाकर नियत धन आदि मांगा जाता है। इस लिए नल को देने के लिए मैं तुम से बार-बार जोर दे रही हूँ। यहाँ हंस पर 'प्रतिभू' का आरोप है अतः रूपकालंकार है। साथ ही हंस स्वयं आकर प्रतिभूत्व को ग्रहण किया है अतः लोकपालों की प्रसन्नता का अनुमान किया गया है।

अकाण्डमेवात्मभुवाऽर्जितस्य भूत्वाऽपि मूलं मयि वीरणस्य ।
भवान्न मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम् ॥ ९० ॥

अकाण्डेति । हे हंस ! विः पक्षी 'विविष्किरपतत्रिणः' इत्यमरः। 'रोरी'ति रेफलोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्ये'ति दीर्घः। भवान् अकाण्डमनवसर एव 'अत्यन्तसंयोगे द्वितीया' आत्मभुवा कामेन मयि विषये अर्जितस्य कृतस्य रणस्य गाढप्रहार-लक्षणस्य मूलं हंसानामुद्दीपकत्वेन निदानं भूत्वाऽपि अन्यत्र काण्डो दण्डः तद्वर्जित-मकाण्डं यथा तथा आत्मभुवा ब्रह्मणा अर्जितस्य सृष्टस्य वीरणस्य तृणविशेषस्य मूलं मूलावयवो भूत्वा अत एव नलदत्वं नैषधदातृत्वम्। अन्यत्र उशीरत्वं चेत्यर्थः। हृदः चंदनलेपकृत्यं शैत्योत्पादनं न कर्त्ता करिष्यत्येव परोपकारशील-त्वादिति भावः। 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु।', 'स्याद्वीरणं वीरतरुमूलस्योशीरमस्त्रियाम्।' 'अभयं नलदं सेव्यमि'ति चामरः। वीरणस्येति शब्दश्लेषः। अन्यत्रार्थश्लेषः। तथा च नलदत्वमेत्य चेति प्रकृताप्रकृतयोरभेदा-ध्यवसायेन हंसे आरोप्यमाणस्योशीरस्य प्रकृतया तादात्म्येन चन्दनकृत्यलक्षण-प्रकृतकार्य्योपयोगात् परिणामालङ्कारः। 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम' इति लक्षणात्, स चोक्तश्लेषप्रतिबिम्बोत्थापित इति सङ्करः ॥९०॥

असमय (बालावस्था) में ही कामदेव के द्वारा मुझ में उत्पन्न किए गए संघर्ष (कामयुद्ध) का मूल (कारण) होकर भी तुम पक्षी (हंस) नल को देने का कार्य करके मेरे हृदय पर चन्दन का लेप लगाने का कार्य नहीं करोगे।

क्या ? या नल के विषय में चर्चा करके वाण हीन कामदेव के संघर्ष का मूल तुम होकर अथवा ब्रह्मा (आत्मभू) द्वारा मेरे लिए बनाये विना गाँठ के खस-खस की जड़ (मूल) होकर भी मुझे नल (या खश) को देकर (मेरे) हृदय पर चन्दन का लेप नहीं लगाओगे क्या ? ॥ ९० ॥

आप इस वाल उम्र में नल का प्रसंग लेकर कहीं से आ धमके और काम का युद्ध खड़ा कर दिया उसका कारण बन गए तो नल को देकर हृदय पर चन्दन का लेप (या कांड रहित खश की टाटी) तो लगा दीजिए। नहीं तो नल के विना मैं न कोई श्रृगार करूंगी, न चन्दनादि लेप लगाऊंगी अतः नल के विना आपका कोई औचित्य नहीं है। यहाँ 'अकाण्डम्' 'आत्मभूवा' 'मूलम्' 'वीरणस्य', नलदत्वम्'—में श्लेषालंकार है। हंस पर नलदत्व का आरोप है अतः रूपक है। नलदत्व का अर्थ अशीर–खश अर्थ है। इससे गर्मी के दिनों में ताप निवारणार्थ खिड़कियों पर चिकें बनायी जाती हैं। प्राचीन काल मे चन्दन की भाँति इसका लेप तैयार किया जाता था जिससे शरीर का ताप मिटता था। प्रस्तुत अर्थ में 'नलद' शब्द का अर्थ नल को देने वाला भी है।

अलं विलम्ब्य त्वरितुं हि वेला कार्ये किल स्थैर्यसहे विचारः।
गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमार्तिः ॥९१॥

अलमिति। हे हंस ! विलम्ब्यालं न विलम्बितव्यमित्यर्थः। 'अलङ्खल्वोरि'त्यादिना क्त्वाप्रत्यये ल्यबादेशः। त्वरितुं वेला हि त्वराकालः खल्वयमित्यर्थः। 'कालसमयवेलासु तुमुन्' कुतः ? स्थैर्यसहे विलम्बसहे कार्ये विचारो विमर्शः किलेति प्रसिद्धौ, अन्यथा विपत्स्यत इति भावः तथाहि तीक्ष्णा शीघ्रग्राहिणी प्रतिमा प्रज्ञा गुरूपदेशमिव आर्तिराधिर्जातु कदापि कालं न प्रतीक्षते, कालक्षेपं न सहत इत्यर्थः। उपमार्थान्तरन्यासयोः संसृष्टिः ॥ ९१ ॥

हे हंस, यह समय जल्दी करने का है विलम्ब का नहीं है अतः तुम विलम्ब मत करो, बिलम्ब वाले कार्य में विचार किया जाता है। जिस (शिष्य) की बुद्धि तेज है वह गुरु के उपदेश की प्रतीक्षा नही करती उसी प्रकार मेरी (नल विषयक) तीव्र पीड़ा (विरह) कभी भी समय की प्रतीक्षा (विलम्ब) नहीं चाहती ॥ ९१ ॥

इसलिए जहाँ तक हो तुम शीघ्र यह कार्य करो, लोक में भी विवाहादि मंगल कार्य में लोग विलम्ब पसंद नहीं करते है।

अभ्यर्थनीयस्स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगता मदर्थम् ।
प्रियास्यदाक्षिण्यबलात्कृतो हि तदोदयेदन्यवधूनिषेधः ॥ ६२॥

अथानन्तरकृत्यं सविशेषमुपदिशति—अभ्यर्थनीय इत्यादिश्लोकपञ्चकेन। गतेन इतो यातेन त्वया स राजा नलः शुद्धान्तगतः अन्तपुरस्थो मदर्थं मत्प्रयोजनं नाभ्यर्थनीयो न वाच्यः, दुहादित्वाद् द्विकर्मत्वम् 'अप्रधाने दुहादीनामि'ति राज्ञोऽभिहितकर्मत्वम् कुतः? हि यस्मात्तदा तस्मिन् काले प्रियाणामास्यदाक्षिण्यं मुखावलोकनोत्थापितच्छन्दानुवृत्तिबुद्धिरित्यर्थः। तेन बलात् कृतो बलात्प्रतिवर्त्तितो अन्यवधूनिषेधः उदयेत् उत्पद्यते ॥ ६२ ॥

यहाँ दमयन्ती नल से कहने के लिए हंस को उचित निर्देश देते हुए कहती है—हे हंस, जब तुम यहाँ से जाना तो जब नल अन्तःपुर की स्त्रियों के मध्य गए हुए हों तो उनसे तुम मेरी विषय में (कुछ भी) विनय भाव मत करना। क्योंकि उस समय वह प्रियतमाओं के मुख देखने से उत्पन्न शील-संकोच से तथा प्रेमवश अन्य (रानियो में) स्त्री के विषय में वह निषेध (ना) कर सकता है ॥ ६२ ॥

यहाँ अन्य स्त्री (रानियों) के सामने प्रणय निवेदन न करने का हेतु बतलाया है अतः काव्यलिंग अलंकार है।

शुद्धान्तसंभोगनितान्ततृप्ते न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम् ।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुस्सुगन्धिः स्वदते तुषारा ॥ ६३ ॥

शुद्धान्तेति। किञ्च शुद्धान्तसम्भोगेन अन्तःपुरस्त्रीसम्भोगेन नितान्ततृप्ते अत्यन्तसन्तुष्टे नैषधे नलविषये इदं कार्यं न निगाद्यं न निगदितव्यम्, 'ऋहलोर्ण्यत्, 'गदमदे'त्यादिना सोपसर्गाद्यतो निषेधात्। यथाहि अपां तृप्ताय अद्भिस्तृप्तायेत्यर्थः। 'पूरणगुणे'त्यादिना षष्ठीसमासप्रतिषेधादेव ज्ञापकात् षष्ठी 'रुच्यर्थानां प्रीयमाण' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। स्वादुर्मधुरा सुगन्धिः कर्पूरादिवासना शोभनगन्धा। अत्र कवीनां निरङ्कुशत्वाद्गन्धस्येत्वे तदेकान्तत्वनियमानादरः। तुषारा शीतला वारिधारा न स्वदते न रोचते हि। दृष्टान्तालंकारः ॥ ६३ ॥

अन्तःपुर की रानियों के साथ संभोग करके अत्यन्त संतुष्ट हुए उस नल से यह (मेरा प्रेम संबंधी) कार्य मत कहना क्योंकि जल से तृप्त व्यक्ति को स्वादु सुगंधित, एवं शीतल जल की धारा नहीं रुचती ॥ ६३ ॥

इस श्लोक के जरिये नल के अन्तःपुर की स्त्रियों को दमयन्ती ने साधारण जल के समान कहा है और अपने को अत्यन्त मीठा, ठंढा एवं सुगंधित बतला कर सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है। यहाँ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध श्लोक में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है अतः दृष्टान्तालंकार है।

विज्ञापनीया न गिरो मदर्थाः क्रुधा कदुष्णे हृदि नैषधस्य।
पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हंसकुलावतंस! ॥ ९४ ॥

विज्ञापनीया इति। हे हंसकुलावतंस! नैषधस्य हृदि हृदये क्रुधा क्रोधेन कदुष्णे ईषदुष्णे चकारात्कोः कदादेशः। मह्यमिमाः मदर्थाः अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या' गिरो वाचो न विज्ञापनीया न निधेयाः न विज्ञाप्या इत्यर्थः। तथाहि पित्तेन पित्तदोषेण दूने दूषिते रसने रसनेन्द्रिये सिता शर्करापि तिक्तायते तिक्तीभवति लोहितादित्वात् क्यष्, 'वा क्यष' इति आत्मनेपदम्। अत्रापि दृष्टान्तालङ्कारः॥ ९४॥

हे हंसवंशभूषण, जब नल के हृदय क्रोध से गरमा गया हो तब भी मेरे विषय में कुछ न कहना, क्योंकि पित्त की विकृति से जीभ दूषित होने पर चीनी भी तीत (कड़वी) लगती है॥ ९४॥

धरातुरासाहि मदर्थयाच्ञा कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्ते।
तदाऽर्थितस्यानवबोधनिद्रा बिभर्त्यवज्ञाचरणस्य मुद्राम्॥ ९५॥

धरेति। तुरं त्वरितं सहयत्यभिभवत्यरीनिति तुराषाडिन्द्रःसहतेश्चौरादिकत्वात् क्विप, 'नहिवृती'त्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घः, प्रकृतिग्रहणे ण्यन्तस्यापि ग्रहणात्, मुग्ध भोजस्तु तुराशब्दं टाबन्तमाह। तस्मिन् धरातुरासाहि भूदेवेन्द्रे नले अजादिषु असाड्रूपत्वात् 'सहेः साडः स'इति षत्वं नास्ति। कार्यान्तरचुम्बिचित्ते व्यासक्तचित्ते मदर्थयाञ्चा मत्प्रयोजनप्रार्थना न कार्या। तथाहि— तदा व्यासङ्गकाले अर्थितस्य अनवबोधः अबोधः स एव निद्रा सा अवज्ञाऽऽचरणस्य अनादरकरणस्य मुद्रामभिज्ञानं बिभर्ति, अनादरप्रतीतिं करोतीत्यर्थः। तच्चातिकष्टमिति भावः॥ ९५॥

हे हंस, इस पृथ्वी के इन्द्र (स्वामी राजा नल) का चित्त किसी अन्य कार्य में लगा हो तब मेरी ओर से जाचना मत करना, क्योंकि तब अन्यमनस्क चित्त होने पर याचित विषय नींद में होनेवाली लापरवाही की भांति अपमान के रूप को ग्रहण कर लेता है॥ ९५॥

अन्य कर्म में लगा व्यक्ति ठीक से प्रार्थना को नहीं सुनता, न ठीक से उत्तर देता है, ऐसी स्थिति में प्रार्थना करने वाला अपने अभीष्ट को पूर्ण नहीं कर सकता है अतः इस दशा में तुम भी मेरी बात उनसे (नल से) मत कहना।

विज्ञेन विज्ञाप्यमिदं नरेन्द्रे तस्मात्त्वयाऽस्मिन् समयं समीक्ष्य।
आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिध्योः कार्यस्य काऽऽर्यस्य शुभा विभाति ?॥९६॥

विज्ञेनेति। तस्मात् कारणाद् विज्ञेन विवेकिना त्वया समयं समीक्ष्य इदं कार्यमस्मिन् नले विषये विज्ञाप्यम्। विलम्बः स्यादित्याशङ्क्याह—आत्यन्तिकेति। हे हंस! कार्यस्य आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्ध्योर्मध्ये आर्यस्य विदुषस्ते का कतरा शुभा समीचीना विभाति ? अनवसरविज्ञापने कार्यविघाद्वरं विलम्बनेनापि कार्यसाधनमिति भावः ॥ ९६ ॥

इसलिए हे हंस, उस नरेन्द्र (नल) से तुम विचारवान अवसर देखकर यह मेरा संदेशा कहना, इस कार्य की अत्यन्त सिद्धि न होना, या विलम्ब से सिद्धि प्राप्त होना—इन दोनों में आपको कौन-सा शुभ लगता है ? ॥ ९६ ॥

यानी एकदम काम न सिद्ध होने के बजाय विलम्ब से कार्य सिद्ध होना ही उत्तम माना जाता है।

इत्युक्तवत्या यदलोपि लज्जा साऽनौचिती चेतसि नश्चकास्तु।
स्मरस्तु साक्षी तददोषतायामुन्माद्य यस्तत्तदवीवदत्ताम् ॥९७॥

इतीति। इत्थमुक्तवत्या तया लज्जा अलोपि त्यक्तेति यत्। सा, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता, अनौचिती अनौचित्ययुक्तमेतत् नोऽस्माकं शृण्वतां चेतसि चकास्तु। किन्तु लज्जात्यागस्य अदोषतायां स्मरः साक्षी प्रमाणं; यः स्मरः तां भैमीमुन्माद्य उन्मादावस्थां प्राप्यैतत्तादनुचितं वचनमवीवदत् वादयतिस्म। वदतेर्णौ चङि 'गतिबुद्धी' त्यादिना वदेरणि कर्तुः कर्मत्वम्। प्रकृतिस्थस्यायं दोषो न कामोपहतचेतसि इति भावः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार (हंस से) कहने वाली दमयन्ती ने लज्जा का परित्याग किया वह हम रसिकजनों के मन में अनुचित भले ही लगे परन्तु उसकी निर्दोषता का साक्षात् गवाह तो कामदेव (है) जो उसे उन्मत्त बनाकर वैसा-वैसा निर्लज्ज वचन (श्लोक—३।७५—९६) कहवा दिया ॥ ९७ ॥

उन्मादी पागल आदमी का कोई अपराध नहीं माना जाता इसलिए वह बाला—दमयन्ती एक तरुण स्त्री के समान लाज छोड़कर वह सब कह गई क्योंकि काम का जोड़ तो जवानी में ही होता है परन्तु बाल उम्र में जो ऐसा उसने किया उसमें काम का ही बोल-बाला है अतः यहाँ दमयन्ती का कोई दोष नहीं माना जाना चाहिए। यहाँ कवि की अपनी कल्पना है इसीलिए ऐसा सम्बन्ध बैठाया है। कुछ आचार्यों के मत से अतिशयोक्ति अलंकार है परन्तु काम जनित उन्माद का वर्णन करने से श्रीपन्त जी ने काव्यलिंग अलंकार माना है। 'चिती और चेतसि' के द्वारा छेकानुप्रास है।

उन्मत्तमासाद्य हरः स्मरश्च द्वावप्यसीमां मुदमुद्वहेते।
पूर्वस्स्मरस्पर्धितया प्रसूनं नूनं द्वितीयो विरहाविदूनम् ॥ ९८ ॥

कामो वा किमर्थमेवं कारयतीत्याशङ्क्य तस्यायं निसर्गो यदुन्मत्तेन क्रीडतीति सदृष्टान्तमाह—उन्मत्तमिति। हरः स्मरश्च द्वावपि उन्मत्तमासाद्य असीमां दुरन्तां मुदमुद्वहेते दधतुः। वहेः स्वरित्वादात्मनेपदम् किन्तु तत्र निर्देशक्रमात् पूर्वो हरः स्मरस्पर्द्धितया स्मरद्वेषितया प्रसूनं धुत्तूरकुसुमं तस्यायुधतयेति भावः। अन्यस्तु द्वितीयः स्मरस्तु विरहाविदून विरहव्यथादुःस्थः युवतयेति भावः। अन्यत्र विनोदलाभादित्यर्थः। 'उन्मत्त उन्मादमुन्मादावस्थापन्नमित्यर्थः। अन्यत्र विनोदलाभादित्यर्थः। 'उन्मत्त उन्मादवति धुत्तूरमुचुकुन्दयोरि'ति विश्वः। उभयोरभेदाध्यवसायात् समानधर्म्मत्वविशेषमत्राश्लेषात्प्रकृताप्रकृतगोचरत्वाच्च उभयश्लेषः तेन हरवत् स्मरोऽप्युन्मत्तप्रिय इति उपमा गम्यते॥ ९८ ॥

महादेव और कामदेव दोनों ही उन्मत्त को पाकर अतिशय आनन्द को धारण करते हैं। इनमें प्रथम शिवजी शत्रु स्वरूप कामदेव से स्पर्धा करने के कारण धतूरे के फूल को पाकर तो दूसरे कामदेव (शत्रु महादेव से स्पर्धा करने के कारण) विरह-वियोग से पीड़ित (उन्मत्त जन) को पाकर खुश होते हैं॥ ९८ ॥

कामदेव का बाण धत्तूर भी है अतः उसे पाकर शिव को आनन्द मिलता है फिर शंकर के गण का नाम भी उन्मत्त है अतः उसे पाकर काम भी खुश होता है। परस्पर स्पर्धा में एक दूसरे की वस्तु पाकर प्रसन्नता हो रही है अतः उत्प्रेक्षालंकार है। यहाँ प्रयुक्त 'उन्मत्त' शब्द में श्लेष है। शंकर

के पक्ष में उन्मत्त का 'धतूर', 'शिव का गण' अर्थ है तो कामदेव के पक्ष में विरह-वियोग से पीड़ित 'पागल व्यक्ति' अर्थ है। मल्लिनाथ जी ने यहां उपमा अलंकार माना है क्योंकि निम्नोक्त वाक्य उनकी व्याख्या में है— 'तेन हरवत् स्मरोऽप्युन्मत्तप्रिय इत्युपमा गम्यते।'

तथाऽभिधात्रीमथ राजपुत्रीं निर्णीय तां नैषधबद्धरागाम्।
अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूयः ॥ ९९॥

तथेति। तथाऽभिधात्रीं तां राजपुत्रीं भैमीं नैषधे नले बद्धरागां निर्णीय तेन विहायसा विहगेन विहस्य भूयः चञ्चूपुटस्य मौनमुद्रा निर्वचनत्वममोचि आवादीदित्यर्थः ॥ ९९॥

इसके बाद उस (श्लोक ३।७५–९९) रूप से कहने वाली राजकुमारी दमयन्ती को देखकर तथा राजानल में (इस बाला का) सुदृढ़ प्रेमभाव (है ऐसा) निश्चित करके उस राजहंस ने (पक्षी ने) हँसकर अपने बंद चोंच को फिर से खोल दिया यानी बोला——॥ ९९॥

यहाँ पर हंस का हँस करके कहना प्रकृति-विरुद्ध लगता है क्योंकि पक्षी या पशु कहीं हँसता नजर नहीं आता। हाँ, यदि देवतांश होने के नाते मनुष्यवाणी में हँसना माना जाय तो बात कुछ बन सकती है, अन्यथा नहीं।

इदं यदि क्ष्मापतिपुत्रि! तत्त्वं पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन्।
त्वामुच्चकैस्तापयता नलं च पञ्चेषुणैवाजनि योजनेयम् ॥१००॥

इदमिति। हे क्ष्मापतिपुत्रि! इदं त्वदुक्तं तत्त्वं यदि सत्यं यदि तर्हि अस्मिन् विषये स्वविधेयं मत्कृत्यं न पश्यामि, किन्तु त्वां नृपं च उच्चकैरत्यन्तं तापयता पञ्चेषुणैव इयं योजना युवयोः सङ्घटना अजनि जाता। जनेः कर्मणि 'चिणो लुक्' ॥ १००॥

हे राजपुत्री, यदि यह (पूर्वोक्त वचन) सही है तो इसमें (मैं) अपने से करने लायक कुछ भी शेष नहीं देखता हूँ, क्योंकि तुझे और राजा (नल) को (प्रेम-विरह की आग में) खूब तपाते हुए कामदेव ने ही दोनों का यह मिलन-संबंध तैयार किया है ॥ १००॥

लोक में भी लोहा या लाख को खूब गरम करके आपस में मिलाया जाता है।

त्वद्बद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासव्रतिनां तपोभिः।
त्वामद्य लब्ध्वाऽमृततृप्तिभाजां स्वं देवभूयं चरितार्थमस्तु ॥१०१॥

त्वदिति। किन्तु त्वद्बद्धबुद्धेः त्वदायत्तचित्तस्य त्वामेव ध्यायत इत्यर्थः। अत एव तस्योपवासव्रतिनां त्वदासङ्गाद्विषयान्तरव्यावृत्तानां तपोभिरुक्तोपवासव्रतरूपैरद्य त्वां लब्ध्वा मन्मुखेन लब्धप्रायां निश्चित्य साक्षात्कृत्येति च गम्यते, अत एव अमृतेन या तृप्तिस्तद्भाजां बहिरिन्द्रियाणां त्वं स्वकीयं देवभूयं देवत्वमिन्द्रियत्वं सुरत्वञ्च, 'देवः सुरे राज्ञि देवमाख्यातमिन्द्रियमि'ति विश्वः। चरितार्थं सफलमस्तु। अमृतपानैकफलत्वाद्देवत्वं स्यादिति भावः। अर्थान्तरप्रतीतेर्ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥ १०१ ॥

हे भीमपुत्री, केवल तुम में ही मन लगाए हुए उस (राजा नल) की (रूप-रस आदि अपने-अपने विषयों को न ग्रहण करके) उपवास रूपी व्रत में लगी हुई तथा तपस्याओं के द्वारा (मुझसे सुनकर या विवाह में) आज तुमको प्राप्त कर अमृत पान से तृप्त हुई बाहरी (नेत्र आदि) इन्द्रियों का अपना देव भाव सिद्ध (पूरा) हो जाय ॥ १०१ ॥

जैसे कोई रातदिन ब्रह्म के ध्यान में कुछ भी नहीं खाता-पीता, घोर तप के द्वारा जब परब्रह्म परमात्मा को या मोक्ष पद को प्राप्त करता है तो वह स्वयमेव अमृतभोजी देवता हो जाता है उसी प्रकार नल तुममें रातदिन ध्यान लगाए हुए है। ऐसी दशा में मन जब तुम्हारे पास है तो फिर बाहरी इन्द्रियाँ भी अपने-अपने व्यापार से रहित हो गई हैं, वे सभी उपवास कर रही हैं किन्तु आज तुमको पाकर राजा नल की वे सभी इन्द्रियाँ देवता ही नहीं बनेंगी अपितु परस्पर मिलने से अमृतभोजी भी होंगी क्योंकि देव भाव तभी सफल है जब अमृत का भोग प्राप्त हो। श्रुतियों के अनुसार नेत्र सूर्य रूप हैं और मन चन्द्रमा का रूप है तथा जिह्वा वरुण देवता का रूप है। इस प्रकार राजा नल भी लोकपाल कोटि में हैं और उनकी चक्षुरादि इन्द्रियाँ देवता स्वरूप हैं। अब तक वे नाम मात्र की देवता बनी थीं परन्तु आज तुम्हें पाकर (साक्षात् देखकर) अमृतभोगी तुल्य देवत्व को प्राप्त हो जायेंगी। इस प्रकार तुम्हारा मिलन नल के लिए अमृत समान आनंदकारी होगा। नेत्र देवरूप हैं इसका प्रमाण श्रुति है—

आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्रविशत्।

यहाँ इन्द्रियों में चेतनों जैसे व्यवहार होने से समासोक्ति अलंकार है परन्तु शब्दशक्ति से प्रतिध्वनित जो ब्रह्म साक्षात्कार हो रहा है उससे उपमा अलंकार है।

तुल्यावयोर्मूर्तिरभून्मदीया दग्धापरं साऽस्य न ताप्यतेऽपि।
इत्यभ्यसूयन्निव देहतापं तस्याऽतनुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ॥ १०२ ॥

यदुक्तं नृपं पञ्चेषुस्तापयतीति तदाह—तुल्येति। आवयोर्नलस्य मम चेत्यर्थः। 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यमि'ति सर्वग्रहणादत्यदादिना नलेन सह त्यदाद्येकशेषः। मूर्तिस्तनुस्तुल्या तुल्यरूपाऽभूत्। तत्र मदीया सा मूर्त्तिः परं निःशेषं दग्धा भस्मीकृता, अस्य मूर्तिस्तनुर्न ताप्यते तापमपि न प्राप्यते इति हेतोरभ्यसूयन् ईर्ष्यन्निवेत्युत्प्रेक्षा। अतनुरनङ्गस्त्वद्विरहात्त्वद्विरहमेव रन्ध्रमन्विष्येत्यर्थः। तस्य नलस्य देहतापं विधत्ते। तस्मात्सिद्धिपदमुपतिष्ठते ते मनोरथ इति भावः ॥ १०२ ॥

तुम्हारे विरह में राजानल को काम ज्वर हो गया है इसका वर्णन करते हुए हंस कहता है—

(हे भैमी !) पहले हम दोनों (काम और नल) की मूर्ति (देह) एक समान थी। मेरी (काम देव की मूर्ति तो महादेवी के द्वारा) जल गई परन्तु उसकी (नल की) मूर्ति तपाई भी नहीं जा रही है मानों इसी इर्ष्यावश वह अनंग कामदेव तुम्हारे विरह (की आग) से उस राजा नल की देह को तपा रहा है ॥ १०२ ॥

यहाँ 'अभ्यसूयन् इव' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

लिपिं दृशा भित्तिविभूषणं त्वां नृपः पिबन्नादरनिर्निमेषम्।
चक्षुर्झरैरर्पितमात्मचक्षू रागं स धत्ते रचितं त्वया नु ॥ १०३ ॥

अथास्य दशावस्था वर्णयन् चक्षुःप्रीतिं तावत् श्लोकद्वयेनाह—लिपिमित्यादि। हे भैमि ! स नृपो भित्तिविभूषणं कुड्यालङ्कारभूतां लिपिं चित्रमयीं त्वां दृशा आदरेणास्थया निर्निमेषं पिबन् चक्षुर्झरैरश्रुभिरर्पितं त्वया नु त्वया वा रचितमात्मचक्षुषो रागमारुण्यमनुरागञ्च धत्ते। अत्रोभयकारणसम्भवादुभयस्मिन्नपि रागे जाते श्लेषमहिम्नैकत्राभिधानात्कारणविशेषः सन्देहः ॥ १०३ ॥

हंस राजा नल के दस दशाओं का वर्णन करते हुए सब से पहले 'नयन प्रीति' दशा का वर्णन करता है--

(हे भीमपुत्री !) वह राजा (नल) अपनी आँखों में उकेरी गई चित्रमयी (फोटो) स्वरूप तुझे बड़े आदर पूर्वक व टकटकी बाँधकर देखते हुए आँखों की धाराप्रवाह आँसुओं से उत्पन्न लाली को लिए हुए मानो निश्चयही ऐसा लगता है जैसे तुम्हारे द्वारा रचित अपना चक्षुराग ही धारण कर रहा हो ॥ १०३ ॥

यानी विरह में तुम्हारे चित्रों को देखकर निरन्तर आँखों से गिरने वाली आँसुओं से यह लाली नहीं है बल्कि तुम्हारी आँखों से रचित नयनानुराग है जिसे वह राजा नल धारण कर रहा है। साहित्यिक इसे आँखों का टकराना कहते हैं। साहित्यशास्त्र के अनुसार काम की दशाओं में 'नयन प्रीति' भी एक है। 'रतिरहस्य' में काम की दशाएँ इस प्रकार वर्णित हैं:—

नयनप्रीतिः प्रथमं, चिन्तासङ्गस्ततो संकल्पः ।
निद्राच्छेदस्तनुता, विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः ॥
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः ॥

यहाँ 'नु' शब्द से उत्प्रेक्षालंकार है तो मल्लिनाथ के अनुसार संदेहालंकार है क्योंकि 'नु' शब्द संदेह वाचक भी है।

पातुदृशाऽऽलेख्यमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमीलयाऽस्ति ।
ममेदमित्यश्रुणि नेत्रवृत्तेः प्रीतेर्निमेषच्छिदया विवादः ॥ १०४ ॥

इममेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—पातुरिति। अस्तनिमिलया निर्निमेषया दृशा आलेख्यमयी चित्रगतां त्वामादरात्पातुर्द्रष्टुरित्यर्थः पिबतेस्तृन् प्रत्ययः। अत एव 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात्वमिति द्वितीया। नृपस्य नेत्रवृत्तेः प्रीतेश्चक्षुःप्रीतेर्निमेषस्य च्छिदया च्छेदेन सह नेत्रवृत्त्येति शेषः। भिदादित्वादङ् प्रत्ययः। अश्रुणि विषये इदमश्रु ममेति मत्कृतमेवेति विवादः कलहः अस्ति भवतीत्यर्थः ॥ १०४ ॥

उक्त भाव को प्रकारान्तर से कहते हैं--हे भीमपुत्री ! चित्रमयी तुमको एकटक दृष्टि से उत्सुकता पूर्वक देखते (तेरे रूप रस का पान करते) राजा नल की (आँखों की) आँसुओं को लेकर नयन-प्रीति और निर्निमेष के बीच यह मेरा है ऐसा विवाद हो रहा है ॥ १०४ ॥

राजा नल जब पलक बिना गिराये ही चित्रगत तुम्हारे रूप को देखते हैं तो उनकी आँखों से झरझर आँसू बहते हैं। तब नयनानुराग कहता है कि 'यह मेरा है' और निर्निमेष कहता है कि यह मेरा है; इस प्रकार दोनों में झगड़ा होता रहता है। यहाँ प्रकारान्तर से पहले कही बातों को दोहराया गया है अतः 'नयनप्रीति' ही है जो काम की प्रधानावस्था है। नयन-प्रीति और निमेष-च्छिदा में चेतन भाव का आरोप हुआ है अतः समासोक्ति अलंकार है।

त्वं हृद्गता भैमि ! बहिर्गताऽपि प्राणायिता नासिकयाऽस्य गत्या।
न चित्त[1]माक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति ॥ १०५ ॥

अथ मनःसङ्गमाह—त्वमिति। हे भैमि! त्वं बहिर्गतापि हृद्गता अन्तर्गता, अपि विरोधे तेन चाभासाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः। कया गत्या केन प्रकारेण अस्य नलस्य प्राणायिता प्राणवदाचरिता प्राणसमा 'उपमानादाचारे' कर्तुः क्यङ् प्रत्ययः। ासि अस्येवेत्यर्थः। यतः प्राणोऽपि नासिकया नासाद्वारेण आस्यगत्या मुखद्वारेण उच्छ्वासनिश्वासरूपेण बहिर्गतोऽप्यन्तर्गतो भवतीति शब्दश्लेषः। अतएव प्राणायितेति श्लिष्टविशेषणेयमुपमा पूर्वोक्तविरोधेन सङ्कीर्णा, किन्तु तत्र प्राणायितत्वे चित्रमाश्चर्यरसः चित्तन्नाक्रामति न किञ्चिच्चित्रमित्यर्थः। कुतः यद्यस्मादेतन्मनो नलचित्तं भवती त्वमेवैका वृत्तिर्जीविका यस्य तद्भवदेकवृत्ति, भवच्छब्दस्य सर्वनामत्वाद् वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। जीवितभूतस्य प्राणायितत्वे किं चित्रं, जीवितस्य प्राणधारणात्मकत्वादिति भावः ॥ १०५ ॥

अब काम की दूसरी अवस्था—चित्तासक्ति का वर्णन करते हैं—(हे भीम-पुत्री !) तू सर्वथा बाहर होकर भी हृदय में रहने वाली हो (अतः तुम किस विधि से इस जन (राजा नल) के प्राण समान प्रिय नहीं हो ? (क्योंकि प्राण भी तो नाक के रास्ते तथा फिर मुख के रास्ते से (बारह अंगुल तक) बाहर जाकर पुनः भीतर (हृदय में) चले आते हैं। केवल तुम्हारे में ही निरन्तर लीन रहने वाला राजा (नल) का मन यदि तुम्हारे चित्र पर ही आक्रमण करता है तो इसमें कौन-सा अचरज है ॥१०५॥

---

१. 'चित्र—' इति पाठान्तरम्।

जो बाहर है वह भीतर कैसे होगा, यह विरोध हुआ। अनुराग भाव से भीतर है यह परिहार है। दमयन्ती पर नल के प्राणों की तुलना की गई है इसलिए उपमा अलंकार है। यहाँ विरोधाभास तथा उपमा का संकर भी कहा जाता है।

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानतर्तिं तदीयाम्।
श्वासान् स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतान्तदाप्य ॥१०६॥

अथ द्वाभ्यां सङ्कल्पावस्थामाह—अजस्रमिति। दूरदीर्घामत्यन्तायतां तदीयां सकंल्पा मनोरथा एव सोपानानि तेषाम् तर्तिं पङ्क्तिमजस्रं त्वमारोहसि, श्वासान् पुनः स नलः अधिकं वर्षति मुञ्चतीति यत् तच्छ्वासवर्षं तव ध्यानात् त्वन्मयतां त्वदात्मकत्वमाप्य प्राप्य, आप्नोतेराङ्, समासे क्त्वो ल्पबादेशः, अन्यथा कथमन्यायासादन्यस्य श्वासमोक्ष इति भावः। अत्र श्वाससोपानारोहणयोः कार्यकारणयोर्वैयधिकरण्योक्तेरसङ्गत्यलङ्कारः 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरि' तिलक्षणात् तन्मूला चेयं तादात्म्योत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥१०६॥

(अब काम की तीसरी अवस्था—संकल्प-दशा का वर्णन करते हुए कहता है—) उस राजा नल की संकल्प रूपी सीढ़ियों की लम्बी परम्परा पर लगातार तुम चढ़ती हो। परन्तु वह (राजा नल हार करके) अधिक श्वासों को छोड़ता है; ऐसी दशा में वह तुम्हारे ध्यान के कारण तुम्हारी चिता में लीन होकर (ही ऐसा करते हैं) ॥१०६॥

यहाँ संकल्प में सोपान सीढ़ी का आरोप है एसलिए रूपक अलंकार है। सीढ़ियों पर दमयन्ती चढ़ती है किन्तु हार करके, नल गहरी साँसे छोड़ता है इस प्रकार यहाँ कार्य-कारण की भिन्नता से असंगति अलंकार है और रूपक से मिलने से संकर है। लोक में भी जो कोई व्यक्ति लम्बी सीढ़ी तय करता है वह थककर लम्बी साँसों को छोड़ता है। फिर जो कोई व्यक्ति जिसका ध्यान धारता है तन्मय हो ही जाता है। योग के प्रभाव से प्रहलाद विष्णुमय हो गया था——योगप्रभावात्प्रह्लादो जातो विष्णुमयोऽसुरः। इति विष्णुपुराणात्।

हृत्तस्य यां मन्त्रयते रहस्त्वां तां व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत्।
तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्योचितो सा खलु तन्मुखस्य ॥ १०७॥

राजा नल जब पलक बिना गिराये ही चित्रगत तुम्हारे रूप को देखते हैं तो उनकी आँखों से झरझर आँसू बहते हैं। तब नयनानुराग कहता है कि 'यह मेरा है' और निर्निमेष कहता है कि यह मेरा है; इस प्रकार दोनों में झगड़ा होता रहता है। यहाँ प्रकारान्तर से पहले कही बातों को दोहराया गया है अतः 'नयनप्रीति' ही है जो काम की प्रधानावस्था है। नयन-प्रीति और निमेष-च्छिदा में चेतन भाव का आरोप हुआ है अतः समासोक्ति अलंकार है।

तवं हृद्गता भैमि ! बहिर्गताऽपि प्राणायिता नासिकयाऽस्य गत्या।
न चित्त[1]माक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति ॥ १०५ ॥

अथ मनःसङ्गमाह–त्वमिति। हे भैमि ! त्वं बहिर्गतापि हृद्गता अन्तर्गता, अपि विरोधे तेन चाभासाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः। कया गत्या केन प्रकारेण अस्य नलस्य प्राणायिता प्राणवदाचरिता प्राणसमा 'उपमानादाचारे' कर्तुः क्यङ् प्रत्ययः। नासि अस्येवेत्यर्थः। यतः प्राणोऽपि नासिकया नासाद्वारेण आस्यगत्या मुखद्वारेण उच्छ्वासनिश्वासरूपेण बहिर्गतोऽप्यन्तर्गतो भवतीति शब्दश्लेषः। अतएव प्राणायितेति श्लिष्टविशेषणेयमुपमा पूर्वोक्तविरोधेन सङ्कीर्णा, किन्तु तत्र प्राणायितत्वे चित्रमाश्चर्यरसः चित्तन्नाक्रामति न किञ्चिच्चित्रमित्यर्थः। कुतः यद्यस्मादेतन्मनो नलचित्तं भवती त्वमेवैका वृत्तिर्जीविका यस्य तद्भवदेकवृत्ति, भवच्छब्दस्य सर्वनामत्वाद् वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। जीवितभूतस्य प्राणायितत्वे किं चित्रं, जीवितस्य प्राणधारणात्मकत्वादिति भावः ॥ १०५ ॥

अब काम की दूसरी अवस्था–चित्तासक्ति का वर्णन करते हैं—(हे भीम-पुत्री !) तू सर्वथा बाहर होकर भी हृदय में रहने वाली हो (अतः तुम किस विधि से इस जन (राजा नल) के प्राण समान प्रिय नहीं हो ? (क्योंकि प्राण भी तो नाक के रास्ते तथा फिर मुख के रास्ते से (बारह अंगुल तक) बाहर जाकर पुनः भीतर (हृदय में) चले आते हैं। केवल तुम्हारे में ही निरन्तर लीन रहने वाला राजा (नल) का मन यदि तुम्हारे चित्र पर ही आक्रमण करता है तो इसमें कौन-सा अचरज है ॥१०५॥

---

१. 'चित्र—' इति पाठान्तरम्।

जो बाहर है वह भीतर कैसे होगा, यह विरोध हुआ। अनुराग भाव से भीतर है यह परिहार है। दमयन्ती पर नल के प्राणों की तुलना की गई है इसलिए उपमा अलंकार है। यहाँ विरोधाभास तथा उपमा का संकर भी कहा जाता है।

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानततिं तदीयाम्।
श्वासान् स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतान्तदाप्य ॥१०६॥

अथ द्वाभ्यां सङ्कल्पावस्थामाह–अजस्रमिति। दूरदीर्घामत्यन्तायतां तदीयां सकंल्पा मनोरथा एव सोपानानि तेषाम् ततिं पङ्क्तिमजस्रं त्वमारोहसि, श्वासान् पुनः स नलः अधिकं वर्षति मुञ्चतीति यत् तच्छ्वासवर्षं तव ध्यानात् त्वन्मयतां त्वदात्मकत्वमाप्य प्राप्य, आप्नोतेराङ्, समासे क्त्वो ल्पबादेशः, अन्यथा कथमन्यायासादन्यस्य श्वासमोक्ष इति भावः। अत्र श्वाससोपानारोहणयोः कार्यकारणयोर्वैयधिकरण्योक्तेरसङ्गत्यलङ्कारः 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरि' तिलक्षणात् तन्मूला चेयं तादात्म्योत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥१०६॥

(अब काम की तीसरी अवस्था–संकल्प-दशा का वर्णन करते हुए कहता है–) उस राजा नल की संकल्प रूपी सीढ़ियों की लम्बी परम्परा पर लगातार तुम चढ़ती हो। परन्तु वह (राजा नल हार करके) अधिक श्वासों को छोड़ता है; ऐसी दशा में वह तुम्हारे ध्यान के कारण तुम्हारी चिंता में लीन होकर (ही ऐसा करते हैं) ॥१०६॥

यहाँ संकल्प में सोपान सीढ़ी का आरोप है एसलिए रूपक अलंकार है। सीढ़ियों पर दमयन्ती चढ़ती है किन्तु हार करके, नल गहरी साँसे छोड़ता है इस प्रकार यहाँ कार्य-कारण की भिन्नता से असंगति अलंकार है और रूपक से मिलने से संकर है। लोक में भी जो कोई व्यक्ति लम्बी सीढ़ी तय करता है वह थककर लम्बी साँसों को छोड़ता है। फिर जो कोई व्यक्ति जिसका ध्यान धारता है तन्मय हो ही जाता है। योग के प्रभाव से प्रहलाद विष्णुमय हो गया था–—योगप्रभावात्प्रह्लादो जातो विष्णुमयोऽसुरः। इति विष्णुपुराणात्।

हृत्तस्य यां मन्त्रयते रहस्त्वां तां व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत्।
तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्योचिती सा खलु तन्मुखस्य ॥ १०७॥

हृदिति । तस्य नलस्य हृत् हृदयं कर्तृ यां रहः उपांशु 'रहश्चोपांशु चालिङ्गे' इत्यमरः । मन्त्रयते सम्भाषते तां त्वां तन्मुखं कर्तृ व्यक्तं प्रकाशमामन्त्रयते । हे प्रिये ! क्व यासि ? मामनुयान्तं पश्य इत्येवमुच्चैरुच्चरतीति यत् सा तद्रहस्यप्रकाशनं, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता । तन्मुखस्य तद्वैरिणो नलद्वेषिणः पुष्पायुधस्य मित्रं सखा शरच्चन्द्रः । तेन यत् सख्यं मैत्री सादृश्यञ्च, तस्य औचिती औचित्यं खलु । अरिमित्रस्याप्यरित्वादुचितमेतद्रहस्यभेदनमित्यर्थः । अत्र मुखकर्तृकरहस्योद्भेदनस्य उक्तवैरनिमित्तत्वमुत्प्रेक्षते ॥१०७॥

पुनः संकल्प की दशा को ही प्रकारान्तर से वर्णन कर रहा है--

उस (राजा नल) का हृदय एकान्त में जो तुमसे गुप्त बातें करता है, उसे (नल का) मुख सबके सामने प्रकट कर देता है । तो उस राजा नल के वैरी कामदेव के मित्र चन्द्रमा के साथ उस (नल) के मुख की दोस्ती के लिए यह कार्य उचित ही है ॥ १०७ ॥

लोक में भी मित्र मित्र की सहायता करता है फिर गुप्त रूप से शत्रु की बातों का पता भी लेता है । कामदेव नल की सुन्दरता से मात खा गया है । अतः नल का शत्रु है । इसीलिए वह अपने शत्रु--नल के हृदयगत बातों का लेखा-जोखा करता है, पता लगाता रहता है । चन्द्रमा काम का उद्दीपक है, अतः काम का मित्र है । इसीलिए अपने मित्र (नल के मुख) के जरिये वह गुप्त बातों का पोल काम के लिए खोलकर रख देता है । मुख का ऐसा करना उचित है । अंग्रेजी में एक कहावत है--चेहरा मन का आइना है--'Face is the index of mind.' यहाँ 'खलु' के कारण उत्प्रेक्षा अलंकार भी है ।

स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ती ।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राऽऽधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा ॥

अथ एकेन जागरमरतिञ्चाह--स्थितस्येति । रात्रौ शय्यामधिशय्य शय्यायां शयित्वा 'अधिशीङ्स्थासामि'ति अधिकरणस्य कर्मत्वम् । स्थितस्य तस्य मनो मोहे सुखपारवश्ये निमज्जयन्ती सती या आलिङ्ग्य लोचने चुम्बति, सा निद्रा त्वदृते त्वत्तो विना 'अन्यारादितरर्ते' इत्यादिना पञ्चमी । त्वद्विरहाद्धेतोस्त्वदन्या चेति द्रष्टव्यम् अङ्गना वा अधुना नास्ति, निद्रा-

निषेधाज्जागरः अङ्गनान्तरनिषेधाद्विषयद्वेषलक्षणा अरतिश्चोक्ता अत्र निद्राङ्गनयोः प्रस्तुतयोरेवालिङ्गनाक्षिचुम्बनादिधर्मसाम्यादौपम्यप्रतीतेः केवलं प्रकृतगोचरात्तुल्ययोगितालङ्कारः। 'प्रस्तुतता प्रस्तुतानाञ्च केवलं तुल्यधर्मतः। औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ॥' इति लक्षणात् ॥ १०८ ॥

अब क्रम का उल्लंघन करके काम की चौथी अवस्था 'नीद्रानाश' तथा विषय-निवृत्ति' नामक छठी अवस्था का वर्णन किया जा रहा है—

हे राजकुमारी ! रात में बिस्तरे पर (पलंग पर) सोकर बैठे हुए उस (राजा नल) के मन को मोह (रूप अंधकार) में डुबोती हुई (नींद में बेसुध करती हुई या आनन्द सागर में झूला झूलती हुई) जो निद्रा (देवी) (सर्वाङ्ग शरीर का) आलिगन करके (नल के) दोनों नयनों को चूमती है, (नींद आने पर दोनों आँखें मूद जाती हैं) वह (निद्रा) तेरे बिना इस समय (नहीं है) या कोई अन्य स्त्री भी वहाँ नहीं है ॥ १०८ ॥

तुम्हारे वियोग में उन्हें नीद नहीं आती; न अन्य किसी रानी के साथ शयनादि करते हैं, इसलिये वे आजकल विषय से विमुक्त हैं तथा नीद से रहित हैं। निद्रा और अन्य अङ्गना में श्लेष के जरिये एक धर्माभिसम्बन्ध है, अतः तुल्ययोगितालङ्कार है। विद्याधर जी ने विकल्पालङ्कार माना है। परन्तु विकल्प वहाँ होता है जहाँ दो तुल्य बल विरोधी वस्तुओं का विकल्प वर्णन किया गया हो। 'अधिशय्य' और 'शय्या' पद के प्रयोग से छेकानुप्रास है।

स्मरेण निस्तक्ष्य वृथैव[1] बाणैर्लावण्यशेषां कृशतामनायि ।
अनङ्गतामप्ययमाप्यमानः स्पर्धां न सार्धं विजहाति तेन ॥ १०९ ॥

अथ कार्श्यावस्थामाह—स्मरेणेति । अयं नलः स्मरेण बाणैर्निस्तक्ष्य निशात्य वृथैव लावण्यं कान्तिविशेषः, 'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' इति भूपालः । तदेव शेषो यस्यास्तां तनुतां कार्श्यमनायि नीतः । नयतेर्द्विकर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि लुङ् 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणामि'ति वचनात् । वृथात्वं व्यनक्ति—अनङ्गतां कृशाङ्गताम् 'अनुदरे' तिवदीषदर्थे नञ् समासः, आप्यमानो आनीयमानोऽपि अत्र पूर्ववत्प्रधाने शानच् तेन स्मरेण सार्द्धं स्पर्धां न विजहाति,

1. 'तथैव' इति पाठान्तरम्—

तथापि तं जिगीषत्येवेत्यर्थः । अङ्गकार्श्येऽपि स्पर्द्धाबीजलावण्यस्याकार्श्यादङ्गकर्शनं वृथैवेति भावः । अत एव विशेषोक्तिरलङ्कारः, 'तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिविशेषोक्तिरलङ्कृतिः ।' इति लक्षणात् ॥ १०९ ॥

अब काम की पाँचवीं दशा––तनुता––शरीर दुर्बलता का वर्णन कर रहा है—

कामदेव ने अपने बाणों से छील-चाँछ कर इस नल (राजा) को जिसमें केवल सुन्दरता भर बची हुई है, व्यर्थ ही दुबला-पतला किया है क्योंकि अत्यन्त दुबला-पतला होकर भी वह राजा नल उस कामदेव के साथ (सुन्दरता में) होड़ करना नहीं छोड़ता ॥ १०९ ॥

यद्यपि राजा नल शरीर से दुर्बल हो गए हैं लेकिन उनकी सुन्दरता वैसे ही बनी हुई है, अतः कामदेव से स्पर्धा–ईर्ष्या बराबर बनी रहेगी । कामदेव के नामों में एक नाम अनंग भी है । अतः अनंगता का अर्थ 'काम के शरीर का अभाव' है । नल के पक्ष में अनंगता का अर्थ दुर्बलता है । स्पर्धा का कारण है फिर भी स्पर्धा न होना कहा गया है इसलिए विशेषोक्ति अलङ्कार है । विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है । यहाँ काम की दशा–तनुता का वर्णन करके कवि ने अपना पिछला भूल सुधारा है ।

त्वत्प्रापकात्त्रस्यति नैनसोऽपि त्वय्येव दास्येऽपि न लज्जते यत् ।
स्मरेण बाणैरतितक्ष्य तीक्ष्णैर्लूनः स्वभावोऽपि कियान् किमस्य ॥११०॥

अथ द्वाभ्यां लज्जात्यागमाह—त्वदित्यादि । स्मरेण तीक्ष्णैर्बाणैरतितक्ष्य शरीरमिति शेषः । अस्य नलस्य स्वभावोऽपि पापभीरुत्वनीचत्वगर्हत्वताच्छील्यमपि क्रियानल्पोऽपि लूनः किमित्युत्प्रेक्षा, यद्यस्मात्त्वत्प्रापकात् त्वत्प्राप्तिसाधनादेनसः पापादपि न त्रस्यति, 'भीत्रार्थानां भयहेतुरि'ति अपादानत्वात् पञ्चमी त्वय्येव दास्येऽपि त्वदधिगतदास्यविषये न लज्जते ॥ ११० ॥

अब काम की सातवीं दशा––त्रपानाश––निर्लज्जता का वर्णन करता है—

यह (राजा नल) तुझे प्राप्त करानेवाले पाप से भी जो नहीं डर रहा है । तेरा दास होकर भी जो नहीं लजाता है; तो (इससे लगता है कि) कामदेव ने अपने तीखे बाणों से (नल को) खूब छील करके इसके स्वभाव

को भी कुछ छील (काट) दिया है क्या ? (ओछर बुद्धि का बना दिया है क्या) ।। ११० ।।

आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचाष्टमोऽधमः ।।

(मनु०—३।२१)

इनमें 'राक्षस' नामक विवाह का विधान क्षत्रिय के लिए आया है। राजा नल तुमको प्राप्त करने के लिए अपहरण करना चाहते हैं और इसी पाप पूर्ण कार्य के जरिये 'राक्षस–विवाह' सम्पन्न करने में जरा भी लोकलाज का डर नहीं है चूँकि यह काम भले आदमी का नहीं है। ये तो एक धर्मशील राजा हैं, प्रभु हैं फिर भी ऐसा काम करना चाहते हैं। ये सबके सेवन योग्य राजा हैं तब भी तुझे पाने के लिए तेरा दास तक हो जाना पसन्द करते हैं जो एक संभ्रांत पटरानी के लिए यह लज्जाजनक काम है तथा नारी समाज में सुयश को भंग करनेवाला है। इससे लगता है कामदेव ने अपने बाणों से छीलकर इनको अत्यन्त दुर्बल तथा पापपरायण बना दिया है। फलतः उच्च मानसिकता इनमें से लुप्त हो गई है। यहाँ 'किम्' शब्द के कारण उत्प्रेक्षालंकार है ।।

स्मारं ज्वरं घोरमपत्रपिष्णोस्सिद्धागदङ्कारचये चिकित्सौ ।
निदानमौनादविशद्विशाला साङ्क्रामिकी तस्य रुजेव लज्जा ।।१११।।

स्मारमिति । घोरं दारुणं स्मारं ज्वरं कामसन्तापं चिकित्सौ प्रतिकर्त्तरि कितनिवास इति धातोः 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्निति निन्दाक्षमाव्याधिप्रतीकारेषु इष्यत' इति रोगप्रतीकारे सन् प्रत्ययः, 'सनाशंसभिक्ष उः', 'नलोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । सिद्धागदङ्कारचये सिद्धवैद्यसंघे कर्मण्यणि 'कारे सत्यागदस्ये'ति मुमागमः । निदानमौनाद्रोगनिदानानभिधानाद्घोरमपत्रपिष्णोर्लज्जाशीलस्य 'अलङ्कृञि'त्यादिना इष्णु च । तस्य नलस्य विशाला महती लज्जा संक्रमादागता सांक्रामिकी रुजेव, 'अक्षिरोगो ह्यपस्मारः क्षयः कुष्ठो मसूरिका । दर्शनात् स्पर्शनाद्दानात् संक्रमन्ति नरान्नरम् ।।' इति उक्ताक्ष्यादिरोगा इवेत्यर्थः, भिदादित्वादङ् प्रत्ययः, अविशत् ।। १११ ।।

संक्रामक रोग की तरह लज्जाशील उस राजा नल की भयंकर लज्जा निदान में मौन धारण करने के कारण घोर (दारुण) काम ज्वर की चिकित्सा करनेवाले अनुभवी वैद्यों के समूह में प्रवेश कर गई है ॥ १११ ॥

जब राजा नल लज्जा के कारण चुप हैं तो वैद्य भी इनकी बीमारी नहीं पहचान पा रहे हैं क्योंकि रोगी जब साफ-साफ अपनी दशा बताता है तभी कोई वैद्य निदान करने में सफल होता है अन्यथा असफल ही रहता है। जब रोगी लज्जा से मौन है तो वैद्य भी मौन है या राजा नल की लज्जा वैद्यों में समा गई है। रोग न बताने से वे भी लजा गए हैं। इसी को कवि कहता है कि राजा नल की लज्जा वैद्यों में घुस गई है। इसी प्रकार लज्जा यहाँ संक्रामक रोग की तरह वर्णित है इसलिए उपमालंकार है। वैद्यकशास्त्र में संक्रामक रोग के लक्षण इस प्रकार हैं—

अक्षिरोगो ह्यपस्मारः क्षयः कुष्ठो मसूरिका।
दर्शनात् स्पर्शनाद् दानात् संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

संक्रामक रोग पुराने रोगी को छोड़कर नये रोगी में प्रवेश कर जाता है। इसीलिए राजा नल की लज्जा वैद्यों में घुस गई यानी रोग का सही निदान (दमयन्ती जनित विरह या कामज्वर) न कर सकने के कारण लजा गए। आचार्यों ने यहाँ गम्योत्प्रेक्षालंकार भी माना है।

बिभेति रुष्टाऽसि किलेत्यकस्मात्स त्वां[1] किलोपेत्य हसत्यकाण्डे।
यान्तीमिव त्वामनुयात्यहेतोरुक्तस्त्वयेव प्रतिवक्ति मोघम् ॥११२॥

अथ उन्मादावस्थामाह—बिभेतीति। स नलः अकस्मादकाण्डे रुष्टा कुपितासीति बिभेति, अकाण्डे अनवसरे उपेत्य किल प्राप्येव हसति, अहेतोरकस्माद्यान्तीं गच्छन्तीं किल त्वामनुयाति, त्वया उक्त इव मोघं निर्विषयं प्रतिवक्ति। सर्वोऽप्ययमुन्मादानुभावः। उन्मादश्चित्तविभ्रमः ॥ ११२ ॥

अब कामदेव की आठवीं दशा—उन्मादावस्था का विशेष वर्णन कर रहा है—

१. किलापेति' इति पाठान्तरम्।

वह (राजा नल), हे भैमी ! तू रूठ गई हो, ऐसी संभावना करके एका-एक उठ जाता है। मानो (पास जाकर) 'तुझे प्राप्त कर लिया है', ऐसा समझकर असमय में (बे-मौके) हँसता है, जैसे तुम (कहीं) जा रही हो तो वह भी तुम्हारे पीछे-पीछे बिना कारण ही चल देता है; जैसे तुमने (कुछ) कहा हो, ऐसा समझकर व्यर्थ में ही जवाब देता है॥ ११२ ॥

यहाँ 'किल' पद से संभावना की गई है इसीलिए उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। साथ ही यहाँ कर्ता पद (स) एक ही है परन्तु क्रियाएँ अनेक हैं अतः कारक-दीपक भी है। इस प्रकार यहाँ उन्माद अवस्था—पागलपन का रोचक वर्णन है।

भवद्वियोगाच्छिदुरार्तिधारायमस्वसुर्मज्जति निश्शरण्यः।
मूर्च्छामयद्वीपमहान्ध्यपङ्के हा हा महीभृद्भटकुञ्जरोऽयम् ॥११३॥

अथ मूर्च्छावस्थामाह—भवदिति। भवत्या वियोगो भवद्वियोगः, 'सर्व-नाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः'। तस्मिन्नच्छिदुरा अविच्छिन्ना 'विदिभिदिच्छिदेः कुरच्'। आर्तिधारा दुःखपरम्परा तस्या एव यमस्वसुर्यमुनाया मूर्च्छामयं मूर्च्छावस्थारूपं यद्द्वीपं तत्र यन्महान्ध्यं महामोहस्तस्मिन्नेव पङ्के मही-भृद्भटो राजवीरः स एव कुञ्जरः निःशरण्यो निरालम्बः सन् मज्जति हा हेति खेदे। रूपकालङ्कारः। आर्तिधारायास्तमोविकारत्वेन रूपसाम्याद्यमुना रूपणम् ॥ ११३ ॥

अब नवमी अवस्था—मूर्छा का वर्णन करता है—

तुम्हारे वियोग से उत्पन्न निरन्तर पीड़ा की धारा (परंपरा)-रूपी यमुना जी के मूर्छारूपी द्वीप (हाथी—या टापू) के घोर अंधकार, (महामोह) के पांक (दलदल) में यह राजश्रेष्ठ (नल) रूपी हाथी असहाय होकर डूब रहा है, यह बहुत बड़ा दुःख है॥ ११३ ॥

यहाँ मल्लिनाथ जी के अनुसार 'अर्तिधारा' और यमुना (नदी) में समानता इस प्रकार है—

'अर्तिधारायास्तमोविकारत्वेन रूपसाम्याद् यमुना रूपणम्।'

जमुना का जल भी साँवला है अतः साम्यभाव है। सब कुछ एक साथ मिला है अतः रूपक अलङ्कार है। जिस प्रकार यमुना के दलदल में बिना

महावत का हाथी धँसकर दुखित होता है उसी प्रकार राजा (नल) तुम्हारे वियोग-विरह में निरन्तर होनेवाली वेदनाओं से मूर्च्छाजनित महामोह में डूब रहा है, यह बड़े दुख की बात है।

सव्यापसव्यव्यसनाद् द्विरुक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथगर्जितासु।
दशासु शेषा खलु तद्दशा या तया नभः पुष्प्यतु कोरकेण ॥११४॥

दशमावस्था तु तस्य कदापि माभूदित्यत आह—सव्येति। सव्यापसव्याभ्यां वामदक्षिणाभ्यां व्यसनान्मोचनात् द्विरुक्तैर्द्विगुणीकृतैर्दशभिरित्यर्थः। पञ्चेषुबाणैः पृथगर्जितासु प्रत्येकमुत्पादितासु दशसु 'दृङ्मनःसङ्गसङ्कल्पा जागरः कृशताऽरतिः। ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश।' इत्युक्तासु चक्षुःप्रीत्यादिदशावस्थासु शेषा अवशिष्टा या तद्दशा दशमावस्थेत्यर्थः। तयैव कोरकेण कलिकयेति रूपकम्। नभः, पुष्प्यतु पुष्पितमस्तु। अस्य सा दशा खपुष्पकल्पाऽस्तु, कदापि मा भूदित्यर्थः। तच्च त्वत्प्राप्तिलाभादिति भावः। पुष्प—विकसन इति धातोर्लोट् ॥ ११४ ॥

अब विशेष उक्ति के द्वारा 'आकाश-कुसुम की भाँति काम की दशवीं दशा—मरण का निषेध करता है।

दोनो हाथों(बाँयें तथा दायें हाथों) से फेर-बदल करके छोड़ गए कामदेव के दसों बाणों के जरिये अलग-अलग पैदा की गई दस दशाओं में से शेष बची दशवीं दशा (मरण) रूपी कली आकाश का फूल हो जाय (यानी असंभव हो जाय)॥ ११४ ॥

कवि यहाँ आलंकारिक शब्दावली में हंस ही के द्वारा कहलाता है कि हे दमयन्ती, तुम्हारे वियोग में राजा नल की दशवीं दशा—मरण कदापि न होवे। काम का वह दशम बाण आकाश कुसुम की तरह असंभव सिद्ध हो जाय। इसका मतलब है कि आकाश में फूल कभी खिलता नहीं है यह एक आलंकारिक प्रयोग है यानी मृत्यु की नौबत न आवे उसके पहले ही तुम दोनों का मिलन हो जाय, यही कवि को यहाँ इष्ट है। दशवीं दशा पर 'कली' (कोरक) का आरोप है अतः यहाँ रूपक अलंकार है। साथ ही काम की दशों दशाओं को यहाँ गिनाने से यथासंख्य अलंकार भी है। साहित्यदर्पण ३।२१८ में भी काम की दश दशाएँ इस प्रकार हैं—

अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसम्प्रलापश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ।

यहाँ 'सव्या'-'सव्य' में छेकानुप्रास है ।

त्वयि स्मरार्तेस्सततास्मितेन प्रस्थापितो भूमिभृताऽस्मि तेन ।
आगत्य भूतस्सफलो भवत्या भावप्रतीत्या गुणलोभवत्याः ॥ ११५ ॥

त्वयीति । त्वयि विषये स्मरार्तेः स्मरपीडादुःखाद्धेतोः सततमस्मितेन स्मितरहितेन खिन्नेन तेन भूमिभृता प्रस्थापितोऽस्मि । अथ आगत्य गुणलोभवत्याः भवत्यास्तव भावप्रतीत्या अभिप्रायज्ञानेन सफलो भूतः सिद्धार्थोऽस्मीयर्थः ॥ ११५ ॥

काम की पीड़ा से हमेशा खिन्न रहनेवाले उस पृथ्वीपति (राजा नल) ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है (यानी नल के द्वारा मैं भेजा गया हूँ) । मैं यहाँ आकर गुणलोभी (गुण-ग्राहक) तुम्हारे (नल विषयक) प्रेम को जानकर सफल हो गया (हूँ) ॥ ११५ ॥

तुम्हारे विरह में नल का मानसिक संतुलन विगड़ गया है, मुख पर से हँसी गायब है, हमेशा खिन्न रहते हैं, अन्त में उन्होंने मुझे यहाँ भेज दिया परन्तु गुण की परख करने वाली तुम्हारी प्रेम-प्रतीति अच्छी तरह समझकर मैं अपने कार्य से पूर्णतः सफल हो गया ।

धन्याऽसि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु[1]चन्द्रिका या यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥११६॥

धन्येति ! हे वैदर्भि ! भैमि वैदर्भीरीतिरपि गम्यते । धनं लब्धा धन्या असि कृतार्थासीत्यर्थः । 'धनगणं लब्धे'ति यत्प्रत्ययः । कुतः ? यया त्वया उदारैरुत्कृष्टैर्गुणैर्लावण्यादिभिरन्यत्र श्लेषैः प्रसादादिभिः पाशैश्चेति गम्यते, नैषधो नलोऽपि तादृक् धीरोऽपीति भावः । समाकृष्यत सम्यगाकृष्टो वशीकृत इति भावः । एतेन वैदर्भीत्यादिविशेषणाद् गुणैर्भावुकमिवेत्युपमालंकारो युज्यते । तथाहि चन्द्रिका या अब्धिमपि गभीरमपीति भावः । उत्तरलीकरोति क्षोभयतीति यत् इतोऽपि अभ्यधिका स्तुतिर्वर्णना का खलु ? न कापीत्यर्थः । दृष्टान्ता-

---

१. 'चन्द्रिकाया' इति षष्ठयन्तपदमिति 'प्रकाशः' ।

लङ्कारः। एतेन नलस्य समुद्रगाम्भीर्यं दमयन्त्याश्चन्द्रिकाया इव सौन्दर्यं च व्यज्यते ॥ ११६ ॥

हे वैदर्भी (विदर्भपुत्री)! तू धन्य हो, क्योंकि तुमने अपने उत्तम (रूपादि) गुणों से उस धीरोदात्त राजानल को भी अपने वश में कर ली हो। चन्द्रिका (चाँदनी) की इससे बढ़कर कौन-सी प्रशंसा (स्तुति) हो सकती है कि वह (चन्द्रिका) शान्त-धीर-गंभीर समुद्र को भी अत्यन्त चंचल (क्षुब्ध) कर देती है ॥ ११६ ॥

यहाँ नारायण एवं मल्लिनाथ आदि टीकाकार 'वैदर्भी' शब्द में श्लेष मानकर 'वैदर्भी रीति' की ओर साहित्य रसिकों का ध्यान आकृष्ट किया है। पूर्णिमा की रात्रि में चन्द्रमा की चाँदनी से आकृष्ट होकर समुद्र में लहरें-तरंग उठती है या उस दिन वह चन्द्रिका को पाने के लिए कुछ बढ़ता है, ऐसी पौराणिक कथा की ओर यहाँ संकेत हुआ है। जिस प्रकार वैदर्भीरीति सबको आकृष्ट करती है, जैसे पूनम की चाँद से समुद्र आकृष्ट होता है वैसे ही हे दमयन्ती ! तुम अपने संपूर्ण गुणों से उस नल को आकृष्ट कर रही हो अतः तू सर्व प्रकार से धन्य हो। यही वैदर्भी काव्य का भी मर्म है। मल्लिनाथ जी ने यहाँ दृष्टान्तालंकार माना है परन्तु साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ इसे प्रतिवस्तूपमालंकार कहा है। वस्तुतः यही होना चाहिए क्योंकि जहाँ आकर्षण होगा वहीं चंचलता होगी। साहित्य विद्याधरीकार प्रतीप अलंकार समझते हैं। कवि की भावना के अनुसार 'वैदर्भिगुणैः' में श्लेषालंकार मानना ही होगा।

नलेन भायाश्शशिना निशेव त्वया स भायान्निशया शशीव।
पुनःपुनस्तद्युगयुग्विधाता स्वभ्यासमास्ते नु युवां युयुक्षुः ॥ ११७ ॥

फलितमाह—नलेति। शशिना निशेव त्वं नलेन भायाः। भातेराशिषि लिङ्। सोऽपि निशया शशीव त्वया भायात्, भातेः पूर्ववदाशिषि लिङ्। किं च अत्र दैवानुकूल्यमपि सुभाव्यमित्याह—पुनः पुनस्तयोर्निशाशशिनोर्युगं युनक्ति योजयतीति तद्युगयुक् विधाता युवां नलं त्वाञ्च 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यमि'ति एकशेषः। योक्तुमिच्छतीति युयुक्षुर्युजेः सन्नन्तादुप्रत्ययः स्वभ्यासमभ्यासस्य समृद्धौ निरन्तराभ्यास इत्यर्थः। समृद्धयर्थेऽव्ययीभावः। ततः परस्याः सप्तम्या

वैकल्पिकत्वादम् भावः। आस्ते नु? तथाऽभ्यस्यति किमित्यर्थः। अत्र तादर्थ्येचतुर्थ्या अभ्भाव इति व्याख्याने अभ्यासार्थमभ्यस्यतीत्यर्थः स्यात् तदात्माश्रयत्वादित्यपेक्षणीयम्। अत्र दमयन्तीनलयोरन्योन्यशोभाजननोक्तेरन्योन्यालङ्कारः। 'परस्परक्रियाजननमन्योन्यमि'ति लक्षणात्। उपमाद्वयानुप्राणित इति सङ्करः। तन्मूला चेयं विधातुः पुनर्निशाशशियोजनायां दमयन्तीनलयोजनाभ्यासत्वोत्प्रेक्षेति ॥ ११७ ॥

अब आशीर्वचन कहता है—हे भीमपुत्री, जैसे पूर्णचन्द्र से रात्रि की शोभा होती है वैसे ही (तूं) नल से (सम्बन्ध जोड़कर) सुशोभित होवो, (तथा) जिस प्रकार रात्रि से चन्द्रमा शोभता है उसी प्रकार तुम से वह राजानल शोभे (शोभा पावे)। लगता है, बार-बार उस (चन्द्रमा तथा रात्रि) की युगल जोड़ी का संमिलन करनेवाला विधाता (ब्रह्मा) तुम दोनों को आपस में मिलाने की इच्छा से मानो निरंतर अभ्यास कर रहा है ॥ ११७ ॥

लोक में भी यह देखने में आता है कि कोई चतुर कारीगर या कवि अथवा लेखक अच्छी रचना के लिए निरंतर अभ्यास बढ़ाता है अतः यह अनुमान होता है कि रात, दिन ब्रह्मा रात्रि तथा चन्द्रमा को जो युगों से मिलान करता आ रहा है उसके बहाने वह तुम दोनों को ही मानों मिलाना चाहता है अन्यथा वह (ब्रह्मा) ऐसा अभ्यास ही क्यों करेगा। यहाँ 'निशेव' तथा 'शशीव' में 'इव' शब्द के द्वारा उपमालंकार है। आशीर्वचन होने से आशीरलंकार है। एक दूसरे के शोभाकारी होने से अन्योन्याश्रयालंकार हैं। 'नु' शब्द को लेकर उत्प्रेक्षालंकार भी है। एक साथ कई एक अलंकार का समावेश होने से संकर है। 'युग-युग' में छेकानुप्रास है।

स्तनद्वये तन्वि ! परं तवैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य।
अनल्पवैदग्ध्यविवर्धनीनां पत्रावलीनां रचना समाप्तिम् ॥ ११८ ॥

स्तनद्वय इति। हे तन्वि ! किञ्च नैषधस्य नलस्य अनल्पेन महता वैदग्ध्येन नैपुण्येन विवर्धनीनामुज्जृम्भणीनां पत्रावलीनां रचना समाप्ति सम्पूर्णतां प्राप्स्यति यदि, तर्हि पृथौ पृथुनि भाषितपुंस्कत्वाद्विकल्पेन पुंवद्भावः। तवैव स्तनद्वये परं प्राप्स्यति, नान्यस्या इत्यर्थः। अन्यस्या अयोग्यत्वादिति भावः ॥

हे कोमलाङ्गी ! राजा नल की विशाल वैदग्ध्यभाव (निपुणता) को बढ़ाने वाली पत्रावली की रचना यदि (कहीं) समाप्त (परिपूर्ण) होगी (तो केवल) अत्यन्त स्थूल तुम्हारे दोनों स्तनों पर ही (दूसरी जगह नहीं) ।। ११८ ।।

राजा नल बहुत बड़े चित्रकार भी हैं । फूल-पत्तियों की चित्रकारी (पत्रावली रचना) करना भलीभाँति जानते हैं और उसकी परिपूर्णता यदि कहीं संभव है तो तुम्हारे बड़े-बड़े इन दोनों स्तनों पर ही संभव है चूंकि अन्य स्त्रियों का स्तन छोटा होने से पत्रावली रचना अधूरी रह जा सकती है अतः मनमाफिक स्तन पाकर राजा नल की पत्रावली रचना सफल हो जायेगी अतः तूंही उनके योग्य हो, अन्य स्त्री नहीं ।

एकस्सुधांशुर्न कथञ्चन स्यात्तृप्तिक्षमस्त्वन्नयनद्वयस्य ।
त्वल्लोचनासेचनकस्तदस्तु नलास्यशीतद्युतिसद्वितीयः ।। ११९ ।।

एक इति । एकः सुधांशुस्त्वन्नयनद्वयस्य कथञ्चन कथञ्चिदपि तृप्तौ प्रीणने क्षमो न स्यात्तत्तस्मान्नलास्यशीतद्युतिना नलमुखचन्द्रेण सद्वितीयः सन् त्वल्लोचनयोरासेचनकस्तृप्तिकरोऽस्तु । 'तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनादि'त्यमरः । आसिच्यते अनेनेत्यासेचनकं, करणे ल्युट्, स्वार्थे कः ।।११९।।

एक (अकेला) चन्द्रमा तुम्हारे विशाल (चकोर रूप) दोनों नेत्रों को कभी तृप्ति नहीं दे सकेगा अतः वह (चन्द्रमा) राजा नल का मुख ही शीतल कांति वाला दूसरा सहयोगी होकर तुम्हारे दोनों नयनों का तृप्ति देने वाला होवे ।। ११९ ।।

किंवदंती है कि चकोर पक्षी चन्द्रमा को देखकर संतुष्ट होता है। तुम्हारे दोनों नेत्र चकोर की तरह हैं। दो के लिए एक कभी पूरा नहीं होता अतः नल का मुखचन्द्र जब मिलेगा तो इन दोनों नयनों की पूरी तृप्ति हो जायेगी। यहाँ नल के मुख (नलास्य) में चन्द्रमा का आरोप है अतः रूपकालंकार है। साथ ही आशीर्वचन भी है। 'लोचना', 'सेचन' में छेकानुप्रास है।

अहो तपःकल्पतरुर्नलीयस्त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः ।
त्वद्भ्रूयुगं यस्य खलु द्विपत्री तवाधरो रज्यति यत्कलम्बः ।। १२० ।।

यस्ते नवः पल्लवितः कराभ्यां स्मितेन यः कोरकितस्तवास्ते ।
अङ्गम्रदिम्ना तव पुष्पितो यः स्तनश्रिया यः फलितस्तवैव ॥ १२१ ॥

अथ द्वाभ्यां नलतपः-साफल्यमाह—अहो इत्यादिना । नलस्यायं नलीयः, 'वा नामधेयस्ये'ति वृद्धसंज्ञायां वृद्धाच्छः । अत एव कल्पतरुः अभिनवः प्रसिद्ध-कल्पतरुविलक्षण इत्यर्थः अत एव अहो इत्याश्चर्यं वैलक्षण्यमेवाह—त्वदित्यादि । अत्रापि यच्छब्दो द्रष्टव्यः यः कल्पतरुः तव पाणिजाग्रैः कररुहाग्रैर्नित्यं स्फुरन्ती अङ्कुरश्रीर्यस्य सः अङ्कुरवानित्यर्थः, यस्य त्वद्भ्रूयुगमेव द्वयोः पत्रयोः समाहारो द्विपत्री प्रथमोत्पन्नपत्रद्वयं खलु, तवाधरो यत्कलम्बो यस्य नालिका किसलयकाण्ड इत्यर्थः, 'अस्य तु नालिका' कलम्बश्च कडम्बश्चे'त्यमरः ? रज्यति स्वयमेव रक्तो भवति, 'कुषिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदञ्चे'ति कर्मकर्तरि रूपम् । य इति । यस्ते तव कराभ्यां पल्लवितः सञ्जातपल्लवः, यस्तव स्मितेन कोरकितः सञ्जातकोरकः सन् आस्ते, यस्तवाङ्गानां म्रदिम्ना मार्दवेन पुष्पितः सञ्जातपुष्पः, यस्तवैव स्तनश्रिया स्तनसौन्दर्येण फलितः सञ्जातफलः । सर्वत्र तारकादित्वादितच् प्रत्ययः । अत्र श्लोकद्वयेन तपसि दमयन्तीनखादिषु च कल्पतरुतावयवत्वरूपणात्सावयवरूपकं तथा अवयविनि कल्पतरोरवयवानां नखाङ्कुरादीनाञ्च मिथः कार्यकारणभूतानां भिन्नदेशत्वादसङ्गत्याश्रितमिति सङ्करः, 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरि'ति लक्षणात् ॥ १२०–१२१ ॥

अब दो श्लोको के जरिये नल के तप सम्बन्धी सफलता का वर्णन किया जा रहा है—

राजा नल का तपरूपी कल्पवृक्ष आश्चर्यकारी है, जिसके अङ्कुर की शोभा तुम्हारे हाथ के नाखूनों (नखाग्रज) से चमक (फड़क) रही है, तुम्हारी दोनों भौहें, जिसके (कल्पतरु) के निश्चित ही दो पत्ते हैं, तुम्हारे लाल ओठ जिसके डठल हैं, जो तुम्हारे दोनों हाथों से पल्लवित (हरे भरे) हैं यानी दोनों हाथ वहाँ पल्लव के रूप में उग आए हैं, तुम्हारी मंद हँसी (स्मित) जिसकी फूलकली (कोढी) है, तुम्हारी कोमलता ही जिसमें फूल लगे हैं, तुम्हारे दोनों स्तन (कुच) की शोभा से ही जिसके दो फल लगे हैं ॥ १२०–१२१ ॥

यहाँ कवि ने नल के तप की एक कल्पवृक्ष से तुलना की है। जैसे वृक्ष में अंकुर, पत्ते, डंठल, पल्लव, कली, फूल तथा फल लगते हैं वैसे ही तुम्हारे शरीर में भी तत्तद् अंगों के क्रमशः मधुर विकाश हो गए हैं। कल्पतरु जैसे मनोवाञ्छित फल देता है वैसे ही कल्प रूप तुम्हारी प्राप्ति भी है। यहाँ कल्पवृक्ष का आरोप है अतः रूपकालंकार है। तपरूप कल्पतरु तो राजानल के पास है परन्तु उसके अंकुर आदि कार्य दमयन्ती के पास हो रहे हैं अतः कारण कहीं है और कार्य कहीं हो रहे हैं ऐसी दशा में असंगति अलंकार भी यहाँ घटित है।

[1]कंसीकृतासीत्खलु मण्डलीन्दोः ससक्तरश्मिप्रकरा स्मरेण।
तुला च नाराचलता निजैव मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ वाम् ॥१२२॥

किञ्च समानुरागत्वाच्च युवयोः समागमः श्लाघ्य इत्याशयेनाह-कंसीति। स्मरेण कर्त्रा वां युवयोर्मिथोऽनुरागस्य अन्योन्यरागस्य, यस्तव तस्मिन्, यश्च तस्य त्वयि, तयोरनुरागयोरित्यर्थः। समीकृतौ समीकरणे निमित्ते तदर्थमित्यर्थः। संसक्तः संयोजितः रश्मीनामंशूनां सूत्राणाञ्च प्रकरः समूहो यस्यां सा 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः। इन्दोर्मण्डली बिम्बं कंसीकृता आसीत्। 'कंसीऽस्त्री लोहभाजनमि'ति शाब्दिकमण्डने। मण्डले निजा नाराचलता बाणवल्ली सैव तुला तुलादण्डीकृतेति शेषः। तत्रेन्दुमण्डलादौ कंसादिरूपणादेव स्मरस्य कार्यकारणरूपसिद्धेरेकदेशविवर्ति रूपकम् ॥ १२२ ॥

(हे दमयन्ती !) लगता है तुम दोनों के आपसी (परस्पर के) प्रेमभाव को तौलने में (बनिया) कामदेव ने रस्सियों (किरणों) से युक्त इन्दुमंडल (चांद) को काँसे का पलड़ा और अपने ही बाण (लता) को डंडी बनाया था ॥ १२२ ॥

इससे नल और दमयन्ती का प्रेम एक बराबर है, कमवेश नहीं है। यह स्पष्ट हो गया है। यहाँ इन्दुमण्डल में काँसे का पलड़ा, रश्मियों—किरणों रस्सियों का और नाराच (बाण) पर डंडी का आरोप है अतः रूपकालंकार है। कामदेव को बनिया बनाया है अतः एकदेशी रूपक है। चूंकि

---

[1] कंसी—इति पाठान्तरम्।

तराजू में तो दो पलड़े होते हैं। परन्तु चन्द्रमा का एक ही पलड़ा बनाकर कवि क्यों यहाँ चूक गया यह समझने वाली बात है, संभवतः वह नल के मुखमण्ड को पिछले श्लोक में चन्द्रमा बना चुका है अतः यहाँ उसको पुनः दोहराया नहीं। काम का मित्र चन्द्रमा ही है सूर्य नहीं हो सकता अतः वह पलड़े के लिए सूर्यमण्डल को यहाँ नहीं स्मरण किया।

सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे मदनोत्सवेषु।
लग्नोत्थितास्त्वत्कुचपत्ररेखास्तन्निर्गतास्तत् प्रविशन्तु भूयः ॥ १२३ ॥

सत्त्वेति। किं च मदनोत्सवेषु रतिकेलिषु सत्त्वेन मनोविकारेण स्रुतो यः स्वेदः सात्त्विकविकारविशेषः तेनैव मधूत्थेन मधूच्छिष्टेन सान्द्रे निरन्तरे अत एव तस्य नलस्य पाणिपद्मे लग्नाः संक्रान्ताः। अतएव उत्थिताः उत्कुचतटाद्विश्लिष्टाः। मधूच्छिष्टे निकषस्थकनकरेखावदिति भावः। स्नातानुलिप्तवत्पूर्वकालसमासः। तन्निर्गताः। तत्पाणिपद्मोत्पन्नाः त्वत्कुचपत्ररेखाः भूयः तत् पाणिपद्मं 'वा पुंसि पद्मं नलिनमि'त्यमरः। प्रविशन्तु। कार्यस्य कारणे लयनियमादिति भावः। युवयोः समागमोऽस्तु इति तात्पर्यम् ॥ १२३ ॥

(हे राजकुमारी।) रति-क्रीड़ा में सात्त्विक भाव से निकले पसीना रूपी मोम से खूब लथपथ (सांद्र) उस राजानल के कमल समान हाथ पर (पहले) लगे, फिर उठी हुई तुम्हारे स्तनों (कुचों) पर की बनी हुई पत्रावलियाँ चूँकि उसी से बनी हुई हैं अतः फिर उसी (राजानल) में समा जायें (विलीन) हो जायें ॥ १२३ ॥

कारण में कार्य का विलय शुभदायी बात है। ईश्वर जगत् के कारण हैं, संसार कार्य है; अन्त में यह उन्हीं में समा जाता है इसी प्रकार राजानल अपने हाथों से तुम्हारे स्तनों पर पत्रावली रचना करेंगे शृंगार की दशा में; फिर वे रति काल (संभोग) में जब होंगे तो स्तनों के स्पर्श करते समय सात्त्विकभाव से पसीना खूब बहेगा और इस पसीने से उनका कोमल हाथ सराबोर हो जायेगा तो तुम्हारे स्तन पर की पत्रावलियाँ उस पसीने वाले हाथ में स्वतः लगकर पुंछ जायेंगी तो यही होना चाहिए चूँकि वे पत्रावलियाँ उन्हीं के हाथों की देन हैं। जिससे उत्पन्न हैं उसी में विलीन हो जायें जैसे

यह विश्व ब्रह्म में लय होता है। यहाँ सात्त्विक भाव में उत्पन्न पसीना पर मोम का आरोप है अतः रूपकालंकार है मोम चित्रलिपि को स्याहीसोख की तरह अपने में समा लेता है सोख लेता है। पसीने वाला हाथ भी लिखित अंश को अपने में लेता ही है। इस रूपक के माध्यम से आशीर्वादालंकार भी है। इस श्लोक में कवि का दार्शनिक तथा पौराणिक भाव भी व्यक्त हुआ है यानी कारण में कार्य का विलय होता है।

बन्धाढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः केलिवने मरुद्भिः।
प्रसूनवृष्टि पुनरुक्तमुक्तां प्रतीच्छतं भैमि ! युवां युवानौ ॥ १२४ ॥

बन्धेति। किं च हे भैमि ! बन्धैरुत्तानादिकरणैः कामतन्त्रप्रसिद्धैराढ्यं समग्रं नानारतमुत्तानकादिविविधसुरतं तदेव मल्लयुद्धं तेन प्रमोदितैः सन्तोषितैः केलिवने मरुद्भिः वायुभिर्देवैश्च 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः। पुनरुक्तं सान्द्रं यथा तथा मुक्तां प्रसूनवृष्टिं युवतिश्च युवा च युवानौ, 'पुमान् स्त्रिये'त्येकशेषः। युवां प्रतीच्छतं स्वीकुरुतम्। युद्धविक्रान्ता हि देवैः पुष्पवृष्ट्या सम्भाव्यन्त इति भावः॥ १२४ ॥

हे दमयन्ती, युवा और युवती तुम दोनों केलिवन (संभोग के समय) में कामशास्त्र के अनुसार पद्मादि आसनों से सम्पन्न तथा अनेक भाँति संभोग रूप मल्लयुद्ध से आनन्दित वायुओं के रूप में देव समाज के द्वारा बार-बार आकाश से की गई (फेंकी गई) फूलों की वर्षा को स्वीकार करो ॥१२४॥

तुम दोनोंवीर कामक्रीड़ा मे जब अनेक प्रकार के रतिभोग करोगे तो प्रसन्न होकर शीतल-मंद-सुगन्ध वायु के रूप में देवता लोग तुम्हारे ऊपर फूलों की बरसा करेंगे तो उन्हें युद्ध भूमि में लड़ने वाले वीरों की भाँति स्वीकार करना चाहिए। यहाँ 'रत'—सुरत-संभोग पर मल्लयुद्ध का और 'मरुद्भिः' पर देवों का आरोप है अतः रूपकालंकार है। यहाँ भी आशीर्वादालंकार है। साहित्यविद्याधरी में उत्प्रेक्षालंकार माना गया है। वर्णन स्पष्ट होने से अश्लीलता दोष भी संभाव्य है।

अन्योन्सङ्गमवशादधुना विभातां तस्यापि तेऽपि मनसो विकसद्विलासे।
स्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनुं प्रवृत्तमादाविव द्व्यणुककृत्परमाणुयुग्मम्॥१२५॥

अन्योन्येति । किं च, अधुना अन्योन्यसङ्गमवशाद्विकसद्विलासे वर्धमानोल्लासे तस्यापि तेऽपि नलस्य तव च मनसी मनसिजस्य कामस्य तनुं शरीरं पुनः स्रष्टुमारब्धुं प्रवृत्तमत एवादौ द्वाभ्यामारब्धं कार्यं द्व्यणुकं तत्करोतीति तत्कृत् तदारम्भकं, करोतेः क्विप् । तत्परमाणुयुग्ममिवेत्युत्प्रेक्षा । तार्किकमते मनसोऽणुत्वादिति भावः । विभातां कार्यारम्भकपरमाणुयुगलवदविश्लेषेण विराजतामित्यर्थः । भातेर्लोट्, 'तस्थे'ति तसः तामादेशः ॥ १२५ ॥

अब परस्पर के सगागम से बढे हुए विलास वाले उस (नल) के और तुम्हारे भी मन कामदेव (अनंग) के शरीर को फिर से सर्जन करने के लिए लग जायँ और शुरू में द्वयणुक बनाने वाले (तुम दोनों के मन) दो परमाणुओं की तरह शोभा पावें ॥ १२५ ॥

यहाँ कवि ने वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद की ओर संकेत किया है। इसके अनुसार मन एक परमाणु के बराबर है। दो परमाणु मिलकर द्वयणुक बनता है। आरम्भ में शरीर रचना के पूर्व पति-पत्नी या दो प्राणी के दो मन जब आपस में मिलते हैं तो द्वयणुक का रूप धारण करते हैं फिर वे दोनों एक तीसरे, चौथे इस क्रम से प्राणियों की रचना में लग जाते हैं यानी सृष्टि को बढाना देते हैं, रचना पूरी करते हैं। यहाँ नल-दमयन्ती का गाढ प्रेम ही परमाणु में द्वयणुक का रूप धारण कर लेगा और सम्भवतः शरीर रहित कामदेव (अनंग) पुनः शरीरी हो जायेगा। इसी प्रकार न्यायशास्त्र के अनुसार जगत की रचना शुरू होती है।

कामः कौसुमचापदुर्जयममुं जेतुं नृप त्वां धनु-
र्वल्लीमव्रणवंशजामधिगुणामासाद्य माद्यत्यसौ ।
ग्रीवालङ्कृतिपट्टसूत्रलतया पृष्ठे कियल्लम्बया
भ्राजिष्णुं कषरेखयेव निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया ॥१२६॥

काम इति । असौ या नलजिगीषुरिति भावः । कामः कौसुमेन चापेन दुर्जयं जितेन्द्रियत्वादिति भावः । अमुं नृपं नलं जेतुमव्रणवंशजां सत्कुलप्रसूतां दृढवेणुजन्याञ्च, 'द्वौ वंशौ कुलमस्कराविः'त्यमरः अधिगुणामधिकलावण्यादिगुणमधिज्याञ्च निवसदनुवर्तमानं सिन्दूरस्याङ्कुरावस्थायां कालान्तराले क्षिप्तस्य सौन्दर्यं शोभा यस्यां तया कषरेखया कालान्तरे सिन्दूरसंक्रान्तिपरीक्षार्थं

कृतघर्षणरेखयेवेत्युत्प्रेक्षा । पृष्ठे ग्रीवापश्चाद्भागे कियत् किञ्चिद्यथा तथा लम्बया स्रस्तया ग्रीवालङ्कृतिः ग्रीवालङ्कारभूता या पट्टसूत्रलता तया भ्राजिष्णुं ताच्छील्ये 'भुवश्चे'ति चकारादिष्णुच् । भ्राजमानां त्वामेव धनुर्वल्लीं, चापलतामासाद्य माद्यति हृष्यति । श्लेषोत्प्रेक्षासङ्कीर्णो रूपकालङ्कारः ॥१२६॥

वह कामदेव (अपने) फूल के धनुष से दुर्जेय उस राजा नल का जीतने के लिए विशुद्ध कुल वाली तथा अधिक सौन्दर्यादि गुणवाली सिन्दूरी रंगवाली और पीठ पीछे लंबी लटकी हुई कसौटी पर कसी कण्ठहार (कण्ठा) की रेखा जैसी रेशमी डोरी से सुशोभित तुम सरीखी धनुलंता को पाकर अत्यन्त हर्षित (आनन्दित) हो रहा है. जो धनुषलता विशुद्ध बाँस की बनी है, जिसपर ताँत चढ़ी है, मध्यमाग (मुठिया भाग) में रेशम की डोरी कसी (बँधी) हुई है, जिस पर सिन्दूरी आभा विराज रही है; जिसकी हर तरह से परीक्षा कर ली गई है (ऐसी धनुलंता को पाकर कामदेव भी काफी खुश है) ॥ १२६ ॥

यहाँ दमयन्ती पर धनुलंता का आरोप है; साथ ही 'अक्षतवंशजा' और 'अधिगुणा' में श्लेष का प्रयोग है जो दोनों (दमयन्ती तथा धनुलंता) में सटीक बैठा है । दमयन्ती अपने गले में कण्ठाभूषण पहनी हुई है जो लाल रंग-सिन्दूर रंग के धागे में गूँथा है और घुंडी वाला हिस्सा पीठ की ओर लटक रही है, धनुलंता की पीठ सिन्दूरी रंग में रंगा है तथा गुणवत्ता व निपुणता से भरी है ऐसी धनुलंता से कामदेव नल राजा को शीघ्र ही अपने वश में करेगा अतः वह काफी प्रसन्न हो रहा है । इस प्रकार यह श्लोक रूपक, श्लेष तथा उपमा से अलंकृत हो गया है । शार्दूलविक्रीडित छंद में यह श्लोक है । 'सिन्दूर-सौन्दर्य' में छेकानुप्रास है ।

त्वद्गुच्छावलिमौक्तिकानि गुटिकास्तं राजहंसं विभो
वेध्यं विद्धि मनोभुवः स्वमपि तां मञ्जुं धनुर्मञ्जरीम् ।
यन्नित्याङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानं लस-
न्नाभीमध्यविलासमखिलं रोमालिरालम्बते ॥ १२७ ॥

त्वदिति । विभोर्मनोभुवः कामस्य पक्षिवेद्धुरिति शेषः । तव गुच्छा-

वलेर्मुक्ताहारविशेषस्य मुक्ता एव मौक्तिकानि, 'विनयादित्वात् स्वार्थे ठगि'ति वामनः। गुटिकाः गुलिकाः विद्धि जानीहि। तं राजहंसं राजश्रेष्ठं तमेव राजहंसं कलहंसं श्लिष्टरूपकम्। 'राजहंसो नृपश्रेष्ठे कादम्बकलहंसयो'रिति विश्वः। वेधितुं प्रहर्त्तुमर्हं वेध्यं लक्ष्यं विध-विधाने 'ऋहलोर्ण्यत्' अनेकार्था धातवः' एवमाह–'वेधितच्छिद्रिताविं'त्यत्र स्वामी। अन्ये त्वाहुः–स्वप्नेऽपि विधानार्थं एव प्रयोगाच्च विध–वेधन इत्येवाकारस्थः पाठः, पाठान्तरं तु प्रामादिकमन्धपरम्परायातमिति विद्धि। स्वमात्मानमपि 'स्वो ज्ञातावत्मनि स्वमि'त्यमरः। तां वक्ष्यमाणप्रकारां मञ्जु मञ्जुलां धनुर्मञ्जरीं चापवल्लरीं विद्धि, यस्याः नित्यमङ्कनिवासेन समीपस्थितया लालिततमया अत्यादृतया ज्यया मौर्व्या भुज्यमानमनुभूयमानमखिलं विलासं शोभां ज्यारूपतामित्यर्थः। लसन्नाभ्येव मध्यः विलङ्गुलिकास्थानं यस्याः सा रोमालिस्त्वद्रोमराजिलम्बते भजति। अत्र मौक्तिकादौ गुटिकाद्यवयवरूपणादवयविनि कामे वेद्धृत्व-रूपणस्य गम्यमानत्वादेकदेशविवर्त्तिसावयवरूपकमलङ्कारः ॥ १२७ ॥

हे भीमपुत्री, सर्वत्र विचरण करने वाले समर्थी कामदेव (रूपी व्याधा) के, अपनी वतीसलड़ी वाली हारावली की मोतियों के (दोनों को) ही (मिट्टी की बनी) गोलियाँ (तुम) समझो, राजाओं मे श्रेष्ठ उस नल को (या राजहंस पक्षी को) शिकार (का पात्र-पक्षी) जानो और (तुम) अपने को भी वह मनोहर धनुषमंजरी (गुलेल) समझो जिसकी गोद में नित्य निवास करने से अत्यन्त नचाई गई (लालित) धनुष की डोरी पर रखी गई सम्पूर्ण लीला विलास को (तुम्हारी) रोमावली धारण कर रही है जो (तेरा) नाभि का बिल गोलियों को फेंकने का धनुष में बना मध्य छिद्र का काम कर रहा ॥ १२७ ॥

पिछले श्लोक की बातों को यहाँ प्रकारान्तर से कहा जा रहा है, यहाँ गोली छोड़नेवाली धनुर्मञ्जरी के रूप में दमयन्ती है। वह गले में एक विशेष हार पहनी है जिसमें लगी मोतियों के दानों को मट्टी की बनी गोलियाँ कहा गया है, राजा नल शिकार का पक्षी (लक्ष्य) है और शरीर की रोमराजी (रोमावली) धनुष की डोरी (ज्या) है नाभी गोली रखने का स्थान है तथा कामदेव को सर्व समरथी बहेलिया का रूप दिया गया है अतः

यहाँ रूपकालंकार है। राजहंस में श्लेषालंकार है। धनुष की डोरी के मध्य भाग में जालीदार एक पट्टी लगी रहती है जिस पर मट्टी की गोलियाँ रखकर छोड़ते हैं यानी लक्ष्य वेध करते हैं। आजकल की भाषा में इसे गुलेल (गुरदेल), मारना (छोड़ना) कहते हैं। दमयन्ती की नाभी गहरी है जो गुलेल छोड़ने का बढ़िया साधन है, स्थान है। अतः दमयन्ती के द्वारा कामदेव राजा नल को अपने वश में करना चाहता है। यह भी शार्दूलविक्रीडित छंद में है।

पुष्पेषुश्चिकुरेषु ते शरचयं स्वं भालमूले धनू
रौद्रे चक्षुषि यज्जितस्तनुमनुभ्राष्ट्रं च यश्चिक्षिपे।
निर्विद्याश्रयदाश्रमं स वितनुस्त्वां तज्जयायाधुना
पत्रालिस्त्वदुरोजशैलनिलया तत्पर्णशालायते॥ १२८॥

पुष्पेषुरिति। यः पुष्पेषुः कामो यज्जितो येन नलेन सौन्दर्यातिरराभूतः अत- एव निर्विद्य ईर्ष्यया। जीवनवैयर्थ्यं मत्वेत्यर्थः। तत्त्वज्ञानोदितेर्ष्यादेर्निर्वेदो निष्फलत्वधीरि'ति लक्षणात्। ते तव चिकुरेषु केशेषु स्वं स्वकीयं शरचयं त्वद्धृतकुसुमव्याजादिति भावः। भालमूले ललाटभागे धनुः भ्रूव्याजादिति भावः। तथा रौद्रे रुद्रसम्बन्धिनि चक्षुष्येव अनुभ्राष्ट्रमम्बरीषे, विभक्त्यर्थेऽ- व्ययीभावः। 'क्लीबेऽम्बरीषं भ्राष्ट्रो ना' इत्यमरः। तनुं शरीरं च चिक्षिपे क्षिप्तवान्। पूर्वमेव दग्धतनुव्याजादिति भावः। स्वरितेत्त्वात्तङ्। स पुष्पेषु- वितनुरनङ्गः सन् अधुना तज्जयाय नलविजयार्थन्त्वामेवाश्रमं तपोवनमाश्रयात् आश्रितवान् तपश्चर्य्यार्थमिति शेषः। अन्यथा कथं तं जेष्यतीति भावः। अतएव त्वदुरोज एव शैली निलयो यस्याः सा तन्निष्ठेत्यर्थः। पत्रालिः पत्ररचना पर्णचयश्च तस्य कामस्य पर्णशालायते सेवाचरति। उपमानात् कर्त्तुः क्यङ्। अत्र पूर्वार्द्धे शरचापादीनां पूर्वोक्तपुष्पादिविषयनिगरणेन तद- भेदाध्यवसायाद्भेदे अभेदलक्षणातिशयोक्तिः, तत्पर्णशालायत इत्युपमा चोत्था पितेन त्वमाश्रममिति रूपकेण सङ्कीर्णा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या कामस्या- श्रमाश्रयणोत्प्रेक्षेति सङ्करः॥ १२८॥

जस राजा नल से (सुन्दरता में) हार गया इसलिए आत्म-ग्लानि से खिन्न होकर कामदेव ने अपने फूलों के बाणों को तुम्हारे बालों के गुच्छों में

फेंक दिया, ललाट के मूल भाग (भौंहों) में धनुष को रख दिया, शंकर के तीसरे (मानो) नयन में भूनने के लिए अपने शरीर को झोंक दिया और इस समय वह (काम) अनंग (शरीर हीन) होकर उस राजा नल को जीतने के लिए तुम्हारा आश्रय (शरण) लिया है तथा तुम्हारे कुच (स्तन) रूपी पर्वत की पर्णकुटी (पत्रावलि रचना) में (विशेष सिद्धि के लिए तप साध रहा) है ॥ १२८ ॥

जैसे कोई व्यक्ति किसी बलवान से हार खाकर अपना हथियार (धनुष-बाण आदि) फेंक कर स्वयं कहीं पर आत्महत्या कर लेता है या उस बलवान से पुनः लोहा लेने के लिए (वश में करने के लिए) किसी पर्वत पर कुटी बनाकर तप करता है ठीक वैसी ही दशा काम की हो गई है। अतः वह तुम्हारे शरण में आ गया है और तेरे जरिये अब फिर से उस नल को जीतना चाह रहा है। यहाँ दमयन्ती के बालों में गूँथे फूलों को बाण माना गया है और भौंहों को धनुष माना गया है अतः अभेदातिशयोक्ति अलंकार है। नेत्रों में शंकर के तृतीय नेत्र का और स्तन (उरोज) में शैलत्व का तथा दमयन्ती पर आश्रय स्थान का आरोप है अतः रूपकालंकार है। पत्रावली में पर्णशाला की तुलना (उपमा) है इस प्रकार यहाँ सबका शंकर हो गया है। यद्यपि मम्मटाचार्य की दृष्टि में स्तन में शैलत्वारोप होने से अनुचितार्थता दोष आ गया है परन्तु साहित्यविद्याधरी में औचित्य माना गया है।

इत्यालापत्यथ पतत्त्रिणि तत्र भैमीं सख्यश्चिरात्तदनुसन्धिपराः परीयुः।
शर्मास्तु ते विसृज मामिति सोऽप्युदीर्य वेगाज्जगाम निषधाधिपराजधानीम्॥

इतीति। तत्र तस्मिन् पतत्त्रिणि हंसे भैमीमिति इत्थमालपति भाषमाणे सति अथास्मिन्नवसरे चिरात्प्रभृति तस्या भैम्या अनुसन्धिरन्वेषणम्, 'उपसर्गे घोः किरि'ति किः। तत्पराः सख्यः परीयुः परिवव्रुः, इणो लिट्। हंसोऽपि 'ते तव शर्मास्तु सुखमस्तु, मां विसृज' इत्युदीर्य उक्त्वा वेगान्निषधाधिपराजधानीं जगाम॥ १२९॥

उस हंस के दमयन्ती के साथ इस प्रकार से बात करते रहने पर ही बहुत देर से दमयन्ती की तलाश करती हुई सखियाँ वहाँ आकर उसे

(दमयन्ती को) चारों तरफ से घेर लीं; फिर तो वह हंस भी 'तेरा मंगल हो, मुझे बिदा करो (जाने दो)' ऐसा कह कर बड़े वेग से (उड़कर) राजा नल की राजधानी (निषध देश) को चला गया ॥ १२९ ॥

यहाँ कवि ने वसंततिलका छन्द में 'ते शर्म अस्तु' पद से आशीर्वाद अलंकार का प्रयोग किया है और 'परा' 'परीयुः' में छेकानुप्रास है।

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रितामाश्रयत्
प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात् ।
स्वादं स्वादमसीममृष्टसुरभि प्राप्ताऽपि तृप्तिं न सा
तापं प्राप नितान्तमन्तरतुलामानर्च्छ मूर्च्छामपि ॥ १३० ॥

चेत इति । सा भैमी चेतोजन्मनः कामस्य शरप्रसूनानां शरभूतपुष्पाणां मधुभिस्तद्रसैः क्षौद्रैश्च 'मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रे' इत्यमरः । व्यामिश्रतामाश्रयत् तथा मिश्रं सदित्यर्थः । असीमं निःसीमम् अपरिमितमित्यर्थः । नकारान्तोत्तरपदो बहुव्रीहिः । मृष्टं शुद्धम् । अन्यत्रामलं तच्च तत् सुरभि सुगन्धि च, खञ्जकुब्जवद्विशेषणसमासः । प्रेयसो नलस्य दूतः सन्देशहरो यः पतङ्गः पुङ्गव इव पतङ्गपुङ्गवो हंसश्रेष्ठः पुमान् गौः पुङ्गवः । 'गोरतद्धितलुकी'ति टच्, तस्य गौर्वाक् तदगवी पूर्ववत् टचि 'टिड्ढाणञि'त्यादिना ङीप । सैव हैयंगवीनं ह्योगोदोहोद्भवं घृतमिति रूपकम् । 'हैयङ्गवीनं संज्ञायामि'ति निपातः । तद्गवी तद्धेनुः तस्या इति च गम्यते रसाद्रागात् स्वादं स्वादं पुनरास्वाद्य आभीक्ष्ण्ये णमुल् प्रत्ययः । पौनःपुन्यमाभीक्ष्ण्ये द्वे भवत' इति उपसंख्यानात द्विरुक्तिः । तृप्तिं प्राप्तापि अपिविरोधे अन्तः नितान्तं तापं न प्राप अतुलां मूर्च्छामपि नानर्च्छ न प्राप, 'ऋच्छत्यृतामि'ति गुणः । 'अत आदेरि'त्यभ्यासाकारस्य दीर्घः । 'तस्मान्नुड् द्विहल' इति नुट् । मधुमिश्रघृतस्य विषत्वात्तत्पाने तापाभावादिति विरोधः । स च पूर्वोक्तपतङ्गपुंगवगवीहैयङ्गवीन इति रूपकोत्थापित इति सङ्करः । 'मधुनो विषरूपत्वं तुल्यांशे मधुसर्पिषी' इति वाग्भटः ॥ १३० ॥

वह दमयन्ती कामदेव के बाण रूपी फूलों के मधु (पराग) से मिले, सुगंधभरे तथा अत्यन्त मीठे (प्रिय), प्रियतम (नल) के दूत श्रेष्ठ (राज

हंस पक्षी) के वचन रूपी घी को बड़े प्रेम से पी-पीकर (बार-बार सुनकर) भी तृप्त नहीं हुई, बल्कि अधिक ताप ग्रसित हुई, मूर्च्छित सी हो गई (अथवा न संताप को पाई न मूर्च्छा उसे आई) ॥ १३० ॥

आयुर्वेद के अनुसार बराबर मात्रा मधु मिला हुआ घी विष हो जाता है—'मधुनो विषरूपत्वं तुल्यांशे मधुसर्पिषी' (वागभट)। परन्तु मधु मिला घी चाटने पर भी दमयन्ती को न तो तृप्ति हुई, न ताप हुआ, न मूर्च्छा आई—यह बड़े अचरज की बात है। परन्तु नारायणी टीका में इसका एक दूसरा अर्थ यह है कि दमयन्ती को मधु मिला घी खाने से अधिक ताप (शरीर के भीतर दाह) हुआ और मूर्च्छा (मोह भाव) भी उत्पन्न हो गई। यानी हंस के मधुर वचन को और अधिक सुनना चाहती थी परन्तु बीच में ही बात कट जाने से वह असंतुष्ट हो गई और वहाँ से उसके चले जाने पर मोह में पड़ गई तथा बहुत दुखी हुई। इस प्रेम-प्रपंच में आयुर्वेद का व्यवहार बड़ी संजिदगी से समारोपित किया गया है। श्लेष तथा अतिशयोक्ति का अद्भुत समन्वय है। 'गवीगवी' से यम कालंकार है तो 'स्वादं स्वादं' में छेकानुप्रास।

तस्या दृशो[1] वियति[2] बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तद्बाष्पवारि न चिरादवधिर्बभूव।
पार्श्वेऽपि विप्रचकृषे तदनेन दृष्टेरारादपि व्यवदधे न तु चित्तवृत्तेः ॥१३१॥

तस्या इति। वियत्याकाशे बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तस्या दृशो भैमीदृष्टेः तद्बाष्पवारि बन्धुजनविप्रयोगजन्यं तद्दृग्जलं न चिरादचिरादवधिर्बभूव, 'ओदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेदि'ति शास्त्रात्तादृक् सीमाभूदित्यर्थः। ततः तस्माद् बाष्पोपगमादेव हेतोरनेन हंसेन दृष्टेः पार्श्वे समीपे विप्रचकृषे विप्रकृष्टेनाभावि। वाष्पावरणात् समीपस्थोऽपि नालभ्यतेत्यर्थः। चित्तवृत्तेस्तु आराद् दूरेऽपि न व्यवदधे व्यवहितेन नाभावि, स्नेहबन्धान्मनसो नापेत इत्यर्थः। उभयत्रापि भावे लिट्। समीपस्थस्य विप्रकृष्टत्वं दूरस्थस्य सन्निकृष्टत्वं चेति विरोधाभासः ॥ १३१ ॥

---

१. 'दृशाऽधिपतिबन्धु–इति पाठान्तरम्।
२. 'नृपतिबन्धु–' इति पाठान्तरम्।

उस राजा नल के बन्धु–मित्र राजहंस के पीछे-पीछे जाने वाली दमयन्ती की आखों के आंसू का जल शीघ्र ही सीमा (अवरोधक) बन गया। इसलिए पास में होने पर भी उस (हंस) से वह (दमयन्ती) दूर हो गई, किन्तु वह हंस दूर होकर भी दमयन्ती के हृदय से दूर न हो सका ॥ १३१ ॥

दमयन्ती चूँकि अपने हृदय में उस राजहंस (पक्षी) को बैठा चुकी थी अतः वह (हंस) दूर चले जाने पर भी हृदय में ही रहा। जब कोई मित्र अपने मित्र की बिदाई देता है (या उसे पहुँचाता है) तो किसी तालाब कुँआ, सजल नदी या नगर-गाँव की सीमा तक उसको ले जाकर छोड़ता है या पहुँचाते समय आँखों से स्नेह का साखी अश्रुजल जब ही व्यक्त हो जाये वहीं तक उस मित्र को पहुँचाया जाना चाहिए यह हमारे यहाँ की शिष्टाचार परम्परा है। जब हंस उड़कर आकाश मार्ग से जाने लगा तो दमयन्ती एकटक उसे निहारती रही परन्तु प्रेमी के बिछोह की पीड़ा इतनी अधिक बढ़ी की वह नेत्र मार्ग से आसूँ के रूप में बाहर प्रकट हो गई और उसे आगे बढ़ने से रोक दिया, फिर तो आसूँ भरे नेत्र से उस प्रेमी हंस को पास रहने पर भी देख न सकी परन्तु अपने हृदय में उसे सदा के लिए बैठा दी यही कवि को यहाँ कहना है। फिर पास होकर भी दूर हो गया और दूर होकर भी पास में ही रहा' यह विरोधाभास है, परन्तु आँसू के कारण व्यवधान हुआ तथा स्मृति पथ में वह सदा विराजमान रहा, यह समाधान हुआ। यह श्लोक वन्सततिलका छंद में है।

अस्तित्वं कार्यसिद्धेः स्फुटमथ कथयन् पक्षयोः कम्पभेदै-
राख्यातुं वृत्तमेतन्निषधनरपतौ सर्वमेकः प्रतस्थे ।
कान्तारे निर्गतासि प्रियसखि ! पदवी विस्मृता किन्तु मुग्धे ?
मा रोदीरेहि यामेत्युपहृतवचसो निन्युरन्यां वयस्याः ॥ १३२ ॥

अस्तित्वमिति । अथ एकः अनयोरेकतरो हंसः पक्षयोः कम्पभेदैश्चेष्टाविशेषैः कार्यसिद्धेरस्तित्वं सत्ताम् 'अस्ती'त्यव्ययं विद्यमानपर्यायस्तस्मात्त्वप्रत्ययः। स्फुटं कथयन् वृत्तं निष्पन्नमेतत्सर्वं निषधनरपतौ नले विषये आख्यातुं तस्मै निवेदयिष्यन्नित्यर्थः, प्रतस्थे । अन्यां दमयन्तीं वयसा तुल्या वयस्याः सख्यः

'नौवयो' यत्प्रत्ययः। 'हे प्रियसखि ! मुग्धे ! कान्तारे विषमे निर्गतासि सङ्कटं प्रविष्टासि, पदवी विस्मृता किम् नु ? मा रोदीः, एहि, याम' इत्युपहूतवचसो दत्तवचनाः सत्यः एनां निन्युः ॥ १३२ ॥

इसके बाद उन दोनों में से एक (हंस) आकाश में उड़ते समय अपने दोनों पांखों को कँपाकर (मानों) कार्य सिद्धि की सत्ता (तेरा मनोरथ सफल होगा ऐसा) स्पष्ट कहता हुआ सब बातों को राजा नल से कहने के लिए (निषध देश) चला गया और दूसरी (दमयन्ती) को उसकी सखियाँ ए प्रिय सखि ! (तूं) दुर्गम कठिन राह में निकली हो, अरी भोली, तू रास्ता भूल गई है क्या ? मत रोओ, आओ, (घर) चलें इस प्रकार से कहती हुई उसे (राजभवन) ले गई ॥ १३२ ॥

यहाँ हंस के पाँखों को विशेष ढंग से चलाने की कल्पना में कार्यसिद्धि का अनुमान किया है अतः यहाँ उत्प्रेक्षालंकार है। स्रग्धरा छन्द में यह श्लोक है जहाँ सात-सात (अक्षर) पर यति है।

सरसि नृपमपश्यद् यत्र तत्तीरभाजः
स्मरतरलमशोकानोकहस्योपमूलम्।
किसलयदलतल्पग्लापिनं प्राप तं स
ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्धिमौलेः ॥ १३३ ॥

सरसीति। हंसो यत्र सरसि नृपमपश्यत् दृष्टवान् तस्य सरसस्तीरंभाजस्तटरुहस्य ज्वलद्भिरसमशरस्य पञ्चेषोरिषुभिः स्पर्द्धत इति तत्स्पर्धिनी तत्दृशी। पुष्पर्धिः पुष्पसमृद्धिः मौलिः शिखरं यस्य तस्याशोकानोकहस्य अशोकवृक्षस्य उपमूलं मूले विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः। स्मरेण तरलं चञ्चलं किसलयदलतल्पं पल्लवपत्रशयनं ग्लापयति स्वाङ्गदाहेन ग्लापयतीति तथोक्तं तं नृपं प्राप ॥१३३॥

उस (हंस पक्षी) ने जिस सरोवर के तीर पर नल राजा को देखा था, उसी पर स्थित काम के जलते बाणों के साथ संघर्ष (होड़) करने वाले; बेशुमार फूलों से (खिले) भरे शिखर (फलुंगी) वाले अशोक के पेड़ की जड़ पर

काम की पीड़ा से व्याकुल हो छटपटाते हुए तथा लाल (अशोक) कोमल पत्तों को (कामज्वर से) मुर्झा देने वाले उस (नल) को प्राप्त किया (देखा) ॥१३३॥

अशोक के फूल लाल होते हैं और काम के जलते बाण भी लाल हैं अतः दोनों की यहाँ समता होने से उपमालंकार है। मालिनी छन्द में यह श्लोक है जिसमें आठ और सात अक्षर पर यति (विराम) है। जिस सरोवर के तीर पर नल को हंस ने देखा था उसी के किनारे अशोक का एक वृक्ष भी था जिसमें अनगिनत फूल खिले थे; नये-नये लाल पत्ते निकल आये थे उन्हीं कोमल पत्तों की सेज बना कर नल सोया था परन्तु नल में काम की दाहकता इतनी तेज थी कि अशोक के कोमल लाल पत्ते मलिन हो गए थे ऐसी ही व्याकुल दशा में हंस नल को वहाँ पाया था। अशोक के फूल काम के बाण हैं। यह अशोक भी कामिनियों के पादाघात से ही खिलता है ऐसी साहित्यरसिको (कवियों) की मान्यता है।

परवति ! दमयन्ति ! त्वां न किञ्चिद्वदामि
द्रुतमुपनय किं मामाह मा शंस हंस ! :
इति वदति नलेऽसौ तच्छशंसोपनम्रः
प्रियमनु सुकृतां हि स्वस्पृहाया विलम्बः ॥१३४॥

परवतीति परवति ! पराधीने दमयन्ति ! त्वां न किञ्चिद्वदामि नोपालभे किन्तु हे हंस ! द्रुतं शीघ्रमुपनय आगच्छ, सा दमयन्ती मां किमाह, शंस कथयेति नले वदति भ्रान्त्या पुरोवर्तितमिव सम्बोध्य आलपति सति। असौ हंस उपनम्रः पुरोगतः सन् कार्यज्ञः तत् वृत्तं शशंस कथयामास। तथाहि सुकृतां साधुकारिणां 'सुकर्मपापपुण्येषु कृञ्' इति क्विप्। प्रियमनु इष्टार्थं प्रति स्वस्पृहाया स्वेच्छाया एव विलम्बः। न त्विच्छानन्तरं तत्सिद्धे विलम्ब इति भावः सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥१३४॥

[यहाँ उन्मत्त की भाँति कवि नल से कहलवाता है—]

हे परतन्त्र रहने वाली दमयन्ती, (मैं) तुम से कुछ नहीं कहता (कुछ भी नहीं उलाहना देता हूँ) किन्तु हे हंस, (तुम) शीघ्र आ जाओ, वह (दमयन्ती) मेरे बारे में क्या-क्या कही ? यह तो कहो। इस प्रकार नल के कहने पर वह

(हंस) पास में आकर जो उसने कहा था सो नल से कह सुनाया क्योंकि पुण्यात्माओं के प्रिय वस्तु के लिए अपनी इच्छा करने भर की देर रहती है (उसकी पूर्ति में कोई देर नहीं लगती) ।। १३४ ।।

इस श्लोक के चतुर्थचरणगत विषयवस्तु से विशेष बातों का समर्थन हुआ है अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार है । यह भी मालिनी छन्द में है । 'शंस' 'हंस' में पदान्त अनुप्रास है ।

कथितमपि नरेन्द्रश्शंसयामास हंसं
किमिति किमिति पृच्छन् भाषितं स प्रियायाः ।
अधिगतमतिवेलानन्दमा[1]र्द्वीकमत्तः
स्वयमपि शतकृत्वस्तत्तथाऽन्वाचचक्षे ।। १३५ ।।

कथितमिति । स नरेन्द्रः नलः कथितमपि प्रियायाः दमयन्त्याः भाषितं वचनं किमिति किमिति पृच्छन् हंसं शंसयामास, पुनराख्यापयामास, किं च अतिवेलः अतिमात्रो यः आनन्दः स एव मार्द्वीकं मृद्वीकाविकारो द्राक्षामद्यं मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षे'त्यमरः । तेन मत्तः सन् अधिगतं सम्यक् गृहीतं तदुक्तं स्वयमपि शतकृत्वः शतवारं 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' । तथा तदुक्तप्रकारेण अन्वाचचक्षे अनूदितवान् । मत्तोऽप्युक्तमेव पुनः पुनर्वक्तीति भावः ।। १३५ ।।

वह नरेन्द्र (राजा नल) प्रिया दमयन्ती द्वारा कहे हुए संदेश वचन को 'क्या कहा, हाँ, फिर क्या कहा ?' ऐसा बारबार पूछ करके हंस से कहलवाया । फिर गहरे आनन्दरूपी दाख की बनी मदिरा की नशा में धुत होकर जाने हुए संदेशा को अपने मुख से सैकड़ों बार (पागलों की भाँति) वैसे ही (फिर क्या कहा दोहराया ।। १३५ ।।

इस श्लोक में आनन्द पर माध्वीकत्व—मद्य का आरोप है अतः रूपकालंकार है । साहित्यविद्याधरीकार ने इसे स्वभावोक्ति कहा है । 'किमिति' 'किमिति' में वीप्सा है । यह भी मालिनी छन्द में है ।

---

१. '—माध्वीक—' इति पाठान्तरम् ।

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरस्सुतं
श्रीहीरस्सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तार्तीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १३७ ॥

श्रीहर्षमित्यादि। तृतीय एव तार्तीयीकः। 'द्वितीयतृतीयाभ्यामीकक् स्वार्थे वक्तव्यः' तस्य भावस्तत्ता तया मितस्तृतीय इत्यर्थः। शेषं सुगमम् ॥ १३६ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचितायां 'जीवातु' समाख्यायां 'नैषध'
टीकायां तृतीय सर्गः ॥ ३ ॥

—: ※:०:※ :—

कविराज मण्डली के मुकुटों के अलंकार रूप हीरा (की नाईं) श्रीहीर और मामल्लदेवी ने जितेन्द्रिय जिस श्रीहर्ष कवि को पैदा किया, उसके (रचित) रमणीय (शृङ्गाररस प्रधान) 'नैषधचरित' नामक महाकाव्य में (प्रथम-द्वितीय की भाँति) स्वभावतः सुन्दर यह तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३६ ॥

—: ※:०:※ :—

शाखा :
चौखम्भा ओरियन्टालिया
पोस्ट बॉक्स नं 2206
बंगलो रोड, 9-यू.बी., जवाहर नगर
(किरोड़ीमल कालेज के पास)
दिल्ली - 110007 (भारत)
फोन : 3911617 3958790

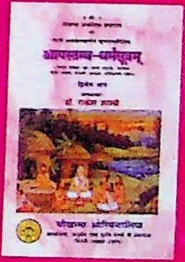

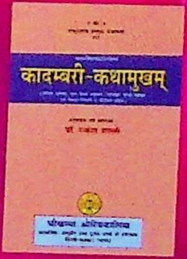

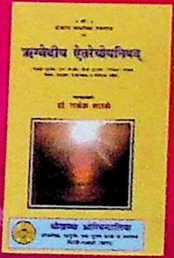

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या, आयुर्वेद तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक

बंग्लो रोड, 9-यू.बी., जवाहर नगर (निकट कमला नगर) दिल्ली-7 (भारत)

फोन : 011-40230818, 9910289743

Email : chaukhambhaorientalia@gmail.com